विषय		पृष्ठ

भारत में विवेकानन्द

१. कोलम्बो का व्याख्यान

(स्वामी विवेकानन्दजी का प्राच्य में प्रथम सार्वजनिक भाषण ।)

पाश्चात्य देशों में चिरस्मरणीय धर्मप्रचार के बाद स्वामी विवेकानन्द १५ जनवरी सन् १८९७ को तीसरे प्रहर जहाज़ से कोलम्बो में उतरे। वहाँ की हिन्दू जनता ने उनका बड़े ठाटबाट से स्वागत किया तथा निम्नलिखित सम्मान-पत्र उनकी सेवा में भेंट किया:—

सेवा में—

श्रीमत् स्वामी विवेकानन्दजी,

पूज्य स्वामीजी,

कोलम्बो नगर के हिन्दू निवासियों की एक सार्वजनिक सभा द्वारा स्वीकृत प्रस्ताव के अनुसार आज हम लोग इस द्वीप में आपका हृदय से स्वागत करते हैं। हमें इस बात का गर्व है कि आपके पाश्चात्य देशों में उस

महान् धर्मप्रचार-कार्य के बाद आपके स्वदेश वापस आने पर हम लोगों को ही आपका सर्वप्रथम स्वागत करने का सौभाग्य प्राप्त हुआ है।

ईश्वर की कृपा से आपको उस महान् धर्मप्रचार-कार्य में जो सफलता प्राप्त हुई है उसे देखकर हम सब बड़े कृतकृत्य तथा प्रफुल्लित हुए हैं। आपने योरोपीय तथा अमेरिकन राष्ट्रों को यह भलीभाँति समझा दिया है कि हिन्दू जाति की दृष्टि में सार्वभौम धर्म वही है, जिसमें सब प्रकार के सम्प्रदायों का सुन्दर सामञ्जस्य हो, जिसके द्वारा प्रत्येक व्यक्ति को उसकी आवश्यकतानुसार आध्यात्मिकता प्राप्त हो सके तथा जो स्नेहपूर्वक प्रत्येक व्यक्ति को ईश्वर से एकरूप कर सके। आपने उस महान् सत्य का प्रचार किया है तथा उसका मार्ग सिखाया है जिसकी शिक्षा हमें आदि काल से हमारे यहाँ के महर्षि देते आए हैं। इन्हीं महर्षियों की चरण-धूलि से भारतवर्ष की भूमि सदैव पवित्र हुई है तथा उन्हीं के कल्याणप्रद चरित्र एवं प्रेरणा से यही भारतवर्ष अनेकानेक परिवर्तनों के बीच गुजरता हुआ भी सदैव संसार का प्रदीप बना रहा है।

श्रीरामकृष्ण परमहंस देव जैसे सद्गुरु की अनुप्रेरणा तथा आपके त्याग-मय सेवाव्रत द्वारा पाश्चात्य राष्ट्रों को भारतवर्ष के एक आध्यात्मिक गुरुवर्य के प्रत्यक्ष साक्षात्कार का सौभाग्य प्राप्त होने का वरदान मिला है। और साथ ही पाश्चात्य सभ्यता की चकाचौंध से विमूढ़ित अनेक भारतवासी भी आपके द्वारा कृतकृत्य हुए हैं, क्योंकि उन्हें आपने ही अपने देश की महान् संस्कृति का बोध कराया है।

आपने अपने स्वयं के उदात्त उदाहरण तथा कर्म द्वारा मानव जाति का वह उपकार किया है जिसका बदला चुकाना उसके लिए सम्भव नहीं। हमारी इस मातृभूमि को भी आपने एक नया तेज दिया है। हमारी यही प्रार्थना है कि ईश्वर की कृपा से आपकी तथा आपके सत्कार्य की उत्तरोत्तर उन्नति होती रहे।

कोलम्बोनिवासी हिन्दुओं की ओर से,
हम हैं आपके विनम्र,
पी० कुमार स्वामी, स्वागताध्यक्ष
तथा मेम्बर, लेजिस्लेटिव कौंसिल, सीलोन,
तथा ए० कुलवीरसिंहम्, मंत्री।

स्वामीजी का भाषण

जो थोड़ा बहुत कार्य मेरे द्वारा हुआ है, वह असल में मेरी किसी अन्तर्निहित शक्ति द्वारा नहीं हुआ, वरन् पाश्चात्य देशों में पर्यटन करते समय, हमारी इस परम पवित्र प्रियतम मातृभूमि से जो उत्साह, जो शुभेच्छा तथा जो आशीर्वाद मुझे मिले हैं उन्हीं की शक्ति द्वारा यह सम्भव हो सका है। हाँ, ठीक है कि कुछ काम हुआ तो अवश्य है, पर पाश्चात्य देशों में भ्रमण करने से विशेष लाभ मेरा ही हुआ है। इसका कारण यह है कि पहले मैं

ण्यभूमि भारत।

जिन बातों को शायद हृदय के आवेग से सत्य मान लेता था, अब उन्हीं को मैं प्रमाणसिद्ध तथा प्रत्यक्ष सत्य के रूप में देख रहा हूँ। पहले मैं भी अन्य हिन्दुओं की तरह विश्वास करता था कि भारत पुण्यभूमि है—कर्मभूमि है। और माननीय सभापति महोदय ने अभी-अभी यह बात कही भी है। पर आज मैं इस सभा के सामने खड़ा होकर दृढ़ता के साथ बार बार कहता हूँ कि यह सत्य है, सत्य है, सत्य है। यदि पृथ्वी में ऐसा कोई देश है, जिसे हम पुण्यभूमि कह सकते हैं,—यदि ऐसा कोई स्थान है जहाँ पृथ्वी के सब जीवों को अपना कर्मफल भोगने के लिए आना पड़ता है,—यदि ऐसा कोई स्थान है जहाँ भगवान को प्राप्त करने की आकांक्षा रखनेवाले जीवमात्र को आना होगा,—यदि ऐसा कोई देश है जहाँ मानव जाति के भीतर क्षमा, धृति, दया, शुद्धता आदि सद्वृत्तियों का सर्वापेक्षा अधिक विकास हुआ है,—यदि ऐसा कोई देश है जहाँ सर्वापेक्षा अधिक आध्यात्मिकता तथा अन्तर्दृष्टि का विकास हुआ है,

तो मैं निश्चित रूप से यही कहूँगा कि वह हमारी मातृभूमि भारतवर्ष ही है। अत्यन्त प्राचीन काल से ही यहाँ पर भिन्न भिन्न धर्मों के संस्थापकों ने अवतार लेकर सारे संसार को सनातन धर्म की पवित्र आध्यात्मिक धारा में बारम्बार बहाया है। यहीं से उत्तर, दक्षिण, पूर्व और पश्चिम चारों ओर दार्शनिक ज्ञान की प्रबल धारा प्रवाहित हुई है, और यहीं से वह धारा बहेगी, जो आजकल की पार्थिव सभ्यता को आध्यात्मिक जीवन प्रदान करेगी। विदेशों के लाखों स्त्री-पुरुषों के हृदय में जड़वाद की जो अग्नि धधक रही है, उसे बुझाने के लिए जिस अमृत-धारा की आवश्यकता है, वह यहीं विद्यमान है। मित्रो, विश्वास रखिए, भारत ही सारे संसार को आध्यात्मिक तरंग में बहाएगा।

मैं समग्र जगत् में भ्रमण करने के बाद उसी सिद्धान्त पर पहुँचा हूँ। आप लोगों में जिन्होंने संसार की विभिन्न जातियों के इतिहास का भलीभाँति अध्ययन किया होगा उन्हें भी यह विषय अच्छी तरह ज्ञात होगा। यदि भिन्न भिन्न जातियों की पारस्परिक तुलना की जाय तो मालूम होगा कि सारा संसार सहिष्णु एवं 'निरीह। भारत का जितना ऋणी है, उतना और किसी देश का नहीं। 'निरीह हिन्दू'—ये शब्द कभी-कभी तिरस्कार के रूप में प्रयुक्त होते हैं, पर यदि किसी तिरस्कार-वाक्य के भीतर सत्य का कुछ अंश रहता है तो वह इन्हीं शब्दों के भीतर है। हिन्दू बराबर से जगत्पिता की प्रिय सन्तान रहे हैं' यह ठीक है कि संसार के अन्यान्य स्थानों में सभ्यता का विकास हुआ है; प्राचीन और वर्तमान काल में कितनी ही शक्तिशाली बड़ी बड़ी जातियों ने उच्च-उच्च भावों को जन्म दिया है; पुराने समय में और आजकल भी बहुत से अनोखे तत्त्व एक जाति से दूसरी जाति में पहुँचे हैं; और यह भी ठीक है कि किसी-किसी जातीय जीवनतरंग ने चारों ओर महान् शक्तिशाली सत्य का प्रचार किया, परन्तु भाइयो! आप यह भी देख पाएँगे कि ऐसे सत्य का प्रचार हुआ है—रणभेरी के निर्घोष से तथा रण-सज्जा से सज्जित सेना-समूह

'निरीह' हिन्दू।

की सहायता से ! बिना खून बहाये, बिना हजारों लाखों स्त्री-पुरुषों के खून की नदी बहाये, कोई भी जाति दूसरी जाति को नये भाव प्रदान करने के लिए आगे नहीं बढ़ी। प्रत्येक ओजस्वी भाव के प्रचार के साथ ही साथ असंख्य लोगों का हाहाकार, अनाथों और असहायों का करुण क्रन्दन और विधवाओं का अजस्र अश्रुपात होते देखा गया है।

प्रधानतः इसी उपाय द्वारा अन्यान्य जातियों ने संसार को शिक्षा दी है; परन्तु इस उपाय का अवलम्बन किये बिना ही भारत हजारों वर्षों से जीवित रहा है। जब ग्रीस का अस्तित्व नहीं था, रोम भविष्य के अंधकार-गर्भ में छिपा हुआ था, जब आधुनिक यूरोपियनों के पुरखे जर्मनी के घने जंगलों के अन्दर छिपे रहते थे और जंगली लोगों की तरह अपने शरीर को नीले रंग से रँगा करते थे, तब भी भारतवासी कितने क्रियाशील थे, इस बात की गवाही हमें इतिहास दे रहा है। उससे भी पहले, जिस समय की कोई स्थिति इतिहास नहीं बता सकता, जिस सुदूर अतीत की ओर नज़र दौड़ाने का साहस किम्वदन्ती को भी नहीं होता, उस अत्यन्त प्राचीन काल से लेकर अब तक न जाने कितनी ही भाव-तरंगें भारत से प्रसृत हुई हैं, पर वे सब तरंगें अपने आगे शान्ति तथा पीछे आशीर्वाद लेकर अग्रसर हुई हैं। संसार की सब जातियों में केवल एक हमारी ही जाति ने लड़ाई-झगड़ा करके किसी अन्य जाति को पराजित नहीं किया है—इस शुभ कर्म के कारण ही हमारी जाति अब तक जीवित है। एक समय था, जब ग्रीक सेना के वीर-दर्प से संसार काँप उठता था। पर आज वह कहाँ है? आज तो उसका चिह्न तक कहीं दिखाई नहीं देता। ग्रीस के गौरवरवि आज अस्त हो गये हैं! एक समय था, जब कि प्रत्येक पार्थिव भोग्य वस्तु के ऊपर रोम की श्येनांकित विजय-पताका फहराया करती थी—रोमन लोग सर्वत्र जाते और मानव-जाति पर प्रभुत्व फैलाते थे। रोम का नाम सुनते ही पृथ्वी

धर्मप्राणता भारत के जीवन का, एवं उसका अभाव अन्यान्य जाति के क्षणस्थायित्व का कारण है।

काँप उठती थी, पर आज उसी रोम का कैपिटोलाइन पहाड़ * एक टूटे-फूटे टीले की तरह खड़ा है! जहाँ सीज़र अखण्ड प्रताप के साथ राज्य करते थे, वहाँ आज मकड़ी जाल बुनती है! इसी तरह कितनी जातियाँ उठीं और गिरीं हैं —मद से छाती फुलाकर औरों पर अपना प्रभुत्व फैलाते हुए कुछ काल तक परपीड़ा-कलुषित जातीय जीवन बिताकर, पानी के बुलबुलों की तरह उठकर फिर मिट गई हैं।

इसी प्रकार ये सब जातियाँ मनुष्य-समाज में किसी समय अपना चिह्न अङ्कित कर अब मिट गई हैं। परन्तु हम लोग आज भी जीवित हैं। आज यदि महर्षि मनु इस भारतभूमि पर लौट आयें, तो उन्हें कुछ भी आश्चर्य न होगा; वे ऐसा नहीं समझेंगे कि कहाँ आ पहुँचे। वे देखेंगे कि हजारों वर्षों की चिन्ता तथा परीक्षा के फलस्वरूप वे ही प्राचीन विधान यहाँ आज भी विद्यमान हैं—सैकड़ों शताब्दियों की अभिज्ञता का फलस्वरूप वही सनातन सा आचार-विचार यहाँ आज भी मौजूद है। और जितने ही दिन बीतते जा रहे हैं, जितने ही दुःख-दुर्विपाक आते हैं और उन पर लगातार आघात करते हैं, उनका फल केवल यही होता है कि वे और भी मजबूत—और भी स्थायी रूप धारण करते जा रहे हैं। इन सब आचारों और विधानों का केन्द्र कहाँ है? किस हृदय से रक्त संचालित होकर इन्हें पुष्ट बना रहा है? और हमारे जातीय जीवन का मूल स्रोत कहाँ है? यदि आप इन प्रश्नों का उत्तर जानना चाहते हैं, तो विश्वास रखिए कि वह यहीं विद्यमान है। सारी दुनिया का भ्रमण करके मुझे जो कुछ जानकारी हासिल हुई है, उससे मैं इसी सिद्धान्त पर पहुँचा हूँ।

---

* कैपिटोलाइन पहाड़—रोम नगर सात पहाड़ों पर बसा हुआ था। उ… जिस पर रोमवासियों के कुलदेवता जुपिटर का विशाल मन्दिर था, उसी … कैपिटोलाइन पहाड़ कहते हैं। जुपिटर देवता के मन्दिर का नाम था कैपिटो… इसी से उस पहाड़ का नाम कैपिटोलाइन पड़ा है।

अन्यान्य जातियों के लिए धर्म, संसार के और और कार्यों की तरह एक कार्य मात्र है। उनमें राजनीति की चर्चा है, सामाजिकता है; धन तथा प्रभुत्व द्वारा जो कुछ प्राप्त हो सकता है और इन्द्रियों को जिससे सुख मिलता है उन सब के पाने की चेष्टा भी है। इन सब भिन्न भिन्न कामों के भीतर, तथा भोग से निस्तेज बनी हुई इन्द्रियों को पुनः उत्तेजित करने की चेष्टा के साथ ही साथ थोड़ा बहुत धर्म-कर्म भी है। परन्तु यहाँ, इस भारतवर्ष में, मनुष्य की सारी चेष्टाएँ धर्म के लिए ही होती हैं, धर्म की प्राप्ति ही भारतवासी के जीवन का एक मात्र कार्य है। चीन-जापान-युद्ध हो चुका, पर आप लोगों में कितने ऐसे व्यक्ति हैं जिन्हें इस युद्ध का हाल मालूम है? पाश्चात्य देशों में जो तरह-तरह के बड़े बड़े राजनीतिक तथा सामाजिक आन्दोलन हुआ करते हैं तथा समाज को नये रूप में, नये साँचे में ढालने की जो चेष्टाएँ होती हैं, उनके विषय में आप में से कितने लोगों को जानकारी है? यदि उनकी किसी को कुछ खबर है तो बहुत थोड़े आदमियों को। पर अमेरिका में एक विराट धर्म-सभा हुई थी और वहाँ एक हिन्दू संन्यासी भी भेजे गये थे — बड़े ही आश्चर्य का विषय है कि यह बात हरएक आदमी को, यहाँ के कुली-मजदूरों तक को, मालूम है। इसी से जाना जाता है कि हवा किस ओर चल रही है, जातीय जीवन का मूल कहाँ पर है। पहले मैं कितने ही देशवासी और खास कर विदेशी शिक्षित व्यक्तियों को प्राच्य देशों के जनसमुदाय की गहरी अज्ञता के लिए खेद प्रकाश करते सुनता था और एक ही साँस में पृथ्वी की परिक्रमा करनेवाले लोगों के लिखे हुए भ्रमण-वृत्तान्त में इस विषय को पढ़ता था।

धर्म ही भारत का मुख्य आधार है, जैसे अन्यान्य देशों में राजनीति या समाज-नीति।

पर अब मैं समझता हूँ कि उनकी यह बात सत्य भी है और फिर असत्य भी। इंग्लैण्ड, अमेरिका, फ्रांस, जर्मनी या जिस किसी देश के एक मामूली किसान को बुलाकर आप पूछिए, "तुम किस राजनीतिक दल के

सदस्य हो ?"—तो आप देखेंगे कि वह फौरन कहेगा, "मैं उदार दल (Radical) अथवा रक्षणशील दल (Conservative) का सदस्य हूँ।" और वह आपको यह भी बता देगा कि वह अमुक व्यक्ति के लिए 'वोट' देने वाला है। अमेरिका का किसान जानता है कि वह प्रजातंत्र दल का है या डिमोक्रेट दल* का। इतना ही नहीं, वरन् वह 'रौप्यसमस्या'+ के विषय से भी कुछ कुछ अवगत है। पर यदि आप उससे उसके धर्म के विषय में पूछें, तो वह आपसे कहेगा, "मैं और कुछ नहीं जानता, हाँ, गिरजाघर जाया करता हूँ।" बहुत जानकारी रखता होगा, तो कहेगा, "मेरे बाप ईसाई-धर्म के अमुक शाखा के अनुयायी थे।" उसकी समझ में गिरजाघर जाना ही धर्म की पराकाष्ठा है!

---

* ये अमेरिका के युक्तराज्य के दो प्रबल राजनीतिक दलों के नाम हैं। पहला दल केन्द्रीभूत शासनप्रणाली का तथा आमदनी पर शुल्क बैठाने का विशेष पक्षपाती है। दूसरा दल केन्द्री-भूत शासन-प्रणाली के अधिकारों को कम करने का विशेष प्रयासी है, और यह अबाध वाणिज्य का पक्षपाती है।

+ रौप्य समस्या (Silver Question)—व्यवसाय-वाणिज्य की कमी-वेशी, नई खानों का मिलना इत्यादि विभिन्न कारणों से भिन्न भिन्न देशों में चांदी के परिमाण में कमी-वेशी हुआ करती है। यूरोप में इस प्रकार आवश्यकता से अधिक चांदी इकट्ठी हो गई है, इसीलिए वहाँ चांदी की कीमत उतर गई है; अर्थात् जितनी चांदी के बदले कोई वस्तु पहले जिस परिमाण में मिलती थी, अब उस परिमाण में नहीं मिलती। यूरोप के साथ और और जिन देशों का वाणिज्य-सम्बन्ध है, अथवा जिन स्थानों पर उनका अधिकार हो गया है, उन स्थानों या देशों में, चांदी की कीमत उतनी उतरी न होने के कारण वस्तु या मुद्रादि का आदान-प्रदान करते समय चांदी की दर के सम्बन्ध में बड़ा भारी बखेड़ा उठ खड़ा होता है। ऐसा होने से भारत तथा अन्यान्य देशों को बहुत नुकसान पहुँचता है। इसी बखेड़े को दूर करने के लिए यूरोप के सब राष्ट्रों ने मिलकर स्वर्ण-मुद्रा की एक निश्चित दर बाँध दी है। इससे वह बखेड़ा आजकल बहुत कुछ मिट गया है। इसे ही रौप्य-समस्या या 'Silver Question' कहते हैं।

दूसरी ओर किसी भारतवासी किसान से पूछिये कि वह राजनीति के विषय में कुछ जानता है या नहीं, तो आप देखेंगे कि वह आपका मतलब ही नहीं समझता है, और घबराकर आपकी ओर मुँह बाये देखने लगता है। वह कहेगा, "राजनीति किसे कहते हैं?" वह सोशियालिज्म * या समाजवाद आदि सामाजिक आन्दोलनों के सम्बन्ध में, अथवा मजदूरी और मूल-धन के पारस्परिक सम्बन्ध के विषय में तथा इसी तरह के अन्यान्य विषयों की ज़रा भी जानकारी नहीं रखता। उसने जीवन में कभी इन बातों को सुना ही नहीं है।

वह कठोर परिश्रम कर जीविकोपार्जन करता है। बस राजनीति या समाजनीति के विषय में उसे यहीं तक जानकारी है। पर यदि उससे पूछा जाय कि "तुम्हारा धर्म क्या है?" तो वह फौरन अपने माथे पर का तिलक दिखाता हुआ बोलेगा कि मैं इस सम्प्रदाय का हूँ।

---

* सोशियालिज्म (Socialism) पाश्चात्य देशों का एक बड़ा ही बलशाली मतवाद है। यह सम्प्रदाय थोड़ी मजदूरी पानेवाले श्रमजीवियों द्वारा संगठित हुआ है। इनका कहना है कि व्यवसाय-वाणिज्य में जो लाभ होता है, उसमें पूँजीपति को जितना हिस्सा मिलता है, उतना ही श्रमजीवियों को भी मिलना चाहिए, अर्थात् आधे-आधे का साझा होना चाहिए। कम से कम इस समय जितना बड़ा अन्तर है, वह तो अवश्य ही कम होना उचित है—जिससे श्रमजीवियों को लाभांश अधिक मिल सके। इसी उद्देश्य से श्रमजीवियों को संगठित करने के लिए वहाँ तरह तरह की पुस्तकें प्रकाशित की जाती हैं, व्याख्यान दिये जाते है तथा और और उपाय किए जाते हैं। इस प्रकार एकता उत्पन्न कर, संघों का निर्माण कर वहाँ वालों ने हड़ताल आदि शस्त्रों द्वारा अपनी चेष्टा में बहुत कुछ सफलता भी पाई है। हड़तालियों और उनके परिवारवालों को किसी प्रकार का कष्ट न होने पावे, इसके लिए चन्दा आदि उगाहने का भी बन्दोबस्त उन लोगों ने कर रखा है, और करते हैं। पाश्चात्य देशों के कितने ही चिन्ताशील लोग भी इनकी माँगों को न्यायसंगत समझकर इनके साथ सहानुभूति रखते है और तरह तरह से इनकी सहायता भी करते हैं।

धर्म के विषय में प्रश्न करने पर वह दो-चार बातें ऐसी भी बता सकता है जिनसे हम-आप-जैसे पढ़े-लिखे लोगों का भी उपकार हो सकता है। यह बात मैं अपने अनुभव और अभिज्ञता के बल पर कह रहा हूँ। अतएव, यह धर्म ही हमारे जातीय जीवन की नींव है।

प्रत्येक मनुष्य में कोई न कोई विशेषता होती है, प्रत्येक व्यक्ति भिन्न-भिन्न मार्गों से उन्नति की ओर अग्रसर होता है। हम हिन्दू हैं—हम कहते हैं, पिछले अनन्त जीवनों के कर्मों द्वारा मनुष्य का वर्तमान जीवन एक निश्चित मार्ग से चलता है। कारण, अतीत काल के कर्मों की समष्टि ही वर्तमान में प्रकट होती है; और वर्तमान समय में हम जो कुछ कर्म कर रहे हैं, हमारा भावी जीवन उसी के अनुसार गठित हो रहा है।

इसीलिए यह देखने में आता है कि इस संसार में जो कोई आता है, उसका एक न एक ओर विशेष झुकाव होता है, उस ओर मानो उसे जाना ही पड़ेगा, मानो उस भाव का अवलम्बन किए बिना वह जी ही नहीं सकता। यह बात जैसे व्यक्तिमात्र के लिए है, वैसे ही व्यक्तियों की समष्टि अर्थात् जाति के लिए भी है। प्रत्येक जाति या राष्ट्र का भी उसी तरह किसी न किसी तरफ विशेष झुकाव हुआ करता है। मानो प्रत्येक जाति का एक-एक विशेष जीवनोद्देश्य हुआ करता है। हरएक जाति को मानो समस्त मानव-जाति के जीवन को सर्वांग-सम्पूर्ण करने के लिए किसी व्रतविशेष का पालन करना होता है। उस व्रतविशेष को अपने अपने कार्य-जीवन में परिणत कर मानो हरएक जाति को उसका उद्यापन करना ही पड़ेगा। राजनीतिक या सामरिक श्रेष्ठता प्राप्त करना किसी काल में हमारी जाति का जीवनोद्देश्य न कभी रहा है और न इस समय ही है और यह भी याद रखिए कि न तो वह कभी आगे ही होगा। हाँ, हमारा दूसरा जातीय जीवनोद्देश्य है। वह यही है कि समग्र जाति की आध्यात्मिक शक्ति को संग्रह कर मानो किसी विद्युदाधार (*Dynamo*) में जमा कर रखना, और जब कभी मौका आवे, तब उस संचित शक्ति-समष्टि

द्वारा सारी पृथ्वी को एक बाढ़ में बहा देना। जब कभी फारस, ग्रीस, रोम, अरब या इंग्लैण्ड वाले अपनी अजय सेना लेकर दिग्विजय के लिए निकले हैं और जब उन्होंने विभिन्न जातियों को एक सूत्र में ग्रथित किया है तभी भारत का दर्शन-शास्त्र और अध्यात्म-विद्या इन सब नवीन मार्गों द्वारा भिन्न-भिन्न जातियों की धमनियों में होकर प्रवाहित हुए हैं। सारी मानव जाति जिस उन्नति की आकांक्षा करती है, उसमें शान्ति-प्रिय हिन्दू जाति को भी कुछ देना है और आध्यात्मिक आलोक ही भारत का वह दान है।

संसार को भारत भी कुछ दे सकता है—और वह है धर्म।

इस प्रकार अतीत का इतिहास पढ़कर हम देखते हैं कि जब कभी किसी प्रबल दिग्विजयी जाति ने संसार की अन्यान्य जातियों को एक सूत्र में ग्रथित किया है, भारत के साथ अन्यान्य देशों का अथवा अन्यान्य जातियों का सम्मेलन कराया है, चिरस्वातन्त्र्यप्रिय भारतवासियों की स्वतन्त्रता जब कभी अपहृत हुई है—जब कभी ऐसी घटना घटी है तभी सारे संसार में भारतीय आध्यात्मिकता की बाढ़ बाँध तोड़-फोड़कर बह निकली है। वर्तमान उन्नीसवीं शताब्दी के आरम्भ में विख्यात जर्मन दार्शनिक शोपेनहर * ने वेद के किसी एक साधारण से लैटिन अनुवाद को पढ़कर—जो अनुवाद किसी नवयुवक फरासीसी द्वारा वेद के किसी पुराने फारसी अनुवाद से किया गया था—कहा है, " औपनेखत (उपनिषद के फारसी अनुवाद को यही नाम

* मुगल-सम्राट औरंगजेब के बड़े भाई दाराशिकोह ने फारसी भाषा में उपनिषद का अनुवाद कराया था। सन् १६५७ ई० में वह अनुवाद समाप्त हुआ था। सुजाउद्दौला की राजसभा के सदस्य फरासीसी रेसिडेण्ट जेण्टिल साहब ने वह अनुवाद बर्नियर साहब के मार्फत अंकेतिल दुपेरों नामक सुप्रसिद्ध सैलानी और जेन्दा-वेस्ता के आविष्कर्ता के पास भेज दिया था। इन्होंने उसका लैटिन भाषा में अनुवाद किया। सुप्रसिद्ध जर्मन दार्शनिक शोपेनहर का दर्शन इसी उपनिषद् द्वारा विशेष रूप से अनुप्राणित हुआ है। इस प्रकार पहले पहल यूरोप में उपनिषद् के भावों का प्रवेश हुआ है।

दिया गया है) के सिवाय हृदय का उन्नति-विधायक और कोई भी ऐसा ग्रन्थ नहीं है, जो उससे ऊँचा समझा जाय। मैं जब तक जीवित रहा तब तक उसने मुझे शान्ति प्रदान की है, और जब मैं मर जाऊँगा तब भी वही मुझे शान्ति प्रदान करेगा।"

आगे चलकर वे ही जर्मन ऋषि यह भविष्यवाणी कह गए हैं कि "ग्रीक साहित्य के पुनरुत्थान से संसार की विचारप्रणाली में जो बड़ा भारी परिवर्तन हुआ था, शीघ्र ही उससे भी बड़ा और दिगन्तव्यापी भाव-विपर्यय होने वाला है।" आज उनकी वह भविष्यवाणी सत्य हो रही है। जो लोग आँखें खोले हुए हैं, जो पाश्चात्य जगत् की विभिन्न जातियों के मनोभावों को समझते हैं, जो विचारशील हैं तथा जो लोग भिन्न-भिन्न जातियों के विषय में विशेष रूप से आलोचना करते हैं वे देख पायेंगे कि भारतीय चिन्ता के इस धीर और अविराम प्रवाह के सहारे संसार के भावों, व्यवहारों और साहित्य में कितना बड़ा परिवर्तन हो रहा है। हाँ, भारतीय प्रचार में एक विशेषता है।

भारतीय भाव-प्रचार का विशेषत्व।

वह क्या है, इस विषय में मैं आप लोगों को पहले ही कुछ इशारा कर चुका हूँ। हम भारतवासियों ने कभी बन्दूक या तलवार के सहारे किसी भाव-प्रचार का कार्य नहीं किया है। यदि अंग्रेजी भाषा में ऐसा कोई शब्द है जिसके द्वारा संसार को भारत ने जो दान दिया है वह प्रकट किया जाय—यदि अंग्रेजी भाषा में कोई ऐसा शब्द है जिसके द्वारा मानव-जाति पर भारतीय साहित्य का प्रभाव प्रकट किया जाय, तो वह यही एक मात्र शब्द Fascination (सम्मोहिनी शक्ति) है। यह सम्मोहिनी शक्ति वैसी नहीं है जिसके द्वारा मनुष्य एकाएक मोहित हो जाता है—वरन् यह ठीक उसके विपरीत है—यह धीरे-धीरे बिना कुछ मालूम हुए मानव-मन पर अपना प्रभाव विस्तारित करती है। बहुतों को भारतीय विचार, भारतीय प्रथा, भारतीय आचार-व्यवहार, भारतीय दर्शन और भारतीय साहित्य पहले पहल कुछ विसदृश से मालूम होते हैं; परन्तु

यदि वे धीरतापूर्वक उक्त विषयों पर विवेचन करें, मन लगाकर भारतीय ग्रन्थों का अध्ययन करें, भारतीय आचार-व्यवहार की जड़ में जो महान् तत्वसमूह निहित हैं उनका परिचय प्राप्त करें, तो देखा जायगा कि निन्नानबे प्रतिशत आदमी भारतीय विचार-सौन्दर्य पर — भारतीय भावों पर — मुग्ध हो गए हैं। जैसे सबेरे के समय गिरनेवाला कोहरा न तो किसी की आँखों से दिखाई देता है और न उसके गिरने से कोई आवाज़ ही कानों को सुनाई पड़ती है, परन्तु पीछे से परिणाम बहुत बड़ा दिखाई देने लगता है — ठीक वैसे ही यह शान्त, सहिष्णु, सर्वसह धर्मप्राण जाति विचार-साम्राज्य में अपना प्रभाव विस्तारित करती जा रही है। प्राचीन इतिहास का पुनराभिनय होना फिर से आरम्भ हो गया है। कारण, आज, — जब कि आधुनिक वैज्ञानिक आविष्कारों द्वारा बारम्बार होने वाले आघातों से आपात-सुदृढ़ तथा दुर्भेद्य धर्म-विश्वास की जड़ तक हिल रही है, — जब कि विभिन्न धर्म सम्प्रदाय मनुष्य जाति के भिन्न-भिन्न अंशों को अपने अनुयायी कहने का जो खास दावा करते हैं, वह शून्य में पर्यवसित हो हवा में मिलता जा रहा है, — जब कि आधुनिक पुरातत्वानुसन्धान के प्रबल मूसलाघात प्राचीन बद्ध-मूल संस्कारों को शीशे की तरह चूर चूर किये डालते हैं, — जब कि पाश्चात्य जगत् में धर्म केवल मूढ़ लोगों के हाथ में चला गया है,— और जब कि ज्ञानी लोग धर्मसम्बन्धी प्रत्येक विषय को घृणा की दृष्टि से देखने लगे हैं, ऐसी परिस्थिति में भारत (जहाँ के अधिवासियों का धर्म-जीवन सर्वोच्च दार्शनिक सत्य सिद्धान्तों द्वारा नियमित है) का दर्शन तथा भारतवासियों के मन के धर्मविषयक सर्वोच्च भाव संसार के आगे प्रकट होने लगे हैं।

भारतीय धर्म युक्ति के ऊपर प्रतिष्ठित होने के कारण वही वैज्ञानिक पाश्चात्य जगत् को अधर्म से रक्षा करने के लिए अग्रसर हुआ है।

इसीलिए आज ये सब महान् तत्त्व — असीम अनन्त जगत् का एकत्व, निर्गुण ब्रह्मवाद, जीवात्मा का अनन्त स्वरूप और उसका विभिन्न जीव-शरीरों में अविच्छेद संक्रमणरूपी अपूर्व तत्व, तथा ब्रह्माण्ड का अनन्तत्व — पाश्चात्य जगत् को

वैज्ञानिक जड़वाद के हाथों से बचाने के लिए आप-ही- आप अग्रसर हुए हैं वहाँ के पुराने सम्प्रदाय जगत् को एक छोटा सा मिट्टी का लोंदा-भर समझते थे, और समझते थे कि काल का आरम्भ भी कुछ ही दिनों से हुआ है। केवल हमारे ही प्राचीन धर्म शास्त्रों में यह बात मौजूद है कि देश, काल और निमित्त अनन्त हैं एवं इससे भी बढ़कर, हमारे यहाँ के तमाम धर्मतत्वों के अनुसन्धान का आधार मानवात्मा की अनन्त महिमा का विषय रहा है। जब क्रम-विकास-वाद, शक्तिसातत्य (Conservation of Energy) इत्यादि आधुनिक भयानक मत सब तरह के कच्चे धर्ममतों की जड़ में कुठाराघात कर रहे हैं तब — ऐ… अवस्था में — उसी मानवात्मा की अपूर्व सृष्टि, ईश्वर के अद्भुत स्वरूप वेदान्त के अपूर्व हृदयग्राही, तथा मन की उन्नति एवं विस्तार विधायक तत्व-समूहों के सिवा और कौन सी वस्तु है जो शिक्षित मानव जाति की श्रद्धा और भक्ति पा सकती है!

साथ ही मैं यह भी कह देना चाहता हूँ कि भारत के बाहर भारत के धर्म का जो प्रभाव पड़ता है, वह यहाँ के धर्म के मूल तत्वों का ही है जि… पर भारतीय धर्मरूपी अट्टालिका खड़ी है। उसकी सैकड़ों भिन्न-भिन्न शाख… प्रशाखाएँ, सैकड़ों सदियों में समाज की आवश्यकताओं के अनुसार उस… लिपटे हुए छोटे-छोटे गौण विषय, विभिन्न प्रथाएँ, देशाचार तथा समाज के कल्याण-विषयक छोटे-मोटे विचार इत्यादि बातें वास्तव में 'धर्म' नहीं कही जा सकतीं। हम यह भी जानते हैं कि हमारे शास्त्रों में दो प्रकार के सत्य का निर्देश किया गया है। और उन दोनों में स्पष्ट प्रभेद भी बतलाया गया है। वह — मनुष्य का स्वरूप-आत्मा का स्वरूप, ईश्वर के साथ जीवात्मा का सम्ब… ईश्वर का स्वरूप, पूर्णत्व, सृष्टि-तत्त्व, सृष्टि का अन… जगत् शून्य से उत्पन्न नहीं हुआ है, वह किसी-न-किसी पूर्वावस्… वस्तु का विकास मात्र है, इस विषय का मतवाद, युगप्रवाहस…

भारतीय धर्म के दो विभाग—सनातन और युग-धर्म।

अद्भुत नियमावली तथा इसी तरह के और और तत्व — इन सबके ऊपर प्रतिष्ठित हैं। प्रकृति के सार्वजनीन, सार्वकालिक और सार्वदेशिक विषय ही इन सनातन तत्वों के आधार हैं। इनके सिवा और भी बहुत-सी गौण विधियाँ हमारे शास्त्रों में दिखाई देती हैं; उन्हीं के द्वारा हमारे दैनिक जीवन के कार्य सञ्चालित और नियमित होते हैं। इन गौण विषयों को श्रुति के अन्तर्गत नहीं मान सकते; ये वास्तव में स्मृति के, पुराणों के अन्तर्गत हैं। इनके साथ पूर्वोक्त तत्वसमूह का कोई सम्पर्क नहीं है। हमारी आर्यजाति के अन्दर भी ये सब बराबर परिवर्तित होते और विभिन्न आकार धारण करते देखे जाते हैं। एक युग के लिए जो विधान हैं, वे दूसरे युग के लिए नहीं होते। इस युग के बाद फिर जब दूसरा युग आयेगा, तब यह भी दूसरा आकार धारण करेगा। महामना ऋषिगण आविर्भूत होकर फिर देशकालोपयोगी नये-नये आचार-विधानों का प्रवर्तन करेंगे।

जीवात्मा, परमात्मा और ब्रह्माण्ड के ये सब अपूर्व, अनन्त, चित्तोन्नति-विधायक क्रम-विकासशील धारणाओं की नींवरूपी जो महान् तत्व हैं वे भारत में ही उत्पन्न हुए हैं। केवल भारत ही ऐसा देश है, जहाँ के लोगों ने छोटे-छोटे देवताओं के लिए यह कहकर लड़ाई नहीं की है कि "मेरा ईश्वर सच्चा है; तुम्हारा झूठा; आओ, हम दोनों लड़कर इसका फैसला कर लें।" छोटे छोटे देवताओं के लिए लड़कर फैसला करने की बात केवल भारतवासियों के मुँह से ही कभी सुनाई नहीं दी है। इसका कारण यही है कि हमारे यहाँ के ये सब महान् तत्व मनुष्य के अनन्त स्वरूप पर प्रतिष्ठित हैं, और इसीलिए वे हजारों वर्ष पहले के समान आज भी मानव जाति का कल्याण करने की शक्ति धारण करते हैं। जितने दिनों तक यह पृथ्वी मौजूद रहेगी, जितने दिनों तक कर्मफल रहेगा, जब तक हम लोग व्यष्टि जीव के रूप में जन्म लेते रहेंगे, और जब तक हम अपनी शक्ति द्वारा अपना अपना अदृष्ट बनाते रहेंगे तब तक — उतने दिनों तक — इनकी शक्ति इसी प्रकार विद्यमान रहेगी।

सर्वोपरि, अब मैं सबसे बड़ी बात यह बताना चाहता हूँ कि भारतवर्ष संसार को कौन से तत्व की शिक्षा देगा। यदि हम लोग विभिन्न जातियों के भीतर धर्म की उत्पत्ति और परिणति की प्रणाली का पर्य्यवेक्षण करें,—तो हम सर्वत्र यही देख पायेंगे कि पहले हरएक जाति के भिन्न भिन्न देवता थे। इन जातियों में यदि परस्पर कोई विशेष सम्बन्ध होता, तो ऐसे भिन्न-भिन्न देवताओं का एक साधारण नाम हुआ करता। उदाहरणार्थ, बेबिलोनियन देवता को ही ले लीजिए। जब बेबिलोनियन लोग विभिन्न जातियों में विभक्त हुए थे, तब उनके भिन्न-भिन्न देवताओं का एक साधारण नाम था बाल (Baal)। इसी प्रकार यहूदी जाति के विभिन्न देवताओं का साधारण नाम मोलोक (Moloch) था। आप और भी देखेंगे कि कभी-कभी इन विभिन्न जातियों में कोई जाति सबसे अधिक बलशालिनी हो उठती थी, और उस जाति के लोग अपने राजा को अन्य सब जातियों के राजा होने की हामी भी भराते थे। इससे स्वभावतः यह होता था कि उस जाति के लोग अपने देवता को अन्यान्य जातियों का देवता बनाना चाहते थे। बेबिलोनियन लोग कहते थे—"बाल मेरोडक सबसे श्रेष्ठ देवता है, और दूसरे देवता छोटे हैं।" इसी प्रकार यहूदी लोगों के 'मोलोक याव्हे' अन्य मोलोक देवताओं से श्रेष्ठ बताये जाते थे। और, देवताओं की इस श्रेष्ठता या निकृष्टता का निर्णय युद्ध द्वारा हुआ करता था। भारत में भी देवताओं का यह संघर्ष—यह प्रतिद्वन्द्विता विद्यमान थी। प्रतिद्वन्द्वी देवगण अपनी अपनी श्रेष्ठता के लिए परस्पर संघर्ष करते थे। परन्तु भारत और समग्र संसार से इस अशान्ति और लड़ाई-झगड़े के बीच में "एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति"* (सत्ता एक मात्र है—विप्र अर्थात् पण्डित लोग, उसी एक सत्ता का तरह-तरह से वर्णन करते हैं)—यह महावाणी उत्थित हुई थी। शिव विष्णु की अपेक्षा श्रेष्ठ नहीं है—अथवा विष्णु ही सब कुछ हैं, शिव कुछ नहीं

* ऋग्वेद, १।१६४।४६

पाश्चात्य देश तथा भारत में विभिन्न देवगणों का संघर्ष—पाश्चात्य में देवता-विशेष का प्राधान्य-लाभ, भारत में 'एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति'।

—ऐसी भी बात नहीं है। एक भगवान को ही कोई शिव, कोई विष्णु और कोई और ही किसी नाम से पुकारते हैं। नाम अलग अलग हैं पर वस्तु एक ही है। इन्हीं उपरोक्त बातों से भारत का समग्र इतिहास जाना जा सकता है। समग्र भारत का इतिहास विस्तारित और ओजस्वी भाषा में उसी एक मूल तत्व की पुनरुक्ति मात्र है। इस देश में यह तत्व बार बार प्रचारित और कथित हुआ है, यहाँ तक कि अन्त में वह हमारी जाति के रक्त के साथ मिलकर एक हो गया है और इस जाति की धमनियों में प्रवाहित होने वाले प्रत्येक शोणित बिन्दु के साथ मिलकर नस-नस में फैल गया है—वह जातीय जीवन का एक अंग-स्वरूप हो गया है; जिस उपादान से यह विशाल जातीय शरीर निर्मित हुआ है, उसका वह अंश-स्वरूप हो गया है—इस प्रकार यह देश दूसरे के धर्म के प्रति द्वेष-राहित्य के एक अद्भुत लीला-क्षेत्र के रूप में परिणत हो गया है। इसी महान् शक्ति के कारण हमारी इस प्राचीन मातृभूमि में हमें सब धर्मों और सम्प्रदायों को सादर स्थान देने का अधिकार प्राप्त हुआ है।

इस भारत में ऐसे बहुत से धर्मसम्प्रदाय हैं जो आपाततः एक दूसरे के विरोधी हैं, तथापि वे सभी यहाँ बिना किसी विरोध के बसे हुए हैं। इस अत्यन्त विचित्र बात का एक मात्र कारण यही है कि यहाँ के लोग दूसरों के धर्म के प्रति द्वेष नहीं रखते। सम्भव है कि आप द्वैतवादी हों, और मैं अद्वैतवादी। सम्भव है कि आप अपने को भगवान के नित्य दास समझते हों, और दूसरा यह कहे कि मुझमें और भगवान में कोई अन्तर नहीं है, पर दोनों ही हिन्दू हैं, और सच्चे हिन्दू हैं। यह कैसे सम्भव हो सकता है? इस प्रश्न का उत्तर जानने के लिए उसी महावाक्य को स्मरण करो—"एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति।" फिर आप ही समझ में आ जायगा कि

ऐसा सम्भव है या नहीं। मेरे स्वदेशवासी भाइयो, सबसे ऊपर यही महान् सत्य हमें संसार को सिखाना होगा। और देशों के भारी-भारी विद्वान और शिक्षित लोग भी नाक-मुँह सिकोड़कर हमारे धर्म को पौत्तलिक कहते तथा समझते हैं। मैंने स्वयं उन्हें ऐसा कहते देखा है, पर वे कभी स्थिर-चित्त होकर यह नहीं सोचते कि उनका मस्तिष्क कैसे कुसंस्कारों से परिपूर्ण है। और आज भी सर्वत्र ऐसा ही भाव है—ऐसी ही घोर साम्प्रदायिकता है, मन में इतनी घोर संकीर्णता है! उनका अपना जो कुछ है, मानो वही संसार में सबसे अधिक मूल्यवान चीज़ है! अर्थोपासना ही उनकी राय में जीवन का एकमात्र सद्व्यवहार है। अगर वे मिट्टी से कोई असार वस्तु बना सकते हैं, अथवा कोई यन्त्र आविष्कृत कर सकते हैं, तो और सबको छोड़कर उन्हीं की प्रशंसा करनी उचित है। यद्यपि संसार में शिक्षा का इतना प्रचार हो रहा है, तथापि सारी दुनिया की यही हाल्त है। परन्तु वास्तविक जगत् में अब भी असली शिक्षा की आवश्यकता है—अब भी सभ्यता की आवश्यकता है। सच पूछिये तो सभ्यता का तो अभी तक कहीं आरम्भ भी नहीं हुआ है—मनुष्य जाति में अब भी निन्यानवे दशमलव नौ प्रतिशत लोग प्रायः जंगली अवस्था में ही पड़े हुए हैं। हम लोग पुस्तकों में भले ही ये सब विषय पढ़ते हों, दूसरों के धर्म से विद्वेष न करने तथा इसी प्रकार के अन्यान्य तत्वों के विषय में हम लोग सुना करते हों, किन्तु मैं अपने अनुभव के आधार पर कहता हूँ कि संसार में ये भाव बहुत अल्प परिमाण में विद्यमान हैं। निन्यानवे प्रतिशत मनुष्य इन बातों को मन में स्थान तक नहीं देते हैं। संसार के जिस किसी देश में मैं गया, वहीं मैंने देखा कि अब भी दूसरे धर्मों के अनुयायियों पर घोर अत्याचार जारी हैं; नया विषय सीखने के विरुद्ध जो आपत्तियाँ पहले उठ खड़ी होती थीं, वे सब आज भी उठती हैं। संसार में दूसरों के धर्म के

इसके फलस्वरूप केवल भारत में ही प्रकृत परधर्म-द्वेष-राहित्य (Religious Toleration) विद्यमान है।

प्रति द्वेष राहित्य का यदि थोड़ा बहुत भाव आज भी कहीं विद्यमान है, यदि धर्म-भाव से कुछ भी सहानुभूति है, तो वह कार्यतः यहीं — इसी आर्यभूमि में है, और कहीं नहीं। उसी प्रकार यह बात भी यहीं, और सिर्फ यहीं है कि हम भारतवासी मुसलमानों के लिए मसजिदें और ईसाइयों के लिए गिर्जाघर भी बनवा देते हैं — ऐसा और कहीं है ? यदि आप दूसरे देश में जाकर मुसलमानों से अथवा अन्य कोई धर्मावलम्बियों से अपने लिए एक मन्दिर बनवाने को कहें, तो फिर आप देखिए कि आपको क्या सहायता मिलती है। और सहायता का तो प्रश्न ही क्या, वे आपके बनाये मन्दिर को, और हो सका तो उसके साथ ही आपके देह-मन्दिर तक को, तोड़-फोड़ कर मटियामेट कर देने से बाज न आयेंगे ! इसीसे कहना पड़ता है कि संसार को अब भी इस बात के सीखने की विशेष आवश्यकता है। संसार को भारतवर्ष से दूसरों के धर्म के प्रति इस द्वेषराहित्य की — और केवल यही नहीं, दूसरों के धर्म के साथ प्रबल सहानुभूति रखने की भी — शिक्षा ग्रहण करनी होगी। शिव-महिम्न-स्तोत्र में कहा गया है —

"त्रयी सांख्यं योगः पशुपतिमतं वैष्णवमिति
प्रभिन्ने प्रस्थाने परमिदमदः पथ्यमिति च।
रुचीनां वैचित्र्यादृजुकुटिलनानापथजुषां
नृणामेको गम्यस्त्वमसि पयसामर्णव इव॥"

अर्थात् — "वेद, सांख्य, योग, पाशुपत और वैष्णव मत, इन सब भिन्न-भिन्न मतों के विषय में कोई किसी को श्रेष्ठ, तो कोई किसी और को हितकर बताता है। जिस प्रकार एक मात्र समुद्र ही सब नदियों का गम्यस्थान है, उसी प्रकार रुचि-भेद के अनुसार टेढ़ी-सीधी राहों से चलनेवाले मनुष्यों के तुम ही एकमात्र लक्ष्य या गम्यस्थान हो।"

यद्यपि लोग भिन्न-भिन्न मार्गों से चल रहे हैं, तथापि सब लोग एक ही स्थान की ओर जा रहे हैं। कोई ज़रा घूम-फिरकर टेढ़ी राह से चलता है,

और कोई एकदम सीधी राह से; पर अन्त में, हे प्रभो, सब तुम्हारे पास आएँगे। तुम्हारी भक्ति और तुम्हारा शिवदर्शन तभी सम्पूर्ण होंगे, जब तुम सर्वत्र—सब स्थानों में शिवजी को ही देखोगे, केवल शिवलिङ्ग में ही नहीं। वे ही यथार्थ में साधु हैं, वे ही सच्चे हरिभक्त हैं, जो हरि को सब जीवों में, सब भूतों में देखा करते हैं। यदि तुम शिवजी के यथार्थ भक्त हो, तो तुम्हें उनको सब जीवों में तथा सब भूतों में देखना चाहिए। चाहे जिस नाम से, अथवा चाहे जिस रूप में उनकी उपासना क्यों न की जाय—तुम्हें समझना होगा कि उन्हीं की पूजा की जा रही है। चाहे कोई काबा* की ओर मुँह करके घुटने टेककर उपासना करे, गिर्जाघर में करे, या बौद्ध-मन्दिर में ही करे, हमें समझना होगा कि वह जाने या अनजाने उसी परमात्मा की उपासना कर रहा है। चाहे जिसके नाम पर, चाहे जिस मूर्ति को उद्देश्य कर, और चाहे जिस भाव से ही पुष्पाञ्जलि क्यों न चढ़ाई जाय, वह उन्हीं के पाद-पद्मों में पहुँचती है; क्योंकि वे ही सबके एक मात्र प्रभु हैं, सब आत्माओं के अन्तरात्मा-स्वरूप हैं।

संसार में किस बात की कमी है, इस बात को वे हमारी-तुम्हारी अपेक्षा बहुत अच्छी तरह जानते हैं। सब तरह के भेद-भावों का दूर होना असम्भव है। भेद तो रहेंगे ही। वैचित्र्य के बिना जीवन असम्भव है। भावों का यह पारस्परिक संघर्ष और वैचित्र्य ही ज्ञान तथा उन्नति आदि की जड़ है। संसार में अनन्त प्रकार के प्रतिद्वन्द्वी भाव विद्यमान रहेंगे, और जरूर रहेंगे, परन्तु इसी के लिए एक-दूसरे को घृणा की दृष्टि से देखें, अथवा परस्पर विरोध

---

*काबा—हज़रत मुहम्मद साहब की जन्मभूमि, मुसलमानों के प्रधान तीर्थस्थान मक्का-नगर में यह एक प्रधान मन्दिर है। वहाँ एक काला पत्थर रखा हुआ है। कहते हैं, देवदूत गेब्रील के पास से यह प्रस्तर-खण्ड मिला है। मुसलमान लोग इसे बहुत पवित्र समझते हैं। वे जहाँ कहीं रहें, इसी काबा की तरफ मुँह करके उपासना करते या नमाज़ पढ़ते हैं।

भाव रखें, इसका क्या मतलब? अतएव, हमें उसी मूल सत्य की फिर से शिक्षा ग्रहण करनी होगी, जो केवल यहीं से — हमारी इसी मातृभूमि से — प्रचारित हुआ था। फिर एक बार भारत को संसार में इसी मूल तत्व का — इसी सत्य का प्रचार करना होगा। मैं ऐसा क्यों कह रहा हूँ? इसलिए नहीं कि यह सत्य हमारे शास्त्रों में लिखा है। हमारे जातीय साहित्य के प्रत्येक विभाग में, हमारे जातीय जीवन में यह ओतप्रोत भरा हुआ है। यहीं, और केवल यहीं, दैनिक जीवन में इसका अनुष्ठान होता है; और जिसकी आँखें हैं, वही यह बात स्वीकार करेगा कि यहाँ के सिवा और कहीं भी यह कार्य-रूप में परिणत नहीं किया जाता। इसी भाव से हमें संसार को धर्म की शिक्षा देनी होगी। भारत इससे भी ऊँची शिक्षाएँ देने की शक्ति अवश्य रखता है; पर वे सब केवल पण्डितों के ही योग्य हैं। और इस शान्तभाव की, इस तितिक्षा की, इस परधर्म के प्रति विद्वेष-राहित्य की तथा इस सहानुभूति और मातृभाव की महान् शिक्षा बालक, जवान, बूढ़े, स्त्री, पुरुष, शिक्षित, अशिक्षित सब जाति और वर्ण वाले सीख सकते हैं।

"एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति।"

---

२. वेदान्त

जफना के हिन्दू निवासियों द्वारा निम्नलिखित सम्मान-पत्र स्वामी विवेकानन्दजी की सेवा में भेंट किया गया था:—

श्रीमत् स्वामी विवेकानन्दजी,

महानुभाव,

आज हम जफना-निवासी हिन्दू-धर्मावलम्बी आपका हार्दिक स्वागत करते हैं तथा आपने हमारा निमंत्रण स्वीकार कर लंका के हिन्दू धर्म के इस प्रमुख केन्द्र में पधारने की जो कृपा की है उसके लिए हम आपके बड़े आभारी हैं।

लगभग दो हजार वर्ष से अधिक हुए हमारे पूर्वज यहाँ दक्षिण भारत से आए थे। वे हिन्दू थे और हमें यह कहते हर्ष होता है कि इस स्थान के उस समय के तामिल राजाओं ने हिन्दुत्व की रक्षा की। परन्तु उन राजाओं के बाद जब पोर्तुगीज़ तथा डच राज्यों की यहाँ स्थापना हुई तब उन्होंने हमारे धर्मानुष्ठानों में हस्तक्षेप प्रारम्भ किया, हमारी धार्मिक विधियों पर प्रतिबन्ध लगा दिए तथा हमारे पवित्र ख्यातिलब्ध मन्दिर भी शासकों की दुष्टता और निर्दयता की बलि हुए।

इन नई जातियों ने यद्यपि इस बात की लगातार चेष्टा की कि हम उनके ईसाई धर्म को स्वीकार कर लें, परन्तु फिर भी हमारे पूर्वज अपने प्राचीन धर्म पर आरूढ़ रहे और आज हम लोगों को उन्हीं से अपने प्राचीन धर्म तथा संस्कृति की एक अमूल्य दाय के रूप में प्राप्ति हुई है। फिर इस अंग्रेजी राज्य में हम लोगों का केवल जातीय तथा मानसिक पुनरुत्थान ही नहीं हुआ, वरन् हमारी प्राचीन पवित्र इमारतें भी पुनर्निर्मित हो रही हैं।

स्वामीजी, आपने जिस उदारता तथा निःस्वार्थता से वेदोक्त धार्मिक सत्य का सन्देश शिकागो धर्मपरिषद में पहुँचाकर हिन्दू धर्म की सेवा की है, भारतवर्ष के दैवी दार्शनिक सिद्धान्तों का जो प्रचार आपने अमेरिका तथ इंग्लैण्ड में किया है तथा पाश्चात्य देशों को हिन्दू धर्म का ज्ञान कराके प्राच्य तथा पाश्चात्य में आपने जो घनिष्ट सम्बन्ध प्रस्थापित कर दिया है उसके लिए हम आपके प्रति हार्दिक कृतज्ञता प्रकट करते हैं। हम आपके इसलिए भी बड़े ऋणी हैं कि आज इस भौतिक-वाद के युग में आपने हमारे प्राचीन धर्म के पुनरुत्थान का क्रम प्रारम्भ कर दिया है और विशेष कर ऐसें अवसर पर जब कि आध्यात्मिक सत्यान्वेषण के प्रति लोगों में श्रद्धा तथा विश्वास का लोप हो रहा है।

पाश्चात्य देशों को हमारे प्राचीन धर्म की उदारता समझाकर तथा उन देशों के धुरन्धर विद्वानों के मस्तिष्क में यह बात भली-भाँति स्थित करके कि पाश्चात्य दर्शन की अपेक्षा हिन्दू दर्शन कहीं अधिक उच्च तथा गूढ़ है, आपने जो उपकार किया है, उसके लिए समुचित रूप से कृतज्ञता प्रकट करना हमारी शक्ति के बाहर है।

आपको इस बात का आश्वासन दिलाना हम आवश्यकता नहीं समझते कि पाश्चात्य देशों में आपके कार्य-कलापों को हम बड़े उत्सुक भाव से देखते रहे हैं तथा धार्मिक क्षेत्र में आपकी लगन तथा सफल प्रयत्नशीलता पर हमें सदैव गर्व तथा हार्दिक आनन्द रहा है। हमें विदित है कि आधुनिक सभ्यता के प्रतीक उन पाश्चात्य नगरों में, जहाँ विद्वत्ता, सच्चरित्रता और धार्मिक तत्वानुसन्धान का दावा किया जाता है, आपके धार्मिक भाषणों की पत्रों द्वारा भूरि-भूरि प्रशंसा हुई है। उनसे आपके महान् कार्य की सहज ही प्रतीति हो जाती है और आपके वे भाषण हमारे धार्मिक साहित्य की सचमुच अमूल्य निधि बन गए हैं।

आज हमारे यहाँ उपस्थित होने की आपने जो अनुकम्पा की है उसके

लिए हम बड़े कृतज्ञ हैं और हम आशा करते हैं कि हम लोग जो आप ही के सदृश वेदों के अनुगामी हैं तथा यह मानते हैं कि "वेद ही समस्त आध्यात्मिक ज्ञान का स्रोत है", इस बात की प्रार्थना करते हैं कि हमें आपका स्वागत करने के लिए ऐसे अनेक सुअवसर प्राप्त हों।

अन्त में उस परम पिता परमेश्वर से, जिसने इस महान् कार्य में आपको इतनी सफलता प्रदान की है, प्रार्थना है कि वह आपको चिरजीवी करे तथा आपके इस श्रेष्ठ कार्य को आगे बढ़ाने के लिए आपको अधिकाधिक शक्ति प्रदान करे।

हम हैं आपके विनम्र,
जफना के हिन्दू निवासियों के प्रतिनिधि।

स्वामीजी का भाषण

विषय तो बहुत बड़ा है, पर समय है कम। एक ही व्याख्यान में हिन्दुओं के धर्म का पूरा पूरा विश्लेषण करना असम्भव है। इसलिए मैं आप लोगों के समीप अपने धर्म के मूल तत्वों का, जितनी सरल भाषा में हो सके, वर्णन करूँगा। जिस हिन्दू नाम से परिचित होना अब हमारी चाल हो गई है, इस समय उसकी कुछ भी सार्थकता नहीं है, क्योंकि उस शब्द का अर्थ था— सिन्धुनद के पार बसनेवाले। प्राचीन फारसियों के गलत उच्चारण से यह सिन्धु शब्द 'हिन्दू' हो गया है। वे सिन्धुनद के इस पार रहनेवाले सभी लोगों को हिन्दू कहते थे। इस प्रकार हिन्दू शब्द हमें मिला है। फिर मुसलमानों के शासन काल से हम वह शब्द अपने ऊपर लगाते चले आये हैं। अवश्य इस शब्द का व्यवहार करने में कोई हानि नहीं, पर मैं पहले ही कह चुका हूँ कि अब इसकी कोई सार्थकता नहीं रही; क्योंकि आप लोगों को इस बात पर ध्यान देना चाहिए कि वर्तमान समय में सिन्धुनद के इस पारवाले सब लोग प्राचीन काल की तरह एक ही धर्म को नहीं मानते। इसलिए उस शब्द से केवल हिन्दू मात्र का ही बोध

हिन्दू।

नहीं होता, वल्कि मुसल्मान, ईसाई, जैन तथा भारत के अन्यान्य अधिवासियों का भी होता है। अतः मैं हिन्दू शब्द का प्रयोग नहीं करूँगा। तो हम किस शब्द का प्रयोग करें ?— हम वैदिक (अर्थात् वेद के माननेवाले), अथवा वैदान्तिक शब्द का — जो उससे भी अच्छा है — प्रयोग कर सकते हैं। जगत् के अधिकांश मुख्य धर्म कई एक विशेष विशेष ग्रन्थों को प्रमाणस्वरूप मान लेते हैं। लोगों का विश्वास है कि ये ग्रन्थ ईश्वर या और किसी दैवी पुरुषविशेष के वाक्य हैं, इसलिए ये ग्रन्थ ही उनके धर्मों की नींव हैं। पाश्चात्य आधुनिक पण्डितों के मतानुसार, इन ग्रन्थों में से हिन्दुओं के वेद ही सबसे प्राचीन हैं। अतः वेदों के विषय में हमें कुछ जानना चाहिए।

वेद नामक शब्दराशि किसी पुरुष के मुँह से नहीं निकली है। उसके साल और तारीख का अभी निर्णय नहीं हुआ है, और न आगे चलकर होगा ही। हम हिन्दुओं के मतानुसार वेद अनादि और अनन्त हैं। एक विशेष बात आप लोगों को स्मरण रखनी चाहिए वह यह कि जगत् के अन्यान्य धर्म

वेद।

अपने शास्त्रों को यही कहकर प्रामाणिक सिद्ध करते हैं कि वे ईश्वर नामक व्यक्ति अथवा ईश्वर के किसी दूत या पैगम्बर की वाणी हैं; पर हिन्दू कहते हैं, वेदों का दूसरा कोई प्रमाण नहीं है, वेद स्वतःप्रमाण हैं, क्योंकि वेद अनादि अनन्त हैं, वे ईश्वरीय ज्ञान-राशि हैं। वेद कभी लिखे नहीं गये, न कभी सृष्ट हुए, वे अनादि काल से वर्तमान हैं। जैसे सृष्टि अनादि और अनन्त है, वैसे ही ईश्वर का ज्ञान भी। 'वेद' का अर्थ है यह ईश्वरीय ज्ञान की राशि। विद् धातु का अर्थ है जानना। वेदान्त नामक ज्ञानराशि ऋषि नामधारी पुरुषों के द्वारा आविष्कृत हुई है।

ऋषि।

ऋषि शब्द का अर्थ है मन्त्रद्रष्टा; पहले ही से वर्तमान ज्ञान को उन्होंने प्रत्यक्ष किया है, वह ज्ञान तथा भाव उनके अपने विचार का फल नहीं था। जब कभी आप यह सुनें कि वेदों के अमुक अंश के ऋषि अमुक हैं, तब यह मत सोचिये कि उन्होंने उसे लिखा

या अपनी बुद्धि द्वारा बनाया है; बल्कि पहले ही से वर्तमान भावराशि के वे द्रष्टा मात्र हैं — वे भाव अनादि काल से ही इस संसार में विद्यमान थे, ऋषि ने उनका आविष्कार मात्र किया।' ऋषिगण आध्यात्मिक आविष्कारक थे।

यह वेद नामक ग्रन्थराशि प्रधानतः दो भागों में विभक्त है — कर्मकाण्ड और ज्ञानकाण्ड। कर्मकाण्ड में नाना प्रकार के याग-यज्ञों की बातें हैं; उनमें अधिकांश वर्तमान युग के अनुपयोगी होने के कारण परित्यक्त हुए हैं, और कुछ अभी किसी न किसी रूप में मौजूद हैं। कर्मकाण्ड के मुख्य विषय — जैसे साधारण मनुष्यों के कर्तव्य, ब्रह्मचारी, गृहस्थ, वानप्रस्थी तथा संन्यासी, इन विभिन्न आश्रमियों के भिन्न भिन्न कर्तव्य — अब भी थोड़ा-बहुत माने जा रहे हैं। दूसरा भाग ज्ञानकाण्ड हमारे धर्म का आध्यात्मिक अंश है। उसका नाम वेदान्त है, अर्थात् वेदों का अन्तिम भाग — वेदों का चरम लक्ष्य। वेद-ज्ञान के इस सार अंश का नाम है वेदान्त अथवा उपनिषद् और भारत के सभी सम्प्रदायों को — द्वैतवादी, विशिष्टाद्वैतवादी, अद्वैतवादी अथवा सौर, शाक्त, गाणपत्य, शैव, वैष्णव — जो कोई हिन्दू धर्म के भीतर रहना चाहे उसी को वेदों के इस उपनिषद्-अंश को मानना पड़ेगा। वे उपनिषदों की अपनी अपनी रुचि के अनुसार व्याख्या करें, पर उनको इनका प्रामाण्य अवश्य मानना पड़ेगा। इसीलिए हम हिन्दू शब्द के बदले वैदान्तिक शब्द का प्रयोग करना चाहते हैं। भारतवर्ष के सभी प्राचीन दार्शनिकों को वेदान्त का प्रामाण्य स्वीकार करना पड़ा; और आजकल भारत में हिन्दू धर्म की चाहे जितनी शाखा-प्रशाखाएँ हों — उनमें से कुछ चाहे जितनी विसदृश क्यों न मालूम हों, उनके उद्देश्य चाहे जितने जटिल क्यों न प्रतीत हों — जो कोई उनकी अच्छी तरह छान-बीन करेगा वही समझेगा कि उनके भाव उपनिषदों से ही लिये गये हैं। उन उपनिषदों के भाव हमारी जाति की अस्थिमज्जा में ऐसे

वेद के दो विभाग-कर्मकाण्ड तथा ज्ञानकाण्ड। ज्ञान-काण्ड उपनिषद् ही समग्र हिन्दू धर्म की भित्ति-स्वरूप है।

घुस गये हैं कि यदि कोई हिन्दू धर्म की बहुत ही अमार्जित शाखाओं के भी रूपक-तत्व की आलोचना करेगा, तो वह समय समय पर यह देखकर दङ्ग रह जायगा कि उपनिषदों के ही तत्व इन धर्मों में रूपक के तौर पर वर्णित हुए हैं। उपनिषदों के बड़े बड़े आध्यात्मिक और दार्शनिक तत्व आज हमारे घरों में पूजा के प्रतीक-रूप में परिवर्तित होकर विराजमान हैं। इस प्रकार हम आजकल जितने यन्त्र-प्रतिमा आदि का व्यवहार करते हैं वे सब के सब वेदान्त से आये हैं; क्योंकि वेदान्त में उनका रूपक-भाव से प्रयोग किया गया है, फिर क्रमशः वे भाव जाति के मर्मस्थान में प्रवेश कर अन्त में यन्त्र-प्रतिमादि के रूप में उसके दैनिक जीवन के अंशस्वरूप बन गये हैं।

वेदान्त के बाद ही स्मृतियों का प्रामाण्य है। ये ऋषिलिखित ग्रन्थ हैं, पर इनका प्रामाण्य वेदान्त के अधीन है, क्योंकि वे हमारे लिए वैसे ही हैं, जैसे दूसरे धर्मवालों के लिए उनके शास्त्र। हम यह मानते हैं कि विशेष ऋषियों ने ये स्मृतियाँ रची हैं; इस दृष्टि से अन्यान्य धर्मों के शास्त्रों का जैसा प्रामाण्य है, स्मृतियों का भी वैसा है; पर स्मृतियाँ हमारा चरम प्रमाण नहीं। यदि स्मृतियों का कोई अंश वेदान्त का विरोधी हो तो उसे त्यागना पड़ेगा, उसका कोई प्रामाण्य न रहेगा। फिर ये स्मृतियाँ युग युग में बदलती भी गई हैं। हम शास्त्रों में पढ़ते हैं— सत्‌युग में अमुक स्मृतियों का प्रामाण्य है, फिर त्रेता, द्वापर और कलि में से प्रत्येक युग में अन्यान्य स्मृतियों का। देश-काल-पात्र के परिवर्तन के अनुसार आचार आदि का परिवर्तन हो रहा है; और स्मृतियाँ ही प्रधानतः इन आचारों की नियामक होने से समय समय पर उनको भी बदलना पड़ा। मैं चाहता हूँ कि आप लोग इस बात को अच्छी तरह याद रखें। वेदान्त में धर्म के जिन मूल तत्वों की व्याख्या हुई है वे अपरिवर्तनीय हैं। क्यों?—इसलिए कि वे मनुष्य तथा प्रकृति सम्बन्धी अपरिवर्तनीय तत्वों पर प्रतिष्ठित हैं, वे कभी बदल नहीं

स्मृतियाँ युग युग के लिए विभिन्न हैं।

सकते। आत्मा, स्वर्ग आदि के तत्व कभी बदलने के नहीं। हजारों वर्ष पहले वे जैसे थे, अब भी वैसे हैं और लाखों वर्ष बाद भी वैसे ही रहेंगे। परन्तु जो धर्मानुष्ठान हमारी सामाजिक अवस्था और पारस्परिक सम्बन्ध पर निर्भर रहते हैं, समाज के परिवर्तन के साथ वे भी बदल जायँगे। इसलिए विशिष्ट विधि केवल समयविशेष के लिए हितकर और उपयोगी होगी, न कि दूसरे समय के लिए। इसीलिए हम देखते हैं कि किसी समय किसी खाद्यविशेष का विधान रहा है, फिर दूसरे समय वह निषिद्ध है। वह खाद्य उस विशेष समय के लिए उपयोगी था; पर समय, जलवायु और ऋतु आदि के परिवर्तन तथा अन्यान्य कारणों से वह उस काल के लिए अनुपयोगी ठहरने से स्मृति ने उसे निषिद्ध ठहरा दिया है। इसलिए यह स्वतः प्रतीत होता है कि यदि वर्तमान समय में हमारे समाज में किसी परिवर्तन की जरूरत हो, तो वह अवश्य ही करना पड़ेगा। ऋषि लोग आकर दिखा देंगे कि किस तरह वह परिवर्तन साधित करना होगा, परन्तु हमारे धर्म के मूल तत्वों का एक कण भी परिवर्तित न होगा; वे ज्यों के त्यों रहेंगे।

पुराण।

इसके बाद पुराण आते हैं। पुराण पञ्चलक्षण हैं। उनमें इतिहास, सृष्टितत्व, विविध रूपकों के द्वारा दार्शनिक तत्वों के व्याख्यान इत्यादि नाना विषय हैं। वैदिक धर्म का सर्वसाधारण जनता में प्रचार करने के लिए पुराणों की रचना हुई। जिस भाषा में वेद लिखे हुए हैं वह अत्यन्त प्राचीन है; पण्डितों में से भी बहुत ही कम लोग उन ग्रन्थों का समय निर्णय कर सकते हैं। पुराण उस समय के लोगों की भाषा में लिखे गये हैं जिसे हम आधुनिक संस्कृत कह सकते हैं। वे पण्डितों के लिए नहीं, किन्तु साधारण लोगों के लिए हैं, क्योंकि साधारण लोग दार्शनिक तत्त्व नहीं समझ सकते हैं। उन्हें वे तत्व समझाने के लिए स्थूल रूप से साधुओं, राजाओं और महापुरुषों के जीवनचरित तथा उस जाति के बीच में जो घटनाएँ हुई थीं, इन सब बातों के सहारे शिक्षा दी जाती

थी। धर्म के सनातन तत्वों को दृष्टान्त द्वारा समझाने के लिए ही ऋषियों ने इनका उपयोग किया था।

तन्त्र। इसके बाद तन्त्र हैं। ये कई एक विषयों में प्रायः पुराणों ही के समान हैं और उनमें से कुछ में कर्मकाण्ड के अन्तर्गत प्राचीन यागयज्ञों की पुनःप्रतिष्ठा का प्रयत्न किया गया है।

ये सब ग्रन्थ हिन्दुओं के शास्त्र हैं। और जिस जाति में इतने अधिक शास्त्र विद्यमान हैं और जिसने अगणित वर्षों से दार्शनिक और आध्यात्मिक विचारों में अपने को नियोजित किया है, उसमें इतने अधिक सम्प्रदायों का उद्भव होना बहुत ही स्वाभाविक है। आश्चर्य की बात तो यह है कि और भी हजारों सम्प्रदाय क्यों न हुए। किसी किसी विषय पर इन सम्प्रदायों में आपस के अत्यन्त भेद हैं। सम्प्रदायों के धार्मिक विचारों के इन छोटे छोटे भेदों का पता लगाने का अब हमें अवकाश नहीं। इसलिए हम सम्प्रदायों की उन साधारण बातों, उन मूल तत्वों ही की आलोचना करेंगे जिन पर हिन्दू-मात्र का विश्वास रहना चाहिए।

सृष्टितत्व। पहले सृष्टि की बात लीजिए। सभी हिन्दू मानते हैं कि यह संसार, यह प्रकृति या माया अनादि और अनन्त है। जगत् किसी एक विशेष दिन में रचा गया हो सो बात नहीं। एक ईश्वर ने आकर इस जगत् की सृष्टि की और बाद में वह सो रहा यह हो नहीं सकता। सृष्टिकारिणी शक्ति अभी वर्तमान है। ईश्वर अनन्त काल से सृष्टि रच रहा है—वह कभी आराम नहीं लेता। गीता का वह अंश स्मरण कीजिए जहाँ भगवान श्रीकृष्ण कह रहे हैं, " यदि मैं क्षण भर के लिए आराम लूँ, तो यह जगत् नष्ट हो जाय "। *

---

* ' यदि ह्यहं न वर्तेयं जातु कर्मण्यतन्द्रितः।
* * * * उपहन्यामिमाः प्रजाः॥— गीता

यदि वह सृष्टि-शक्ति जो दिन रात हमारे चारों तरफ काम कर रही है क्षण भर के लिए चुप रहे तो यह संसार ही मिट जाय। ऐसा समय कभी न था जब वह शक्ति विश्व भर में क्रियाशील न थी; पर हाँ, युगान्त में प्रलय हुआ करता है। हमारे संस्कृत के 'सृष्टि' शब्द का अंग्रेजी प्रतिशब्द Creation नहीं है। खेद का विषय है कि अंग्रेजी में Creation शब्द का अर्थ है— असत् से सत् की उत्पत्ति—अभाव से भाव वस्तु का उद्भव—शून्य से संसार का उदय—यह एक भयंकर और अयौक्तिक मत है। ऐसी बेढंगी बात मान लेने को कहकर मैं आप लोगों की बुद्धि व विचार शक्ति का अपमान करना नहीं चाहता। 'सृष्टि' का ठीक प्रतिशब्द है Projection। सारी प्रकृति सदा विद्यमान रहती है, केवल प्रलय के समय वह क्रमशः सूक्ष्म से सूक्ष्म होती जाती है और अन्त में एकदम अव्यक्त हो जाती है। फिर थोड़ी देर तक विश्राम के बाद मानो कोई उसे बाहर ढकेल देता है; तब पहले ही की तरह समवाय, वैसा ही क्रम-विकास, वैसे ही रूपों का प्रकाशन होता रहता है। थोड़ी देर तक यह खेल चलता रहता है, फिर वह नष्ट हो जाता है, सूक्ष्म से सूक्ष्म हो जाता है और अन्त में लीन हो जाता है। फिर वह निकल आता है। अनन्त काल से वह लहरों की चाल से एक बार सामने आ जाता है और फिर पीछे हट जाता है। देश, काल, निमित्त तथा अन्यान्य सब कुछ इसी प्रकृति के अन्तर्गत हैं। इसीलिए यह कहना कि सृष्टि का आदि है बिलकुल निरर्थक है। सृष्टि का आदि है अथवा अन्त; यह बात ही नहीं उठ सकती; इसीलिए जहाँ कहीं हमारे शास्त्रों में सृष्टि के आदि-अन्त का उल्लेख हुआ है, वहाँ यह स्मरण रखना चाहिए कि उससे युग-विशेष के आदि-अन्त से मतलब है। उसका दूसरा अर्थ है ही नहीं।

यह सृष्टि किसने की? ईश्वर ने। अंग्रेजी में God शब्द का जो प्रचलित अर्थ है उससे मेरा मतलब नहीं। संस्कृत 'ब्रह्म' शब्द का प्रयोग करना ही सबसे अधिक युक्तिसंगत है। वही इस जगत्-प्रपंच का

ईश्वर।

साधारण कारण है। वह ब्रह्म क्या है? वह नित्य, नित्य-शुद्ध, सदा जाग्रत, सर्वशक्तिमान, सर्वज्ञ, परम दयामय, सर्वव्यापी, निराकार, अखण्ड है। वह इस जगत् की सृष्टि करता है। अब यदि यह कहें कि यही ब्रह्म संसार के स्रष्टा और नित्यविधाता हैं तो इसमें दो आपत्तियाँ उठ खड़ी होती हैं।

हम देखते हैं कि जगत् में वैषम्य है। एक मनुष्य जन्मसुखी है, तो दूसरा जन्मदुःखी; एक धनी है तो दूसरा गरीब। ऐसा वैषम्य क्यों? फिर यहाँ निष्ठुरता भी है, क्योंकि यहाँ एक का जीवन दूसरे की मृत्यु के ऊपर निर्भर करता है। एक प्राणी दूसरे को टुकड़े टुकड़े कर डालता है, और हरएक मनुष्य अपने भाई का गला दबाने की चेष्टा करता है। यह प्रतिद्वन्द्विता, निष्ठुरता, घोर अत्याचार और दिन रात की आह, जिसे सुनकर कलेजा फट जाता है—यही हमारे संसार का हाल है। यदि यही ईश्वर की सृष्टि हुई तो वह ईश्वर निष्ठुर से भी बदतर है, उस शैतान से भी गया-गुजरा है जिसकी मनुष्य ने कभी कल्पना की हो। वेदान्त कहता है कि यह ईश्वर का दोष नहीं है जो जगत् में यह वैषम्य, यह प्रतिद्वन्द्विता वर्तमान है। तो किसने इसकी सृष्टि की? स्वयं हमीं ने। एक बादल सभी खेतों पर समान रूप से पानी बरसाता रहता है। पर जो खेत अच्छी तरह जोता हुआ है वही इस वर्षा से लाभ उठाता है। एक दूसरा खेत जो जोता नहीं गया, या जिसकी देखरेख नहीं की गई, उससे लाभ नहीं उठा सकता। यह बादल का दोष नहीं। ईश्वर की कृपा नित्य और अपरिवर्तनीय है, हमीं लोग वैषम्य के कारण हैं। अच्छा, तो कोई जन्म से ही सुखी है और दूसरा दुखी, इस वैषम्य का कारण क्या हो सकता है? वे तो ऐसा कुछ करते नहीं दिखते जिससे यह वैषम्य उत्पन्न हो। उत्तर यह है कि इस जन्म में न सही, पूर्व जन्म में उन्होंने अवश्य किया होगा, और यह वैषम्य पूर्व जन्म के कर्मों ही के कारण हुआ है।

ईश्वर का वैषम्य तथा नैर्घृण्य-दोष।

अब हम दूसरे तत्व पर जिसमें केवल हिन्दू नहीं बल्कि सभी बौद्ध और जैन भी सहमत हैं, विचार करेंगे। हम सभी यह स्वीकार करते हैं कि सृष्टि की तरह जीवन भी अनादि अनन्त है। शून्य से इसकी उत्पत्ति नहीं हुई, क्योंकि यह हो ही नहीं सकता। ऐसा जीवन भला कौन माँगेगा? हरएक वस्तु, जिसकी काल में उत्पत्ति हुई है, काल ही में लीन होगी। यदि जीवन-काल ही शुरू हुआ हो तो अगले दिन इसका अन्त भी होगा, और एकान्त नाश इसका फल होगा। जीवन अवश्य रहा होगा। आज-कल यह बात समझने में बहुत विचार-शक्ति की आवश्यकता नहीं, क्योंकि आधुनिक सभी विज्ञान इस विषय में हमें सहायता दे रहे हैं— वे जड़ जगत् की घटनाओं से हमारे शास्त्रों में लिखे हुए तत्वों की व्याख्या कर रहे हैं। आप लोग यह जानते ही हैं कि हममें से प्रत्येक मनुष्य अनादि अतीत कर्म समष्टि का फलस्वरूप है; बच्चा जब जगत् में पैदा होता ह तब वह प्रकृति के हाथ से एकदम निकल नहीं आता—जैसे कवि बड़े आनन्द से वर्णन करते हैं। उस पर अनादि काल के कर्मों का बोझा लदा रहता है। इसमें चाहे भला हो चाहे बुरा, वह यहाँ अपने पूर्वकृत कर्मों का फल भोगने आता है। उसीसे इस वैषम्य की सृष्टि हुई है। यही कर्म-विधान है। हममें से प्रत्येक मनुष्य अपना अपना अदृष्ट गढ़ रहा है। इसी मतवाद द्वारा अदृष्ट-वाद का खण्डन तथा ईश्वर पर लगाये जाने वाला निष्ठुरता-दोष असिद्ध होता है; हम—हमीं लोग—अपने फलभोगों के लिए जिम्मेदार हैं—दूसरा कोई नहीं। हमीं कार्य हैं और हमीं कारण। अतः हम स्वतंत्र हैं। यदि मैं दुःखी हूँ तो यह अपने ही किये का फल है और उसी से पता चलता है कि जो मैं चाहूँ तो सुखी भी हो सकता हूँ। यदि मैं अपवित्र हूँ तो वह भी मेरा अपना ही किया हुआ है, और उसीसे ज्ञान होता है कि जो मैं चाहूँ तो पवित्र भी हो सकता हूँ। मनुष्य की इच्छा-शक्ति किसी भी घटना के अधीन नहीं। इसके सामने—मनुष्य की प्रबल, विराट, अनन्त इच्छाशक्ति

कर्मफल।

और स्वतन्त्रता के सामने — सभी शक्तियाँ, यहाँ तक कि प्राकृतिक शक्तियाँ भी सिर झुका देंगी, दब जायँगी और इसकी गुलामी करेंगी।

दूसरा प्रश्न स्वभावतः यही होगा कि आत्मा क्या है? हमारे शास्त्रों में कहे हुए ईश्वर को भी हम बिना आत्मा को जाने नहीं समझ सकते। भारत में — और भारत के बाहर भी — बाह्य प्रकृति की आलोचना द्वारा सर्वातीत सत्ता की झलक पाने की चेष्टाएँ हो चुकी हैं और हम सभी जानते हैं कि इनका क्या शोचनीय फल निकला। संसारातीत वस्तु की झलक पाने के बदले जितनी ही हम जड़ जगत् की आलोचना करते हैं उतने ही हम जड़भावापन्न होते जाते हैं। जड़ जगत् से हम जितना सरोकार रखते हैं, उतना ही हमारा बचा-खुचा धर्मभाव भी काफूर हो जाता है, इसीलिए धर्मभाव का — ब्रह्मवस्तु के ज्ञान का यह रास्ता नहीं। अपने अन्दर, अपनी आत्मा के अन्दर उसका अनुसन्धान करना होगा। बाह्य जगत् की घटनाएँ उस सर्वातीत अनन्त सत्ता के विषय में हमें कुछ नहीं बताती हैं। केवल अन्तर्जगत् के अन्वेषण से ही उसका पता चलता है। अतः आत्मतत्व के अन्वेषण तथा उसके विश्लेषण द्वारा ही परमात्मतत्व का ज्ञान प्राप्त होना सम्भव है।

आत्मतत्त्व।

जीवात्मा के स्वरूप के विषय में भारत के विभिन्न सम्प्रदायों में मत-भेद है सही, पर उनमें कुछ बातों में ऐक्य भी है। हम सभी मानते हैं कि सभी जीवात्माएँ आदि-अन्त-रहित हैं और स्वरूपतः अविनाशी हैं; और यह भी कि सर्वविध शक्ति, आनन्द, पवित्रता, सर्वव्यापिता और सर्वज्ञता प्रत्येक आत्मा में अन्तर्निहित है। यह एक महान् तत्व है जिसे हमें याद रखना चाहिए। प्रत्येक मनुष्य और प्रत्येक प्राणी में, वह चाहे जितना दुर्बल या दुष्ट— बड़ा या छोटा हो, वही सर्वव्यापी, सर्वज्ञ आत्मा विराजमान है। अन्तर जो कुछ है वह आत्मा में नहीं, उसके प्रकाश की न्यूनाधिकता में है। मुझमें और एक छोटे से छोटे प्राणी में अन्तर केवल प्रकाश के तारतम्य में है, पर स्वरू-

पतः वह और मैं एक ही हैं, वह मेरा भाई है, उसकी और मेरी आत्मा एक ही है। यही सबसे महान् तत्व है। इसी का भारत ने जगत् में प्रचार किया है। मानव जाति में भ्रातृभाव की जो बात अन्यान्य देशों में सुन पड़ती है उसने भारत में 'समस्त चेतन सृष्टि में भ्रातृभाव' का रूप धारण किया है, जिसमें सभी प्राणी—छोटी छोटी चीटियों तक सभी जानवर—शामिल हैं; ये सभी हमारे शरीर हैं। जैसे हमारा शास्त्र कहता है—"एवं तु पण्डितैर्ज्ञात्वा सर्वभूतमयं हरिम्" इत्यादि—"इसी तरह पण्डित लोग उस प्रभु को सर्वभूतमय जानकर सब प्राणियों की ईश्वर-बुद्धि से उपासना करेंगे।" यही कारण है कि भारतवर्ष में गरीबों, जानवरों, सभी प्राणियों और वस्तुओं के बारे में ऐसी करुणापूर्ण धारणाएँ पोषण की जाती हैं। हमारी आत्म-सम्बन्धी यह धारणा हमारे लिए साधारण मिलन-भूमि है।

अब हम स्वाभाविकतः ईश्वर-तत्व-सम्बन्धी विचार पर आते हैं। परन्तु एक बात आत्मा के सम्बन्ध में और रह गई। जो लोग अंग्रेजी भाषा का अध्ययन करते हैं, उन्हें प्रायः Soul and Mind (आत्मा और मन) के अर्थ में भ्रम हो जाता है। संस्कृत 'आत्मा' और अंग्रेजी 'Soul' ये दोनों शब्द भिन्नार्थवाचीय हैं। हम जिसे 'मन' कहते हैं, पश्चिम के लोग उसे Soul (आत्मा) कहते हैं। पश्चिम देशवालों को आत्मा का यथार्थ ज्ञान कभी नहीं था। उन्हें कोई बीस वर्ष हुए संस्कृत दर्शन-शास्त्रों से यह ज्ञान प्राप्त हुआ है। यह हमारा स्थूल शरीर है, इसके पीछे मन है किन्तु यह मन आत्मा नहीं है। यह सूक्ष्म शरीर है—सूक्ष्म तन्मात्राओं का बना हुआ है। यही जन्म और मृत्यु के फेर में पड़ा हुआ है। परन्तु मन के पीछे है आत्मा—मनुष्यों की यथार्थ सत्ता। इस आत्मा शब्द का अनुवाद Soul या Mind नहीं हो सकता। अतएव हम 'आत्मा' शब्द का ही प्रयोग करेंगे अथवा आजकल के पाश्चात्य दार्शनिकों के मतानुसार 'Self' शब्द का। तुम चाहे

क्या Soul (आत्मा) है?

जिस शब्द का प्रयोग करो किन्तु तुम्हें यह साफ साफ समझ लेना चाहिए कि आत्मा तथा स्थूल शरीर दोनों मन से सम्पूर्ण पृथक् हैं, और वही आत्मा, मन और सूक्ष्म शरीर के साथ, जन्म और मृत्यु के मार्ग में घूम रहा है। और जब समय आता है और उसे सर्वज्ञता तथा पूर्णत्व प्राप्त होता है तब वह जन्म-मृत्यु के फन्दे से छूट जाता है तथा पूर्ण स्वतन्त्र हो जाता है। मन या सूक्ष्म शरीर को वह यदि चाहे तो रख सकता है अथवा उसका त्याग कर चिरकाल के लिए सम्पूर्ण स्वाधीन भाव से रह सकता है। आत्मा का लक्ष्य स्वाधीनता ही है। हमारे धर्म की यही विशेषता है। हमारे धर्म में भी स्वर्ग और नरक हैं, परन्तु वे चिरस्थायी नहीं हैं। स्वर्ग और नरक के स्वरूप पर विचार करने से यह सहज ही मालूम हो जायेगा कि ये चिरस्थायी नहीं हो सकते। यदि स्वर्ग हो भी, तो वहाँ मर्त्यलोक की ही पुनरावृत्ति होगी। माना कि वहाँ सुख कुछ अधिक है, भोग कुछ ज्यादा है, परन्तु इससे आत्मा का अशुभ ही अधिक होगा। ऐसे स्वर्ग अनेक हैं। इहलोक में जो लोग फल-प्राप्ति की इच्छा से सत्कर्म करते हैं वे लोग मृत्यु के बाद ऐसे ही किसी स्वर्ग में इन्द्रादि देवताओं के रूप से जन्म लेते हैं। यह देवत्व एक पदविशेष है। देवता भी किसी समय मनुष्य थे। सत्कर्मों के कारण उन्हें देवत्व की प्राप्ति हुई है। इन्द्र-वरुणादि किसी देवता-विशेष के नाम नहीं हैं। हजारों इन्द्र होंगे। राजा नहुष ने मृत्यु के पश्चात् इन्द्रत्व पाया था। इन्द्रत्व केवल एक पद है। किसी ने अच्छे कर्म किये, जिनके फल से उसकी उन्नति हुई और उसने इन्द्रत्व का लाभ किया, कुछ दिन उसी पद पर प्रतिष्ठित रहा, फिर उस देव-शरीर को छोड़ मनुष्य का तन धारण किया। मनुष्य का जन्म सब जन्मों से श्रेष्ठ है। कोई-कोई देवता स्वर्ग-सुख की इच्छा छोड़ मुक्ति-प्राप्ति की चेष्टा कर सकते हैं, परन्तु जिस प्रकार इस संसार के अधिकांश लोग धन, मान और ऐश्वर्य पा जाने पर ऊँचे तत्वों को भूल जाते हैं, उसी प्रकार अधिकांश देवता भी ऐश्वर्य के नशे में मतवाले होकर

स्वर्ग।

मुक्ति का प्रयत्न नहीं करते। शुभ कर्मों का फल भोग करके वे फिर इस पृथ्वी में नर-शरीर धारण करते हैं। अतएव यह पृथ्वी ही कर्म-भूमि है। इस पृथ्वी ही से हम मुक्तिलाभ कर सकते हैं। अतएव हमें इन स्वर्गों की कोई आवश्यकता नहीं। तो फिर हमें क्या चाहिए?—मुक्ति। हमारे शास्त्र कहते हैं कि अच्छे से अच्छे स्वर्ग में भी तुम प्रकृति के दास हो। बीस हजार वर्ष तक तुमने राज्यभोग किया; पर इससे हुआ क्या? जब तक तुम्हारा शरीर रहेगा तब तक तुम सुख के दास ही हो, जब तक देश और काल का तुम पर प्रभुत्व है तब तक तुम शर्त बँधे गुलाम ही हो। इसीलिए हमें बहिःप्रकृति और अन्तः-प्रकृति—दोनों पर विजय प्राप्त करनी होगी। प्रकृति को तुम्हारे पैरों तले रहना चाहिए और इसे तलवे के नीचे रखकर, इसके बाहर चलकर तुम्हें स्वाधीन भाव से अपनी महिमा में अपने आपको प्रतिष्ठित करना होगा। तब तुम जन्म के अतीत हो गये, अतएव तुम मृत्यु के भी पार जा चुके। तब तुम्हारा सुख दूर हो गया, अतएव तुम दुःख से भी अलग हो गये। उसी समय तुम सर्वातीत, अव्यक्त, अविनाशी आनन्द के अधिकारी हुए। यहाँ जिसे हम सुख और कल्याण कहते हैं, वह उसी अनन्त आनन्द का एक कण-मात्र है। वही अनन्त आनन्द हमारा लक्ष्य है।

मुक्ति ही हमारा लक्ष्य है।

आत्मा जिस प्रकार अनन्त आनन्दस्वरूप है, उसी प्रकार वह लिंगभेद-रहित है। आत्मा के विषय में यह नहीं कहा जा सकता कि वह पुरुष है या स्त्री। यह स्त्री और पुरुष का भेद तो केवल देह के सम्बन्ध में है। अतएव आत्मा पर स्त्री-पुरुष-भेद का आरोप करना केवल भ्रम है—यह लिंग-भेद शरीर के विषय में ही सत्य है। आत्मा की आयु का भी निर्देश नहीं किया जा सकता। वह पुरातन पुरुष सदा समस्वरूप ही में वर्तमान है।

आत्मा लिंग व आयुरहित है।

तो यह आत्मा संसार में बद्ध किस प्रकार हो गई? इस प्रश्न का केवल

एक ही उत्तर शास्त्र देते हैं। अज्ञान ही बन्धन का कारण है। हम अज्ञान के ही कारण बँधे हुए हैं। ज्ञान से अज्ञान दूर होगा। यही ज्ञान हमें अँधेरे के उस पार ले जायगा। तो इस ज्ञान-प्राप्ति का क्या उपाय है?—भक्तिपूर्वक ईश्वराराधन द्वारा और सर्वभूतों को परमात्मा का मन्दिर समझकर सर्वभूतों में प्रेम करने से ज्ञान होता है। ईश्वर के अनुराग की प्रबलता से ज्ञान का उदय होगा—अज्ञान दूर होगा—सब बन्धन टूट जायेंगे और आत्मा को मुक्ति मिलेगी। हमारे शास्त्रों में परमात्मा के दो रूप कहे गये हैं—सगुण और निर्गुण। सगुण ईश्वर के अर्थ से वे सर्वव्यापी हैं—संसार की सृष्टि, स्थिति और प्रलय के कर्ता हैं—संसार के अनादि जनक तथा जननी हैं। उनके साथ हमारा नित्य भेद है। मुक्ति का अर्थ—उनके सामीप्य और सालोक्य की प्राप्ति है। सगुण ब्रह्म के ये सब विशेषण निर्गुण ब्रह्म के सम्बन्ध में अनावश्यक और अयौक्तिक हैं, इसलिए त्याज्य कर दिये गये। वह निर्गुण और सर्वव्यापी पुरुष ज्ञानवान नहीं कहा जा सकता; क्योंकि ज्ञान मन का धर्म है। वह चिन्ताशील नहीं कहा जा सकता; क्योंकि चिन्ता ससीम जीवों के ज्ञानलाभ का उपाय मात्र है। वह विचारपरायण नहीं कहा जा सकता; क्योंकि विचार भी ससीम है और दुर्बलता का चिह्न मात्र है। वह सृष्टिकर्ता भी नहीं कहा जा सकता, क्योंकि जो बन्धनहीन है, मुक्त है, उसे कभी सृष्टि की प्रवृत्ति नहीं हो सकती। उसका बन्धन ही क्या हो सकता है? कोई बिना प्रयोजन के कोई काम नहीं कर सकता,—उसे फिर प्रयोजन क्या है? कोई बिना अभाव के कोई काम नहीं कर सकता;—तो उसे अभाव क्या है? वेदों में उसके लिए 'सः' शब्द का प्रयोग नहीं किया गया; 'सः' शब्द द्वारा निर्देश न करके निर्गुण भाव समझाने के लिए 'तत्' शब्द द्वारा उसका निर्देश किया गया है। 'सः' शब्द के कहे जाने से वह व्यक्तिविशेष हो जाता, इससे जीव-जगत् के साथ उसका सम्पूर्ण पार्थक्य

बन्धन तथा मुक्ति।

सगुण और निर्गुण।

सूचित हो जाता। इसलिए निर्गुणवाचक 'तत्' शब्द का प्रयोग किया गया है और 'तत्' शब्द से निर्गुण ब्रह्म का प्रचार हुआ है। इसी को अद्वैतवाद कहते हैं।

इस निर्गुण पुरुष के साथ हमारा क्या सम्बन्ध है? सम्बन्ध यह है कि हम उससे अभिन्न हैं,—वह और हम एक हैं। हरएक मनुष्य उसी निर्गुण पुरुष का—जो सब प्राणियों का मूल कारण है—अलग अलग प्रकाश है। जब हम इस अनन्त और निर्गुण पुरुष से अपने को पृथक् सोचते हैं तभी हमारे दुःख की उत्पत्ति होती है और इस अनिर्वचनीय निर्गुण सत्ता के साथ अभेद-ज्ञान ही मुक्ति है। संक्षेपतः, हम अपने शास्त्रों में ईश्वर के इन्हीं दोनों भावों का उल्लेख देखते हैं। यहाँ यह कहना आवश्यक है कि निर्गुण ब्रह्मवाद ही सब प्रकार के नीति-विज्ञानों की नींव है। अति प्राचीन

अद्वैतवाद ही नीति-विज्ञान की नींव है।

काल ही से प्रत्येक जाति में यह सत्य कि 'मनुष्य-जाति को आत्मवत् प्यार करना चाहिये'—प्रचारित किया गया है। फिर भारत में तो मनुष्य और इतर प्राणियों में कोई भेद ही नहीं रखा गया—सभी को आत्मवत् प्यार करने का उपदेश किया गया है; परन्तु अन्य प्राणियों को आत्मवत् प्यार करने से क्यों कल्याण होगा, इसका कारण किसी ने नहीं बताया। एकमात्र निर्गुण ब्रह्मवाद ही इसका कारण कहने में समर्थ है। यह तुम तभी समझोगे जब तुम सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड को एक अखण्डस्वरूप देखोगे—जब तुम समझोगे कि दूसरे को प्यार करना अपने ही को प्यार करना है—दूसरे को हानि पहुँचाना अपनी ही हानि करना है। तभी हम समझेंगे कि दूसरे का अहित करना क्यों अनुचित है। अतएव, यह निर्गुण ब्रह्मवाद ही नीतिविज्ञान का मूल कारण माना जा सकता है। अद्वैतवाद का प्रसंग उठाते हुए और भी अनेक बातों की याद आ जाती है। सगुण ईश्वर पर विश्वास हो तो हृदय में कैसा अपूर्व प्रेम उमड़ता है, यह मैं जानता हूँ। मैं अच्छी तरह समझता

हूँ कि भिन्न भिन्न समय की आवश्यकतानुसार मनुष्यों पर भक्ति का कैसा प्रभाव पड़ा है। परन्तु हमारे देश में अब रोने का समय नहीं है — अब कुछ वीरता की आवश्यकता है। इस निर्गुण ब्रह्म पर विश्वास होने से सब प्रकार के कुसंस्कारों से छूटकर, "मैं ही वह निर्गुण ब्रह्म हूँ" — इस ज्ञान के सहारे अपने ही पैरों पर खड़ा होने से हृदय में कैसी अद्भुत शक्ति भर जाती है! और फिर भय? मुझे किसका भय है? मैं प्रकृति के नियमों की भी परवाह नहीं करता। मृत्यु मेरे निकट उपहास है। मनुष्य तब अपनी उस आत्मा की महिमा में प्रतिष्ठित हो जाता है, जो अनादि है — अनन्त है — अविनाशी है — जिसे कोई शस्त्र छेद नहीं सकता, आग जला नहीं सकती, पानी गीला नहीं कर सकता, वायु सुखा नहीं सकती, — जो अनन्त है — जन्म-मृत्यु-रहित है, तथा — जिसकी महत्ता के सामने सूर्यचन्द्रादि, यहाँ तक कि सारा ब्रह्माण्ड सिन्धु में बिन्दु तुल्य प्रतीत होता है, — जिसकी महत्ता के सामने देश और काल का भी अस्तित्व लुप्त हो जाता है। हमें इसी महामहिम आत्मा पर विश्वास करना होगा — वीरता तभी आएगी। तुम जो कुछ सोचोगे, तुम वही हो जाओगे; यदि तुम अपने को दुर्बल समझोगे, तो तुम दुर्बल हो जाओगे; तेजस्वी सोचोगे तो तेजस्वी बन जाओगे। यदि तुम अपने को अपवित्र सोचोगे तो तुम अपवित्र हो जाओगे; अपने को शुद्ध सोचोगे तो शुद्ध हो जाओगे। अद्वैतवाद हमें यह उपदेश नहीं देता कि तुम अपने को कमज़ोर समझो, किन्तु वह हमें तेजस्वी, सर्वशक्तिमान और सर्वज्ञ सोचने को कहता है। यह भाव हममें चाहे अब तक प्रकाशित न हुआ हो, किन्तु वह हमारे भीतर है जरूर। हमारे भीतर सम्पूर्ण ज्ञान, सारी शक्तियाँ, पूर्ण पवित्रता और स्वाधीनता के भाव विद्यमान हैं। तो हम उन्हें जीवन में प्रकाशित क्यों नहीं कर सकते? कारण यह कि उन पर हमारा विश्वास नहीं है। यदि हम इसी समय उन पर विश्वास कर सकें, तो उनका विकास होगा — अवश्य होगा। अद्वैत-

वीरता चाहिए। उपाय-अद्वैतवाद।

वाद हमें यही शिक्षा देता है। बिलकुल बचपन से ही बच्चों को बलवान बनाओ — उन्हें दुर्बलता अथवा किसी बाहरी अनुष्ठान की शिक्षा न दी जाय। वे तेजस्वी हों — अपने ही पैरों पर खड़े हो सकें — साहसी, सर्व-विजयी, सर्वसह हों; परन्तु सबसे पहले उन्हें आत्मा की महिमा की शिक्षा मिलनी चाहिए। यह शिक्षा वेदान्त में — केवल वेदान्त में प्राप्त होगी। वेदान्त में अन्यान्य धर्मों की तरह भक्ति, उपासना आदि की भी अनेक बातें हैं — यथेष्ट मात्रा में हैं, परन्तु मैं जिस आत्मतत्व की बात कह रहा हूँ वही जीवन है, शक्तिप्रद है और अत्यन्त अपूर्व है। केवल वेदान्त में ही वह महान् तत्व है जिससे सारे संसार के भावों की जड़ हिल जाएगी और जड़-विज्ञान के साथ धर्म की एकता सिद्ध होगी।

तुम्हारे निकट मैंने अपने धर्म के मुख्य मुख्य तत्व कह दिये। किस प्रकार वे काम में लाये जायँगे अब उस विषय पर कुछ बातें कहूँगा। मैंने पहले ही कहा है कि भारत की वर्तमान परिस्थिति जैसी है तदनुसार उसमें अनेक सम्प्रदायों का रहना स्वाभाविक है। अतः यहाँ अनेक सम्प्रदाय देखने को मिलते हैं; और साथ ही यह जानकर आश्चर्य होता है कि ये सम्प्रदाय आपस में लड़ते-झगड़ते नहीं। शैव यह नहीं कहता कि हरएक वैष्णव जह-न्नुम को जा रहा है, न वैष्णव ही शैव को यह कहता है। शैव कहता है — "यह हमारा मार्ग है, तुम अपने में रहो, अन्त में हम एक ही जगह पहुँचेंगे।" यह बात भारत के सभी मनुष्य जानते हैं। यही इष्टनिष्ठा है। बहुत पुराने

इष्टनिष्ठा।

जमाने में यह स्वीकृत हो चुका था कि ईश्वर की उपासना के कितने ही तरीके हैं। और यह भी समझ में आ गया था कि भिन्न भिन्न स्वभाव के मनुष्यों के लिए भिन्न भिन्न मार्ग आवश्यक हैं। तुम जिस रास्ते से चलकर ईश्वरलाभ करोगे, वह रास्ता, सम्भव है, मेरे लिए उपयोगी न हो। सम्भव है, उससे मेरी क्षति हो। यह धारणा कि हरएक के लिए एक ही मार्ग है — हानिकर है, अर्थहीन है और सर्वथा त्याज्य है।

संसार के लिए वह बड़ा बुरा दिन होगा यदि हरएक मनुष्य का धार्मिक मत एक हो जाय और हरएक एक ही मार्ग का अवलम्बन करने लगे। तब तो सब धर्म और सारे विचार नष्ट हो जायँगे, तब तो सब लोगों की स्वाधीन विचार-शक्ति और वास्तविक विचार-भाव नष्ट हो जायँगे! वैचित्र्य ही जीवन का मूल सूत्र है। इसका यदि अन्त हो जाय तो सारी सृष्टि का लोप हो जायेगा। यह भिन्नता जब तक विचारों में रहेगी तब तक हम अवश्य जीते रहेंगे। अतएव इस भिन्नता के कारण हमें लड़ना न चाहिए। तुम्हारा मार्ग तुम्हारे लिए अत्युत्तम है, परन्तु हमारे लिए नहीं। मेरी राह मेरे लिए अच्छी है, पर तुम्हारे लिए नहीं। इसी राह को संस्कृत में इष्ट कहते हैं। अतएव, याद रखो संसार के किसी भी धर्म से हमारा विरोध नहीं है, क्योंकि हरएक का इष्ट भिन्न है। परन्तु, जब हम मनुष्यों को आकर यह कहते हुए सुनते हैं कि 'एकमात्र मार्ग केवल यही है' और जब भारत जैसे असाम्प्रदायिक देश में जबरदस्ती अपने मत पर ले आने की उन्हें कोशिश करते देखते है तब हमें हँसी आ जाती ह; क्योंकि ऐसे मनुष्य जो कि अपने भाइयों को एक दूसरे पथ से ईश्वर की ओर जाते हुए देख उनका सत्यानाश करना चाहते है, यदि वे उनके प्रति प्यार की बातें करें तो यह वृथा है। उनके प्रेम का मोल कुछ नहीं है। प्रेम का प्रचार वे किस तरह कर सकते है जब वे किसी को एक दूसरे मार्ग से ईश्वर की ओर जाते नहीं देख सकते? यदि यह प्रेम है तो फिर द्वेष क्या हुआ? हमारा झगड़ा संसार के किसी भी धर्म से नहीं है, चाहे वह मनुष्यों को ईसा की पूजा करने की शिक्षा दे अथवा मुहम्मद की अथवा किसी दूसरे अवतार की। हिन्दू कहते है—"प्यारे भाइयो! हम तुम्हारी सादर सहायता करेंगे, परन्तु तुम भी हमें अपने मार्ग पर चलने दो। यही हमारा इष्ट है। तुम्हारा मार्ग बहुत अच्छा है, इसमें कोई सन्देह नहीं, परन्तु वह मेरे लिए, सम्भव है, घोर हानिकर हो। मेरी अपनी अभिज्ञता मुझे बताती है कौन सा भोजन मेरे लिए अच्छा है। यह बात डाक्टरों का समूह भी मुझे नहीं बता सकता। इसी

प्रकार अपनी निज की अभिज्ञता से मैं जानता हूँ, कौन सा मार्ग मेरे लिए सर्वोत्तम है।"—यही लक्ष्य है—इष्ट है; और इसीलिये हम कहते हैं कि यदि मन्दिर, यन्त्र या प्रतिमा के सहारे तुम अपने भीतर आत्मा में स्थित परमेश्वर को जान सको तो इसके लिए हमारी ओर से बधाई है। चाहो तो दो सौ मूर्तियाँ गढ़ो। यदि किसी अनुष्ठान द्वारा तुम ईश्वर को प्राप्त कर सको तो बिना विलम्ब उसका अनुष्ठान करो। चाहे जो क्रिया हो, चाहे जो अनुष्ठान हो, यदि वह तुम्हें ईश्वर के समीप ले जा रहा है तो उसी का ग्रहण करो, जिस किसी मन्दिर में जाने से तुम्हें ईश्वर-लाभ में सहायता मिले तो वहीं जाकर उपासना करो। परन्तु उन मार्गों पर विवाद मत करो। जिस समय तुम विवाद करते हो, उस समय तुम ईश्वर की ओर नहीं जाते, बढ़ते नहीं, वरन् उल्टे पशुत्व की ओर चले जाते हो।

समाज संस्कार।

यही कुछ बातें हमारे धर्म की हैं। हमारा धर्म किसी को अलग नहीं करता। वह सभी को समेट लेता है। यद्यपि हमारे जाति-भेद और अन्यान्य नियम धर्म के साथ आपस में मिले हुए दिखते हैं तथापि बात ऐसी नहीं। ये नियम हमारी जाति की रक्षा के लिए आवश्यक थे। और जब आत्मरक्षा के लिए इनकी ज़रूरत न रह जायेगी तब स्वभावतः ये नष्ट हो जायेंगे, किन्तु मेरी उम्र ज्यों ज्यों बढ़ती जाती है, त्यों त्यों ये पुरानी प्रथाएँ मुझे भली प्रतीत होती जाती हैं। एक समय ऐसा था जब मैं इनमें से अधिकांश को अनावश्यक तथा व्यर्थ समझता था; परन्तु वयोवृद्धि के साथ साथ उनमें से किसी के विरुद्ध कुछ भी कहते मुझे संकोच होता है; क्योंकि उनका आविष्कार सैकड़ों सदियों की अभिज्ञता का फल है। कल का छोकड़ा—कल ही जिसकी मृत्यु हो सकती है—यदि मेरे पास आये और मेरे चिरकाल के संकल्पों को छोड़ देने को कहे और यदि मैं उस लड़के के मतानुसार अपने कामों की गति पलट दूँ, तो अहमक मैं ही हुआ, दूसरा और कोई नहीं। भारतेतर भिन्न भिन्न देशों से, समाज-सुधार के विषय

के, यहाँ कितने ही उपदेश आते हैं, वे भी अधिकांश ऐसे ही हैं। वहाँ के लोगों से कहो कि तुम जब अपने समाज का स्थायी सङ्गठन कर सकोगे तब तुम्हारी बात मानेंगे। तुम किसी भाव को दो दिन के लिए भी धारण नहीं कर सकते। विवाद करके उसको छोड़ देते हो। तुम्हारा जीवन कीड़ों की तरह क्षणस्थायी है। उन्हीं की तरह पाँच मिनट में तुम मर जाते हो। बुलबुले की भाँति तुम्हारी उत्पत्ति होती है और बुलबुले की भाँति तुम्हारा नाश। पहले हमारे जैसा स्थायी समाज संगठित करो। पहले कुछ ऐसे सामाजिक नियमों और प्रथाओं को संचालित करो, जिनकी शक्ति हजारों वर्ष अक्षुण्ण रहे—तब तुम्हारे साथ इस विषय का वार्तालाप करने का समय आएगा, किन्तु जब तक ऐसा नहीं होता तब तक मित्रो, तुम चंचल बालक मात्र हो।

मुझे अपने धर्म के विषय पर जो कुछ कहना था, वह मैं कह चुका। अब मैं तुम्हें उस बात की याद दिलाना चाहता हूँ जिसकी इस समय विशेष आवश्यकता है। धन्यवाद है, महाभारत के प्रणेता महान् व्यासजी को—जिन्होंने कहा है, 'कलियुग में दान ही एकमात्र धर्म है'। तप और कठिन योगों की साधना इस युग में नहीं होती। इस युग में दान देने तथा दूसरों की सहायता करने की विशेष जरूरत है। दान शब्द का क्या अर्थ है? सब दानों से श्रेष्ठ है—धर्म-दान, फिर है विद्या-दान, फिर प्राण-दान; भोजन-कपड़े का दान सबसे निकृष्ट दान है। जो धर्म का ज्ञान-दान करते हैं वे अनन्त जन्म और मृत्यु के प्रवाह से आत्मा की रक्षा करते हैं। जो विद्या-दान करते हैं वे मनुष्य की आँखें खोलते, उन्हें अध्यात्म-ज्ञान का पथ दिखा देते हैं। दूसरे दान, यहाँ तक कि प्राण-दान भी उनके निकट तुच्छ है। अतएव तुम्हें समझ लेना चाहिए कि अन्यान्य सब कर्म आध्यात्मिक ज्ञान-दान से निकृष्ट हैं। आध्यात्मिक ज्ञान ही के विस्तार से मनुष्य-जाति की सबसे अधिक सहायता की जा सकती है।

कलियुग में धर्म-दान ही श्रेष्ठ साधन।

आध्यात्मिकता का हमारे शास्त्रों में अनन्त स्रोत है और हमारे इस त्यागी देश को छोड़ और कौन सा देश है जहाँ धर्म की ऐसी प्रत्यक्षानुभूति का दृष्टान्त देखने को मिल सकता है ? संसारविषयक कुछ अभिज्ञता मैंने प्राप्त की है। मेरी बात पर विश्वास करो, अन्यान्य देशों में वागाडम्बर बहुत है, किन्तु ऐसे मनुष्य जिन्होंने धर्म को अपने जीवन में परिणत किया है— यहीं, केवल यहीं हैं। धर्म बातों में नहीं रहता है। तोता बहुत बोलता है —आजकल मशीनें भी खूब बोलती हैं! परन्तु ऐसा जीवन मुझे दिखाओ जिसमें त्याग हो, आध्यात्मिकता हो, तितिक्षा हो, अनन्त प्रेम हो। ये गुण हों तभी मनुष्य धार्मिक होता है। जब कि हमारे शास्त्रों में ऐसे सुन्दर भाव विद्यमान हैं, और हमारे देश में ऐसे महान् जीवनों के उदाहरण विद्यमान हैं, तब तो यह बड़े दुःख का विषय होगा यदि हमारे श्रेष्ठ योगियों के मस्तिष्क और हृदय से निकली हुई यह चिन्तारत्न-राशि प्रत्येक व्यक्ति की—धनियों और दरिद्रों की—उच्च या नीच, यहाँ तक कि हरएक की—साधारण सम्पत्ति न हो सके। केवल भारत ही में नहीं, विश्व भर में इसे फैलाना चाहिए। हमारे प्रधान कर्मों में से यह भी एक मुख्य कर्म है। और तुम देखोगे कि ज्यों ज्यों तुम दूसरों को मदद पहुँचाने के लिए कर्म करोगे, त्यों त्यों तुम अपना ही कल्याण करते रहोगे। यदि सचमुच तुम अपने धर्म पर प्रीति रखते हो, यदि सचमुच तुम अपने देश को प्यार करते हो तो दुर्बोध शास्त्रों में से रत्न-राशि ले लेकर उसके यथार्थ उत्तराधिकारियों को देने के लिए जी खोलकर इस महान् व्रत की साधना में लग जाओ। और सबसे पहले एक बात अत्यन्त आवश्यक है।—हाय! सदियों की घोर ईर्ष्या द्वारा हम जर्जर हो रहे हैं—हम सदा एक दूसरे का बुरा ताकते हैं! क्यों अमुक व्यक्ति हमसे बढ़ गया?—क्यों हम अमुक से बड़े न हो सके?—सर्वदा हमारी यही चिन्ता बनी रहती है। यहाँ तक कि धर्म में भी हम इसी श्रेष्ठता की ताक में रहते हैं। हम इस प्रकार ईर्ष्या के दास हो गये हैं! इसे हमें दूर करना

चाहिए। यदि इस समय भारत में कोई महापाप है, तो वह यही ईर्ष्या है। हरएक व्यक्ति हुकूमत जताना चाहता है पर आज्ञा पालन करने के लिए कोई भी तैयार नहीं है। और यह सब इसलिए है कि प्राचीन काल के उस अद्‌भुत ब्रह्मचर्य-आश्रम का अब पालन नहीं किया जाता। पहले आदेश पालन करना सीखो, आदेश देना फिर स्वयं आ जायगा। पहले सर्वदा दास होना सीखो, तभी तुम प्रभु हो सकोगे। ईर्ष्या-द्वेष छोड़ो तभी तुम उन महान् कर्मों को कर सकोगे जो अभी तक बाकी पड़े हैं। हमारे पूर्वजों ने बड़े बड़े और अद्‌भुत अद्‌भुत कर्म किये हैं, जिनकी समालोचना हम भक्ति और गर्व के साथ करते हैं, परन्तु यह समय हमारे कार्य करने का है जिसे देखकर हमारी भावी सन्तान गर्व करेगी और हमें योग्य पूर्वज समझेगी। हमारे पूर्व-पुरुष कितने ही श्रेष्ठ और महिमान्वित क्यों न हों, प्रभु के आशीर्वाद से, यहाँ जो लोग हैं उनमें से हरएक वह काम कर सकेगा, जिसके आगे पूर्वजों का भी गौरव-सूर्य मलिन हो जायेगा।

---

३. पाम्बन-अभिनन्दन

स्वामी विवेकानन्दजी जब पाम्बन पहुँचे तब रामनद के राजा ने उनकी अगवानी की तथा बड़े स्नेह एवं भक्ति से उनका स्वागत किया। जिस घाट पर स्वामीजी की नाव आकर लगी थी उसके किनारे पर बड़ी तैयारियाँ की गई थीं तथा एक विशाल सज्जित मण्डप के नीचे उनके स्वागत का आयोजन किया गया था। उस अवसर पर पाम्बन की जनता की ओर से स्वामीजी की सेवा में निम्नलिखित सम्मान-पत्र पढ़ा गया :—

परम पूज्य स्वामीजी,

"आज हमारे लिए यह बड़े सौभाग्य की बात है कि हम अत्यन्त कृतज्ञतापूर्वक तथा परम श्रद्धा के साथ आपका स्वागत कर रहे हैं। कहना न होगा कि हम आपके महान् कृतज्ञ इसलिए हैं कि आपने अपने अन्य कितने ही आवश्यक कार्यों को स्थगित करके हमारे लिए कुछ समय निकालने की कृपा की और जैसा कि सबको विदित है, आपके प्रति हमारी परम श्रद्धा आपके अनेकानेक सद्गुणों एवं उस महान् कार्य के कारण है जिसका सम्पूर्ण भार आप अपने कंधों पर लेकर उसे इतनी योग्यता, दक्षता, उत्साह एवं लगन के साथ सम्पादित कर रहे हैं।

"हमें वास्तव में यह देखकर बड़ा हर्ष होता है कि हिन्दू-दर्शन के सिद्धान्तों का बीजारोपण जो आपने पाश्चात्य लोगों के उर्वर मस्तिष्क में कर दिया है वह इतने सफल रूप से हुआ है कि हमें अभी से अपने चारों ओर उसके अंकुरित होने, लहलहाने तथा फूलने-फलने के चिह्न स्पष्ट रूप से प्रतीत होने लगे हैं। हमारी आपसे अब इतनी ही प्रार्थना है कि आप अपने आर्यावर्त देश के इस भ्रमण में पाश्चात्य देशों की अपेक्षा तनिक अधिक यत्न करके

अपने देश-निवासी बन्धुओं की बुद्धि को थोड़ा जाग्रत कर उन्हें शुष्क चिर-निद्रा से उठा दें तथा उन्हें उस सत्य का फिर स्मरण करा दें जिसे वे बहुत काल से भूले बैठे हैं।

"स्वामीजी, हम कैसे कहें, हमारे हृदय आपके प्रति इतने गाढ़ स्नेह, अपूर्व श्रद्धा तथा उच्च श्लाघा से उमड़ पड़ते हैं कि हमारे पास उन भावों को व्यक्त करने के लिए शब्द भी नहीं हैं। आप ही हमारे आध्यात्मिक नेता हैं। हम ईश्वर से एक स्वर से यही हार्दिक प्रार्थना करते हैं कि वह आपको चिर-जीवी करे जिससे कि आप हम लोगों का भला कर सकें तथा वह आपको ऐसी शक्ति दे जिसके द्वारा आप हम लोगों की सोई हुई विश्व-बन्धुत्व की भावना को फिर से जाग्रत कर सकें।"

इस स्वागत-भाषण के साथ राजा साहब ने अपनी ओर से व्यक्तिगत संक्षिप्त स्वागत-भाषण भी दिया जो बड़ा ही हृदयस्पर्शी था। इसके अनन्तर स्वामीजी ने निम्नाशय का उत्तर दिया :—

स्वामीजी का उत्तर

हमारा पवित्र भारतवर्ष धर्म एवं दर्शन की पुण्य-भूमि है। यहीं बड़े बड़े महात्माओं तथा ऋषियों का जन्म हुआ है, यही संन्यास एवं त्याग की भूमि है तथा यहीं — केवल यहीं — आदि काल से लेकर आज तक मनुष्य के लिए जीवन के सर्वोच्च आदर्श एवं मुक्ति का द्वार खुला हुआ है।

धर्म ही भारत के जातीय जीवन का मेरुदण्ड है।

मैंने पाश्चात्य देशों में भ्रमण किया है, भिन्न-भिन्न राष्ट्रों तथा जातियों से मिला-जुला हूँ और मैं यह कह सकता हूँ कि प्रत्येक राष्ट्र का एक न एक मुख्य आदर्श अवश्य होता है। वह आदर्श ऐसा होता है कि राष्ट्र के समस्त जीवन में उसका संचार होता रहता है,— कह सकते हैं कि वह आदर्श उस राष्ट्र की रीढ़ होती है। भारतवर्ष में भी यही बात है, परन्तु अन्तर इतना ही है कि इस देश का आदर्श राजनीति नहीं है, सैन्य-शक्ति भी नहीं है,

व्यावसायिक आधिपत्य भी नहीं है और न यांत्रिक शक्ति ही है वरन् इसका आदर्श है धर्म — केवल धर्म। धर्म ही इसका मेरुदण्ड है — धर्म ही इसका सर्वस्व है। धर्म और आध्यात्मिकता ही सदैव से भारत की निधि रहे हैं।

इसमें कोई शक नहीं है कि शारीरिक शक्ति द्वारा अनेक अद्भुत कार्य सम्पन्न होते हैं, और इसी प्रकार मस्तिष्क के द्वारा विज्ञान के सहारे तरह तरह के यंत्रों तथा मशीनों का निर्माण होता है, परन्तु यह मानना पड़ेगा कि जितना जबरदस्त प्रभाव आध्यात्मिकता विश्व पर डाल सकती है उतना ये चीज़ें कभी नहीं।

अन्य देशों के समान भारत भी कर्मशील है।

भारतीय इतिहास इस बात का साक्षी है कि भारतवर्ष सदैव से बड़ा कर्मशील रहा है। आज हमें बहुत से लोग यह सिखा रहे हैं (यद्यपि आवश्यकता इस बात की है कि अभी वे स्वयं कुछ सीखें) कि हिन्दू जाति सदैव से भीरु तथा अकर्मण्य रही है और यह बात विदेशियों में एक प्रकार से कहावत के रूप में प्रचलित हो गई है। मैं इस विचार को कभी भी स्वीकार नहीं कर सकता कि भारतवर्ष कभी भी अकर्मण्य रहा है। सत्य तो यह है कि जितनी कर्मण्यता हमारे इस पुण्यक्षेत्र भारतवर्ष में रही है उतनी शायद ही कहीं रही हो और इस कर्मण्यता का सबसे बड़ा प्रमाण यह है कि हमारी यह चिर प्राचीन एवं महान् हिन्दू जाति आज भी ज्यों की त्यों जीवित है, — और इतना ही नहीं बल्कि समय-समय पर अपने उज्ज्वलतम जीवन में मानो अधिकाधिक प्राण संचार करती जाती है, अमिट एवं चिरस्थायी शक्तिशाली बनती जाती है। यह कर्मण्यता हमारे यहाँ धर्म में प्रकट होती है। मानव-प्रकृति की यह एक विचित्रता है कि वह दूसरों को अपनी ही कर्मतुला पर तौलती है। मनुष्य का जो कर्म होता है उसी के पैमाने से वह दूसरों को नापता है। उदाहरणार्थ, एक मोची को ले लीजिए। उसे केवल जूता बनाने का ही ज्ञान होता है और इसलिए वह यह सोचता है कि इस

जीवन में जूता बनाने के अतिरिक्त और दूसरा कोई काम ही नहीं है। इसी प्रकार एक कुम्हार को ईंटें बनाने के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं आता है और अपने जीवन में दिन प्रतिदिन वह यही करके दिखाता रहता है। इस सब का कारण एक प्रकार से समझाया जा सकता है; जब प्रकाश का स्पन्दन बहुत तेज होता है तो उसे हम नहीं देख पाते हैं, क्योंकि हमारे नेत्रों की बनावट कुछ ऐसी होती है कि हम अपनी साधारण दृष्टि-शक्ति के परे नहीं जा सकते हैं। परन्तु हाँ, योगी अपने आध्यात्मिक अन्तर्दृष्टि-बल से साधारण अज्ञ लोगों की जड़ दृष्टि को भेदकर भीतरी वस्तु को देखने में समर्थ होते हैं।

आज तो समस्त संसार आध्यात्मिक खाद्य के लिए भारत भूमि की ओर ताक रहा है, और भारतवर्ष को ही यह खाद्य द्रव्य प्रत्येक राष्ट्र को देना होगा। केवल भारतवर्ष में ही मनुष्य जाति का सर्वोच्च आदर्श प्राप्य है और आज कितने ही पाश्चात्य पण्डित हमारे इस आदर्श को, जो हमारे संस्कृत साहित्य तथा दर्शन-शास्त्रों में निहित है, समझने की चेष्टा कर रहे हैं। सदियों से यही आदर्श भारतवर्ष की एक विशेषता रही है।

जब से इतिहास का आरम्भ हुआ है तब से शायद कोई भी प्रचारक भारतवर्ष के बाहर भारतीय मतों का प्रचार करने के लिए नहीं गया, परन्तु अब हममें एक परिवर्तन-सा आ रहा है। भगवान श्रीकृष्ण ने भी गीता में कहा है, "जब जब धर्म की हानि होती है तथा अधर्म की वृद्धि होती है तब तब साधुओं के परित्राण, दुष्कर्मों के नाश तथा धर्म-संस्थापन के लिए मैं जन्म लेता हूँ।" धर्मेतिहास के अन्वेषण द्वारा हमें इस बात का पता लगता है कि उत्तम नीतिशास्त्र से युक्त कोई भी ऐसा देश नहीं है जिसने उस नीति-शास्त्र का कुछ न कुछ अंश हमसे न लिया हो, तथा जिन सब धर्मों में आत्मा के अमरत्व के सम्बन्ध में ज्ञान स्पष्ट रूप से विद्यमान है, उन्होंने भी मुख्य या गौण रूप में वह हमसे ही ग्रहण किया है।

भारतेतर देशों में भारतीय जीवन का प्रभाव।

हम यह जानते हैं कि उन्नीसवीं शताब्दी के अन्त में जितनी डाका-जनी, जितना अत्याचार तथा दुर्बल के प्रति जितनी निर्दयता हुई है उतनी संसार के इतिहास में शायद कभी भी नहीं हुई। प्रत्येक व्यक्ति को यह भली-भाँति समझ लेना चाहिए कि जब तक हम अपनी वासनाओं पर विजय नहीं प्राप्त कर लेते तब तक हमारी किसी प्रकार मुक्ति सम्भव नहीं; जो मनुष्य प्रकृति का दास है, वह कभी भी मुक्त नहीं हो सकता। यह महान् सत्य आज संसार की सब जातियाँ धीरे धीरे समझने लगी हैं तथा उसका आदर करने लगी हैं। जब शिष्य इस सत्य की धारणा के योग्य बन जाता है तभी उस पर गुरु की कृपा होती है। ईश्वर अपने बच्चों की फिर असीम दयापूर्वक सहायता करता है और उसकी वह अनुकम्पा प्रत्येक जाति, वर्ण के लिए सदा होती रहती है। हमारे प्रभु सब धर्मों के ईश्वर हैं। हम यह कह सकते हैं कि यह उदार भाव केवल भारतवर्ष में ही विद्यमान है और मैं इस बात की चुनौती देकर कह सकता हूँ कि ऐसा उदार भाव संसार के अन्यान्य धर्मशास्त्रों में कोई दिखाये तो सही।

विधि के विधान से आज हम हिन्दू लोगों की कठिन तथा बड़ी ही दायित्व-पूर्ण अवस्था है। आज कितनी ही पाश्चात्य जातियाँ हमारे पास आध्यात्मिक सहायता के लिए हाथ फैलाए आ रही हैं। आज भारत की सन्तान के ऊपर यह जिम्मेदारी है कि वह अपने को इस बात के लिए पूरी तरह से तैयार कर ले जिससे वह मानव-जीवन-समस्या सम्बन्धी विषयों पर संसार का पथ-प्रदर्शन कर सके। एक बात यहाँ पर ध्यान में रखने योग्य है: जिस प्रकार संसार की अन्य जातियों के महान् पुरुष स्वयं इस बात का गर्व करते हैं कि उनके पूर्वज किसी एक बड़े डाकुओं के गिरोह के सरदार थे जो समय समय पर अपनी पहाड़ी गुफाओं से निकलकर बटोहियों पर छापा मारा करते थे, हम हिन्दू लोग इस बात पर गर्व करते हैं कि हमारे पूर्वज

हिन्दू तथा पाश्चात्य जाति के मूल में पार्थक्य।

ऋषि तथा महात्मा थे जो पहाड़ों की कन्दराओं में रहते थे, वन के फल-मूल जिनका आहार था तथा जो निरन्तर ईश्वर-चिन्तन में मग्न रहते थे। भले ही आज हम अपनी श्रेणी से गिर गए हों और चाहे जितने भी क्यों न गिर गए हों, परन्तु यह निश्चित है कि आज यदि हम फिर लगन के साथ अपने धर्म के लिए कार्य करने लगें तो हम अपने गौरव को प्राप्त कर सकते हैं।

आप सब ने मेरा स्नेह और श्रद्धा पूर्वक जो यह स्वागत किया है उसके लिए मैं आपको हार्दिक धन्यवाद देता हूँ। रामनद के राजा साहब का मेरे प्रति जो प्रेम है उसका आभार-प्रदर्शन मैं शब्दों द्वारा नहीं कर सकता। मैं कह सकता हूँ कि मुझसे अथवा मेरे द्वारा भारतवर्ष में यदि कोई श्रेष्ठ कार्य हुआ है तो उसका अधिकांश श्रेय राजा साहब को है; क्योंकि मेरे शिकागो जाने का विचार सबसे पहले राजा साहब के मन में ही उठा था, उन्हींने वह विचार मेरे सम्मुख रखा तथा वे ही इस बात के लिए मेरे पीछे भी पड़ गए थे कि मैं शिकागो अवश्य जाऊँ। आज मेरे साथ खड़े होकर अपनी स्वाभाविक लगन के साथ वे मुझसे यही आशा कर रहे हैं कि मैं अधिकाधिक कार्य करता जाऊँ। मेरी तो यही इच्छा है कि हमारी मातृभूमि से लगन रखनेवाले तथा उसकी जनता की आध्यात्मिक उन्नति के निमित्त यत्न तथा सहायता करनेवाले यदि ऐसे केवल पाँच-छः राजा और हों तो कितना सुन्दर हो!

---

४. यथार्थ उपासना

(श्री रामेश्वर मन्दिर में दिया हुआ भाषण।)

कुछ समय बाद स्वामीजी श्री रामेश्वर मन्दिर में गए। वहाँ उनसे यह प्रार्थना की गई कि एकत्र जनता से कृपया वे दो शब्द कह दें; उस अवसर पर स्वामीजी ने जो भाषण दिया था उसका आशय यह था:—

धर्म प्रेम में ही है, अनुष्ठानों में नहीं; और वह भी प्रेम ऐसा जो शुद्ध तथा निष्कपट हो। यदि मनुष्य शरीर तथा मन दोनों से शुद्ध नहीं है तो उसका मन्दिर में जाकर शिवोपासना करना व्यर्थ-सा ही है। उन्हीं लोगों की प्रार्थना को जो शरीर तथा मन से शुद्ध हैं श्री शिवजी सुनते हैं और इसके विपरीत जो लोग अशुद्ध होकर भी दूसरों को धर्म की शिक्षा देते हैं वे अन्त में निश्चय असफल ही रहेंगे। वाह्य पूजा मानस-पूजा का वहिरंग मात्र है—असल में मानस-पूजा तथा चित्त की शुद्धि ही सच्ची चीज़ें हैं। इनके विना वाह्य पूजा से कोई लाभ नहीं। यह वात बड़े रहस्य की है तथा इसका सदैव मनन करना चाहिए। खेद की वात है कि आजकल कलियुग में लोगों का इतना अधिक मानसिक-पतन हो गया है कि वे यह समझ बैठे हैं कि वे चाहे जितना भी पाप करते रहें, परन्तु उसके वाद यदि वे एक बार भी किसी पुण्य तीर्थ में चले जायँ तो उनके सारे पाप नष्ट हो जायँगे। पर मेरी तो यह धारणा है कि यदि कोई मनुष्य अशुद्ध मन से मन्दिर में जाता है तो उसका पाप और भी अधिक बढ़ जाता है तथा वह अपने घर निम्नतर स्थिति में वापस जाता है। हम कह सकते हैं कि तीर्थ एक वह स्थान है जहाँ शुद्ध पवित्र लोग रहते हैं तथा वहाँ जो कुछ भी है वह पवित्र भावोद्दीपक है। अतएव यदि किसी स्थान पर शुद्ध लोग रहने लगें और

यथार्थ शिवपूजा।

यदि वहाँ कोई मन्दिर न भी हो तो भी वह स्थान तीर्थ बन जाता है। और इसी प्रकार किसी ऐसे स्थान में जहाँ सैकड़ों मन्दिर हों यदि अशुद्ध लोग रहने लगें तो यह समझ लेना चाहिए कि उस स्थान का तीर्थत्व नष्ट हो गया है। अतएव कहा तो यह जा सकता है कि किसी तीर्थ-स्थान में रहना भी बड़ा कठिन काम है, क्योंकि यदि किसी साधारण स्थान पर कोई पाप किया जाता है तो उससे तो छुटकारा सरलता से हो सकता है, परन्तु किसी तीर्थ-स्थान में किया हुआ पाप कभी भी दूर नहीं किया जा सकता। समस्त उपासनाओं का यही रहस्य तथा मर्म है कि मनुष्य शुद्ध रहे तथा दूसरों के प्रति सदैव भला करे। वह मनुष्य जो श्री शिवजी को निर्धन, दुर्बल तथा रुग्ण व्यक्ति में भी देखता है वही सच्चमुच श्री शिवजी की उपासना करता है, परन्तु यदि वह उन्हें केवल मूर्ति में ही देखता है तो कहा जा सकता है कि उसकी उपासना अभी नितान्त प्रारम्भिक ही है, वह प्रवर्तक मात्र है। यदि किसी मनुष्य ने किसी एक निर्धन मनुष्य की सेवा-शुश्रूषा बिना उसकी जाति-पाँति अथवा ऊँच-नीच के भेद-भाव से की है तथा यह विचार रखकर की है कि उसमें साक्षात् श्री शिवजी विराजमान हैं तो मैं यह कह सकता हूँ कि श्री शिवजी उस मनुष्य से दूसरे एक मनुष्य की अपेक्षा, जो कि उन्हें केवल मन्दिर में ही विराजमान देखता है, अधिक प्रसन्न होंगे।

दो प्रकार के माली।

एक धनी व्यक्ति का एक बगीचा था जिसमें दो माली काम करते थे। एक माली बड़ा सुस्त तथा कामचोर था, परन्तु था बड़ा चापलूस। जब कभी वह अपने मालिक को आते देखता तो झट उठकर खड़ा हो जाता और हाथ जोड़कर कहने लगता, 'हे स्वामी, आप कैसे सुन्दर हैं, आपके कैसे अच्छे गुण हैं,' आदि-आदि। और जब तक मालिक बगीचे में रहता तब तक उसके पीछे पीछे ही घूमता रहता। दूसरा माली ज्यादा बातचीत नहीं करता था, उसे तो बस अपने काम से काम था। इतना ही नहीं, वह बड़ा मेहनती भी

था तथा बगीचे में तरह तरह के फल-तरकारी पैदा किया करता था। उन्हें वह स्वयं अपने सिर पर रखकर मालिक के घर पहुँचाता था यद्यपि मालिक का घर भी कोई नज़दीक न था। अब सोचने की बात है कि इन दो मालियों में से मालिक किसको अधिक चाहेगा ? बस ठीक इसी प्रकार यह संसार एक बगीचा है जिसके मालिक श्री शिवजी हैं। यहाँ भी दो प्रकार के माली कह लीजिए—एक तो वह जो सुस्त, काहिल तथा ढोंगी है और कभी कभी जाकर श्री शिवजी के नेत्र तथा अन्य अंगों की प्रशंसा कर देता है, पर उसके बाद फिर कुछ नहीं। और दूसरा ऐसा है कि वह श्री शिवजी की सन्तान की फिक्र रखता है, सारे दीन-दुःखी प्राणियों के प्रति दया का भाव रखता है तथा उनके कल्याण के लिए चेष्टा करता है। अब बतलाइए, इन दो प्रकार के लोगों में से कौन श्री शिवजी को अधिक प्यारा होगा ? निश्चय वही जो उनकी सन्तान की सेवा करता है। जो व्यक्ति अपने पिता की सेवा करना चाहता है उसे अपने भाइयों की सेवा सबसे पहले करनी चाहिए, इसी प्रकार जो श्री शिवजी की सेवा करना चाहता है उसे उनकी सन्तान की, विश्व के प्राणि-मात्र की पहले सेवा करनी चाहिए। शास्त्रों में कहा भी है कि जो भगवान के दासों की सेवा करता है वही भगवान का सर्वश्रेष्ठ दास है। यह बात सर्वदा ध्यान में रखनी चाहिए।

मैं यह फिर कहे देता हूँ कि तुम्हें स्वयं शुद्ध रहना चाहिए तथा यदि कोई तुम्हारे पास सहायतार्थ आए तो जितना तुमसे बन सके उतनी उसकी यथासाध्य सेवा अवश्य करनी चाहिए। यही श्रेष्ठ कर्म कहलाता है। इसी श्रेष्ठ कर्म की शक्ति से तुम्हारा चित्त शुद्ध हो जायगा और फिर श्री शिवजी, जो प्रत्येक हृदय में वास करते हैं, प्रकट हो जाएँगे। प्रत्येक हृदय में तो उनका वास है ही। यह यों समझ लीजिए कि यदि शीशे पर धूल पड़ी है तो उसमें हम अपना मुँह स्पष्ट नहीं देख सकते। अज्ञान तथा पाप ही हमारे हृदयरूपी शीशे पर धूल की भाँति जमा हो गए हैं। स्वार्थपरता ही अर्थात् स्वयं के

सम्बन्ध में पहले सोचना सबसे बड़ा पाप है। जो मनुष्य यह सोचता रहता है कि मैं ही पहले खा लूँ, मुझे ही सबसे अधिक धन मिल जाय, मैं ही सर्वस्व का अधिकारी बन जाऊँ, मेरी ही सबसे पहले मुक्ति हो जाय तथा मैं ही औरों से पहले सीधा स्वर्ग को चला जाऊँ वह निश्चय स्वार्थी है।

निःस्वार्थता ही यथार्थ उपासना है।

निःस्वार्थ व्यक्ति तो यह कहता है, 'मुझे अपनी चिन्ता नहीं है, मुझे स्वर्ग जाने की भी कोई आकांक्षा नहीं है, यदि मेरे नरक में जाने से भी किसी को लाभ हो सकता है तो भी मैं उसके लिए तैयार हूँ।' यह निःस्वार्थता ही धर्म की परीक्षा है। जिसमें जितनी ही अधिक निःस्वार्थता है वह उतना ही आध्यात्मिक है तथा उतना ही श्री शिवजी के समीप है। चाहे वह पण्डित हो या मूर्ख, श्री शिवजी का सामीप्य दूसरों की अपेक्षा उसे ही प्राप्त है, उसे चाहे इसका ज्ञान हो अथवा न हो। परन्तु इसके विपरीत यदि कोई मनुष्य स्वार्थी है तो चाहे उसने संसार के सब मन्दिरों के ही दर्शन क्यों न किए हों, सारे तीर्थ क्यों न मझाए हों और अपने शरीर में रंग-भभूत रमाकर अपनी शकल चीता जैसी क्यों न बना ली हो, श्री शिवजी से वह बहुत दूर है।

---

५. रामनद-अभिनन्दन

रामनद में स्वामी विवेकानन्दजी को वहाँ के राजा ने निम्नलिखित सम्मान-पत्र भेंट दिया :—

परमपूज्य, श्री परमहंस, यतिराज, दिग्विजय-कोलाहल-सर्वमत-संप्रतिमत्र, परम योगेश्वर, श्रीमत् भगवान श्रीरामकृष्ण परमहंस-कर-कमलसंजात, राजाधिराज-सेवित स्वामी विवेकानन्दजी,

महानुभाव,

हम इस प्राचीन एवं ऐतिहासिक स्थान सेतुबंध-रामेश्वरम् के—जिसे रामनाथ पुरम् अथवा रामनद भी कहते हैं—निवासी आज बड़ी नम्रतापूर्वक आपका अपनी इस मातृभूमि में हार्दिक स्वागत करते हैं। हम इसे अपना सौभाग्य समझते हैं कि भारतवर्ष में आपके पधारने पर हमें ही इस बात का पहला अवसर प्राप्त हुआ कि हम आपके श्रीचरणों में अपनी हार्दिक श्रद्धाञ्जलि भेंट कर सकें और वह भी उस पुण्य समुद्र-तट पर जिसे भगवान श्रीरामचन्द्रजी ने अपने चरण-कमलों की पद-रेणु से पवित्र किया था।

हमें सदैव इस बात पर बड़ा गर्व तथा हर्ष हुआ, जब हमें यह ज्ञात हुआ कि पाश्चात्य देशीय धुरंधर विद्वानों को भी आपने हमारे महान् तथा श्रेष्ठ हिन्दू धर्म के असली गुणों तथा उसकी विशेषताओं को भलीभाँति समझाकर उन्हें कायल कर दिया है तथा आपको अपने उस कार्य में सफलता जो प्राप्त हुई वह अनुपम थी। आपने अपनी अपूर्व वाक्पटुता और साथ ही बड़ी सरल तथा स्पष्ट वाणी द्वारा यूरोप और अमेरिका के विद्वत्-समाज को यह स्पष्ट कर दिया कि हिन्दू धर्म में एक आदर्श विश्वधर्म के सारे गुण मौजूद हैं और साथ ही इसमें समस्त जातियों तथा धर्मों के स्त्री-पुरुषों की प्रकृति तथा उनकी आवश्यकताओं के अनुकूल बन जाने की भी क्षमता है।

नितान्त निःस्वार्थ भावना से प्रेरित हो, सर्वश्रेष्ठ उद्देशों को सम्मुख रख तथा प्रशंसनीय आत्म-त्याग के साथ आप सात समुद्रों को पार करके यूरोप तथा अमेरिका में सत्य एवं शान्ति का सन्देश सुनाने तथा वहाँ की उर्वर भूमि में उस झंडे को गाड़ने गए जो आध्यात्मिक क्षेत्र में भारतीय सफलता का द्योतक है। स्वामीजी, आपने अपने उपदेश तथा जीवन दोनों के द्वारा यह सिद्ध कर दिखाया कि विश्वबन्धुत्व किस प्रकार सम्भव है तथा उसकी क्या आवश्यकता है। इस सबके अतिरिक्त पाश्चात्य देशों में आपने जो प्रयत्न किए हैं उनके द्वारा कितने ही उदासीन भारतीय स्त्री-पुरुषों को इस बात का भान हो गया है कि इनका प्राचीन धर्म कितना महान् तथा श्रेष्ठ है और साथ ही उनके हृदय में अपने उस अतुलनीय धर्म के अध्ययन करने तथा उसके पालन करने का भी एक आन्तरिक आग्रह उत्पन्न हो गया है।

हम यह खूब अनुभव कर रहे हैं कि शब्दों द्वारा हम अपनी उस कृतज्ञता को प्रकट नहीं कर सकते हैं जो हमें आपके प्रति है। आपने प्राच्य तथा पाश्चात्य के आध्यात्मिक पुनरुत्थान के लिए जो निःस्वार्थ यत्न किए हैं उनके लिए भी आपको धन्यवाद देना हमारी शक्ति के बाहर है। यहाँ पर हम यह कह देना परम आवश्यक समझते हैं कि हमारे राजा साहब के प्रति आपकी सदैव बड़ी कृपा रही है। हमारे राजा साहब आपके एक अनुगत शिष्य हैं और जो सम्मान आपने उन्हें सबसे पहले उनके ही राज्य में पधार-कर दिया है उससे उन्हें अवर्णनीय आनन्द एवं गौरव का बोध हो रहा है।

अन्त में हम परमेश्वर से प्रार्थना करते हैं कि वह आपको चिरजीवी करे, आपको पूर्ण स्वस्थ रखे तथा आपको वह शक्ति दे जिससे कि आप अपने उस महान् कार्य को सदैव आगे बढ़ाते रहें जिसे आपने स्वयं ही इतनी योग्यतापूर्वक आरम्भ किया है।

रामनद, महाराज,
२५ जनवरी १८९७ हम हैं आपके परम विनम्र, आज्ञाकारी भक्त तथा सेवक।

स्वामीजी का उत्तर

सुदीर्घ रजनी अब समाप्त होती हुई जान पड़ती है। महादुःख का प्रायः अन्त ही ज्ञात होता है। महानिद्रा में निद्रित शव मानो जाग्रत हो रहा है। इतिहास की बात तो दूर है, जिस सुदूर अतीत के घनान्धकार को भेद करने में किंवदन्तियाँ भी असमर्थ हैं, वहीं से मानो एक अपूर्व आवाज़ सुनाई पड़ रही है। ज्ञान, भक्ति और कर्म के अनन्त हिमालयस्वरूप हमारी मातृभूमि भारत की हरएक चोटी पर प्रतिध्वनित होकर यह वाणी मृदु परन्तु दृढ़ अभ्रान्त भाषा में किसी अपूर्व राज्य का समाचार ला रही है। जितना समय बीतता है, उतनी ही वह और भी स्पष्ट तथा गम्भीर होती जाती है। मानो हिमालय के प्राणप्रद वायु-स्पर्श से मृतदेह के शिथिल-प्राय अस्थि-मांस तक में प्राण-संचार हो रहा है—निद्रित शव जाग्रत हो रहा है। उनकी जड़ता धीरे धीरे कम हो रही है। जो अन्धे हैं, वे देख नहीं सकते और जो पागल हैं वे समझ नहीं सकते कि हमारी मातृभूमि अपनी गम्भीर निद्रा से अब जाग रही है। अब कोई इसकी उन्नति को रोक नहीं सकता। अब यह फिर सो भी नहीं सकती। कोई बाह्य शक्ति इस समय इसे दबा नहीं सकती। कुम्भकर्ण की दीर्घ निद्रा अब टूट रही है।

भारत फिर से जाग रहा है।

महाराज एवं रामनद-निवासी सज्जनो! आपने दयापूर्वक हृदय से मुझे जो अभिनन्दन प्रदान किया है, उसके लिए आप मेरा आन्तरिक धन्यवाद स्वीकार कीजिये। आप लोग जो मुझे हृदय से प्यार करते हैं, उसे मैं अपने अन्तस्तल में भलीभाँति समझता हूँ; क्योंकि ज़बानी बातों के बनिस्बत हृदय में प्रेम ज्यादा असर करता है। आत्मा एकान्त में दूसरी आत्मा के साथ अभ्रान्त भाषा में बात करती है—इसीलिए मैं आप लोगों के भाव को अपने अन्तस्तल में अनुभव करता हूँ। रामनद के महाराज! हमारे धर्म और मातृभूमि के लिए पाश्चात्य देशों में इस दीन व्यक्ति के द्वारा यदि कोई कार्य

हुआ है; अपने घर में ही अज्ञात और गुप्तभाव से रक्षित अमूल्य रत्नसमूह के प्रति स्वदेशवासियों के हृदय आकृष्ट करने के लिए यदि कुछ प्रयत्न हुआ है; अज्ञानरूपी अन्धेपन के कारण प्यासे मरने के बनिस्बत दूसरी जगह के गन्दे गड्ढे का पानी न पीकर यदि अपने घर के पास निरन्तर बहनेवाले चश्मे के निर्मल जल को पीने के लिए वे बुलाये जा रहे हैं; हमारे स्वदेशवासियों को कर्मपरायण बनाने के लिए — यह समझाने के लिए कि भारतवर्ष का प्राण धर्म ही है, उसके जाने पर राजनीतिक उन्नति, समाजसंस्कार या कुबेर का ऐश्वर्य भी कुछ नहीं कर सकता — यदि कुछ उद्योग हुआ है; भारतवर्ष अथवा अन्य देशों में मेरे द्वारा जो कुछ भी कार्य हुआ है, तो उसके लिए प्रशंसा के पात्र आप ही हैं, क्योंकि आपने ही पहले मेरे हृदय में ये भाव भरे और आप ही मुझे कार्य करने के लिए बार बार उत्तेजित करते रहे हैं। आपने ही मानो अन्तर्दृष्टि के बल से भविष्यत् जानकर निरन्तर मेरी सहायता की है, कभी भी मुझे उत्साहित करने से आप विमुख नहीं हुए, इसलिए आप जो मेरी सफलता पर पहले आनन्द प्रकाश करते हैं एवं भारत लौटकर मैं जो पहले आपके राज्य में उतरा, यह बहुत ही ठीक हुआ। उपस्थित सज्जनो! आपके महाराज ने पहले ही कहा है कि हमें बड़े बड़े कार्य करने होंगे, अद्भुत शक्ति का विकास दिखाना होगा, दूसरों को अनेक बातें सिखानी होंगी। हमारी मातृभूमि दर्शन, धर्म, नीति-विज्ञान, मधुरता, कोमलता अथवा मानव-जाति के प्रति अकपट प्रेमरूपी सद्गुणों की प्रसविनी है। ये सब चीज़ें अभी भी भारत में विद्यमान हैं। मुझे पृथ्वी के सम्बन्ध में जो जानकारी है, उसके बल से मैं दृढ़तापूर्वक कह सकता हूँ कि इन चीज़ों में पृथ्वी के अन्य प्रदेशों की अपेक्षा भारत श्रेष्ठ है। इस साधारण बात को ही लीजिए। गत चार-पाँच वर्षों में संसार में अनेक बड़े बड़े राजनीतिक परिवर्तन हुए हैं। पाश्चात्य देशों में सभी

धर्म ही भारत का मेरुदण्ड है, राजनीति या अन्य कुछ नहीं।

जगह बड़े बड़े सम्प्रदाय संगठित हुए और अन्य प्रदेशों में प्रचलित रीति-रिवाजों को एकबारगी दबा देने की चेष्टा में वे बहुत कुछ सफल भी हुए हैं। हमारे देशवासियों से पूछिये, क्या उन लोगों ने इन बातों के सम्बन्ध में कुछ सुना है? उन्होंने कुछ भी नहीं सुना है। किन्तु शिकागो में एक धर्मसभा हुई थी, भारतवर्ष से उस महासभा में एक संन्यासी भेजा गया था, उसका आदर के साथ स्वागत हुआ, उसी समय से वह पाश्चात्य देशों में कार्य कर रहा है, यहाँ के अति दरिद्र भिक्षुक भी यह बात जानते हैं। लोग कहते हैं कि हमारे देश का जनसमुदाय बड़ी स्थूल-बुद्धि का है, वे लोग संसार का किसी प्रकार का समाचार नहीं रखते और न रखना चाहते ही हैं। पहले मूर्खतावश मेरी भी ऐसी ही धारणा थी, किन्तु अब समझता हूँ कि मैंने अनभिज्ञता के कारण ऐसा सोचा था। अब मेरी धारणा है कि काल्पनिक गवेषणाओं एवं एक क्षण में सारे भूमण्डल की परिक्रमा कर डालनेवालों की लेखनी से लिखित पुस्तकों के पाठ की अपेक्षा स्वयं अनुभव करने से कहीं अधिक ज्ञान प्राप्त होता है। अभिज्ञता के द्वारा मुझे यह शिक्षा मिली है कि हमारे देश का जन-समुदाय निर्बोध नहीं है, वे संसार का समाचार जानने के लिए कम व्याकुल भी नहीं हैं; पृथ्वी के अन्य स्थानों के निवासी समाचार-संग्रह के लिए जिस प्रकार उत्सुक रहते हैं, ये लोग भी वैसे ही उत्सुक रहते हैं। तथापि प्रत्येक जाति के जीवन का कोई न कोई उद्देश्य है। प्रत्येक जाति प्राकृतिक नियमानुसार कितनी ही विशेषतायें लेकर जन्म ग्रहण करती है। सब जातियाँ मिलकर एक सुमधुर ऐक्य-तान-संगीत की सृष्टि करती हैं,— किन्तु प्रत्येक जाति मानो उसमें एक एक पृथक् पृथक् स्वर अलापती है। वही उसकी जीवन शक्ति है। वही उसके जातीय जीवन का मेरुदण्ड या मूल भित्ति है। हमारी इस पवित्र मातृभूमि का मेरुदण्ड, मूल भित्ति या जीवन-केन्द्र एक मात्र धर्म ही है। दूसरे लोग राजनीति द्वारा अगाध धनराशि उपार्जन करने के गौरव को, वाणिज्यनीति की शक्ति और उसके प्रचार को,

वाह्य स्वाधीनता-प्राप्ति के अपूर्व सुख को भले ही महत्व दें, किन्तु हिन्दू न तो इनके महत्व को समझते हैं और न समझना चाहते ही हैं। हिन्दुओं के साथ धर्म, ईश्वर, आत्मा, अनन्त और मुक्ति के सम्बन्ध में बातें कीजिये, मैं आप लोगों को विश्वास दिलाता हूँ, अन्यान्य देशों के दार्शनिक कहे जाने वाले व्यक्तियों की अपेक्षा यहाँ का एक साधारण कृषक भी इन विषयों में अधिक ज्ञान रखता है। सज्जनो, मैंने आप लोगों से कहा है कि हमारे पास अभी भी संसार को सिखाने के लिए कुछ है। इसीलिए सैकड़ों वर्षों के अत्याचार और हजारों वर्षों के वैदेशिक शासन और उत्पातों में भी यह जाति जीवित है। इस जाति के इस समय भी जीवित रहने का कारण यह है कि इसने धर्म और ईश्वररूपी अमूल्य रत्न का परित्याग नहीं किया है।

हमारी इस मातृभूमि में इस समय भी धर्म और अध्यात्मविद्या का जो स्रोत बहता है, उसकी बाढ़ समस्त जगत् को डुबाकर, राजनीतिक उच्चाभिलाषा एवं प्रतिदिन नवीन भावों से समाज संगठित करने की चेष्टा में प्रायः अर्धमृत तथा हीन दशापन्न पाश्चात्य और दूसरी जातियों में नवजीवन का संचार करेगी! नाना प्रकार के मतमतान्तरों के विभिन्न सुरों से भारत-गगन गूँज रहा है। यह बात सच है कि इन सुरों में कुछ ताल में और कुछ

त्याग।

बेताले हैं, किन्तु सभी में एक सुर अपने अति तीक्ष्ण नाद से दूसरे की ध्वनि को दबाकर उन्हें कर्ण-कुहरों तक पहुँचने ही नहीं देता। त्यागरूपी भैरव राग के आगे अन्य सब राग-रागिनियाँ लज्जा से मानो अपना मुँह छिपा लेती हैं। 'विषयान् विषवत् त्यज' —भारतीय सभी शास्त्रों में इसकी चर्चा है। यही सभी शास्त्रों का मूल मन्त्र है। दुनियाँ दो दिन का तमाशा है। जीवन तो और भी क्षणिक है। इसके पश्चात् सुदूर में उस अनन्त अपार का राज्य है; जाओ, उसी जगह चले जाओ। यह राज्य महावीर मनीषियों की हृदय-ज्योति से उद्भासित है। वे इस तथाकथित अनन्त जगत् को भी एक गड़हिया मात्र समझते हैं। वे

क्रमशः उस राज्य को भी छोड़कर और दूर — अति दूर राज्य में चले जाते हैं। काल, अनन्त-काल भी उनके लिए कोई चीज़ नहीं है, वे उसके भी पार चले जाते हैं। उनके लिए देश की भी कोई सत्ता नहीं है, वे उसके भी पार जाना चाहते हैं। यही धर्म का गूढ़तम रहस्य है। भूतप्रकृति को इस प्रकार अतिक्रमण करने की चेष्टा जिस प्रकार और चाहे जितना नुकसान सहकर क्यों न हो, किसी प्रकार प्रकृति के मुँह का घूँघट हटाकर कम से कम एक वार उस देशकालातीत सत्ता के दर्शन का यत्न ही हमारी जाति का स्वाभाविक गुण है। यदि आप लोग हमारी जाति को उत्साहित करना चाहते हैं, तो उसे उस अनन्त राज्य का कोई समाचार दीजिये — बस वे पागल हो जायँगे। आप उन्हें राजनीतिक, समाज-संस्कार, धनसंचय के उपाय, व्यापार-नीति आदि समझाने की चेष्टा न करें, वे उन्हें एक कान से सुनेंगे और सारी बातें दूसरे कान से उसी समय बाहर निकल जायँगी। इसलिए आप लोगों को जगत् को यह धार्मिक शिक्षा देनी ही होगी। अब प्रश्न यह है कि हमें भी संसार से कुछ सीखना है या नहीं? शायद दूसरी जातियों से हमें बहिर्विज्ञान सीखना पड़े — किस प्रकार दल संगठन और उसका परिचालन करना होगा, विभिन्न शक्तियों को नियमानुसार काम में लगाकर किस प्रकार थोड़े यत्न से अधिक लाभ करना होगा, इत्यादि बातें अवश्य ही हमें दूसरों से सीखनी होंगी। त्याग हम सब लोगों का लक्ष्य होने पर भी जब तक हमारे देश के सभी लोग सम्पूर्ण रूप से त्याग करने में समर्थ न होंगे, तब तक पाश्चात्यों से हमें ये सब बातें कुछ कुछ सीखनी ही होंगी। किन्तु स्मरण रखना चाहिये कि हमारा उद्देश्य त्याग ही है। यदि कोई भोग और सुख को ही परम पुरुषार्थ मानकर भारतवर्ष में उनका प्रचार करना चाहे, यदि कोई जड़ जगत् को ही भारतवासियों का ईश्वर कहने की धृष्टता करे, तो वह मिथ्यावादी है। इस पवित्र भारतभूमि में उसके लिए कोई स्थान नहीं है, भारतवासी उसकी बातें भी नहीं सुनेंगे। पाश्चात्य सभ्यता में चाहे कितनी ही चमक-

दमक क्यों न हो, वह चाहे कितने ही अद्भुत व्यापार करने में समर्थ क्यों न हो, मैं इस सभा के बीच खड़ा होकर उनसे साफ साफ कह देता हूँ कि यह सब केवल भ्रान्ति और मिथ्या है। एकमात्र ईश्वर ही सत्य है, एकमात्र आत्मा ही सत्य है और एकमात्र धर्म ही सत्य है। इन्हें ही सत्य समझो।

हमारे जो भाई उच्चतम सत्य के अधिकारी अभी नहीं हुए हैं, उनके लिए जड़वाद शायद कल्याणकारी हो सकता है, अवश्य ही उसे कार्योपयोगी बनाकर उनके लिए लेना ही होगा। सभी देशों और समाजों में एक भ्रम फैला हुआ है। विशेष दुःख की बात तो यह है कि भारतवर्ष में यह भ्रान्ति पहले कभी नहीं थी, थोड़े दिन हुए उसने यहाँ भी प्रवेश किया है। वह भ्रम यह है कि अधिकारी का विचार न कर सभी को एक प्रकार की व्यवस्था देना। सच बात तो यह है कि सभी के लिए एक मार्ग नहीं हो सकता। आपने जिस साधन-प्रणाली का अवलम्बन किया है वह हमारे भी लिए उपयोगी नहीं हो सकती। आप सभी लोग जानते हैं कि संन्यास-आश्रम ही हिन्दू-जीवन का परम लक्ष्य है। सभी हिन्दू-शास्त्र सभी को संन्यासी होने का आदेश देते हैं। जो चौथी अवस्था में संन्यास धारण नहीं करता, वह हिन्दू नहीं है और न उसे अपने को हिन्दू कहने का कोई अधिकार ही है; वह शास्त्रों की अवहेलना करता है। संसार के सभी सुखों का आनन्द लेकर प्रत्येक हिन्दू को चौथेपन में उनका त्याग करना ही होगा। योग के द्वारा अन्तस्तल में जिस समय यह धारणा जम जायेगी कि संसार असार है, उसी समय उसका त्याग करना होगा—यही हिन्दुओं का आदर्श है, इसे हम जानते हैं। जब आप भलीभाँति परीक्षा करके जानेंगे कि जड़ जगत् सारविहीन केवल राख है, तो फिर आप उसे त्याग देने की ही चेष्टा करेंगे। मन इन्द्रियों की ओर चक्रवत् अग्रसर हो रहा है, उसे फिर पीछे लौटाना होगा। प्रवृत्तिमार्ग का त्याग कर उसे फिर निवृत्ति-मार्ग का आश्रय ग्रहण करना होगा, यही हिन्दुओं का आदर्श

जड़वाद की प्रयोजनीयता।

है। किन्तु कुछ भोग किये बिना इस आदर्श तक मनुष्य नहीं पहुँच सकता। बच्चों को त्याग की शिक्षा नहीं दी जा सकती। वह पैदा होते ही सुख-स्वप्न देखने लगता है। उसका जीवन इन्द्रियसुखों के भोग में है, उसका जीवन कुछ इन्द्रिय-सुखों की समष्टि मात्र है। सभी समाजों के बालकवत् अज्ञानी लोग भी ऐसे ही हैं। संसार की असारता समझने के लिए उन्हें कुछ भोग करना पड़ेगा। तभी वे वैराग्य धारण करने में समर्थ होंगे। हमारे शास्त्रों में इन लोगों के लिए यथेष्ट व्यवस्था है। दुःख का विषय है कि परवर्ती काल में समाज के प्रत्येक मनुष्य को संन्यासी के नियमों में आबद्ध करने की चेष्टा की गई—यह एक भारी भूल हुई। भारत में जो दुःख और दरिद्रता दिखाई पड़ती है, उनमें से बहुतों का कारण यही भूल है। गरीब लोगों के जीवन को इतने कड़े धार्मिक बन्धन में बाँधने की कोई आवश्यकता नहीं है। उनको नाना प्रकार के आध्यात्मिक और नैतिक नियमों में जकड़ना तो और भी हानिकारक है। उनके कामों में हस्तक्षेप न कर आप अलग रहिये। उन्हें भी संसार का थोड़ा आनन्द लेने दीजिए। आप देखेंगे कि वे क्रमशः उन्नत होते जाते हैं और बिना किसी विशेष प्रयत्न के उनके हृदय में आप ही आप त्याग का उद्रेक होगा।

सज्जनो, पाश्चात्य जातियों से हम थोड़ा बहुत यह सीख सकते हैं कि भोग में किस प्रकार सफलता मिल सकती है। किन्तु यह शिक्षा ग्रहण करते समय हमें बहुत सावधान रहना होगा। मुझे बड़े दुःख से कहना पड़ता है कि

प्राच्य या पाश्चात्य ?

आजकल हम पाश्चात्य शिक्षा में शिक्षित जितने लोगों को देखते हैं, उनमें से एक का भी जीवन आशाप्रद नहीं है। इस समय हमारी एक ओर प्राचीन हिन्दू समाज और दूसरी ओर अर्वाचीन यूरोपीय सभ्यता है। इन दोनों में यदि कोई मुझसे एक को पसन्द करने के लिए कहे, तो मैं प्राचीन हिन्दू सभ्यता को ही पसंद करूँगा, क्योंकि, अज्ञ होने पर भी, कुसंस्कारबद्ध होने पर

भी, हिन्दुओं के हृदय में एक विश्वास है—उसी विश्वास के बल पर वह अपने पैरों पर खड़ा हो सकता है। किन्तु विलायती रंग में रँगे सर्वथा मेरु-दण्डविहीन बाबू लोग अपरिपक्व शृङ्खलाशून्य असामान्य विभिन्न भावों से भरे होते हैं। वे उन्हें हजम नहीं कर सकते। अपने पैरों पर खड़े होने की तो बात ही न कहिए। उनका सिर हमेशा चक्कर खाया करता है। वे लोग जो कुछ करते हैं, क्या आप उनका कारण जानना चाहते हैं? अंग्रेजों से थोड़ी शाबाशी पा जाना ही उनके सब कार्यों का मूल-कारण है। वे लोग जो समाज-संस्कार करने के लिए अग्रसर होते हैं, हमारी कितनी ही सामाजिक प्रथाओं के विरुद्ध तीव्र आक्रमण करते हैं, इसका कारण केवल यह है कि हमारे ये सब आचार साहबों की प्रथा के विरुद्ध हैं। हमारी कितनी ही प्रथाएँ इसीलिए दोषपूर्ण हैं कि साहब लोग उन्हें दोषपूर्ण कहते हैं! मुझे ऐसे विचार पसन्द नहीं हैं। अपनी शक्ति से चाहे जीओ या मरो। यदि जगत् में कोई पाप है, तो वह है दुर्बलता। दुर्बलता ही मृत्यु है, दुर्बलता ही पाप है, इसलिए सब प्रकार से दुर्बलता का त्याग करो। प्राचीन पथावलम्बी सभी लोग मनुष्य थे—उन सभी लोगों में एक दृढ़ता थी; किन्तु पाश्चात्य सभ्यता के दीवाने लोग अभी भी कोई निर्दिष्ट व्यक्तित्व धारण नहीं कर सके हैं—हम उन्हें पुरुष कहें, स्त्री कहें, या कोई पशुविशेष समझें! परन्तु इन लोगों में भी कुछ आदर्श पुरुष हैं। आपके महाराज इस कथन के उदाहरण हैं। समग्र भारतवर्ष में आपके जैसा निष्ठावान हिन्दू नहीं दिखाई पड़ सकता। आप प्राच्य और पाश्चात्य सभी विषयों में अच्छी जानकारी रखते हैं। इनकी जोड़ का कोई दूसरा राजा भारतवर्ष में नहीं मिल सकता। प्राच्य और पाश्चात्य सभी विषयों को छान-कर जो उपादेय है, उसे ही आप ग्रहण करते हैं। मनुस्मृति में भी लिखा है—

श्रद्दधानः शुभां विद्यामाददीतावरादपि।
अन्त्यादपि परो धर्मः स्त्रीरत्नं दुष्कुलादपि॥

अर्थात् नीच व्यक्ति से भी श्रद्धापूर्वक उत्तम विद्या ग्रहण करनी चाहिए

अन्त्यज से भी मुक्ति-मार्ग सीखना चाहिए, नीच कुल की भी उत्तमा कन्या से विवाह करना चाहिए।

महर्षि मनु ने जो कुछ कहा है, वह ठीक है। पहले अपने पैरों पर खड़े हो जाइये, फिर सब जातियों से, जो कुछ अपना बनाकर ले सकें, ले लीजिए। 'जो कुछ आपके काम का है, उसे प्रत्येक राष्ट्र से लीजिए; किन्तु स्मरण रखियेगा कि हिन्दू होने के नाते आपको दूसरी सारी बातों को अपने जातीय जीवन के मूलमन्त्र धर्म के नीचे दबाना होगा। प्रत्येक व्यक्ति ने किसी न किसी कार्य-साधन के विशेष उद्देश्य से जन्म लिया है। उसके जीवन की वर्तमान गति अनेक पूर्व जन्मों के फलस्वरूप उसे प्राप्त हुई है। हे रामनद-निवासी सज्जनो, आप लोगों में से भी प्रत्येक व्यक्ति एक विशेष व्रतसाधन के उद्देश्य से पैदा हुआ है। महामहिमामय हिन्दू जाति के अनन्त भूत जीवनों की कर्म-समष्टि आपके इस जीवनव्रत की निर्देशक है। सावधान, आपके लाखों पुरखा आपके प्रत्येक कार्य को बड़े ध्यान से देख रहे हैं। वह उद्देश्य क्या है, जिसके लिए प्रत्येक हिन्दू बालक ने जन्म लिया है? महर्षि मनु ने ब्राह्मणों के जन्मोद्देश्य के विषय में जो कुछ घोषित किया है, उसे क्या आपने नहीं पढ़ा है?

'बैठिये अपने ठाम'।

'ब्राह्मणो जायमानो हि पृथिव्यामधिजायते। ईश्वरः सर्वभूतानां धर्मकोषस्य गुप्तये॥' 'धर्मकोषस्य गुप्तये'—धर्मरूपी खजाने की रक्षा के लिए ब्राह्मणों का जन्म होता है। हमें कहना यह है कि इस पवित्र मातृभूमि पर जिस किसी स्त्री वा पुरुष का जन्म होता है, उसके जन्म लेने का कारण यही 'धर्मकोषस्य गुप्तये' है। दूसरे सभी विषयों को हमारे जीवन के इस मूल उद्देश्य के आधीन करना होगा। संगीत में एक प्रधान सुर होता है, दूसरे सब सुर उसी के आधीन होते हैं। उसी के अनुगत होने से संगीत में ठीक लय आती है। इस स्थान पर भी वही करना होगा। ऐसी भी जाति हो सकती है,

जिसका मूलमन्त्र राजनीति की प्रधानता हो, धर्म और दूसरे सभी विषय उस जाति के मूलमन्त्र राजनीति के नीचे भले ही दब जायँ, किन्तु इस हिन्दू-जाति का प्रधान जीवनोद्देश्य धर्म और वैराग्य है। हिन्दुओं का एकमात्र मूलमंत्र यह है कि जगत् क्षणस्थायी, भ्रममात्र और मिथ्या है; धर्म के अतिरिक्त ज्ञान, विज्ञान, भोग, ऐश्वर्य, नाम, यश, धन, दौलत जो कुछ भी हो, सभी को धर्म के नीचे दबाना होगा। आपके महाराज के चरित्र में यही विशेषता है, उन्होंने अपनी पाश्चात्य विद्या, धन, मान, पद-मर्यादा सभी को धर्म के आधीन—धर्म का सहायक बनाया है। यही धर्म, यही आध्यात्मिकता, यही पवित्रता प्रत्येक हिन्दू सन्तान के जन्मगत संस्कार का स्वरूप है। इसलिए पूर्वोक्त दो प्रकार के आदमियों में एक तो ऐसे हैं, जिनमें हिन्दू जाति के जीवन की मूल-शक्ति—आध्यात्मिकता—मौजूद है। इनके पास और कुछ नहीं है; वह है प्राचीन-पंथी सम्प्रदाय अर्थात् पाश्चात्य शिक्षा में अशिक्षित सम्प्रदाय। दूसरे पाश्चात्य सभ्यता के कितने ही नकली हीरा-जवाहिर लेकर बैठे हैं, पर उनके भीतर जीवनप्रद शक्ति संचार करनेवाली वह आध्यात्मिकता नहीं है। यदि दोनों सम्प्रदायों की तुलना की जाय, तो मुझे विश्वास है कि उपस्थित सभी सज्जन एकमत होकर प्रथमोक्त सम्प्रदाय के पक्षपाती होंगे; क्योंकि इस प्राचीन सम्प्रदाय की उन्नति की कुछ आशा है। जातीय मूलमन्त्र उसके हृदय में जाग रहा है, वही उसका आधार है। अस्तु, उसके बचने की आशा है, किन्तु शेषोक्त सम्प्रदाय की मृत्यु अवश्यम्भावी है। जिस प्रकार यदि किसी आदमी के मर्मस्थान में कोई आघात न लगे, अर्थात् यदि उसका मर्मस्थान दुरुस्त रहे, तो दूसरे अङ्गों में कितनी ही चोट लगने पर भी उसे सांघातिक न कहेंगे; क्योंकि, दूसरे अङ्गों की क्रिया जीवन-धारणा के लिए आवश्यक नहीं है। इसी प्रकार हमारी जाति के मर्मस्थान में घाव न लगने से उसके विनाश की कोई आशंका नहीं हो सकती; किन्तु भलीभाँति स्मरण रखिये, यदि आप धर्म छोड़कर पाश्चात्य जाति की जड़वाद-सर्वस्व सभ्यता के पीछे दौड़ियेगा, तो

आपका तीन ही पीढ़ियों में विनाश निश्चित है। धर्म छोड़ने से हिन्दू जाति का मेरुदण्ड ही टूट जायगा — जिस भित्ति के ऊपर यह जातीय सुविशाल सौध खड़ा है, वही नष्ट हो जायगा, फिर तो सर्वनाश रखा ही है।

अतएव हे भाइयो, हमारी जातीय उन्नति का यही मार्ग है कि हम-लोगों ने अपने पुरखों से उत्तराधिकार-स्वरूप जो अमूल्य धर्म-धन पाया है, उसे प्राणपण से सुरक्षित रखना ही अपना प्रथम और प्रधान कर्तव्य समझें। आपने क्या ऐसे देश का नाम सुना है, जिसके बड़े बड़े राजा अपने को प्राचीन राजाओं अथवा पुरातन दुर्गवासी लुटेरों के वंशधर न बताकर अरण्य-वासी अर्धनग्न तपस्वियों की सन्तान कहने में ही अधिक गौरव समझते हैं? यदि आपने न सुना हो तो सुनिये — हमारी मातृभूमि ही वह देश है। दूसरे देशों में बड़े बड़े धर्माचार्य अपने को किसी राजा का वंशधर कहने की बड़ी चेष्टा करते हैं, और भारतवर्ष में बड़े बड़े राजा अपने को किसी प्राचीन ऋषि की सन्तान प्रमाणित करने की चेष्टा करते हैं। इसीसे मैं कहता हूँ कि आपलोग धर्म में विश्वास कीजिये या न कीजिये, यदि आप जातीय जीवन को दुरुस्त रखना चाहते हैं, तो आपको धर्मरक्षा के लिए सचेष्ट होना होगा। एक हाथ से धर्म को मजबूती से पकड़कर दूसरे हाथ को बढ़ा अन्य जातियों से जो कुछ सीखना हो सीख लीजिये; किन्तु स्मरण रखियेगा कि उनको हिन्दू जीवन के मूल आदर्श का अनुगामी ही रखना होगा। तभी अपूर्व महिमा से मण्डित भावी भारत का निर्माण होगा।

भावी भारत।

मेरा दृढ़ विश्वास है कि शीघ्र ही वह शुभ दिन आ रहा है, और भारतवर्ष किसी काल में भी जिस श्रेष्ठता का अधिकारी नहीं था, शीघ्र ही उस श्रेष्ठता का अधिकारी होगा। प्राचीन ऋषियों की अपेक्षा श्रेष्ठ ऋषियों का आविर्भाव होगा और आपके पुरखा अपने वंशधरों की इस अभूतपूर्व उन्नति पर प्रसन्न होंगे। इतना ही नहीं, मैं निश्चित रूप से कहता हूँ, वे स्वर्ग में बैठे हुए अपने वंशजों को इस प्रकार महिमान्वित और महत्वशाली देखकर अपने को महा

गौरवान्वित समझेंगे। हे भाइयो, हम सभी लोगों को इस समय कठिन परिश्रम करना होगा। अब सोने का समय नहीं है। हमारे कार्यों पर भारत का भविष्य निर्भर है। यह देखिये, भारतमाता धीरे धीरे आँखें खोल रही हैं। वे कुछ देर सोई थीं। उठिये, उन्हें जगाइये और पूर्वापेक्षा महा गौरवमण्डित करके भक्ति-भाव से उन्हें अपने अनन्त सिंहासन पर प्रतिष्ठित कीजिये। और जो शैवों के लिए शिव, वैष्णवों के लिए विष्णु, कार्मियों के लिए कर्म, बौद्धों के लिए बुद्ध, जैनों के लिए जिन, ईसाइयों और यहूदियों के लिए जिहोवा, मुसलमानों के लिए अल्ला, वेदान्तियों के लिए ब्रह्म है — जो सब धर्मों, सब सम्प्रदायों का प्रभु है, वही सर्वव्यापी — जिसकी सम्पूर्ण महिमा को भारत ही जानता था — (यथार्थ ईश्वर-ज्ञान केवल भारत में ही हुआ था, और किसी जाति को प्रकृत ईश्वर-तत्व प्राप्त नहीं हुआ था। शायद आप लोगों को मेरी इस बात पर आश्चर्य होता होगा, किन्तु किसी दूसरे शास्त्र से प्रकृत-ईश्वर-तत्व ढूँढ़ निकालिए, ज़रा मैं भी देखूँ। अन्यान्य जातियों के एक एक जातीय ईश्वर या देवता थे, जैसे यहूदियों के ईश्वर और अरबवालों के ईश्वर, और वह ईश्वर दूसरी जातियों के ईश्वर के साथ झगड़ा—लड़ाई किया करता था किन्तु ईश्वर की परम दयालुता और उसे अपना पिता, माता, मित्र, प्राणों का प्राण आत्मा का अन्तरात्मा इत्यादि समझना भारत को ही ज्ञात था) — वही दयामय प्रभु हम लोगों को आशीर्वाद दें, हमारी सहायता करें, हमें शक्ति दें जिससे हम अपने उद्देश्य को कार्यरूप में परिणत कर सकें।

'ॐ सह नाववतु सह नौ भुनक्तु सह वीर्यं करवावहै।
तेजस्विनावधीतमस्तु मा विद्विषावहै॥'

हम लोगों ने जिसे पढ़ा, वही हम लोगों की रक्षा करे, उसके द्वारा हम लोगों में इस प्रकार का वीर्य उत्पन्न हो कि हम दूसरों की सहायता कर सकें। हम — आचार्य और शिष्य — कभी भी आपस में विद्वेष न करें। ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः। हरिः ॐ॥

६. परमकुडी-अभिनन्दन

रामनद से प्रस्थान करने के बाद स्वामीजी ने परमकुडी में आकर विश्राम किया। यहाँ उनके स्वागत-सत्कार का बहुत बड़ा आयोजन किया गया था तथा निम्नलिखित स्वागत-पत्र उनकी सेवा में भेंट किया गया :—

परम पूज्य स्वामी विवेकानन्दजी,

आज हम परमकुडी-निवासियों के लिए यह परम सौभाग्य की बात है कि आप हमारे बीच पधारे हैं। पाश्चात्य देशों में लगभग चार वर्ष तक आध्यात्मिकता का सफल रूप से प्रचार एवं प्रसार करने के बाद आपने यहाँ पधारकर जो कृपा की है उसके लिए हम बड़े कृतज्ञ हैं तथा आपका हृदय से स्वागत करते हैं। आज हमें अपने देशबन्धुओं के साथ इस बात पर हर्ष एवं गर्व है कि आपने किस उदारता से प्रेरित हो शिकागो की धर्मसभा में भाग लिया तथा वहाँ पर एकत्रित अन्य धार्मिक नेताओं के सम्मुख अपने इस प्राचीन देश के पवित्र तथा छिपे हुए धर्मसिद्धान्तों को प्रकाशित किया। आपने अपनी शक्तिशाली एवं ओजस्विनी भाषा द्वारा वैदिक धर्मतत्वों को पाश्चात्यों के सम्मुख रखकर उनके सुसंस्कृत मस्तिष्कों से वे पूर्वग्रहदूषित धारणाएँ नष्ट कर दीं जो हमारे प्राचीन हिन्दू धर्म के बारे में थीं तथा उन्हें यह भलीभाँति समझा दिया कि हमारा यह हिन्दू धर्म केवल सार्वभौम ही नहीं है, वरन् इसमें प्रत्येक काल के विभिन्न बुद्धि-शक्तियुक्त व्यक्तियों को अपनाने की भी गुंजाइश तथा क्षमता है।

आज हमारे बीच में आपके साथ आए हुए आपके पाश्चात्य देशीय शिष्य भी यहाँ उपस्थित हैं और उनसे यह स्पष्ट प्रकट होता है कि आपकी धार्मिक शिक्षाएँ वहाँ केवल शब्दों में ही नहीं समझी तथा अपनाई गई वरन् वे साक्षात् रूप में फलवती भी हुई हैं। आपकी प्रतिभा द्वारा जो चिरस्थायी

एवं चित्ताकर्षक प्रभाव पड़ता है उससे तो हमें अपने उन्हीं प्राचीन ऋषियों का स्मरण हो आता है जिनकी तपस्या, साधना तथा आत्मानुभूति ने उन्हें मानव जाति का सच्चा पथ-प्रदर्शक तथा आचार्य बना दिया था।

अन्त में परम पिता परमेश्वर से हम यही प्रार्थना करते हैं कि वह आपको चिरायु करे जिससे कि आप समस्त मानव जाति को आध्यात्मिक शिक्षा देते हुए उसका कल्याण कर सकें।

हम हैं,
परम पूज्य स्वामीजी, आपके विनम्र एवं
चरणसेवी भक्त तथा सेवक।

स्वामीजी का उत्तर

इसके उत्तर में स्वामीजी ने कहा :—

जिस स्नेह भाव तथा हार्दिकता से आप लोगों ने मेरा स्वागत किया है उसके लिए उचित भाषा में धन्यवाद देना मेरे लिए बड़ा कठिन-सा प्रतीत हो रहा है। परन्तु यहाँ पर मैं इतना कह देना चाहता हूँ कि मेरे देश के लोग चाहे मेरा हार्दिक स्वागत करें अथवा तिरस्कार, मेरा प्रेम अपने देश के प्रति और विशेषकर अपने देशवासियों के प्रति सदैव उतना ही रहेगा। भगवान श्रीकृष्ण ने भी गीता में कहा है कि मनुष्य को कर्म कर्म के लिए, तथा प्रेम प्रेम के लिए करना चाहिए। जो कुछ कार्य मैंने पाश्चात्य देशों में किया है वह कोई बहुत नहीं है और मैं यह कह सकता हूँ कि यहाँ पर जितने लोग उपस्थित हैं उनमें से ऐसा कोई भी नहीं होगा जो उससे सौ गुना अधिक कार्य न कर सकता। और मैं उस शुभ दिन की उत्सुकता से प्रतीक्षा कर रहा हूँ जब कि महामनीषी धर्मवीरगण इस बात के लिए तैयार हो जायँगे कि वे भारतवर्ष से संसार के दूसरे देशों को जायँ तथा वहाँ के लोगों को आध्यात्मिकता, त्याग एवं वैराग्य आदि विषयों की शिक्षा दें जो भारतवर्ष को उसके पहाड़, वन तथा कन्दराओं में रहनेवाले महर्षियों से प्राप्त

हुई है तथा जो भारतवर्ष — केवल भारतवर्ष — की ही सम्पत्ति एवं निधि कही जा सकती है।

आध्यात्मिकता तथा जड़ता का तरंग-गति से आविर्भाव एवं तिरोभाव।

मानव जाति के इतिहास से हमें इस बात का पता चलता है कि मनुष्य जाति के जीवन-काल में कुछ ऐसे अवसर आते हैं जब ऐसा अनुभव होता है कि मानो मनुष्य जाति संसार से ऊब उठी है, उसकी सारी योजनाएँ असफल-सी प्रतीत होती हैं, प्राचीन आचार तथा रूढ़ियाँ नष्ट-भ्रष्ट होती दिखती हैं, उनकी आशाओं पर पानी-सा फिरा मालूम होता है तथा उन्हें चारों ओर सब कुछ अस्त-व्यस्त-सा ही प्रतीत होता है। संसार में सामाजिक जीवन की बुनियाद डालने के लिए दो प्रकार से यत्न किए गए; एक तो धर्म के सहारे और दूसरा सामाजिक प्रयोजन के सहारे। जो यत्न धर्म के सहारे निर्माण हुआ उसका मूल आधार हुई आध्यात्मिकता और जो सामाजिक आवश्यकताओं के सहारे खड़ा हुआ उसका आधार हुआ जड़वाद। एक की भित्ति है अतीन्द्रियवाद, दूसरे की प्रत्यक्षवाद। पहला इस क्षुद्र जड़ जगत् की सीमा के बाहर दृष्टिपात करता है, इतना ही नहीं बल्कि वह दूसरे के सहित कुछ सम्पर्क न रख केवल आध्यात्मिक भाव लेकर ही जीवन व्यतीत करने में साहसी होता है। इसके विपरीत दूसरा सांसारिक वस्तुओं के बीच ही अपने को सन्तुष्ट मानता है और इस बात की आशा करता है कि वहीं उसे जीवन का दृढ़ आधार मिल सकेगा।

विश्व का एक बड़ा मनोरंजक सिद्धान्त यह प्रतीत होता है कि उसमें तरंग-गति से आध्यात्मिकता तथा भौतिकता का उत्थान-पतन चलता रहता है। एक ही देश में विभिन्न समयों पर भिन्न भिन्न तरंगें दिखाई देती हैं। एक समय ऐसा होता है जब निरा भौतिकवाद अथवा जड़वाद अपना आधिपत्य जमाए रहता है — जीवन की प्रत्येक चीज़, जिससे आर्थिक अभ्युदय

सम्भव हो अथवा ऐसी शिक्षा जिसके द्वारा हमें अधिकाधिक धन-धान्य प्राप्त हो सके, बड़ी चित्ताकर्षक तथा आदरणीय प्रतीत होती है। परन्तु फिर कुछ समय बाद उसका महत्व कम हो जाता है तथा वह नष्ट होने लगती है। जब अभ्युदय आता है तो उसके साथ मानव जाति के अन्तर्निहित पारस्परिक द्वेष तथा ईर्ष्या भी प्रबल आकार धारण कर लेते हैं। फल यह होता है कि प्रतिद्वन्द्विता तथा घोर निर्दयता मानो उस समय का युगधर्म बन बैठता है। एक साधारण अँगरेजी कहावत है, 'Every one for himself and the devil take the hindmost' अर्थात् प्रत्येक मनुष्य अपना अपना ही सोचता है और जो बेचारा पीछे रह जाता है उसे शैतान पकड़ ले जाता है — बस यही कहावत चरितार्थ हो जाती है। ऐसी दशा कुछ समय तक रहने के पश्चात् आँख खुलती है और लोग सोचते हैं कि उनकी योजना तो नितान्त असफल ही रही। यदि धर्म ने उनकी रक्षा न की, जड़वाद के गम्भीर आवर्त में मज्जमान जगत् को सहारा न दिया तो संसार का ध्वंस तो अवश्यम्भावी ही है। अब संसार को एक नई आशा की किरण मिलती है, एक नई इमारत खड़ी करने के लिए एक नई नींव मिलती है, और बस आध्यात्मिकता की एक जबरदस्त लहर आती है जिसके सब वश में हो जाते हैं।

परन्तु आश्चर्य यह है कि काल-धर्म के अनुसार कुछ समय में वह भी धीरे धीरे दब जाती है। प्रकृति का अव्यर्थ नियम यह है कि धर्म के अभ्युत्थान के साथ ही साथ कुछ ऐसे व्यक्तियों का उदय होता है* जो इस बात का दावा करते हैं कि संसार की कुछ विशेष शक्तियों के अधिकारी वे ही हैं। इसका अव्यवहित फल होता है — फिर से जड़वाद की ओर गति। और जड़वाद की ओर गति एक बार आरम्भ होने से फिर विभिन्न प्रकार के शत शत विषयों पर एकाधिकार का दावा आरम्भ होता है। क्रमशः ऐसा समय

* यह विषय विस्तारित भाव से श्रीरामकृष्ण आश्रम, नागपुर द्वारा प्रकाशित स्वामी विवेकानन्द कृत 'वर्तमान भारत' पुस्तक में आलोचित हुआ है।

आता है जब कि समग्र जाति की केवल आध्यात्मिक क्षमताएँ ही नहीं, वरन् उसकी सर्व प्रकार की लौकिक क्षमता व अधिकार भी कुछ अल्पसंख्यक व्यक्तियों के एकाधिकार में आ जाते हैं। बस फिर से थोड़े से लोग जनता की गर्दन पकड़कर उन पर अपना शासन जमा लेने की चेष्टा करते हैं। परन्तु जनता इतनी आसानी से तो काबू में आनेवाली नहीं; वह भी होड़ लेती है और उस समय एक बार फिर वह भौतिकवाद का सहारा लेती है। आज यदि तुम अपनी मातृभूमि भारतवर्ष को देखो तो यहाँ भी वही बात पाओगे। ज़रा विचार करो कि आज तुम सब लोग यहाँ एकत्रित होकर जो एक ऐसे व्यक्ति का स्वागत कर रहे हो जो यूरोप में वेदान्त के प्रचारार्थ गया था, इसका क्या कारण है? कारण यही है कि यूरोप के भौतिकवाद ने एक इस प्रकार का क्षेत्र तैयार कर दिया था कि वहाँ वह कार्य सम्भव हो सका। कहा जा सकता है कि भौतिकवाद से भी भारतवर्ष को एक प्रकार से लाभ हुआ है। इसने मनुष्य-मात्र को इस बात का अधिकारी बना दिया कि वह स्वतंत्रतापूर्वक अपने जीवन-पथ पर अग्रसर हो सके, इसी ने उच्च वर्णों का एकाधिकार दूर कर दिया तथा इसी के द्वारा यह सम्भव हो सका कि लोग उन धार्मिक तत्वों पर आपस में परामर्श तथा विचार-विनिमय भी करने लगे जिनके निमित्त कुछ लोगों ने केवल अपने को ही अधिकारी समझ रखा था, और खूबी तो यह है कि वे स्वयं उनका महत्व तथा उपयोग तक भूल बैठे थे। परिस्थिति कुछ ऐसी हो गई थी कि इन अमूल्य धार्मिक तत्वों में से अधिकांश लुप्त हो गए थे। वे या तो चुरा लिए गए थे अथवा खो गए थे और शेष जो बच रहे थे वे ऐसे लोगों के हाथ में चले गए थे जो, जैसी कहावत है, 'न खाते थे, न खाने देते थे'।

दूसरी ओर राजनीतिक अधिकार का हाल यह है कि जिस बात को प्राप्त करने के लिए हम आज भारतवर्ष में इतना यत्न कर रहे हैं वह तो यूरोप में सदियों से रही है तथा आजमाई भी जा चुकी है, परन्तु फिर भी

वह नितान्त संतोषजनक नहीं पाई गई, उसमें भी कमी है। राजनीति से सम्बन्धित यूरोप की संस्थाएँ, प्रणालियाँ तथा और भी अनेकानेक बातें समय समय पर बिलकुल व्यर्थ सिद्ध होती रही हैं और आज यूरोप की यह दशा है कि

पाश्चात्य समाज की असम्पूर्णता।

वह बेचैन है, यह नहीं जानता कि अब क्या करें, किस प्रणाली की शरण लें; वहाँ ऐश्वर्य, सम्पत्ति के अत्याचार असह्य हो उठे हैं। देश का धन तथा शक्ति उन थोड़े से लोगों ने अपने हाथ में रख छोड़ी है जो स्वयं तो कुछ काम करते नहीं; हाँ, सिर्फ लाखों मनुष्यों द्वारा काम चलाने की क्षमता जरूर रखते हैं। इस क्षमता द्वारा वे चाहे तो सारे संसार में खून-खच्चर कर दें। धर्म तथा अन्य सभी चीजों को भी उन्होंने अपनी मुट्ठी में कर रखा है, वे ही शासक हैं और सर्वश्रेष्ठ समझे जाते हैं। आज पाश्चात्य संसार तो बस ऐसे ही इनेगिने 'शायलाकों' के हाथ में है, और यह जो तुम वहाँ का संविधानबद्ध शासन (Constitutional Government), स्वतंत्रता, आजादी, पार्लमेन्ट आदि की बातचीत सुना करते हो वह सब मज़ाक है। पाश्चात्य देश तो असल में इन शायलाकों के बोझ तथा अत्याचार से जर्जर हो रहा है और इधर प्राच्य देश इन पुरोहितों के अत्याचारों से कातर क्रन्दन कर रहा है। होना तो यह चाहिए कि ये दोनों आपस में एक दूसरे को अपने कब्ज़े में रखें।

यह कभी मत सोचो कि इनमें से केवल एक से ही संसार का लाभ होगा। उस निष्पक्ष प्रभु ने विश्व में सबको ही समान बनाया है। अति अधम असुर-प्रकृति मनुष्य में भी आपको कुछ ऐसे गुण मिलेंगे जो एक बड़े महात्मा में भी नहीं पाये जाते, एक छोटे से छोटे कीड़े में भी वह खूबियाँ होंगी जो बड़े से बड़े आदमी में गायब हैं। उदाहरणार्थ एक मामूली कुली को ही ले लीजिए। आप सोचते होंगे कि उसे जीवन का कोई विशेष सुख नहीं है, आपके सदृश उसमें बुद्धि भी नहीं है, वह वेदान्त आदि विषयों को भी नहीं समझ सकता आदि आदि—परन्तु आप उसके शरीर की ओर

तो देखिए। उसका शरीर कष्ट आदि सहने के लिए ऐसा सुकुमार नहीं है जैसा आपका। यदि उसे कभी चोट लग जाती है अथवा उसका शरीर कहीं कट जाता है तो आपकी अपेक्षा उसे जल्दी आराम हो जाता है, उसकी चोट जल्दी भर आती है। उसका जीवन उसकी इन्द्रियों में है और वह उन्हीं में मस्त रहता है। अतः उसके जीवन में एक ओर जिस प्रकार सुख का अभाव है, उसी प्रकार दूसरी ओर सुख की अधिकता भी है। अतः यह ध्यान रहना चाहिए कि सामञ्जस्य उसके भी जीवन में है। अतएव ऐन्द्रियिक, मानसिक या आध्यात्मिक, भगवान ने निष्पक्ष होकर सभी को सम्पूर्ण समान सुख दिया है। इसलिए हमें यह नहीं समझ लेना चाहिए कि हमीं संसार के उद्धारकर्ता हैं। यह ठीक है कि हम संसार को बहुतसी बातें सिखा सकते हैं, परन्तु साथ ही हमें यह भी जानना चाहिए कि हम संसार से बहुतसी बातें सीख भी सकते हैं। हम संसार को जिस विषय की शिक्षा देने में समर्थ हैं उसके लिए संसार अपेक्षा कर रहा है। यदि आध्यात्मिकता की बुनियाद नहीं होगी तो आगामी पचास वर्षों में पाश्चात्य सभ्यता तहस-नहस हो जाएगी। मानव जाति के ऊपर तलवार से शासन करने की चेष्टा करना नितान्त व्यर्थ है। तुम देखोगे कि वे केन्द्र, जहाँ से इस प्रकार के 'पाशव बल द्वारा शासन' की चेष्टा उत्पन्न होती है, सबसे पहले स्वयं ही डगमगाते हैं, उनका पतन होता है और अन्त में वे नष्ट-भ्रष्ट हो जाते हैं। तुम देखोगे कि अगले पचास वर्ष में ही यह यूरोप, जो आज समस्त भौतिक शक्ति का लीलाक्षेत्र बन बैठा है, यदि अपने को सँभाल नहीं लेता है, अपना आधार बदल नहीं देता है तथा आध्यात्मिकता ही को जीवन-आधार नहीं बना लेता है तो बरबाद हो जाएगा, धूल में मिल जाएगा; और यदि यूरोप को कोई शक्ति बचा सकती है तो वह है केवल उपनिषदों का धर्म।

पाश्चात्य देशों में धर्मप्रचार की अत्यावश्यकता।

आज भी हम यह भलीभाँति जानते हैं कि इतने मत-मतान्तरों, विभिन्न

दार्शनिक दृष्टिकोणों तथा शास्त्रों के होते हुए भी यदि कोई सिद्धान्त हम सभों का साधारण आधारभूत है तो वह है जीवात्मा की सर्वशक्तिमत्ता में विश्वास, और मेरी यह श्रद्धा है कि इसी के द्वारा समस्त संसार का भाव-स्रोत परिवर्तित हो सकता है। हिन्दू, जैन तथा बौद्ध, यहाँ तक कि भारत के सभी सम्प्रदायों का इस बात में अटल विश्वास है कि आत्मा ही समस्त शक्तियों का आधार-स्वरूप है। और तुम यह भलीभाँति जानते हो कि भारत में ऐसी कोई भी धर्मप्रणाली नहीं है जो इस बात की शिक्षा देती हो कि हमें शक्ति, पवित्रता अथवा पूर्णता कहीं बाहर से प्राप्त होगी, वरन् हमें सर्वत्र यही शिक्षा मिलती है कि वे तो हमारे जन्मसिद्ध अधिकार हैं, हमारे लिए उनकी प्राप्ति स्वाभाविक है। अपवित्रता तो केवल एक बाह्य आवरण सदृश है जिसके नीचे हमारा वास्तविक स्वरूप ढँक गया है; परन्तु जो सच्चा 'तुम' है वह पहले से ही पूर्ण है, शक्तिशाली है। आत्मसंयम करने के लिए तुम्हें बाह्य सहायता की बिल्कुल आवश्यकता नहीं है, जाने या अनजाने तुम अनादि काल से ही पूर्ण संयमी हो। इसीलिए शास्त्र निर्देश करते हैं कि अविद्या ही सब प्रकार के अनिष्टों का मूल है। आखिर ईश्वर तथा मनुष्य में, साधु तथा असाधु में प्रभेद किस कारण होता है? केवल अज्ञान से। बड़े से बड़े मनुष्य तथा तुम्हारे पैर के नीचे रेंगनेवाले कीड़े में प्रभेद किस कारण होता है? प्रभेद होता है केवल अज्ञान से; क्योंकि उस छोटे से रेंगते हुए कीड़े में भी वही अनन्त शक्ति वर्तमान है, वही ज्ञान है, वही शुद्धता है, यहाँ तक कि साक्षात् अनन्त भगवान विद्यमान हैं। अन्तर यही है कि उसमें यह सब अव्यक्त रूप में है; जरूरत है इसी को व्यक्त करने की। भारतवर्ष को यही एक महा सत्य संसार को सिखाना है, क्योंकि इसका ज्ञान अन्यत्र कहीं नहीं है। यही आध्यात्मिकता है, यही आत्म-विज्ञान है। वह क्या चीज़ है जिसके सहारे मनुष्य खड़ा हो जाता है और काम करता है? — वह है

हिन्दू धर्म की साधारण भित्ति — आत्मविश्वास।

जीवात्मा की अनन्त शक्तिमत्ता में विश्वास ही सब समस्याओं को हल करने में समर्थ है।

वीर्य। वीर्य ही पुण्य है तथा दुर्बलता पाप। उपनिषदों में यदि कोई एक ऐसा शब्द है जो वज्र-वेग से अज्ञान-राशि के ऊपर पतित होता है, उसे बिलकुल उड़ा देता है, तो वह है 'अभीः'— निर्भयता। संसार को यदि किसी एक धर्म की शिक्षा देनी चाहिए तो वह है 'निर्भिकता'। यह सत्य है कि इस ऐहिक जगत् में, अथवा आध्यात्मिक जगत् में भय ही पतन तथा पाप का कारण है। भय से ही दुःख होता है, यही मृत्यु का कारण है तथा इसी के कारण सारी बुराई तथा पाप होता है। और भय होता क्यों है?— बस, अपने स्वयं ही के बारे में अज्ञान के कारण, आत्मस्वरूप के अज्ञान के कारण। हममें से प्रत्येक इस बात का अधिकारी है कि वह सम्राटों के सम्राट का भी उत्तराधिकारी बन सके, क्योंकि हम उस ईश्वर के ही तो अंश हैं। बल्कि इतना ही नहीं, अद्वैत मतानुसार हम स्वयं ही ईश्वर हैं, ब्रह्म हैं, यद्यपि आज हम अपने को केवल एक छोटा सा आदमी समझकर अपना असली स्वरूप भूल बैठे हैं। उस स्वरूप से हम भ्रष्ट हो गए हैं और इसीलिए आज हमें यह भेद प्रतीत होता है कि मैं अमुक आदमी से श्रेष्ठ हूँ अथवा वह मुझसे श्रेष्ठ है, आदि आदि। यह एकता की शिक्षा ही एक ऐसी चीज़ है जो आज भारतवर्ष को दूसरों को देनी है और यह ध्यान रहे कि एक बार जब यह सिद्धान्त स्पष्ट रूप से समझ लिया जाता है तब तो सारा दृष्टिकोण ही बदल जाता है, क्योंकि अब तो पहले की अपेक्षा तुम संसार को एक दूसरी दृष्टि से देखने लगते हो। फिर यह संसार वह रणक्षेत्र नहीं रह जाता जहाँ एक व्यक्ति इसलिए जन्म लेता है कि वह दूसरों से लड़ता रहे, जो बलवान हो वह दूसरों पर विजय प्राप्त कर ले तथा जो कमज़ोर है, वह पिस जाए। बल्कि फिर तो यह एक क्रीड़ास्थल बन जाता है जहाँ स्वयं भगवान एक बालक के सदृश खेलते हैं और हम लोग उनके साथ खिलाड़ी तथा

संगी हैं, उनके कार्य के सहायक हैं। और यह सारा दृश्य केवल एक खेल है, वैसे यह चाहे जितना कठिन, घोर, बीभत्स तथा खतरनाक ही क्यों न प्रतीत हो। असल में इसके सच्चे स्वरूप को हम भूल जाते हैं और जब मनुष्य आत्मा को पहचान लेता है तो वह चाहे जैसा दुर्बल, पतित अथवा घोर पातकी ही क्यों न हो, उसके भी हृदय में एक आशा की किरण निकल आती है। शास्त्रों का कथन केवल यही है कि बस, हिम्मत न हारो, क्योंकि तुम तो सदैव वही हो; तुम कुछ भी करो अपने असली स्वरूप को तुम नहीं बदल सकते। और फिर यह सम्भव भी कैसे हो सकता है कि प्रकृति स्वयं ही प्रकृति को नष्ट कर डाले? तुम्हारी प्रकृति तो नितान्त शुद्ध है। यह चाहे लाखों वर्ष तक क्यों न छिपी-ढकी रहे, परन्तु अन्त में इसकी विजय होगी तथा यह अपनी महिमा में प्रकट हो जाएगी। अतएव हम यह कहेंगे कि अद्वैत प्रत्येक व्यक्ति के हृदय में आशा का संचार करता है, न कि निराशा का। वेदान्त कभी भय से धर्माचरण करने को नहीं कहता। वेदान्त की शिक्षा कभी शैतान के बारे में नहीं होती जो यदि तुम्हारा पदस्खलन हो जाए तो तुम्हारा अनिष्ट किये बिना कभी न चूके।

वेदान्त में शैतान का उल्लेख ही नहीं है, वेदान्त की शिक्षा यही है कि अपने भाग्य के निर्माता हमीं हैं। तुम्हारा यह शरीर तुम्हारे ही कर्मों के अनुसार बना है; और किसी ने तुम्हारे लिए वह गठित नहीं किया है। यदि सर्वव्यापी परमेश्वर तुम्हारे अज्ञान के कारण तुमसे छिपा रहा है तो उसका दोष तुम्हारे ही ऊपर है। यह कभी न समझना कि

कर्मवाद।

इस घोर तमोमय संसार में तुम बिना अपनी इच्छा के ही ला पटके गए हो वरन् तुम्हें यह समझ लेना चाहिये कि ठीक वैसे ही जैसे आज तुम थोड़ा थोड़ा करके अपने इस शरीर को बना रहे हो, पहले भी तुम्हीं ने इसका निर्माण किया था। तुम स्वयं ही खाते हो, कोई और तो तुम्हारे लिए नहीं खाता? फिर जो तुम खा लेते हो उसे तुम्हीं अपने लिए पचाते हो, कोई और तो नहीं पचाता? फिर उसी से तुम अपना रक्त, मांस

तथा शरीर बनाते हो, दूसरा कोई कुछ नहीं करता। बस, यही तुम बराबर करते आए हो। देखो, पतेली का एक चावल टटोल लेने से पतेली भर के चावलों का पता लग जाता है। अतएव यदि आज यह बात सत्य है कि तुम स्वयं अपना शरीर गढ़ते हो तो वह बात भविष्य तथा भूत के लिए भी लागू होती है। समस्त अच्छाई या बुराई की जिम्मेदारी तुम्हारे ही ऊपर है। यही एक बड़ी आशाजनक बात है। जिसे हमने किया है, उसका हम ही नाश कर सकते हैं।

भगवत्कृपा।

यद्यपि हमारे शास्त्रों में इस कठोर कर्मवाद की शिक्षा है तथापि हमारा धर्म भगवत्कृपा को अस्वीकार नहीं करता। हमारे शास्त्र कहते हैं कि भगवान शुभाशुभरूपी इस घोर संसार-प्रवाह के उस पार विराजमान हैं। वे स्वयं बन्धनरहित हैं, दयालु हैं, हमारा बेड़ा पार लगाने को वे सदैव तैयार हैं, उनकी दया अपार है—जो मनुष्य सचमुच हृदय से शुद्ध होता है उस पर उनकी कृपा होती ही है।

यह कहा जा सकता है कि तुम्हारी आध्यात्मिक शक्ति किसी अंश में समाज को एक नया रूप देने में आधार-स्वरूप होगी। समयाभाव के कारण मैं अधिक नहीं कह सकता, नहीं तो मैं यह बतला देता कि आज पाश्चात्य के लिए अद्वैतवाद के कुल सिद्धान्तों का सीखना कैसा परम आवश्यक है, क्योंकि आज इस भौतिकवाद के जमाने में सगुण ईश्वर या द्वैतवाद की बात-चीत लोगों को बहुत नहीं जँचती। परन्तु फिर भी यदि किसी मनुष्य का धर्म नितान्त अमार्जित, अनुन्नत है और वह मन्दिरों तथा प्रतिमाओं का इच्छुक है तो अद्वैतवाद में उसे वह भी, जितना चाहे, मिल सकता है। इसी प्रकार यदि उसे सगुण ईश्वर पर भक्ति है तो अद्वैतवाद में उसे सगुण ईश्वर के निमित्त भी ऐसे ऐसे सुन्दर भाव तथा तत्व मिलेंगे जैसे उसे संसार में और कहीं नहीं मिल सकते। इसी प्रकार यदि कोई व्यक्ति युक्तिवादी होकर अपनी तर्कबुद्धि को सन्तुष्ट करना चाहता है तो उसे प्रतीत होगा कि निर्गुण ब्रह्म सम्बन्धी बड़े से बड़े युक्तियुक्त विचार उसे यहीं प्राप्त हो सकते हैं।

७. मानमदुरा-अभिनन्दन

मानमदुरा में शिवगंगा तथा मानमदुरा के जमींदारों एवं नागरिकों द्वारा निम्नलिखित सम्मान-पत्र स्वामीजी को भेंट किया गया:—

स्वामी विवेकानन्दजी,

महानुभाव,

आज हम शिवगंगा तथा मानमदुरा के जमींदार तथा नागरिक आपका हार्दिक स्वागत करते हैं। हमें इस बात का कभी स्वप्न में भी विचार न था कि आप जो हमारे हृदय में सदैव से रहे हैं, एक दिन यहाँ पधारकर हमें साक्षात् दर्शन देंगे। पहले जब हमें इस बात का तार मिला कि आप यहाँ आने में असमर्थ हैं तो हमें जितनी निराशा हुई उसका हम वर्णन नहीं कर सकते, परन्तु उसके पश्चात् आशा की एक सुनहरी किरण पा जाने से हमें बड़ी सान्त्वना हुई। जब हमें यह पहले पहल ज्ञात हुआ कि आपने यहाँ पधारकर हम सभों को दर्शन देना स्वीकार कर लिया है तो हमें यही अनुभव हुआ कि मानो हमने अपना उच्चतम ध्येय प्राप्त कर लिया। हमें तो ऐसा जान पड़ा मानो पहाड़ ने मुहम्मद के पास जाना स्वीकार कर लिया और फलस्वरूप हमारे हर्ष का पारावार नहीं रहा। परन्तु फिर जब हमें पता चला कि 'पहाड़' स्वयं चलकर नहीं आएगा तथा हम लोग भी इस योग्य नहीं हैं कि स्वयं चलकर 'पहाड़' तक जा सकें, तो उस समय तो यह केवल आपकी ही उदारता थी जिससे हमारा असमञ्जस दूर हो सका।

समुद्री मार्ग की इतनी कठिनाइयाँ तथा अड़चनें होते हुए भी जिस उदार एवं निःस्वार्थ भाव से आप प्राच्य का महान् संदेश पाश्चात्य देशों को ले गए, जिस अधिकारपूर्ण ढंग से आपने वहाँ अपने उद्देश्य को कार्यरूप में

परिणत किया तथा जैसी अद्वितीय सफलता आपको अपने जगत्कल्याण के प्रयत्नों में हुई वैसी, हम जानते हैं, आज तक कभी किसी को नहीं हुई और हमें विश्वास है कि आपके इन सब कार्यों से आपकी कीर्ति अमर हो गई है। ऐसे समय में जब कि पाश्चात्य देशीय भौतिकवाद जिसका उद्देश शायद सिर्फ रोटी पैदा करना ही है, भारतीय धार्मिक भावों में एक प्रकार का घुन सा लगा रहा है तथा जब हमारे ऋषि-वाक्य इतने कम समझे जाने लगे हैं कि लोग उनकी गिनती करने लगे हैं, तो ऐसे समय में आप जैसे एक नए गुरु का अवतीर्ण होना हमारी धार्मिक प्रगति में एक बहुत बड़ी बात है और हम कह सकते हैं कि यहाँ से एक नया युग ही आरम्भ होता है। और हमें विश्वास है कि धीरे धीरे समय के आने पर आप उस मैल को धो बहाने में पूर्ण रूप से सफल होंगे जो आज हमारे भारतीय-दर्शन-रूपी सुवर्ण पर जम गया है, और उसी सोने को आप अपनी मानसिक टकसाल में डालकर उसमें से एक ऐसा सिक्का तैयार कर देंगे जो समस्त संसार में मान्य होगा।

जिस उदार भाव से आपने भारतीय दर्शन का झंडा शिकागो-धर्मपरिषद में एकत्र विभिन्न धर्मावलम्बियों के बीच विजय प्राप्त करते हुए लहरा दिया है उससे हमें इस बात की प्रबल आशा हो रही है कि शीघ्र ही आप अपने समय के राजनीतिक सत्तावालों के ही सदृश इतने बड़े साम्राज्य पर राज्य करेंगे जिसमें सूरज कभी नहीं डूबता है — अन्तर इतना ही होगा कि उन लोगों का राज्य भौतिक वस्तुओं पर है तथा आपका मन पर होगा।

और जिस प्रकार इस राज्य करनेवाले राष्ट्र ने इतने अधिक समय तक तथा इतनी सुंदरता से राज्य करके राजनीतिक इतिहास के सारे पूर्वेतिहास को मलिन कर दिया है उसी प्रकार हम सर्वशक्तिमान ईश्वर से विनम्र प्रार्थना करते हैं कि जिस कार्य का बीड़ा आपने केवल दूसरों के कल्याण के लिए उठाया है उसे पूर्ण करने के लिए वह आपको दीर्घजीवी करे तथा आध्यात्मिकता के इतिहास में आप अपने सभी पूर्वजों में अग्रगण्य हों।

परमपूज्य स्वामीजी,

हम हैं,

आपके परम विनम्र तथा भक्त

सेवकगण।

स्वामीजी का उत्तर

आपलोगों ने हार्दिक तथा दयापूर्ण अभिनन्दन द्वारा मुझे जिस कृतज्ञता से बाँध लिया है, उसे प्रकट करने के लिए मेरे निकट शब्दों का सर्वथा अभाव है। दुःख की बात है कि प्रबल इच्छा के रहते हुए भी मेरी शारीरिक दशा इस समय ऐसी नहीं कि एक दीर्घ वक्तृता दे सकूँ। हम लोगों के संस्कृतज्ञ पण्डित ने कृपापूर्वक मेरे लिए बड़े सुन्दर सुन्दर विशेषणों की योजना की है; तथापि मेरे एक स्थूल शरीर भी तो है, यद्यपि यह सम्भव है कि शरीरधारण विडम्बना हो। और स्थूल शरीर तो जड़ नियमों ही के इशारे पर चलता है। अगर ऐसा ही है तो थकान और सुस्ती भी कोई ऐसी चीज़ है जिसका असर स्थूल शरीर पर पड़े बिना नहीं रहता। पश्चिम में मुझसे जो थोड़ा-सा काम हुआ है उसके लिए देश में हर जगह जो अपूर्व आनंद और सहानुभूति दिखाई देती है वह सचमुच देखने लायक है। मैं इसे इस ढंग से देखता हूँ: इसका आरोप मैं उन महान् आत्माओं पर करना चाहता हूँ, जो भविष्य में आनेवाले हैं। अगर मेरा किया यह थोड़ा सा काम सारी जाति से इतनी प्रशंसा पा सकता है तो मेरे बाद होनेवाले—संसार में उथलपुथल मचा देनेवाले—धर्मवीर इस जाति से कितनी प्रशंसा न प्राप्त करेंगे? भारत धर्म की भूमि है; हिन्दू लोग धर्म—केवल धर्म समझते हैं। सदियों से उन्हें इसी रास्ते की शिक्षा मिलती आई है जिसका फल यह हुआ कि जीवन के साथ इसीका घनिष्ठ सम्बन्ध हो गया, और तुम लोग जानते हो कि बात ऐसी ही है। इसकी कोई जरूरत नहीं कि सभी दूकानदार हो जायँ

धर्म ही हिन्दुओं के जातीय जीवन की नींव है।

या सभी अध्यापक कहलायें या सभी वीर बन जायँ, किन्तु इन विभिन्न भावों में ही संसार की भिन्न भिन्न जातियाँ सामञ्जस्य की स्थापना कर सकेंगी; जान पड़ता है, कि इस जातीय एकता का आध्यात्मिक स्वर अलापने के लिए हम लोग विधाता द्वारा ही नियुक्त किये गये हैं। और यह देखकर मुझे बड़ा आनन्द मिलता है कि हम लोगों ने अब तक परम्परागत अपने उन महान् अधिकारों को हाथ से नहीं जाने दिया जो हमें अपने गौरवगुरु पूर्वपुरुषों से मिले हैं — जिनका गर्व किसी भी जाति को हो सकता है। इससे मेरे हृदय में आशा का संचार हो जाता है — नहीं, — जाति की भविष्य उन्नति का मुझे दृढ़ विश्वास हो जाता है। मेरी ओर व्यक्तिगत ध्यान के आकर्षित होने के कारण नहीं किन्तु जातीय हृदय को वहीं संलग्न और अभी तक मजबूत बना हुआ देखकर मुझे आनन्द हो रहा है। भारत अब भी जीवित है। कौन कहता है कि वह मर गया? पश्चिमवाले हमें कर्मपटु देखना चाहते हैं। परन्तु यदि वे हमारी कुशलता लड़ाई के मैदान में देखना चाहें, तो उनको हताश होना पड़ेगा; क्योंकि वह क्षेत्र हमारे लिए नहीं, जैसे कि अगर हम किसी सिपाही जाति को धर्मक्षेत्र में कर्मकुशल देखना चाहें तो हताश होंगे। वे यहाँ आयें और देखें, हम दोनों बराबर कर्मकुशल हैं; वे देखें, यह जाति कैसे जी रही है और इसमें पहले जैसा ही जीवन अब भी वर्तमान है।

हम लोग पहले से घट गये हैं, इस विचार को जितना ही हटाओगे उतना ही अच्छा है। परन्तु अब मैं कुछ कड़े शब्द भी कहना चाहता हूँ। मुझे आशा है, उनका ग्रहण बुरे भावों में न किया जायगा। अभी अभी तुम लोगों ने जो यह दावा दायर किया कि यूरोप के जड़वाद से हमारी भरी नाव उलट गई, सो यह दोष यूरोपवालों का नहीं, अधिकांश दोष हमारा ही है। जब कि हम वैदान्तिक हैं तो हमें सभी विषयों का निर्णय भीतरी दृष्टि से — उनके अध्यात्म सम्बन्ध पर नज़र रखते हुए, करना

भारत की वर्तमान दुर्दशा के लिए हम ही उत्तरदायी हैं।

चाहिए। जब कि हम वैदान्तिक हैं, तो यह बात हम निःसन्देह समझते हैं कि अगर पहले हमीं अपने को हानि न पहुँचाएँ, तो संसार में ऐसी कोई शक्ति नहीं जो हमारा नुकसान कर सके। भारत की एकपंचमांश जनता मुसलमान हो गई, जैसे कि इससे पहले उस सुंदर प्राचीन काल में दो-तिहाई मनुष्य बौद्ध बन गये थे। इस समय पंचमांश जनसमूह मुसलमान हैं; दस लाख से भी ज्यादा मनुष्य ईसाई हो गये, यह किसका दोष है? हमारे इतिहासकारों में से सदा स्मरण रखने योग्य भाषा में किसी का आक्षेप है— "जब कि जीवन के सदा प्रवाहशील झरने में पानी बह रहा है, तो ये अभागे कंगाल प्यास के मारे गला सूखकर क्यों मरें?" प्रश्न है— जिन्होंने अपना धर्म छोड़ दिया, उन लोगों के लिए हमने क्या किया? क्यों वे मुसलमान हो गये? इङ्गलैण्ड में मैंने एक सीधीसादी लड़की के समाचार पाये थे। वह वेश्या बनने के लिए जा रही थी। किसी महिला ने उसे ऐसा काम करने से रोका। तब वह लड़की बोली, "मेरे लिए सहानुभूति प्राप्त करने का एक मात्र उपाय यही है, अभी मुझे किसी से सहायता नहीं मिल सकती। परन्तु मुझे पतित हो जाने दीजिये, गली गली ठोकरें खानेवाली स्त्रियों की हालत को पहुँच जाऊँ, तब सम्भव है, दयावती महिलाएँ मुझे लेकर किसी मकान में रखें और मेरे लिए सब कुछ करें।" अब हम अपने धर्म के छोड़ देने वालों के लिए रोते हैं, परन्तु उनके लिए क्या हमने पहले भी कोई पेशबन्दी की थी? आओ, हम लोग अपनी ही अन्तरात्मा से पूछें, हमने क्या सीखा — क्या हमने सत्य की मशाल हाथ में ली? अगर हाँ, तो ज्ञानविस्तार के लिए उसे लेकर कितनी दूर बढ़े?— तो समझ में आ जायगा कि उन पतितों के घर तक ज्ञानालोक विकीर्ण करने के लिए हमारी पहुँच नहीं हुई। वह यही प्रश्न है जो अपनी अन्तरात्मा से हम पूछ सकते हैं। चूँकि हम लोगों

समाज के निम्न-स्तर में ज्ञान-विस्तार की चेष्टा का अभाव ही उसके हिन्दू धर्म-परित्याग का कारण है।

ने वैसा नहीं किया इसलिए वह हमारा ही दोष था — हमारा ही कर्म था। अतएव हमें दूसरों पर दोष न लादना चाहिए, इसे अपने ही कर्मों का दोष मान लेना चाहिए। जड़वाद, इस्लाम धर्म, ईसाई धर्म या संसार का कोई 'वाद' कदापि सफल न हो सकता था, यदि तुम स्वयं उसका प्रवेशद्वार न खोल देते। नर-शरीर में तब तक किसी प्रकार जीवाणुओं की घुसपैठ नहीं हो सकती जब तक वह पाप, कुखाद्य और असंयम के कारण पहले ही से दुर्बल और हीनवीर्य नहीं हो जाता। तन्दुरुस्त आदमी सब तरह के विषैले जीवाणुओं के भीतर रहकर भी उनसे बचा रहता है। अस्तु, पहले की भूलों को दूरकर प्रतिकार का समय अब भी है।

हमारे क्षुद्र अनावश्यक विषयों के अभिनिवेश के कारण हम उच्चतर प्रयोजनीय विषय भूल गये हैं।

प्रथमतः ही उन पुराने तर्कवितर्कों को — अर्थहीन विषयों पर छिड़ी हुई उन पुरानी लड़ाइयों को छोड़ो जो अपनी प्रकृति ही से मूर्खता की सूचना देती हैं। गत छः-सात सदियों तक के लगातार पतन पर विचार करो — जब कि पुख्ता मगजवाले सैकड़ों आदमी सिर्फ इस विषय को लेकर वर्षों तर्क करते रह गये कि लोटा-भर पानी दाहिने हाथ से पिया जाय या बाँये हाथ से; हाथ चार बार धोया जाय या पाँच बार, और कुल्ला पाँच दफे करना ठीक है या छः दफे। ऐसे आवश्यक प्रश्नों के लिए तर्क पर तुले हुए जिन्दगी की जिन्दगी पार कर देनेवाले और इन विषयों पर अत्यन्त गवेषणापूर्ण दर्शन लिख देनेवाले पण्डितों से और क्या आशा कर सकते हो? हमारे धर्म के लिए भय यही है कि वह अब रसोई में घुसना चाहता है। हममें से अधिकांश मनुष्य इस समय न तो वैदान्तिक हैं, न पौराणिक और न तान्त्रिक; हम हैं 'छूत-धर्मी' अर्थात् 'हमें न छुओ' इस धर्म के माननेवाले। हमारा ईश्वर है 'भात की हण्डी' और मन्त्र है 'हमें न छुओ, हमें न छुओ, हम महा पवित्र हैं।' अगर यही भाव एक शताब्दी और चला तो हममें से हरएक

की हालत पागलखाने में कैद होने लायक हो जायगी। मन जब जीवनसम्बन्धी ऊँचे तत्वों पर विचार नहीं कर सकता तब समझना चाहिए कि मस्तिष्क दुर्बल हो गया है। जब मन कमज़ोर हो जाता है, तब उसकी सारी मौलिकता नष्ट हो जाती है, उसकी काम करनेवाली कुल शक्ति — उसकी सम्पूर्ण चिन्ताशक्ति जाती रहती है। फिर वह छोटी से छोटी सीमा के भीतर चक्कर लगाता रहता है। अतएव उन विषयों को बिलकुल छोड़ देना चाहिए। तब हम अवश्य खड़े हो सकेंगे, कर्मी और वीर बन सकेंगे, और तभी हम अपने उस अशेष धन के जन्मसिद्ध अधिकार को पहचान सकेंगे—जिसके लिए आज सारा संसार हाथ बढ़ा रहा है, और जो हमारे ही लिए हमारे पूर्व पुरुष छोड़ गये हैं। यदि यह धन न दिया जाय, तो संसार मर जायगा। इस धनभाण्डार का ताला खोलो और मुक्तहस्त होकर इसका वितरण करो। भगवान व्यास कहते हैं, इस कलियुग में दान ही एकमात्र धर्म है, और सब प्रकार के दानों में अध्यात्मजीवन-दान ही श्रेष्ठ है। इसके बाद है विद्यादान, फिर जीवनदान, और सबसे निकृष्ट है अन्नदान; अन्नदान हम लोगों ने बहुत किया। हमारी जैसी दानशील जाति दूसरी नहीं। यहाँ तो भिक्षुक के घर में भी जब तक रोटी का एक टुकड़ा रहता है, वह उसमें से आधा दान कर सकता है। ऐसा दृश्य केवल भारत में ही दीख पड़ता है। हमारे यहाँ इस दान की कमी नहीं। हमें अन्य दोनों — धर्मदान और विद्यादान के लिए बढ़ना चाहिए। और अगर हम हिम्मत न हारें, हृदय को दृढ़ कर लें और सम्पूर्ण निश्छल होकर काम में हाथ लगाएँ तो पचीस साल के भीतर सारी समस्याओं का समाधान हो जाएगा और ऐसा कोई विषय न रह जाएगा जिसके लिए लड़ाई छिड़ती रहे; तब सम्पूर्ण भारत फिर एक बार प्राचीन आर्यों के सदृश उन्नत हो जाएगा।

हमें समग्र जगत् को धर्म का दान देना होगा।

मुझे जो कुछ कहना था, तुमसे कह दिया। मुझे युक्तियों पर ज्यादा बहस करना पसन्द नहीं। बल्कि मुझे जो कुछ पसन्द है, वह मैं करके दिखाना

चाहता हूँ, और तभी मैं अपने संकल्पित विषय पर बोलूँगा। मेरे कुछ खास संकल्प हैं, और यदि परमात्मा की इच्छा हुई और मैं जीवित रहूँगा तो मैं उन्हें सफलता तक पहुँचाने की कोशिश करूँगा। मैं नहीं जानता, मुझे सफलता होगी या नहीं, परन्तु किसी महान् आदर्श को लेकर, उसी के पीछे अपना तमाम जीवन पार कर देना मेरी समझ में एक बड़ी बात है। नहीं तो इस तुच्छ मनुष्य-जीवन का मूल्य ही क्या है! जीवन की सार्थकता तो यही है कि वह किसी महान् आदर्श के पीछे लगाया जाय। भारत में करने लायक बड़ा काम इस समय यही है। मैं इस वर्तमान धर्म-जागृति का स्वागत करता हूँ, और मुझसे महा-मूर्खता का काम होगा यदि मैं लोहे के गर्म रहते हुए उस पर हथौड़े की चोट लगाने के इस शुभ मुहूर्त को हाथ से जाने दूँगा।

मेरी कार्यप्रणाली।

---

८. मदुरा-अभिनन्दन

मदुरा में स्वामीजी को वहाँ के हिन्दू बान्धवों ने एक स्वागत-पत्र भेंट किया जो इस प्रकार था:—

परमपूज्य स्वामीजी,

हम मदुरा-निवासी हिन्दू लोग आज बड़े सत्कारपूर्वक आपका अपने इस प्राचीन तथा पवित्र नगर में हार्दिक स्वागत करते हैं। आप एक ऐसे हिन्दू संन्यासी हैं जिन्होंने संसार के सब बन्धनों को तोड़कर तथा उन समस्त साधनों को तिलाञ्जलि देकर जिनसे केवल स्वार्थसाधन ही होता है, अपने को 'बहुजन हिताय बहुजन सुखाय' के श्रेष्ठ उद्देश्य में ही लगा दिया है तथा जो इसी बात की चेष्टा कर रहे हैं जिससे मानव समाज का आध्यात्मिक उत्थान हो।

आपने स्वयं अपने व्यक्तित्व द्वारा यह दर्शा दिया है कि हिन्दू धर्म का सार केवल नियमों तथा विधियों के पालन में ही नहीं है वरन् यह धर्म एक इस प्रकार के उदात्त दर्शन का रूप है जिसके द्वारा दीन, दुःखी तथा पीड़ित लोग सभी शान्ति प्राप्त कर सकते हैं तथा जिसके द्वारा सभी का कल्याण हो सकता है।

आपने अमेरिका तथा इंग्लैण्ड निवासियों को भी उस धर्म की, उस दर्शन की महिमा सिखला दी है जिसके द्वारा प्रत्येक व्यक्ति, अपनी अपनी शक्ति, योग्यता तथा परिस्थिति के अनुसार अधिक से अधिक उन्नति को प्राप्त कर सकता है। गत तीन वर्ष से यद्यपि आपकी शिक्षाएँ विदेशों में ही हुई हैं, परन्तु फिर भी उनका मनन इस देश के लोगों ने भी कम उत्सुकता से नहीं किया और हम कहेंगे कि इस देश में उस भौतिकवाद के असर को रोकने में भी उन्होंने बड़ा काम किया है, जो विदेश से आकर आज हमारे सारे राष्ट्र पर अपना प्रभाव जमा रहा है।

यह स्पष्ट ही है कि आज भी यदि भारतवर्ष जीवित है तो उसका कारण यही है कि उसे विश्व की आध्यात्मिक उन्नति में एक बहुत बड़ा हाथ बँटाना है। इस कलियुग के अन्त में आप जैसे महापुरुष का प्रादुर्भाव होना इस बात का द्योतक है कि निकट भविष्य में उन महान् आत्माओं का अवश्य ही अवतरण होगा जिनके द्वारा उपरोक्त उद्देश्य की पूर्ति होगी।

प्राचीन विद्याओं का केन्द्र, श्री सुन्दरेश्वर भगवान का प्रिय स्थान तथा योगिराजों का पुण्य द्वादशान्तक क्षेत्र, मदुरा नगर, भारतवर्ष के अन्य किसी नगर के सदृश आपका इस बात के लिए हृदय से प्रशंसक है कि आपने भारतीय दर्शन का दिग्दर्शन बहुत सुन्दर रीति से कराया तथा यह नगर आपकी उन अमूल्य सेवाओं के लिए, जो मानव समाज के प्रति रही हैं, हृदय से कृतज्ञता प्रकट करता है।

ईश्वर से हमारी यही प्रार्थना है कि वह आपको दीर्घजीवी करे, शक्तिशाली बनाए तथा आपके द्वारा दूसरों का कल्याण हो।

स्वामीजी का उत्तर

मेरी बड़ी इच्छा है, आप लोगों के साथ कुछ दिन रहकर आपके सुयोग्य सभापति महोदय की लिखी हुई शर्तें पूरी करूँ और गत चार वर्षों तक पश्चिमी देशों में प्रचार करते हुए मुझे वहाँ का जैसा अनुभव हुआ, उसे प्रकट करूँ; परन्तु खेद के साथ कहना पड़ता है कि संन्यासियों के भी शरीर है और गत तीन हफ्ते तक लगातार घूमते और व्याख्यान देते रहने के कारण मेरी हालत इस समय ऐसी नहीं कि आज शाम को एक लम्बा व्याख्यान दे सकूँ। अतएव मेरे प्रति जो दया दिखाई गई, उसके लिए हार्दिक धन्यवाद देकर ही मुझे सन्तोष करना पड़ेगा। दूसरे विषय मैं भविष्य के किसी दूसरे दिन के लिए रख छोड़ता हूँ। उस समय मेरी तन्दुरुस्ती भी सुधर जायगी और शाम के इस थोड़े से समय में हम लोग जो प्रसंग उठाएँगे, उससे अधिक विषयों पर बहस करने का मौका भी हमारे हाथ आएगा। मैं मदुरा में जिनका

अतिथि हैं, वे आप लोगों के अत्यन्त प्रसिद्ध और उदारचेता देशवासियों में से हैं,— वे रामनद के राजा हैं। उनसे सम्बन्ध रखनेवाली एक बात याद आई। शायद आप लोगों में से अनेकों को मालूम है कि वे रामनद के राजा ही थे जिन्होंने पहले पहल मेरे मन में शिकागो जाने का विचार पैदा किया और इस विचार की रक्षा के लिए, जहाँ तक उनसे हो सका, हृदय से और अपनी शक्ति से बराबर मेरी सहायता करते गए। अतएव इस अभिनन्दन में मेरी जितनी प्रशंसा की गई, उसका अधिकांश दक्षिण के इन महान् व्यक्ति को ही प्राप्य है। मेरे मन में तो यह होता है कि राजा होने के बजाय उन्हें संन्यासी होना चाहिए था, क्योंकि संन्यास ही उनका योग्य आसन है।

जभी संसार के किसी भाग में किसी वस्तु की चाह होती है, तब वह वहाँ जाने और उसे नया जीवन देने के लिए अपना रास्ता ढूँढ़ निकालती है। यह भौतिक संसार के लिए भी सत्य है और आध्यात्मिक राज्य के लिए भी सत्य है। यदि संसार के किसी अंश में आध्यात्मिकता का अभाव है और यदि किसी अपर अंश में वह रहे — चाहे हम जानबूझकर उसके लिए प्रयत्न करें या न करें, जहाँ धर्म का अभाव है, वहाँ जाने के लिए वह अपना रास्ता साफ कर लेती है और इस तरह सामञ्जस्य की स्थापना करती है। मनुष्यजाति के इतिहास में, एक बार या दो बार नहीं — प्रत्युत पुनः पुनः प्राचीन भारत के भाग्य का यही निर्णय हुआ है कि संसार को उसे आध्यात्मिकता की शिक्षा देनी पड़ी और इस तरह, हम देखते हैं — जब किसी जाति के दिग्विजय द्वारा अथवा व्यवसाय की प्रधानता से संसार के विभिन्न अंश एक सूत्र में बँधे गए और संसार के एक कोने से दूसरे कोने तक दान का भाण्डार खुला — एक जाति के लिए दूसरी को कुछ देने का अवसर हाथ आया, प्रत्येक जाति ने अपर जातियों को राजनीतिक, सामाजिक या आध्यात्मिक — जिसके निकट जो भाव थे, दिए।

प्राच्य और पाश्चात्य देशों का आदान-प्रदान।

सम्पूर्ण मनुष्य-जाति के ज्ञान-भाण्डार को भारत ने आध्यात्मिकता और दर्शन ही का दान दिया है। फारस-साम्राज्य के उदय के बहुत पहले ही वह इस तरह का दान दे चुका था; फारस-साम्राज्य के उदय-काल में भी उसने दूसरे दफे ऐसा दान किया; यूनान की प्रभुता के समय उसका तीसरा दान था; और अंग्रेजी की प्रधानता के समय इस चौथे बार विधि के उसी विधान को वह पूर्ण कर रहा है। जिस तरह संघ-स्थापना की पश्चिमी कार्य-प्रणाली और बाहरी सभ्यता के भाव हमारे देश की नस नस में समा रहे हैं—चाहे हम उनका ग्रहण करें या न करें—उसी तरह भारत की आध्यात्मिकता और दर्शन पाश्चात्य देशों को प्लावित कर रहे हैं। इस गति को कोई नहीं रोक सकता और हम भी पश्चिम की जड़वादप्रधान सभ्यता का पूर्ण प्रतिरोध नहीं कर सकते। इसका कुछ अंश, सम्भव है, हमारे लिए अच्छा हो और आध्यात्मिकता का कुछ अंश पश्चिम के लिए लाभदायक; सामञ्जस्य की रक्षा इसी तरह हो सकेगी। बात यह नहीं कि हरएक विषय हमें पश्चिमवालों से सीखना चाहिए या पश्चिमवालों को जो कुछ सीखना है हमीं से सीखें, किन्तु हरएक ने सदियों से भिन्न भिन्न जातियों में सामञ्जस्य-स्थापना या एक आदर्श-संसार के लिए जैसे स्वप्न देखे, उनकी पूर्ति के लिए हरएक के पास जो कुछ हो, भविष्य सन्तानों के हाथ अर्पण कर देना चाहिए। ऐसा आदर्श-संसार कभी आयेगा या नहीं,—मैं नहीं जानता; समाज कभी ऐसी सम्पूर्णता तक पहुँच सकेगा,—इस सम्बन्ध में मुझीको सन्देह हो रहा है; परन्तु चाहे ऐसा हो या न हो, हममें से हरएक को इसी विचार पर काम करना चाहिए ताकि वह संगठन कल ही हो जाय, और प्रत्येक मनुष्य को यही सोचना चाहिए कि यह काम उसी पर निर्भर है। हममें से प्रत्येक मनुष्य को यही विश्वास रखना चाहिए कि संसार के अन्य सभी लोगों ने अपना अपना कार्य सम्पन्न कर डाला है, एक मात्र मेरा ही कार्य शेष है और यदि मैं अपना कार्यभाग पूरा करूँ तभी संसार सम्पूर्ण होगा। अगर हमें अपने सिर कोई दायित्व लेना है तो वह यही है।

भारत में वर्तमान समय में धर्म का प्रबल पुनरुत्थान हो रहा है। सामने विपत्ति भी है और गौरव भी है, क्योंकि धर्मोदय के साथ कभी तो उसमें

मध्यपथ अव-लम्बनीय है।

घोर कट्टरता आ जाती है और कभी कभी अपनी हद से यह इतना बढ़ जाता है कि जिन लोगों से यह अभ्युत्थान होता है, कुछ दूर बढ़ जाने पर वे भी उसे रोकने में असमर्थ होते हैं, उसका नियमन नहीं कर सकते। अतएव पहले ही से सावधान रहना चाहिए। हमें रास्ते के बीचोंबीच चलना चाहिए। एक ओर कुसंस्कारों से भरा हुआ प्राचीन समाज है, दूसरी ओर है जड़वाद —यूरोप के भाव—नास्तिकता और ऐसे ही संस्कार जो पश्चिमी उन्नति के मूल तक में समाये हुए हैं। इन दोनों से खूब बचकर चलना चाहिए। पहले तो, हम पश्चिमी नहीं हो सकते, इसलिए पश्चिमवालों की नकल करना वृथा है। सोचिए, आप पश्चिमवालों का अनुकरण करें तो उसी समय आपकी मृत्यु होगी, फिर आपमें जीवन का लेश भी न रह जायगा। दूसरे, ऐसा होना असम्भव है। काल की प्रारम्भिक अवस्था से, मनुष्यजाति के इतिहास में लाखों वर्षों से लगातार एक नदी हिमालय से बहती आ रही है। तुम धक्के लगाकर उसके उद्गमस्थान हिमालय के तुषार-मण्डित शृंग में उसे ले जाना चाहते हो? यदि यह भी संभव हो, तथापि तुम यूरोपियन नहीं हो सकते। यदि कुछ शताब्दियों की शिक्षा का संस्कार छोड़ना यूरोपियनों के लिए तुम असंभव सोचते हो तो सैकड़ों सदियों के संस्कार छोड़ना तुम्हारे लिए कब संभव है? नहीं, ऐसा कभी हो नहीं सकता। हमें यह भी स्मरण रखना चाहिए कि हम प्रायः जिन पर अपना धर्म-विश्वास स्थापित करते हैं वे हमारे गाँव के छोटे छोटे देवताओं पर किये गये या ऐसे ही कुसंस्कारों से पूर्ण देशा-

देशाचार और धर्म में पार्थक्य।

चार मात्र हैं। ऐसे देशाचार असंख्य हैं और वे एक दूसरे के विरोधी हैं। इनमें से हम किसको मानें और किसको न मानें? इसका उदाहरण यह है कि दाक्षिणात्य

का कोई ब्राह्मण यदि किसी दूसरे ब्राह्मण को मांस का एक निवाला खाते हुए देखे तो मारे डर के सिकुड़ जाता है; परन्तु आर्यावर्त के ब्राह्मण महाप्रसाद के बड़े भक्त हैं, पूजा के निमित्त वे सैकड़ों बकरों की बलि चढ़ा देते हैं। अगर तुम अपने देशाचार को आगे रखोगे, तो वे भी अपने देशाचारों को सामने लायेंगे। तमाम भारत में सैकड़ों आचार हैं, परन्तु अपने ही स्थान में उनकी सीमा परिमित है। सबसे बड़ी भूल यही होती है कि अज्ञ साधारणजन सर्वदा अपने प्रान्त के केवल आचार को हमारे धर्म का सार समझ लेते हैं।

इसके अतिरिक्त इससे बड़ी एक और कठिनाई है। हम अपने शास्त्रों में दो प्रकार के सत्य देखते हैं, एक की नींव मनुष्य के नित्य स्वरूप पर पड़ी है—उसकी विचारपरम्परा परमात्मा, जीवात्मा और प्रकृति के सार्वकालिक सम्बन्ध से होती है। दूसरे प्रकार का सत्य किसी देश, काल या अवस्थाविशेष पर टिका हुआ है। पहला मुख्यतः वेदों या श्रुतियों में संग्रहित है; दूसरा स्मृतियों और पुराणों में। हमें स्मरण रखना चाहिए कि सब समय वेद ही हमारे चरम लक्ष्य और मुख्य प्रमाण रहे हैं। यदि किसी तरह पुराणों का कोई हिस्सा वेदों के अनुकूल न हो तो निर्दयतापूर्वक उतने अंश का त्याग कर देना चाहिए। और हम यह भी देखते हैं कि सभी स्मृतियों की शिक्षाएँ जुदी जुदी हैं। एक स्मृति बतलाती है,—'यही देशाचार है, इस युग में इसी का अनुशासन मानना चाहिए।' दूसरी स्मृति इसी युग में एक दूसरे आचार की पीठ ठोकती है। कोई स्मृति सत्ययुग और कलियुग के आचार-भेद बतलाती है। स्मृतियों का सब यही हाल है! इस समय तुम्हारे लिए वही सत्य सबसे बढ़कर है, जो सब काल के लिए सत्य है—जिसकी प्रतिष्ठा मनुष्य की प्रकृति में हुई है—जिसका परिवर्तन तब तक न होगा जब तक मनुष्य के शरीर में प्राण रहेंगे; परन्तु स्मृतियाँ प्रायः स्थानीय परिस्थिति और अवस्थाभेद के अनुशासन

सनातन धर्म और युगधर्म।

वेद और स्मृति।

बतलाती और समयानुसार बदलती जाती हैं। यह तुम्हें सदा स्मरण रखना चाहिए कि यद्यपि सामाजिक प्रथा बदलती जाती है तथापि उससे यह न समझना चाहिए कि धर्म ही डूब गया है। याद रखो, ये आचार-प्रथाएँ चिरकाल से ही बदलती गई हैं। इसी भारत में कभी ऐसा समय था, जब कोई ब्राह्मण, बिना मांस खाए, ब्राह्मण न रह जाता था; तुम वेद पढ़ो, देखोगे,—जब संन्यासी या राजा मकान में आता था तब किस तरह और कैसे बकरों और बैलों के सिर धड़ से जुदे होते थे,—किस तरह यह समझा गया कि हम कृषिजीवी मनुष्य हैं, अतएव अच्छे अच्छे बैलों का मारना हमारे ध्वंस का कारण है। इसलिए इस हत्या का निषेध कर दिया गया और गोवध के विरुद्ध तीव्र आन्दोलन उठाया गया। पहले ऐसे भी आचार प्रचलित थे जिन्हें अब हम बीभत्स मानते हैं। जब समय का परिवर्तन होगा तब वे स्मृतियाँ न रहेंगी और उनकी जगह दूसरी स्मृतियों की योजना की जायगी। विशेष ध्यान देने योग्य केवल एक विषय है, वह यही कि वेद चिरकालिक सत्य होने के कारण सदा सम भाव से विद्यमान रहते हैं, किन्तु स्मृतियों की प्रधानता युग-परिवर्तन के साथ ही जाती रहती है। समय ज्यों ज्यों व्यतीत होता जायगा त्यों त्यों स्मृतियाँ लुप्त होती जाएँगी, ऋषियों का उदय होगा और वे उन्हें बदलकर समाज को पहले से अच्छे तथा कर्तव्य के उस पथ पर चलाएँगे जिसकी उस समय के लिए आवश्यकता होगी और जिसके बिना समाज का जीना असम्भव समझा जाएगा। इस तरह हमें इन दोनों विघ्नों से बचकर चलना चाहिए, और मुझे आशा है, यहाँ जितने मनुष्य हैं, मेरे कथन का मर्म समझने के लिए सभी में विचार की यथेष्ट मात्रा होगी; साथ ही, उनके हृदय में यह दृढ़ विश्वास भी होगा कि मेरा उद्देश्य हरएक विषय को अपनाना है किन्तु उसे अलग करना नहीं। मैं 'कट्टरता' वाली निष्ठा भी चाहता हूँ और जड़वादियों का उदार भाव भी चाहता हूँ। हृदय समुद्र-सा गम्भीर और आकाश सा उदार होना चाहिए, हमें ऐसे ही हृदय की आवश्यकता है। हमें संसार की किसी

भी उन्नत जाति की तरह उन्नतिशील होना चाहिए और अपने चिरकाल के अर्जित संस्कारों के प्रति वही श्रद्धा रखनी चाहिए जो केवल हिन्दुओं में ही आ सकती है। सीधी बात यह है कि पहले हमें हरएक विषय का मुख्य और गौण भेद समझ लेना चाहिए। मुख्य सार्वकालिक है, गौण का मूल्य किसी खास समय तक होता है, उस समय के अनन्तर उसमें यदि कोई परिवर्तन न किया जाय तो वह भयानक हो जाता है। मेरे कथन का यह उद्देश्य नहीं कि तुम अपने प्राचीन आचारों और पद्धतियों की निन्दा करो,—नहीं ऐसा हरगिज न करो। उनमें से अत्यन्त हीन आचार को भी तिरस्कार की दृष्टि से न देखना चाहिए; निन्दा किसी की न करो, क्योंकि जो प्रचलन इस समय यथार्थ ही बुरा जँच रहा है, अतीत के किसी समय वही जीवनप्रद था। अतएव अभिशाप द्वारा उसका बहिष्कार करना ठीक नहीं, किन्तु धन्यवाद देकर और कृतज्ञता दिखाते हुए उसे अलग करना उचित है; हमारी जाति की रक्षा के लिए कभी उसने प्रशंसनीय कार्य किया था। और हमें यह भी स्मरण रखना चाहिए कि यह काम जिन्होंने किया वे कोई वीर या राजा न थे, वे थे ऋषि। और ऋषि हैं कौन? उनके सम्बन्ध में उपनिषद् कहते हैं, ऋषि कोई साधारण मनुष्य नहीं, वे मन्त्रद्रष्टा हैं। ऋषि वे मनुष्य हैं जिन्होंने धर्म को प्रत्यक्ष किया है, जिनके निकट धर्म केवल पुस्तकों का अध्ययन नहीं—न युक्तिजाल है—न व्यावसायिक विज्ञान—न वाग्वितण्डा; वह है प्रत्यक्ष अनुभव,—अतीन्द्रिय सत्य से प्रत्यक्ष सम्बन्ध—जहाँ पहुँचकर मनुष्य संसार के छाया-दृश्यों को पार कर जाता है। यही ऋषित्व है और यह ऋषित्व किसी उम्र या समय या किसी सम्प्रदाय या जाति की अपेक्षा नहीं रखता। वात्स्यायन कहते हैं, 'सत्य का साक्षात्कार करना चाहिए और स्मरण रखना चाहिए कि तुम्हें और सभी को ऋषि होना है, और हमें अपने पर विश्वास रखना चाहिए, हम

प्राचीन प्रथाओं की निन्दा मत करो।

ऋषि हिन्दू समाज के नेता हैं।

अवश्य ही संसार में उथलपुथल मचा सकते हैं, क्योंकि सब शक्ति हममें विद्यमान है।' हमें धर्म का प्रत्यक्ष दर्शन करना होगा, इसके सत्य का अनुभव करना होगा तभी ऋषित्व की उज्ज्वल ज्योति से पूर्ण होकर हम महापुरुष-पद प्राप्त कर सकेंगे — तभी हमारे मुख से जो वाणी निकलेगी वह अव्यर्थ और अमोघ शक्ति से पूर्ण होगी; तब हमें किसी को अभिशाप देने की आवश्यकता न रह जायगी, — किसी की निन्दा करने की जरूरत न होगी, संसार में किसी का विरोधाचरण न करना होगा, पाप आप ही हमारी दृष्टि से दूर हो जायगा। यहाँ हम जितने मनुष्य हैं, अपनी और दूसरों की मुक्ति के लिए ऋषित्व प्राप्त करें, ईश्वर हमारा सहायक हो।

---

१. वेदान्त का उद्देश्य

स्वामीजी के कुम्भकोनम् पधारने के अवसर पर वहाँ की हिन्दू जनता ने उन्हें एक स्वागत-पत्र भेंट किया जो इस प्रकार था:—

परमपूज्य स्वामीजी,

इस प्राचीन तथा धार्मिक नगर कुम्भकोनम् के हिन्दू निवासियों की ओर से हम आपसे यह प्रार्थना करते हैं कि आप पाश्चात्य देशों से लौटने के अवसर पर, आज हमारे इस पवित्र नगर में जो मन्दिरों से परिपूर्ण होने तथा प्रसिद्ध महात्माओं एवं ऋषियों की जन्मभूमि होने के नाते विशेष विख्यात है, हमारा हार्दिक स्वागत स्वीकार करें। आपको अपने धार्मिक प्रचार के कार्य में जो अनुपम सफलता अमेरिका तथा यूरोप आदि देशों में प्राप्त हुई है उसके लिए हम ईश्वर के परम कृतज्ञ हैं। साथ ही हम उसे इस बात के लिए भी धन्यवाद देते हैं कि उसकी कृपा द्वारा आपने शिकागो धर्मपरिषद में एकत्रित चुने हुए धुरंधर विद्वानों के मन में यह बात बैठा दी कि हिन्दू धर्म तथा हिन्दू दर्शन दोनों ही इतने उदार एवं विशाल हैं, तथा इतने युक्तिसंगत हैं कि उनमें ईश्वर सम्बन्धी समस्त सिद्धान्तों तथा आध्यात्मिकता सम्बन्धी समस्त आदर्शों का समावेश और सामञ्जस्य है।

यह धारणा हमारे हिन्दू धर्म का हजारों वर्षों से एक मुख्य अंग रही है कि जगत् के प्राण तथा आत्मास्वरूप भगवान की कृपा से सत्य की ही चिरकाल जय होती है। और आज जब हम आपके उस पवित्र कार्य की सफलता पर हर्ष मनाते हैं जो आपने ईसाइयों के देश में किया है तो उसका कारण यही है कि उस सत्कार्य के द्वारा भारतवासियों तथा विदेशियों दोनों की आँखें खुल गई हैं और उन्हें यह अन्दाज लग गया है कि धर्मपरायण हिन्दू जाति

की आध्यात्मिक सम्पत्ति कितनी अनमोल है। अपने महान् कार्य में आपने जो सफलता प्राप्त की है उससे स्वाभाविकतः आपके परमपूज्य गुरुदेव की ख्याति तथा उनका शुभ नाम और भी अधिक चमक उठा है, साथ ही हम लोग भी सभ्य समाज की दृष्टि में बहुत ऊँचे उठ गए हैं और सबसे बड़ी बात तो यह है कि इसके द्वारा हम भी इस बात को महसूस करने लगे हैं कि एक जाति के नाते हमें भी अपनी सफलताओं तथा उन्नति पर गर्व करने का अधिकार है; और यह कि हममें आक्रमक वृत्ति की जो कमी है वह किसी प्रकार हमारी शिथिलता अथवा हमारे पतन की द्योतक नहीं कही जा सकती। आप सदृश स्थिरबुद्धि, एकनिष्ठ तथा नितान्त निःस्वार्थ कर्मी महात्माओं को पाकर हिन्दू जाति का भविष्य निश्चय ही उज्ज्वल तथा आशाजनक है, इसमें सन्देह नहीं।

समग्र जगत् के ईश्वर जो सब जातियों के भी ईश्वर हैं आपको पूर्ण स्वास्थ्य तथा दीर्घ जीवन दें और आपको निरंतर अधिकाधिक शक्ति तथा बुद्धि प्रदान करें जिससे आप हिन्दू दर्शन तथा धर्म के एक सुयोग्य प्रचारक एवं शिक्षक होने के नाते अपना महान् तथा श्रेष्ठ कार्य योग्यतापूर्वक कर सकें।"

इसके बाद उसी नगर के हिन्दू विद्यार्थियों की ओर से भी स्वामीजी को एक सम्मान-पत्र भेंट किया गया, और उसके पश्चात् स्वामीजी ने 'वेदान्त का उद्देश्य' नामक विषय पर अपना भाषण दिया।

स्वामीजी का भाषण

"स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात्" अर्थात् धर्म का थोड़ा भी कार्य करने पर परिणाम बहुत बड़ा होता है। श्रीमद्भगवद्गीता की उपर्युक्त उक्ति के प्रमाण में यदि उदाहरण की आवश्यकता हो, तो अपने इस सामान्य जीवन में मैं इसकी सत्यता का नित्यप्रति अनुभव करता हूँ। मैंने जो कुछ किया है, वह बहुत ही तुच्छ और सामान्य है, तथापि कोलम्बो से लेकर इस

नगर तक आने में अपने प्रति मैंने लोगों की जो दया, स्नेह तथा श्रद्धा देखी है, वह स्वप्न से भी अधिक है। पर साथ ही साथ मैं यह भी कहूँगा कि यह संवर्धना हमारी जाति के अतीत संस्कार और भावों के अनुरूप ही है; क्योंकि हम वही हिन्दू हैं, जिनकी जीवनी-शक्ति, जिनके जीवन का मूलमंत्र, अर्थात् जिनकी आत्मा ही धर्ममय है।

प्राच्य और पाश्चात्य देशों में घूमकर मुझे दुनिया की कुछ अभिज्ञता मिली है। और मैंने देखा है कि सर्वत्र सब जातियों का कोई-न-कोई ऐसा आदर्श जरूर है जिसे उस जाति का मेरुदण्ड कह सकते हैं। कहीं राजनीति, कहीं समाज-संस्कृति, कहीं मानसिक उन्नति, कहीं कुछ और कहीं कुछ मेरुदण्ड का काम करती हैं। पर हमारी मातृभूमि भारतवर्ष का मेरुदण्ड धर्म — केवल धर्म ही है। धर्म ही के आधार पर, उसीकी नींव पर, हमारी जाति के जीवन का प्रासाद खड़ा है।

धर्म ही हमारे जातीय जीवन का मेरुदण्ड है।

तुममें से कुछ लोगों को शायद मेरी वह बात याद होगी, जो मैंने मद्रासवासियों के स्नेहपूर्ण अभिनन्दन-पत्र के उत्तर में कही थी। मैंने कहा था कि भारतवर्ष के एक-एक किसान को जितनी धार्मिक शिक्षा प्राप्त है, उतनी पाश्चात्य देशों के पढ़े-लिखे सभ्य कहलानेवाले नागरिकों को भी प्राप्त नहीं है। आज मैं अपनी उस बात की सत्यता का प्रत्यक्ष अनुभव कर रहा हूँ। एक समय था, जब कि भारत की जनता के संसार-समाचारों से अनभिज्ञ रहने और उसमें दुनिया की जानकारी हासिल करने की चाह बिलकुल नहीं देख पाने के कारण मुझे कष्ट होता था। परन्तु आज मैं उस बात का रहस्य समझ रहा हूँ। भारतवासियों की अभिरुचि जिस ओर है, उस विषय की अभिज्ञता प्राप्त करने के लिए वे संसार के अन्यान्य देशों के साधारण लोगों की अपेक्षा, मैं जहाँ जहाँ गया हूँ, बहुत अधिक उत्सुक रहते हैं। अपने यहाँ के किसानों से यूरोप के गुरुतर राजनीतिक परिवर्तनों के विषय में, सामाजिक उथल-पुथल के बारे में

पूछो तो वे उस विषय में कुछ भी नहीं बता सकेंगे, और न उन बातों के जानने की उनमें उत्कण्ठा ही है। परन्तु भारतवासियों की कौन कहे, सीलोन के किसान भी—भारत से जिसका सम्बन्ध बहुत कुछ विच्छिन्न है—भारत से जिसका बहुत कम लगाव है—इस बात को जानते हैं कि अमेरिका में एक धर्म-सभा की बैठक हुई थी, जिसमें भारतवर्ष से कोई संन्यासी गया था और उसने वहाँ कुछ सफलता भी पाई थी। इसीसे जाना जाता है कि जिस विषय की ओर भारतवासियों और हिन्दुओं की अभिरुचि है, उस विषय की जानकारी रखने के लिए वे संसार के अन्यान्य जातियों के बराबर ही उत्सुक रहते हैं। वह विषय है—धर्म। धर्म ही भारतवासियों का सारसर्वस्व है।

मैं अभी इस विषय पर विचार नहीं कर रहा हूँ कि किसी जाति की जीवनी-शक्ति राजनीतिक आदर्श पर प्रतिष्ठित होना अच्छा है अथवा धार्मिक आदर्श पर; परन्तु, अच्छा हो या बुरा, हमारी जाति की जीवनी-शक्ति धर्म में ही केन्द्रीभूत है। तुम इसे बदल नहीं सकते, न तो इसे विनष्ट कर सकते हो, और न इसे हटाकर इसकी जगह दूसरी किसी चीज़ को रख ही सकते हो। छोटे पौधे को तुम भले ही एक स्थान से उखाड़कर दूसरे स्थान में जमा सकते हो, पर बड़े पेड़ को वैसा नहीं कर सकते। भला हो या बुरा, भारत में हजारों वर्ष से धार्मिक आदर्श की धारा प्रवाहित हो रही है। भारत का वायुमण्डल इसी धार्मिक आदर्श से बीसियों सदियों तक पूर्ण रहकर जगमगाता रहा है। भला हो या बुरा, हम इसी धार्मिक आदर्श के भीतर ही पैदा हुए और पले हैं—यहाँ तक कि अब वह हमारे रक्त में ही मिल गया है; हमारे रोम-रोम में वही धार्मिक आदर्श रम रहा है, वह हमारे शरीर की बनावट का अंश—हमारी जीवनी-शक्ति—बन गया है। क्या तुम उस शक्ति की प्रतिक्रिया जाग्रत कराए बिना, उस वेगवती नदी के तल को—जिसे उसने हजारों वर्ष में अपने लिए तैयार किया है—भरे बिना ही धर्म का त्याग कर सकते हो? क्या तुम चाहते हो कि गंगा की धारा फिर बर्फ से ढके हुए हिमालय को लौट

जाय और फिर वहाँ की नवीन धारा बनकर नई प्रणाली से होकर प्रवाहित हो? यदि ऐसा होना सम्भव भी हो, तो भी, यह तो कदापि सम्भव नहीं हो सकता कि यह देश अपने स्वभावगत धर्ममय जीवन को राजनीति अथवा और किसी वस्तु में परिवर्तित करे। जिस रास्ते में बाधाएँ कम हैं उसी रास्ते में तुम काम कर सकते हो। और भारत के लिए धर्म का मार्ग ही स्वल्पतम बाधावाला मार्ग है। बस, धर्म का पथ अनुसरण करने पर ही हमारा जीवन निर्भर करता है, इसी से हमारी उन्नति और वृद्धि का होना सम्भव है।

परन्तु अन्यान्य देशों में धर्म कोई वैसी वस्तु नहीं है। उनके लिए धर्म अनेक आवश्यक वस्तुओं में से एक है। यहाँ पर मैं एक उदाहरण देता हूँ, जो मैं अक्सर दिया करता हूँ। एक गृहस्वामिनी अपने सजे-सजाये कमरे में एक जापानी कलश अवश्य रखेगी, क्योंकि आजकल कुछ ऐसी ही प्रथा-सी हो गई है। और वह एक जापानी कलश मँगाये बिना नहीं रहेगी; क्योंकि उसके सिवा कमरे की सजावट पूरी नहीं होती। इसी तरह हमारे गृहस्वामी या स्वामिनी के हरएक सांसारिक काम-काज हैं, इनके साथ कुछ धर्म भी चाहिए, नहीं तो जीवन अधूरा रह जाता है। इसीलिए वे थोड़ी बहुत धर्म-चर्चा करते हैं। राजनीति, सामाजिक उन्नति अथवा एक शब्द में यह संसार ही पाश्चात्य देशवासियों के जीवन का एकमात्र ध्येय और उद्देश्य है — ईश्वर और धर्म तो केवल उनके सांसारिक सुख के ही साधन-स्वरूप हैं। उनका ईश्वर एक ऐसा जीव है, जो उनके लिए दुनियाँ को साफ-सुथरा रखता है और उसको उनके मनोनुकूल द्रव्यों से भर देता है। बस, उनकी दृष्टि में ईश्वर का इतना ही मूल्य है। क्या तुम नहीं जानते कि इधर सौ-दो सौ वर्षों से

हिन्दू धर्म का उद्देश्य सांसारिक सुख नहीं है।

तुम्हारे कान बारम्बार उन अज्ञ और पण्डितम्मन्य आदमियों के मुँह से कैसी बातें सुन रहे हैं?— वे हम हिन्दुओं के धर्म के विरुद्ध जो युक्तियाँ पेश करते हैं, वे यही हैं कि हमारा धर्म सांसारिक उन्नति करने

की शिक्षा नहीं देता, हमारे धर्म से धन की प्राप्ति नहीं होती, हमारा धर्म हमें देशों का लुटेरा नहीं बनाता, हमारा धर्म बलवानों को दुर्बलों की छाती पर मूँग दलने की शिक्षा नहीं देता और न हमें बलवान बनाकर दुर्बलों का खून चूसने की शक्ति प्रदान करता है। सचमुच हमारा धर्म यह सब काम नहीं करता। हमारा धर्म ऐसी सेना नहीं भेजता, जिसके पैरों के नीचे धरती काँपती है, और जो संसार में रक्तपात, लूटमार और सर्वनाश करने में ही अपना गौरव मानती है। इसीलिए वे कहते हैं, 'तो फिर तुम्हारे धर्म में है क्या? जब इससे उदर-दरी की पूर्ति नहीं हो सकती, शक्ति-सामर्थ्य की वृद्धि नहीं होती, तब फिर ऐसे धर्म में रखा ही क्या है?' वे स्वप्न में भी इस बात की कल्पना नहीं करते कि यही वह युक्ति है जिसके द्वारा हमारे धर्म की श्रेष्ठता प्रमाणित होती है, क्योंकि हमारा धर्म पार्थिव विभव पर आश्रित नहीं है। हमारा धर्म तो इसलिए सच्चा धर्म है कि यह हमें "चार दिन की चाँदनी, फिर अंधेरी रात" वाली दुनियाँ को ही अपना अभीष्ट और उद्दिष्ट मानने से मना करता है, इस जड़ जगत् को ही अपना चरम ध्येय मानने से मना करता है। इस पृथ्वी का यह क्षुद्र क्षितिज, जो केवल कई एक हाथ ही विस्तृत है, हमारे धर्म की दृष्टि को सीमित नहीं कर सकता। हमारा धर्म दूर तक, बहुत दूर तक फैला हुआ है; वह इन्द्रियों की सीमा से भी आगे तक फैला है; वह देश और काल के भी परे है। वह इतनी दूर तक विस्तृत है, जहाँ इस पृथ्वी की कोई वस्तु पहुँच नहीं सकती, जहाँ से पृथ्वी तो क्या, सारा विश्व-ब्रह्माण्ड ही आत्मा के दिगन्तव्यापी महामहिम अनन्त सागर की एक बूँद के समान दिखाई देता है। वह हमें यह भी सिखाता है कि एकमात्र ईश्वर ही सत्य है; संसार असत्य और मिथ्या है; तुम्हारा सोने का ढेर खाक के ढेर जैसा है, तुम्हारी सारी शक्तियाँ परिमित और सीमाबद्ध हैं; बल्कि तुम्हारा यह जीवन भी निःसार है। उसकी सर्वोच्च शिक्षा है त्याग; और युगों के अनुभव से प्राप्त अपने अगाध विज्ञान और प्रज्ञा को लेकर यह सिर ऊँचा कर खड़ा होता

और उन जातियों के सामने — जो हम हिन्दुओं की तुलना में अभी दुधमुँहे बच्चे के बराबर हैं — ललकार कर घोषणा करता और कहता है — "बच्चो! तुम इन्द्रिय-जनित सुखों के गुलाम हो, ये सुख सीमाबद्ध हैं, बरबादी के कारण हैं, तीन दिनों के ये भोग-विलास-सुख अन्त में बरबादी ही लाते हैं। इन्हें छोड़ दो, भोग-विलास की लालसा को त्याग दो, संसार की माया में न लिपटो। यही धर्म का मार्ग है।" त्याग के द्वारा ही तुम अपने अभीष्ट तक पहुँच सकते हो, भोग-विलास के द्वारा नहीं। इसीलिए कहता हूँ कि हमारा धर्म ही सच्चा धर्म है। हाँ, यह बड़े ही मार्के की बात है कि एक के बाद दूसरी और दूसरी के बाद तीसरी, इस तरह कितनी ही जातियाँ दुनियाँ के रंगमंच पर आईं और कुछ दिनों तक बड़े जोशोखरोश के साथ अपना नाट्य दिखाकर काल के अनन्त स्रोत में विलीन हो गईं, उनका नाम-निशान भी नहीं रहा! और हम हिन्दू यहाँ इस तरह से स्थित हैं, मानो अनन्त आयु पाये हुए हैं।

पाश्चात्य देशवाले इस विषय में नये नये सिद्धान्त ढूँढ़ते और बड़ी लम्बी-चौड़ी बातें करते हैं कि जो सर्वापेक्षा शक्तिशाली होता है, वही संसार में जीवित रह सकता है (Survival of the fittest)। वे सोचते हैं कि जिसकी भुजाओं में सर्वापेक्षा अधिक बल है, वही सबसे अधिक काल तक जीवित रहेगा। यदि यह बात सच होती, तो पुरानी दुनियाँ की कोई वैसी ही जाति, जिसने अपने भुजबल से कितने ही देशों पर विजय पाई थी, आज अपनी अप्रतिहत गौरव से संसार में जगमगाती हुई दिखाई देती और हमारी कमज़ोर हिन्दू जाति, जिसने कभी किसी जाति या राष्ट्र को पराजित नहीं किया है, आज पृथ्वी से विलुप्त हो गई होती। पर वैसा नहीं हुआ, वरन् हम आज भी अक्षुण्ण हैं — अब भी हम तीस करोड़ हिन्दू जीवित हैं! (एक दिन एक अँगरेज युवती ने मुझसे कहा कि हिन्दुओं ने किया क्या है? उन्होंने

योग्यतम कौन है? प्राच्य या पाश्चात्य?

तो एक भी देश पर विजय नहीं पाई है!) फिर इस बात में तनिक भी सत्यता नहीं है कि हमारी सारी शक्तियाँ खर्च हो गई हैं, हमारा शरीर बिलकुल अकर्मण्य हो गया है। यह बिल्कुल ग़लत बात है। हमारे अन्दर अभी भी यथेष्ट जीवनीशक्ति विद्यमान है, जो कभी कभी बढ़िया की तरह उमड़ पड़ती है, और जभी ठीक समय आ पहुँचता है, जभी जरूरत पड़ती है, तभी वह शक्ति प्रवाहित होकर सारे संसार को चकित कर देती है। हमने मानो बहुत ही पुराने जमाने से सारे संसार को एक समस्यापूर्ति के लिए ललकारा है। पाश्चात्य देशवाले वहाँ इस बात की चेष्टा कर रहे हैं कि मनुष्य अधिक से अधिक कितना विभव संग्रह कर सकता है, और यहाँ हम लोग इस बात की चेष्टा करते हैं कि कम-से-कम कितने में हमारा काम चल सकता है! यह द्वन्द्वयुद्ध और यह पार्थक्य अभी सदियों तक जारी रहेगा। परन्तु, यदि इतिहास में कुछ भी सत्यता है — वर्तमान लक्षणों में भविष्य का कुछ भी आभास दिखाई देता है, तो अन्त में उन्हीं की विजय होगी जो बहुत ही कम द्रव्यों पर निर्भर रहते हुए जीवन व्यतीत करने और अच्छी तरह से आत्मसंयम का अभ्यास करने की चेष्टा करते हैं; और वे जो भोग-विलास तथा ऐश्वर्य के उपासक हैं, वर्तमान में कितने ही बलशाली क्यों न हों, अन्त में अवश्य ही विनष्ट तथा संसार से विलुप्त हो जायँगे।

मनुष्य-मात्र के जीवन में एक ऐसा समय आता है — नहीं, प्रत्येक जाति के इतिहास में एक ऐसा समय आता है, जब संसार की विभव-वासना से एक प्रकार की वितृष्णा-सी आ जाती है, और उस मनुष्य या जाति के हृदय पर वह उदासीनता सम्पूर्णतः अधिकार जमा लेती है। लक्षणों से मालूम होता है कि पाश्चात्य-देशवासियों में वह संसारविरक्ति का भाव फैलना आरम्भ हो गया है। वहाँ भी विचारशील, विवेचनाशील महान् व्यक्ति हैं जो धन और बाहुबल की इस घुड़दौड़ को बरबादी की जड़

पाश्चात्य देशों में वेदान्त-प्रचार का समय आ गया है।

समझने लगे हैं। बहुतेरे — नहीं, वहाँ के अधिकतर शिक्षित स्त्री-पुरुष अब इस होड़ से, इस प्रतिद्वन्द्विता से ऊब गये हैं; वे अपने इस व्यापार-वाणिज्य-प्रधान सभ्यता के प्रभुत्व से तंग आ गए हैं, और इससे अच्छी परिस्थिति में पहुँचना चाहते हैं। परन्तु वहाँ ऐसे मनुष्यों की भी एक श्रेणी है, जो अब भी राजनीतिक और सामाजिक उन्नति रूपी शक्कर में चींटी बनकर सटे हुए हैं तथा उसे पाश्चात्य देशों की सारी बुराइयों के दूर करने का साधन समझते हैं; पर वहाँ जो उन्नत-मस्तिष्क, उदारचेता और विचारशील व्यक्ति हैं, उनकी धारणा बदल रही है, उनका आदर्श परिवर्तित हो रहा है। वे अच्छी तरह समझ गये हैं कि चाहे जैसी भी राजनीतिक या सामाजिक उन्नति क्यों न हो जाय, परन्तु उससे मनुष्य-जीवन की बुराइयाँ दूर नहीं हो सकतीं। इसके लिए आवश्यकता है आत्मा में परिवर्तन करने की; केवल इसी से मानव-जीवन का सुधार सम्भव है। चाहे जैसी बड़ी-से-बड़ी शक्ति का प्रयोग किया जाय, और चाहे कड़े-से-कड़े क़ायदे-क़ानून का आविष्कार ही क्यों न किया जाय पर इससे किसी जाति की परिस्थिति बदली नहीं जा सकती। समाज या जाति की असद्वृत्तियों को सद्वृत्तियों की ओर फेरने की शक्ति तो केवल आध्यात्मिक और नैतिक उन्नति में ही है। इस प्रकार पश्चिम की जातियाँ किसी नये विचार के लिए, किसी नवीन दर्शनशास्त्र के लिए उत्कण्ठित और व्यग्र-सी हो रही हैं। उनका जो ईसाई धर्म है, वह यद्यपि कई अंशों में बहुत अच्छा है, तथापि वहाँवालों ने सम्यक्-रूप से उसे समझा नहीं है, और अब तक जितना समझा है उसमें उन्हें पर्याप्तता नहीं दिखाई देती। वहाँ के विचारशील मनुष्यों को हमारे यहाँ के प्राचीन दर्शनों में, विशेषतः वेदान्त में कुछ वैसी बातें दिखाई देने लगी हैं जैसी वे चाहते हैं। जैसे भावों और विचारों की वे खोज कर रहे हैं, जिस वस्तु की भूख और प्यास से व्याकुल-से हो रहे हैं, उसका बहुत कुछ आभास हमारे प्राचीन दर्शनों में — विशेषकर वेदान्त में मिला है। और ऐसा होने में कुछ अनोखापन या आश्चर्य नहीं है।

पृथ्वी में जितने भी धर्म हैं, उनके हरएक की श्रेष्ठता स्थापित करने के अनोखे-अनोखे दावे का हाल मैंने कई बार सुना है। तुमने भी शायद हाल में डाक्टर बैरोज़ द्वारा पेश किये गये दावे के विषय में सुना होगा। वे मेरे बड़े मित्र हैं। वे कहते हैं कि ईसाई धर्म ही एक ऐसा धर्म है, जिसे सार्वजनीन कह सकते हैं। मैं अब इस प्रश्न की मीमांसा करूँगा और तुम्हारे सम्मुख वे बातें स्पष्ट रूप में पेश करूँगा जिनके कारण मैं वेदान्त —सिर्फ वेदान्त को ही सार्वजनीन मानता हूँ, और वेदान्त के सिवा कोई अन्य धर्म सार्वजनीन नहीं कहला सकता। हमारे वेदान्त-धर्म के सिवा दुनियाँ के रंगमञ्च पर जितने भी अन्यान्य धर्म हैं, वे उनके संस्थापकों के जीवन के साथ सम्पूर्णतः संश्लिष्ट और सम्बद्ध हैं। उनके सिद्धान्त, उनकी शिक्षाएँ, उनके मत और उनकी नीति इत्यादि, जो कुछ हैं, सब किसी-न-किसी व्यक्ति-विशेष या धर्म-संस्थापक के जीवन के आधार पर ही खड़े हैं। उसी व्यक्ति-विशेष के द्वारा वे अपने विवाद-ग्रस्त प्रश्नों का निपटारा करते हैं, उसे ही अपना प्रमाण मानते हैं, उसे ही अपने धर्म-बल का केन्द्र समझते हैं। और सबसे बढ़कर आश्चर्य तो यह है कि उसी अधिष्ठाता-विशेष के जीवन की ऐतिहासिक सत्यता पर ही उन धर्मों की सारी नींव प्रतिष्ठित है। यदि किसी तरह उस ऐतिहासिक सत्यता पर चोट लगे, और उस व्यक्तिविशेष की जीवनी, उसे सहन न कर सकने के कारण, उखड़ जाय तो उन धर्मों का बड़ा भारी महल फौरन अरराकर टूट पड़ेगा। फिर उसका अस्तित्व सदा के लिए विलुप्त हो जायेगा। वर्तमान युग में प्रायः ऐसा ही देखने में आता है। बहुधा सभी धर्म-संस्थापकों और अधिष्ठाताओं की जीवनी के आधे भाग पर तो विश्वास किया ही नहीं जाता; बाकी बचे आधे हिस्से

वेदान्त ही एकमात्र सार्वभौमिक धर्म।

कारण अन्यान्य धर्म ऐतिहासिक भित्ति के ऊपर स्थापित हैं, पर वेदान्त का मूल है सनातन तत्व।

पर भी संदिग्ध दृष्टि से देखा जाता है। इसलिए जब उन धर्मों की नींव ही अस्थिर है, तो भला वह महल कब तक टिक सकता है? हमारे धर्म के सिवा पृथ्वी में अन्यान्य जितने बड़े धर्म हैं, सभी ऐसे ही ऐतिहासिक जीवनियों के आधार पर खड़े हैं। परन्तु हमारा धर्म कुछ तत्वों की नींव पर खड़ा है। पृथ्वी में कोई भी व्यक्ति — स्त्री हो अथवा पुरुष — वेदों के निर्माण करने का दम नहीं भर सकता। अनन्त-काल-स्थायी सिद्धान्तों द्वारा इनका निर्माण हुआ है; ऋषिमुनियों ने इन सिद्धान्तों का पता लगाया है, और कहीं कहीं प्रसंगानुसार उन ऋषि-मुनियों के नाम मात्र आये हैं। हम यह भी नहीं जानते कि वे ऋषि-मुनि कौन थे और क्या थे? कितने ही ऋषियों के पिता का नाम तक नहीं मालूम होता, और इसका तो कहीं जिक्र भी नहीं आया है कि कौन ऋषि कब और कहाँ पैदा हुए हैं। पर इन ऋषि-मुनियों को अपने नाम-धाम की परवा क्या थी? वे सनातन तत्वों के प्रचारक थे, उन्होंने अपने जीवन को ठीक वैसे ही साँचे में ढाल रखा था जैसे मत या सिद्धान्त का वे प्रचार किया करते थे, अर्थात् उनके जैसे विचार थे, उनका जीवन भी तदनुरूप ही था।

फिर जिस प्रकार हमारे ईश्वर सगुण और निर्गुण दोनों हैं, ठीक उसी प्रकार हमारा धर्म भी पूर्णतः निर्गुण है — अर्थात् किसी व्यक्तिविशेष के ऊपर हमारा धर्म निर्भर नहीं करता; तो भी इसमें असंख्य अवतार और महापुरुष स्थान पा सकते हैं। हमारे धर्म में जितने अवतार, महापुरुष और ऋषि हैं उतने और किस धर्म में हैं? इतना ही नहीं, हमारा धर्म यहाँ तक कहता है कि वर्तमान समय तथा भविष्य में और भी बहुतेरे महापुरुष और अवतारादि आविर्भूत होंगे। श्रीमद्भागवत में कहा है — "अवताराः ह्यसंख्येयाः"। अतएव हमारे धर्म में नये नये धर्मप्रवर्तकों के आने के मार्ग में कोई रुकावट नहीं है। इसीलिए भारत-

फिर भी वेदान्त में असंख्य अवतारादि के लिए स्थान है।

वर्ष के धार्मिक इतिहास में जिन अवतारी महापुरुषों का वर्णन आया है, उनके विषय में यदि यह प्रमाणित हो जाय कि वे लोग ऐतिहासिक व्यक्ति नहीं हैं, तो भी हमारे धर्म पर किसी प्रकार का आघात नहीं लग सकता — वह पहले की ही तरह अटल और दृढ़ रहेगा; क्योंकि यह धर्म किसी व्यक्तिविशेष के ऊपर अधिष्ठित नहीं है। वह केवल सनातन सत्य तत्वों के ऊपर ही अधिष्ठित है। संसार-भर के लोगों से किसी व्यक्तिविशेष की महत्ता बलपूर्वक स्वीकार कराने की चेष्टा वृथा है — यहाँ तक कि सनातन और सार्वभौमिक तत्वसमूह के विषय में भी बहुसंख्यक मनुष्यों को एकमतावलम्बी बनाना भी बड़ा कठिन काम है। अगर कभी संसार के अधिकांश मनुष्यों को धर्म के विषय में एकमतावलम्बी बनाना सम्भव है तो वह किसी व्यक्तिविशेष की महत्ता स्वीकार कराने से नहीं हो सकता; वरन् सनातन सत्य सिद्धान्तों के ऊपर विश्वास कराने से ही हो सकता है। फिर भी हमारा धर्म व्यक्तिविशेष की बातों की प्रामाणिकता या प्रभाव को पूर्णतया स्वीकार कर लेता है — जैसा कि मैं पहले ही कह चुका हूँ।

हमारे देश में 'इष्ट-निष्ठा'—रूपी जो अपूर्व प्रथा प्रचलित है, उसमें तुम्हें जिस पर श्रद्धा हो उसे ही अपना इष्टदेवता मानने की पूरी स्वाधीनता दी जाती है। तुम चाहे जिस अवतार को अपने जीवन का आदर्श बनाकर विशेष रूप से उपासना करना चाहो, कर सकते हो। यहाँ तक कि तुम उनको सब अवतारों से श्रेष्ठ मान सकते हो, इसमें कोई आपत्ति नहीं है; परन्तु सनातन तत्वसमूह पर ही तुम्हारे धर्मसाधन की नींव होनी चाहिए। इस बात पर विशेष रूप से ध्यान देने से तुम्हें यह देखकर आश्चर्य होगा कि कोई भी अवतार क्यों न हों, चूँकि वे वैदिक सनातन सत्य सिद्धान्तों के ज्वलन्त उदाहरण हैं, इसीलिए वे हमारे मान्य हैं। भगवान श्रीकृष्ण का माहात्म्य यही है कि वे इसी तत्वात्मक सनातन धर्म के सर्वश्रेष्ठ प्रचारक और वेदान्त के सर्वोत्कृष्ट व्याख्याता हैं।

संसार-भर के लोगों को वेदान्त-विषयक चर्चा करना क्यों आवश्यक है, इसका पहला कारण यह है कि एकमात्र वेदान्त ही सार्वभौमिक धर्म है।

वेदान्त विज्ञान-सम्मत है।

दूसरा कारण यह है कि संसार में जितने शास्त्र हैं, उनमें केवल एक वेदान्त के साथ ही, बाह्य प्रकृति के वैज्ञानिक अनुसन्धान से जो फल प्राप्त हुआ है, उसका सम्पूर्ण सामञ्जस्य है। अत्यन्त प्राचीन समय में समान आकार-प्रकार, समान वंश और सदृश भावों से पूर्ण दो विभिन्न जातियाँ भिन्न-भिन्न मार्गों से संसार के तत्वों का अनुसन्धान करने को प्रवृत्त हुई थीं। पुरानी हिन्दू और ग्रीक जाति से मेरा मतलब है। ग्रीक जाति के लोग बाह्य जगत् का विश्लेषण करते हुए उस अन्तिम लक्ष्य की ओर अग्रसर हुए थे और हिन्दू भी अन्तर्जगत् का विश्लेषण करते हुए आगे बढ़े और इन दोनों जातियों की इस विश्लेषण-क्रिया के इतिहास की विभिन्न अवस्थाओं की आलोचना करने पर मालूम होता है कि दोनों ने उस सुदूर चरम लक्ष्य पर पहुँचकर एक ही प्रकार की प्रतिध्वनि की है। इससे यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि आधुनिक जड़-विज्ञान के सिद्धान्तसमूह को केवल वेदान्ती ही—जो अपने को हिन्दू बताते हैं—अपने धर्म के साथ सामञ्जस्यपूर्वक ग्रहण कर सकते हैं। इससे यह बात स्पष्ट हो जाती है कि वर्तमान जड़वाद अपने सिद्धान्तों को छोड़े बिना यदि केवल वेदान्त के सिद्धान्त को ग्रहण कर ले, तो वह आप ही आध्यात्मिकता की ओर अग्रसर हो सकता है। हमें और उन्हें भी, जिन्होंने इस विषय की सविशेष आलोचना की है, यह स्पष्ट दिखाई देता है कि आधुनिक जड़-विज्ञान जो सब सिद्धान्त स्थिर कर रहा है, वेदान्त सदियों पहले उन सिद्धान्तों पर पहुँच चुका था। उसमें और इसमें अन्तर केवल इतना ही है कि आधुनिक विज्ञान उन सिद्धान्तों को जड़-शक्ति के रूप में बतलाता है।

वर्तमान पाश्चात्य जातियों के लिए वेदान्त की चर्चा करने का और एक कारण है वेदान्त की आश्चर्यजनक युक्ति-सिद्धता। पाश्चात्य देशों के कितने

ही बड़े-बड़े वैज्ञानिकों ने मेरे पास वेदान्त के सिद्धान्तों की युक्तिपूर्णता की मुक्त कण्ठ से प्रशंसा की है। इनमें से एक वैज्ञानिक महाशय के साथ मेरा विशेष परिचय है। वे अपनी वैज्ञानिक गवेषणाओं में इतने व्यस्त रहते हैं कि उन्हें स्थिरता के साथ खाने-पीने या कहीं घूमने-फिरने की भी फुरसत नहीं रहती, परन्तु जब कभी मैं वेदान्तसम्बन्धी विषयों पर व्याख्यान देता, तब वे घण्टों मुग्ध रहकर सुना करते थे। इसका कारण पूछने पर वे कहते हैं कि वेदान्त की सब बातें ऐसी विज्ञान-सम्मत हैं, वर्तमान वैज्ञानिक युग की आकांक्षाओं को वे ऐसी सुन्दरता के साथ पूर्ण करती हैं और आधुनिक विज्ञान बड़े बड़े अनुसन्धानों के बाद जिन सिद्धान्तों पर पहुँचता है उनसे इनका ऐसा सामञ्जस्य है कि मैं इस बात की ओर आकृष्ट हुए बिना नहीं रहता।

विभिन्न धर्मों की तुलनात्मक समालोचना करने पर हमें उसमें से जो दो वैज्ञानिक सिद्धान्त प्राप्त होते हैं, मैं उनकी ओर आप लोगों का ध्यान आकृष्ट करना चाहता हूँ। पहली बात यह कि सभी धर्म सत्य हैं। दूसरी बात यह है कि संसार में जितनी वस्तुएँ हैं, यद्यपि स्थूल दृष्टि से देखने पर वे विभिन्न मालूम होती हैं, तथापि सूक्ष्मतः देखने पर वे एक ही वस्तु का विकास जान पड़ती हैं। बैबिलोनियनों और यहूदियों के धार्मिक इतिहास की आलोचना करने पर हमें एक बड़ी ही विशेषता दिखाई देती है। बैबिलोनियनों और यहूदियों में बहुत सी छोटी छोटी शाखाओं के पृथक्-पृथक् देवता थे।

तथाकथित एकेश्वरवाद की उत्पत्ति का इतिहास।

इन सारे अलग अलग देवताओं का एक साधारण नाम भी था। वह साधारण नाम था — 'बाल'। उनमें 'बाल मेरोडक' सबसे प्रधान देवता माने जाते थे। समय समय पर एक सम्प्रदायवाले उसी जाति के अन्यान्य सम्प्रदायवालों को अपने अधीन कर लेते थे। जो सम्प्रदायवाले जितने समय तक औरों पर अधिकार किए रहते थे उनके देवता भी उतने समय तक औरों के देवताओं से श्रेष्ठ

माने जाते थे। वहाँ की सेमाईट जाति के लोग एकेश्वरवाद के जिस सिद्धान्त के कारण अपना गौरव समझते हैं, वह इसी प्रकार बना है। यहूदियों के सारे देवताओं का साधारण नाम 'मोलोक' था। इनमें से इसरायल जातिवालों के देवता का नाम था—'मोलोक याव्हे'। इसी इसरायल जाति ने अपने समकक्षी कई अन्यान्य जातियों को जीतकर अपने देवता मोलोक याव्हे को औरों के देवताओं से श्रेष्ठ होने की घोषणा की। इस प्रकार के धर्मयुद्धों में कितनी खून-खराबी हुई है, यह बात शायद आप लोगों में बहुतों को मालूम होगी। कुछ काल बाद बेबिलोनियनों ने यहूदियों के इस मोलोक याव्हे की प्रधानता का लोप करने की चेष्टा की थी, पर इस चेष्टा में वे कृतकार्य नहीं हुए।

'एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति'।

मैं समझता हूँ कि भारत के सीमा-प्रान्त में भी पृथक्-पृथक् जातियों में धर्म-सम्बन्धी प्रधानता पाने की चेष्टा हुई थी। और सम्भवतः भारतवर्ष में भी प्राचीन आर्य जाति की विभिन्न शाखाओं ने परस्पर अपने अपने देवता की प्रधानता स्थापित करने की चेष्टा की थी। परन्तु विधाता के विधान ने भारत के इतिहास को यहूदियों के इतिहास की तरह होने नहीं दिया। मानो विधाता की यही इच्छा थी कि भारतवर्ष अन्यान्य देशों की तरह दूसरे के धर्म का द्रोही न हो और साथ ही साथ धर्म की साधना में सबसे बढ़ा-चढ़ा हो। इसीलिए यहाँ की विभिन्न जातियों या सम्प्रदायों में अपने देवता की प्रधानता बताने का झगड़ा स्थायी नहीं हो सका। उस बहुत ही प्राचीन युग में, जिस समय का हाल बताने में इतिहास असमर्थ है, यहाँ तक कि किंवदन्तियाँ भी जिसका कुछ आभास नहीं दे सकती हैं—भारत में एक महापुरुष प्रकट हुए। वैसे महापुरुषों की संख्या संसार में बहुत ही कम है। इन्हीं महात्मा ने उसी प्राचीन युग में यही सत्य सिद्धान्त ढूँढ़ निकाला और इसका प्रचार किया—"एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति"—अर्थात् वास्तव में संसार में एक ही वस्तु

है; ज्ञानी लोग उसी एक वस्तु का नाना रूपों में वर्णन करते हैं। ऐसी चिरस्मरणीय पवित्र वाणी संसार में कभी और कहीं उच्चारित नहीं हुई थी—ऐसा महान् सत्य इसके पहले कभी आविष्कृत नहीं हुआ था। और यही महान् सत्य हमारी हिन्दू जाति के जातीय जीवन का मेरुदण्ड-स्वरूप हो गया है। सैकड़ों सदियों तक "एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति"—इस तत्व का हमारे यहाँ प्रचार होते होते हमारा जातीय जीवन उससे ओतप्रोत हो गया है, यह सत्य सिद्धान्त हमारे खून के साथ मिल गया है, वह इस तरह हमारे अन्दर घुस गया है कि मानो वह हमारे जीवन के साथ एक हो गया है। हम लोग इस महान् सत्य को बहुत पसन्द करते हैं, इसीसे हमारा देश दूसरे के धर्म से द्वेष नहीं करने का एक दृष्टान्त-सा हो रहा है। यहाँ और केवल यहाँ ही, लोग अपने धर्म के विद्वेषियों के लिए—परधर्मावलम्बी लोगों के लिए—मन्दिर और गिर्जे आदि बनवा देते हैं। समग्र संसार हमसे इस परधर्म-विद्वेष-राहित्य की शिक्षा ग्रहण करने के इन्तज़ार में बैठा हुआ है।

आज भी हमारे भारतवर्ष के बाहरवाले लोग दूसरों के धर्म के प्रति कैसे घोर विद्वेषपूर्ण भावों का हृदय में पोषण करते हैं, यह आप लोग शायद नहीं जानते हैं। विदेशों में कई जगह तो मैंने लोगों में दूसरों के धर्म के प्रति ऐसा घोर विद्वेष देखा है कि उनके आचरण से मुझे इस निश्चय पर पहुँचना पड़ा है कि शायद ये मुझे मार डालें तो भी आश्चर्य नहीं है! धर्म के लिए

पाश्चात्य देशों में पर-धर्म-विद्वेष का प्राबल्य।

किसी मनुष्य की हत्या कर डालना पाश्चात्य देश-वासियों के लिए इतनी मामूली बात है कि आज नहीं तो कल गर्वित पाश्चात्य सभ्यता के केन्द्रस्थल में ऐसी घटना हो सकती है। अगर कोई पाश्चात्य देशवासी हिम्मत बाँधकर अपने देश के प्रचलित धर्ममतों के विरुद्ध कुछ कहे तो वह समाज से बाहर निकाला जायगा और उसके सिर पर सामाजिक अत्याचारों का पहाड़ टूट पड़ेगा। यहाँ आकर वे हमारे यहाँ के जातिभेद आदि की बात

लेकर नारा बुलन्द करते दिखाई देते हैं, परन्तु मेरी तरह यदि आप लोग भी कुछ दिनों के लिए पाश्चात्य देशों में जाकर रहें, तो आप देखेंगे कि वहाँ के बड़े-बड़े धर्मप्रचारक, जिनकी प्रशंसा आप यहाँ अक्सर सुना करते हैं, निरे कापुरुष हैं। और धर्म के सम्बन्ध में जिन बातों को सत्य समझकर विश्वास करते हैं, सर्वसाधारण की समालोचना की आग में पड़ने के भय से वे उनका शतांश भी मुँह खोलकर नहीं कह सकते हैं।

इसीलिए संसार को दूसरों के धर्म के प्रति द्वेष नहीं रखने का जो महान् सत्य सिद्धान्त है, उसे जानना होगा। आधुनिक सभ्यता के अन्दर यह भाव प्रवेश करने पर उसका विशेष कल्याण होगा। वास्तव में उस भाव का समावेश हुए बिना कोई भी सभ्यता स्थायी नहीं हो सकती। जब तक हठ-धर्मीपन, खून-खराबी और पाशविक अत्याचारों का अन्त नहीं होता तब तक सभ्यता का विकास ही नहीं हो सकता। जब तक हम लोग एक दूसरे के साथ सद्भाव रखना नहीं सीखते, तब तक कोई भी सभ्यता सिर नहीं उठा सकती। और इस पारस्परिक सद्भाव-वृद्धि की पहली सीढ़ी है, एक दूसरे के धार्मिक विश्वास के प्रति सहानुभूति प्रकट करना। केवल यही नहीं, वास्तव में हृदय के अन्दर यह भाव जमाने के लिए केवल मित्रता या सद्भाव से ही काम नहीं चलेगा—परस्पर के धर्म में चाहे जितना ही अन्तर क्यों न हो, हमें परस्पर सब बातों में विशेष रूप से एक दूसरे की सहायता करनी होगी। हम लोग भारतवर्ष में यही किया करते हैं, यही मैंने आप लोगों से अभी कहा है। इसी भारतवर्ष में हिन्दुओं ने ईसाइयों के लिए गिर्जे और मुसलमानों के लिए मसजिदें बनवायी हैं और अब भी बनवा रहे हैं। ऐसा ही करना पड़ेगा। वे हमें चाहे जितनी घृणा की दृष्टि से देखें, चाहे जितनी पशुता दिखायें, चाहे जितनी निष्ठुरता दिखायें अथवा अत्याचार करें—जैसा कि वे अक्सर हमारे साथ किया करते हैं—

हमें संसार को धर्म सम्बन्धी उदारता की शिक्षा देनी होगी।

और हमारे प्रति चाहे जैसी कुत्सित भाषा का प्रयोग करें, पर हम ईसाइयों के लिए गिर्जे और मुसलमानों के लिए मसजिदें बनवाना नहीं छोड़ेंगे। हम तब तक यह काम न बन्द करें, जब तक हम अपने प्रेमबल से उन पर विजय न प्राप्त कर लें, जब तक हम संसार के सम्मुख यह प्रमाणित न कर दिखायें कि घृणा और विद्वेष-परायण जाति कभी दीर्घ जीवन नहीं पा सकती, पर-प्रेम के द्वारा ही जातीय जीवन स्थायी हो सकता है। केवल पशुत्व और शारीरिक शक्ति विजय नहीं प्राप्त कर सकती, क्षमा और कोमलता ही संसार-संग्राम में विजय दिला सकती है।

भिन्नता में एकता।

हमें संसार को — यूरोप और सारे संसार के विचारशील मनुष्यों को— एक और महान् तत्व की शिक्षा देनी होगी। समग्र संसार का *आध्यात्मिक-एकत्व-रूपी यह महान् सनातन तत्व* सम्भवतः ऊँची जातियों की अपेक्षा छोटी जातियों के लिए, शिक्षितों की अपेक्षा अशिक्षित मूक जनता के लिए और बलवानों की अपेक्षा दुर्बलों के लिए ही अधिक आवश्यक है। ऐ मद्रास-विश्वविद्यालय के शिक्षित सज्जनो! आपको और विस्तारपूर्वक यह बताना नहीं पड़ेगा कि यूरोप की वर्तमान वैज्ञानिक अनुसन्धान-प्रणाली किस तरह भौतिक दृष्टि से सारे जगत् का एकत्व सिद्ध कर रही है। भौतिक दृष्टि से भी हम, तुम, सूर्य, चन्द्र और सितारे इत्यादि सब अनन्त जड़ समुद्र की छोटी-छोटी तरंगों के समान हैं। इधर सैकड़ों सदियाँ पहले भारतीय मनोविज्ञान ने जड़विज्ञान की तरह यह प्रमाणित कर दिया है कि शरीर और मन दोनों ही जड़समुद्र की क्षुद्र तरंगें हैं, फिर एक कदम आगे बढ़कर वेदान्त में दिखाया गया है कि जगत् के इस एकत्व-भाव के पीछे जो आत्मा है, वह भी एक ही है। जगद्ब्रह्माण्ड में केवल एक आत्मा ही विद्यमान है — सब कुछ एक उसी की सत्ता है। विश्वब्रह्माण्ड की जड़ में वास्तव में एकत्व है, इस महान् सत्य को सुनकर बहुतेरे लोग डर जाते हैं। दूसरे देशों की बात दूर रही, इस देश में भी इस सिद्धान्त के

माननेवालों की अपेक्षा इसके विरोधियों की संख्या ही अधिक है। तो भी आप लोगों से मेरा कहना है कि यदि हमें संसार को कुछ सारतत्व सिखलाना है, तो वह यह अद्वैतवाद ही है। भारत की मूक जनता की उन्नति के लिए इसी अद्वैतवाद के सिद्धान्तों का प्रचार करने की आवश्यकता है। यह अद्वैतवाद यदि कार्यरूप में परिणत नहीं किया गया, तो हमारी इस जन्मभूमि के — मातृभूमि के पुनरुत्थान का कोई दूसरा उपाय नहीं है।

युक्तिवादी पाश्चात्य जाति अपने यहाँ के सारे दर्शनों और नीति-विज्ञान की नींव खोज रही है। पर कोई व्यक्तिविशेष, चाहे वे कितने महान् व्यक्ति क्यों न हों, ईश्वर के बराबर ही क्यों न हों — जब वे जन्म-मरण के अधीन हैं, तो उनके द्वारा अनुमोदित होने से ही किसी धर्म या नीति-विज्ञान की प्रामाणिकता नहीं मानी जा सकती। दर्शन या नीति के विषय में यदि केवल यही एकमात्र प्रमाण पेश किया जायगा, तो संसार के उच्च कोटि के चिन्ताशील लोगों को वह प्रमाण स्वीकृत नहीं हो सकता। वे किसी व्यक्तिविशेष द्वारा अनुमोदित होने को प्रामाणिकता नहीं मान सकते; पर वे उसी दार्शनिक या नैतिक सिद्धान्त को मानने के लिए तैयार हैं, जो सनातन तत्वों के आधार पर खड़ा हो। नीति-विज्ञान की नींव सनातन आत्मतत्व के सिवा और क्या हो सकती है? यही एक ऐसा सत्य और अनन्त तत्व है जो तुममें, हममें और हम सबकी आत्माओं में विद्यमान है। आत्मा का अनंत एकत्व ही सब तरह की नीतियों की नींव है। हममें और तुममें केवल 'भाई-भाई' का ही सम्बन्ध नहीं है — मनुष्य जाति को दासता के बन्धन से मुक्त करने की चेष्टा से जितने भी ग्रन्थ लिखे गए हैं, उन सब में मनुष्य के इस परस्पर 'भाई-भाई' के सम्बन्ध का उल्लेख है — शिशुओं ने भी तुम्हारे निकट इस बात का प्रचार किया है — परन्तु वास्तविक बात तो यह है कि

अद्वैतवाद ही नीति-विज्ञान की मूल भित्ति है।

तुम और हम बिलकुल एक हैं। भारतीय दर्शन का यही सिद्धान्त है। सब तरह की नीति और धर्म-विज्ञान की एकमात्र नींव यही है।

हमारे भारतवर्ष के साधारण जन-समूह का, जो सामाजिक अत्याचारों के पैरों तले कुचले जा रहे हैं, इस सिद्धान्त के द्वारा बहुत कुछ उपकार हो सकता है, और यही बात यूरोप के लोगों के लिए भी है। सच तो यह है कि इङ्गलैण्ड, जर्मनी, फ्रान्स और अमेरिका आदि पाश्चात्य देशों में जिस तरीके से राजनीतिक और सामाजिक उन्नति की चेष्टा की जा रही है, उससे स्पष्ट प्रतीत होता है कि उसकी जड़ में—यद्यपि वे इसे नहीं जानते हैं—यही महान् तत्व मौजूद है। और भाइयो! आप यह भी देख पायेंगे कि साहित्य में जहाँ मनुष्य की स्वाधीनता—अनन्त स्वाधीनता प्राप्त करने की चेष्टा की चर्चा की गई है, वहीं भारतीय वैदान्तिक सिद्धान्त भी परिस्फुटित होते हैं। कहीं-कहीं आप देखेंगे कि लेखक अपने भावों को व्यक्त कर गए हैं; पर उन्हें अपने भावों की नींव का पता नहीं है। फिर कहीं आप ऐसा देख पायेंगे कि लेखकों ने अपने भावों को प्रकट करते हुए अपनी मौलिकता जताने की चेष्टा की है। और, कुछ ऐसे सच्चे और अकपट-हृदय लेखक भी हैं, जिन्होंने स्पष्ट शब्दों में लिख दिया है कि उन्होंने कहाँ से इन बातों का पता पाया है—साथ ही उन्होंने उन सत्य सिद्धान्तों के आविष्कर्ताओं के प्रति अपनी हार्दिक कृतज्ञता भी जताई है और अपने को उनका ऋणी माना है।

पाश्चात्य देशों की सामाजिक और राजनीतिक उन्नति तथा अद्वैतवाद।

प्यारे भाइयो! जब मैं अमेरिका में था, तब कई बार लोगों ने मेरे ऊपर यह अभियोग लगाया था कि मैं द्वैतवाद पर विशेष ज़ोर नहीं देता, बल्कि केवल अद्वैतवाद का ही प्रचार किया करता हूँ। द्वैतवाद के प्रेम, भक्ति और उपासना में कैसा अपूर्व आनन्द प्राप्त होता है, यह मैं जानत

मेरे मुख्यतः अद्वैतवाद-प्रचार का कारण।

हूँ — उसकी अपूर्व महिमा को मैं भलीभाँति समझता हूँ। परन्तु भाइयो! हमें आनन्द-पुलकित होकर आँखों से प्रेमाश्रु बरसाने का अब समय नहीं है। हमने बहुत-बहुत आँसू बरसाये हैं। अब हमें कोमल भाव धारण करने का समय नहीं है। कोमलता की साधना करते करते हम लोग जीते-ही-जी मुर्दे हो रहे हैं — रुई के ढेर की तरह कोमल हो गये हैं। हमारे देश के लिए इस समय आवश्यकता है — लोहे की तरह ठोस मांस-पेशियों और मजबूत स्नायुवाले शरीरों की। आवश्यकता है इस तरह इच्छा-शक्ति-सम्पन्न होने की कि कोई उसका प्रतिरोध करने में समर्थ न हो। आवश्यकता है ऐसी अदम्य इच्छा-शक्ति की, जो ब्रह्माण्ड के सारे रहस्यों को भेद सकती हो। यदि यह कार्य करने के लिए अथाह समुद्र के गर्भ में जाना पड़े, सदा सब तरह से मौत का सामना करना पड़े, तो भी हमें यह काम करना ही पड़ेगा। यही कार्य इस समय हमारे लिए परम आवश्यक है। और, इस काम को आरम्भ करने तथा इसकी जड़ मजबूत करने के लिए आवश्यकता है अद्वैतवाद के महान् आदर्श को अपने-अपने हृदय में धारण करने की।

विश्वास — विश्वास! अपने आप पर विश्वास, परमात्मा के ऊपर विश्वास — यही उन्नति करने का एकमात्र उपाय है। यदि पुराणों में कहे गये तैंतीस करोड़ देवताओं के ऊपर, और विदेशियों ने बीच-बीच में जिन देवताओं को तुम्हारे बीच घुसा दिया है उन सब पर भी, यदि तुम्हारा विश्वास हो, और अपने आप पर विश्वास न हो, तो तुम कदापि मोक्ष के अधिकारी नहीं हो सकते। अपने आप पर विश्वास करना सीखो, इसी आत्मविश्वास के बल से अपने पैरों आप खड़े होओ, और शक्तिशाली बनो। इस समय हमें इसीकी आवश्यकता है। हम तीस करोड़ भारतवासी हजारों वर्ष से मुट्ठीभर विदेशियों के द्वारा शासित और पद-दलित क्यों हो रहे हैं? इसका यही कारण है कि हमारे ऊपर शासन करनेवालों में अपने आप

आत्मविश्वास ही सर्वविध उन्नति का मूल है।

पर विश्वास है—भरोसा है, पर हममें वह बात नहीं है। मैंने पाश्चात्य देशों में जाकर क्या सीखा? ईसाई-धर्म-सम्प्रदायवाले मनुष्यों को पापी और निरुपाय बताते हैं। उन सब बेकार के झगड़ों में न पड़कर मैंने उनकी जातीय उन्नति का कारण क्या देखा? देखा कि अमेरिका और यूरोप दोनों के जातीय हृदय के अन्तरतम प्रदेश में महान् आत्मविश्वास भरा हुआ है। एक अँगरेज बालक दावे के साथ तुमसे कह सकता है—"मैं अँगरेज हूँ, मैं सब कुछ कर सकता हूँ।" एक अमेरिकन या यूरोपियन बालक इसी तरह की बात बड़े दावे के साथ कह सकता है। हमारे भारतवर्ष के बच्चे क्या इस तरह की बात कह सकते हैं? कदापि नहीं। लड़कों की कौन कहे—लड़कों के बाप भी इस तरह की बात नहीं कह सकते। हमने अपने आप पर से विश्वास हटा लिया है। इसीलिए वेदान्त के अद्वैतवाद के भावों का प्रचार करने की आवश्यकता है, ताकि लोगों के हृदय जाग जायँ, और वे अपनी आत्मा की महत्ता समझ सकें। इसीलिए मैं अद्वैतवाद का प्रचार किया करता हूँ। और इसका प्रचार किसी साम्प्रदायिक भाव से प्रेरित होकर नहीं करता, बल्कि मैं इसके सार्वभौमिक, युक्तिपूर्ण और अकाट्य सिद्धान्तों का युक्तियों द्वारा प्रचार किया करता हूँ।

यह अद्वैतवाद इस प्रकार प्रचारित किया जा सकता है कि द्वैतवादी और विशिष्टाद्वैतवादी किसी को कोई आपत्ति करने का मौका नहीं मिल सकता; और इन सब मतवादों का सामञ्जस्य दिखाना भी कोई कठिन काम नहीं है।

अद्वैतवाद के साथ अन्यान्य वादों का सामञ्जस्य।

भारत का कोई भी धर्म-सम्प्रदाय ऐसा नहीं है, जो यह न कहता हो कि भगवान सबके भीतर विराजमान हैं। हमारे वेदान्त-मतावलम्बियों में जो भिन्न-भिन्न मतवादी हैं, वे सभी यह स्वीकार करते हैं कि जीवात्मा में पहले से ही पूर्ण पवित्रता, शक्ति और पूर्णत्व अन्तर्निहित है। पर कोई कोई कहते हैं कि यह पूर्णत्व कभी संकुचित और

कभी विकसित हो जाता है। जो हो, पर वह पूर्णत्व है तो हमारे भीतर ही — इसमें कोई सन्देह नहीं। अद्वैतवाद के अनुसार वह न संकुचित होता और न विकसित ही होता है। हाँ, कभी वह प्रकट होता और कभी अप्रकट रहता है। फलतः द्वैतवाद और अद्वैतवाद में बहुत ही कम अन्तर रहा। इतना कहा जा सकता है कि एक मत दूसरे की अपेक्षा अधिक युक्तियुक्त और न्याया-नुमोदित है; परन्तु कार्यतः दोनों एक ही हैं। इस मूल तत्व का प्रचार संसार के लिए अत्यावश्यक हो रहा है और हमारी इस मातृभूमि में, इस भारतवर्ष में, इसके प्रचार का जितना अभाव है, उतना और कहीं नहीं।

हमारी दुर्दशा के लिए हम ही ज़िम्मेदार हैं।

भाइयो! मैं आप लोगों को दो-चार कड़ी-कड़ी और खरी-खोटी बातें सुनाना चाहता हूँ — समाचार-पत्रों में पढ़ने में आया कि हमारे यहाँ के एक धनहीन व्यक्ति को किसी अँगरेज ने मार डाला है अथवा उसके साथ बहुत ही बुरा बर्ताव किया है। बस, यह खबर पढ़ते ही सारे देश में हो-हल्ला मच गया, संवाद-पत्र में इस समाचार को पढ़कर बहुतों ने आँसू भी बहाये — मैंने भी बहाये; पर थोड़ी ही देर बाद मेरे मन में यह सवाल पैदा हुआ कि इस दुर्घटना या इस विजातीय दुर्व्यवहार के लिए उत्तरदायी कौन है? चूँकि मैं वेदान्तवादी हूँ, मैं अपने लिए यह प्रश्न किये बिना नहीं रह सकता। हिन्दू जाति सदा से अन्तर्दृष्टि-परायण रही है — वह अपने अन्दर ही सब विषयों का कारण ढूँढ़ा करती है। जब कभी मैं अपने मन से यह प्रश्न करता हूँ कि इसके लिए कौन उत्तरदायी है, तभी मेरा मन यह जवाब देता है कि इसके लिए अँगरेज उत्तरदायी नहीं हैं; बल्कि अपनी इस दुरवस्था के लिए, अपनी इस अवनति और इन सारे दुःख-कष्टों के लिए, एक मात्र हमीं उत्तरदायी हैं — हमारे सिवा इन बातों के लिए और कोई दायी नहीं हो सकता।

हमारे अभिजात पूर्वज साधारण लोगों को जमाने से पैरों तले कुचलते आ रहे हैं। इसके फलस्वरूप वे लोग एकदम असहाय हो गये। यहाँ तक

हम ही ने अपने देश की नीच जातियों को नीच बनाया है।

कि वे अपने आपको मनुष्य मानना भी भूल गये। सैकड़ों सदियों तक वे धनी-धोरियों की आज्ञा सिर-आँखों पर रखकर केवल लकड़ी काटते और पानी भरते रहे हैं — लकड़ी काटने और पानी भर लाने के लिए ही उन्होंने जन्म लिया है। और यदि किसी के मन में इन लोगों के प्रति कुछ दया आई और कहीं उसने उनके साथ सहानुभूति दिखाई या दो-दो मीठी बातें कीं, तो वर्तमान नवशिक्षित लोग उसके इस वर्ताव से असन्तुष्ट होते हैं और चाहते हैं कि ये लोग कभी उन्नति न करने पायें।

यही नहीं, मैं यह भी देखता हूँ कि यहाँ के धनी-मानी और नव-शिक्षित लोग पाश्चात्य देशों के आनुवंशिक संक्रमणवाद आदि कमज़ोर मतों को लेकर ऐसी युक्तियाँ पेश करते हैं कि ये पददलित लोग किसी तरह उन्नति न कर सकें और उन पर अत्याचारों का काफी सुभीता मिले। अमेरिका में जो धर्म-सम्मेलन हुआ था, उसमें अन्यान्य जाति तथा सम्प्रदायों के लोगों के साथ ही एक आफ्रिकन युवक भी आया था। वह आफ्रिका की नीग्रो जाति का था। उसने बड़ी सुन्दर वक्तृता भी दी थी। मुझे उस युवक को देखकर बड़ा कुतूहल हुआ। मैं उससे बीच-बीच में बातचीत करने लगा; पर उसके बारे में विशेष कुछ मालूम न हो सका। कुछ दिन बाद इङ्गलैण्ड में मेरे साथ कई अमेरिकनों की मुलाकात हुई। उन लोगों ने मुझे उस नीग्रो युवक का परिचय इस प्रकार दिया — यह युवक मध्य आफ्रिका के किसी नीग्रो दल के अधिपति का लड़का है। किसी कारण से वहीं के किसी दूसरे नीग्रो-दलपति के साथ उसका झगड़ा हो गया, और उसने इस युवक के पिता और माता को मार डाला, और दोनों का मांस पकाकर खा गया। उसने इस युवक को भी मारकर इसका मांस खा जाने का हुक्म दे दिया था। पर यह बड़ी कठिनाई से वहाँ से भाग निकला और सैकड़ों कोसों का रास्ता तय कर समुद्र

के किनारे पहुँचा। वहाँ से यह एक अमेरिकन जहाज़ पर सवार होकर यहाँ आया है। उस नीग्रो नवयुवक ने ऐसी सुन्दर वक्तृता दी! यह देखकर भला कैसे इस बात पर विश्वास किया जाय कि उच्च वंश के लोग ही ऊँचे विचार रख सकते हैं?

हे ब्राह्मणो! यदि यही बात ठीक है, यदि वंश-परम्परागत भाव-संचार के कारण ही ब्राह्मण आसानी से विद्याभ्यास कर सकते हैं, तो तुम्हें उचित है कि उनमें विद्या का प्रचार करने में जितना धन व्यय करते हो, उससे अधिक चाण्डालों को शिक्षित बनाने के लिए करो। दुर्बलों की सहायता पहले करो, क्योंकि वे दुर्बल हैं। यदि ब्राह्मण जन्म से ही बुद्धिमान और विद्वान् हुआ करते हैं, तो वे किसी की, किसी प्रकार की सहायता पाये बिना ही शिक्षा प्राप्त कर सकते हैं। यदि दूसरी जातियों के लोग बिना सहायता के उनकी तरह शिक्षित नहीं हो सकते, तो केवल उन्हीं को शिक्षित बनाते जाओ—केवल उन्हीं के लिए शिक्षक नियुक्त करते जाओ। हमें तो ऐसा करना ही न्याय और युक्तिसिद्ध जान पड़ता है। अर्थात् भारत के इन दीन-हीन लोगों को—इन पददलित जाति के लोगों को—उनका अपना वास्तविक रूप समझा देना परमावश्यक है। जात-पाँत का भेद छोड़कर, कमज़ोर और मज़बूत का विचार छोड़कर, हरएक स्त्री-पुरुष को, प्रत्येक बालक-बालिका को, यह सन्देश सुनाओ और सिखाओ कि ऊँच-नीच, अमीर-गरीब और बड़े-छोटे सभी में उसी एक अनन्त आत्मा का निवास है, जो सर्वव्यापी है; इसलिए सभी लोग महान्—सभी लोग साधु हो सकते हैं। सबके आगे आवाज ऊँची करके कहो—

ब्राह्मणों की शिक्षा की अपेक्षा चाण्डालों की शिक्षा के लिए अधिक प्रयत्न करो।

"उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान् निबोधत।" उठो, जागो और जब तक तुम अपने अन्तिम ध्येय तक नहीं पहुँच जाते, तब तक निश्चिन्त मत हो।

उत्तिष्ठत जाग्रत। उठो, जागो — अपने आपको शक्तिहीन और दुर्बल समझकर तुम लोग जिस मोह के पर्दे में ढक रहे हो उसे फाड़ डालो। वास्तव में कोई भी दुर्बल नहीं है। आत्मा अनन्त, सर्वशक्तिसम्पन्न और सर्वज्ञ है। इसलिए उठो, अपने वास्तविक रूप को प्रकट करो। तुम्हारे अन्दर जो भगवान हैं, उनकी सत्ता की ऊँचे स्वर में घोषणा करो — उन्हें अस्वीकार मत करो। हमारी जाति के ऊपर घोर आलस्य, दुर्बलता और मोह ने घर कर लिया है। इसलिए ऐ हिन्दुओ! मोह के इस जाल के धागों को काट डालो। इसका उपाय हमें ढूँढ़ना नहीं पड़ेगा — यह हमारे धर्म-शास्त्रों में ही बता दिया गया है। तुम लोग अपने अपने सच्चे स्वरूप को याद करो और सर्वसाधारण को अपने असली रूप को पहचानने के लिए उपदेश दो। घोरतम मोह-निद्रा में पड़ी हुई जीवात्मा को इस नींद से जगा दो। जब तुम्हारी आत्मा प्रबुद्ध हो उठेगी, तब तुम आप ही शक्ति का अनुभव करोगे, महिमा और महत्ता पाओगे, साधुता आयेगी, पवित्रता भी आप ही चली आएगी — मतलब यह कि जो कुछ अच्छे गुण हैं, वे सभी तुम्हारे पास आ पहुँचेंगे। श्रीमद्भगवद्गीता में यदि कोई ऐसी बात है, जिसे मैं सबसे अधिक पसन्द करता हूँ, तो वह है — नीचे लिखे ये दो श्लोक। भगवान श्रीकृष्ण के उपदेश के सारस्वरूप इन श्लोकों से बड़ा भारी बल प्राप्त होता है —

"समं सर्वेषु भूतेषु तिष्ठन्तं परमेश्वरम्।
विनश्यत्स्वविनश्यन्तं यः पश्यति स पश्यति॥" १३।२७

और —

"समं पश्यन् हि सर्वत्र समवस्थितमीश्वरम्।
न हिनस्त्यात्मनात्मानं ततो याति परां गतिम्॥" १३।२८

— विनाश होनेवाले सब भूतों में जो लोग अविनाशी परमात्मा को स्थित देखते हैं, यथार्थ में उन्हीं का देखना सार्थक है; क्योंकि ईश्वर को

सर्वत्र समान भाव से देखकर वे आत्मा के द्वारा आत्मा की हिंसा नहीं करते, इसलिए वे परम गति को प्राप्त होते हैं।

इन बातों को देखने से यही कहना पड़ता है कि वेदान्त-तत्त्व के प्रचार द्वारा इस देश और अन्यान्य देशों के लोगों का बड़ा भारी उपकार हो सकता है। इस देश में, और विदेशों में भी, मनुष्य-जाति के दुःख दूर करने के लिए तथा मानव-समाज की उन्नति के लिए हमें परमात्मा की सर्वव्यापकता, और सर्वत्र समान रूप से उसकी विद्यमानता, इन दोनों सत्य सिद्धान्तों का प्रचार करना होगा। जहाँ अन्याय होता दिखाई देता है, वहीं अज्ञान भी मौजूद रहता है। मैंने अपने ज्ञान और अनुभव द्वारा मालूम किया है और यही शास्त्रों में भी कहा गया है कि भेद-बुद्धि से ही संसार में सारे अशुभ और अभेद-बुद्धि से ही सारे शुभ फलते हैं। यदि सारी विभिन्नताओं के अन्दर ईश्वर के एकत्व पर विश्वास किया जाय, तो सब प्रकार से संसार का कल्याण किया जा सकता है। यही वेदान्त का सर्वोच्च आदर्श है।

हरएक विषय में आदर्श पर विश्वास करना एक बात है और प्रति-दिन के छोटे-छोटे कामों में उसी आदर्श के अनुसार काम करना दूसरी बात है। एक ऊँचा आदर्श दिखा देना अच्छी बात है, इसमें सन्देह नहीं; पर उस आदर्श तक पहुँचने का उपाय कौनसा है, यहाँ वही टेढ़ा सवाल आ उपस्थित होता है। कई सदियों से सर्व-साधारण के मन में जो सवाल उठ रहा है, वह और कुछ नहीं—जाति-भेद और समाज-संस्कार का सवाल है। मैं उपस्थित जनता से यह बात स्पष्ट शब्दों में कह देना चाहता हूँ कि मैं केवल जाति-पाँति का भेद मिटानेवाला अथवा समाज-संस्कारक मात्र नहीं हूँ। जाति-भेद या समाज-संस्कार से मेरा कुछ मतलब नहीं। तुम चाहे जिस जाति या समाज के क्यों न हो, उससे कुछ बनता-बिगड़ता नहीं, पर तुम किसी और जाति वाले को

मैं समाज-संस्कारक नहीं हूँ, मैं विश्वजनीन प्रेम का प्रचारक हूँ।

घृणा की दृष्टि से नहीं देख सकते। मैं केवल इसी तत्व का प्रचार किया करता हूँ कि "भूतमात्र को प्रेम-भरी दृष्टि से देखो।" और मेरा यह कहना विश्वात्मा की सर्व-व्यापकता और समता रूपी वेदान्त के सिद्धान्त पर स्थापित हुआ है।

प्रायः पिछले एक सौ वर्ष से हमारा देश समाज-संस्कारकों और उनके तरह-तरह के समाज-संस्कार-सम्बन्धी प्रस्तावों से ढक गया है। इन समाज-सुधारकों के चरित्र के विषय में मुझे कुछ कहना नहीं है। इनमें से अनेकों के उद्देश्य बहुत अच्छे हैं, और किसी किसी विषय में उनके उद्देश्य बहुत ही प्रशंसनीय हैं। परन्तु इसके साथ ही साथ यह भी साफ-साफ देखने में आता है कि इन सौ वर्षों में समाज सुधार के लिए जो सब आन्दोलन हुए उनसे सारे देश का कोई स्थायी हित नहीं हुआ है। व्याख्यान-मञ्चों से हजारों वक्तृताएँ दी जा चुकी हैं, हिन्दू-जाति और हिन्दू-सभ्यता के माथे पर कलङ्क और निन्दावाद की न जाने कितनी बौछारें हो चुकी हैं,—परन्तु इतने पर भी समाज का कोई वास्तविक उपकार नहीं हुआ है। इसका क्या कारण है? कारण ढूँढ़ निकालना बहुत मुश्किल काम नहीं है। यह निन्दावाद और गालियों की बौछार ही इसका कारण है। मैंने पहले ही तुमसे कहा है कि हमें सबसे पहले अपनी जातीय विशेषता की रक्षा करनी होगी। मैं यह स्वीकार करता हूँ कि हमें अन्यान्य जातियों से बहुत कुछ शिक्षा प्राप्त करनी पड़ेगी; पर मुझे बड़े दुःख के साथ कहना पड़ता है कि हमारे अधिकांश समाज-सुधार-कार्य केवल पाश्चात्य कार्य-प्रणाली का विवेकशून्य अनुकरण-मात्र है। इस कार्य-प्रणाली से भारत का कोई उपकार होना सम्भव नहीं है। इसलिए हमारे यहाँ जो सब समाज संस्कार के आन्दोलन हो रहे हैं, उनसे कोई फल नहीं होता है। दूसरे, किसी की भलाई करनी होती है, तो वह निन्दा करने या गालियों

संस्कारकों की असफलता का कारण — विजातीय अनुकरण तथा वर्तमान समाज के ऊपर तीव्र गालियों की बौछार।

की बौछार से नहीं हो सकती। हमारे समाज में जो बहुतेरे दोष हैं, उन्हें एक छोटासा बच्चा भी जान सकता है — और दोष भला किस समाज में नहीं है? ऐ मेरे देशवासी भाइयो! मैं इस अवसर पर तुम्हें यह बात बता देना चाहता हूँ कि मैंने संसार की जितनी भिन्न-भिन्न जातियों को देखा है, उनकी तुलना करके मैं इसी निश्चय पर पहुँचा हूँ कि अन्यान्य जातियों की अपेक्षा हमारी यह हिन्दू जाति ही अधिक नीतिपरायण और धार्मिक है। और हमारे सामाजिक नियम ही मानव जाति को सुखी करने की सबसे अधिक योग्यता धारण करते हैं — यह बात हमारे समाज-नियमों के उद्देश्य और कार्य-प्रणाली को देखने से मालूम होती है। इसीलिए मैं सुधार या संस्कार नहीं चाहता। मेरा आदर्श है, जातीय मार्ग पर समाज की उन्नति, विस्तृति तथा परिणति। जब मैं देश के प्राचीन इतिहास की पर्यालोचना करता हूँ, तब सारे संसार में मुझे कोई ऐसा देश नहीं दिखाई देता, जिसने भारत के समान मानव-हृदय को उन्नत और संस्कृत बनाने की चेष्टा की हो। इसीलिए, मैं अपनी हिन्दू जाति की न तो निन्दा करता और न उसको गाली देता हूँ — मैं अपनी जाति से कहता हूँ — "जो कुछ तुमने किया है, अच्छा ही किया है; पर इससे भी अच्छा करने की चेष्टा करो।" पुराने जमाने में इस देश में बहुतेरे अच्छे काम हुए हैं; पर अब भी उससे बढ़े-चढ़े काम करने का पर्याप्त समय और अवकाश है। प्यारे भाइयो! तुम यह निश्चय जानो कि हम एक जगह एक अवस्था में चुपचाप बैठे नहीं रह सकते। यदि हम एक जगह बैठे रहें, तो हमारी मृत्यु अनिवार्य है। हमें या तो आगे बढ़ना होगा या पीछे हटना होगा — हमें उन्नति करते रहना होगा, नहीं तो हमारी अवनति आप-से-आप होती जाएगी। हमारे पूर्वपुरुषों ने प्राचीन काल में बहुत बड़े-बड़े काम किये हैं, पर हमें उनकी अपेक्षा भी उच्चतर जीवन का विकास करना होगा और उनकी अपेक्षा

जातीय भाव से समाज का गठन।

'आगे बढ़ो'।

महान् कार्यों की ओर अग्रसर होना पड़ेगा। अब पीछे हटकर अवनति को प्राप्त होना — यह कैसे हो सकता है? ऐसा कभी नहीं हो सकता। नहीं — हम कदापि वैसा होने नहीं देंगे। पीछे हटने से हमारी जाति का अधःपतन और मरण होगा। अतएव "अग्रसर होकर महत्तर कर्मों का अनुष्ठान करो" — तुम्हारे सामने यही मेरा वक्तव्य है।

मैं किसी सामयिक समाज संस्कार का प्रचारक नहीं हूँ। मैं समाज के दोषों का सुधार करने की चेष्टा नहीं करता हूँ। मैं तुमसे केवल इतना ही कहता हूँ कि तुम आगे बढ़ो और हमारे पूर्वपुरुष समग्र मानव जाति की उन्नति के लिए जो सर्वाङ्ग-सुन्दर प्रणाली बता गये हैं, उसी का अवलम्बन कर उनके उद्देश्य को सम्पूर्ण रूप से कार्य में परिणत करो। तुमसे मेरा कहना यही है कि तुम लोग मनुष्य-जाति के एकत्व और मनुष्य के स्वाभाविक ईश्वरत्व-भाव-रूपी वैदान्तिक आदर्श के अधिकाधिक समीप पहुँचते जाओ। यदि मेरे पास समय होता, तो मैं तुम लोगों को बड़ी प्रसन्नता के साथ यह दिखाता और बताता कि आज हमें जो कुछ कार्य करना है, उसे हजारों वर्ष पहले हमारे स्मृतिकारों ने बता दिया है। और, उनकी बातों से हम यह भी जान सकते हैं कि आज हमारी जाति और समाज के आचार-व्यवहार में जो सब परिवर्तन हुए हैं और होंगे, उन्हें भी उन लोगों ने आज से हजारों वर्ष पहले जान लिया था। वे भी जाति-भेद का लोप करनेवाले थे, पर आजकल की तरह नहीं! जाति-भेद-साहित्य से उनका मतलब यह नहीं था कि शहर भर के लोग एक साथ मिलकर शराब-कबाब उड़ावें, या जितने मूर्ख और पागल हैं, वे सब चाहे जिसके साथ शादी कर लें और सारे देश को एक बहुत बड़ा पागलखाना बना दें, और न उनका यही विश्वास था कि जिस देश में जितना ही अधिक विधवाविवाह होगा, वह देश उतना ही उन्नत समझा जायेगा! इस प्रकार से किसी जाति को उन्नत होते मैंने तो नहीं देखा है।

हमारी उन्नति का उपाय।

ब्राह्मण ही हमारे पूर्व-पुरुषों के आदर्श थे। हमारे सभी शास्त्रों में ब्राह्मणों का सात्विक चरित्र ही उच्च आदर्श माना गया है। यूरोप के बड़े-बड़े धर्माचार्य भी यह प्रमाणित करने के लिए हजारों रुपये खर्च कर रहे हैं कि उनके पूर्व-पुरुष उच्च वंशों के थे और तब तक वे अपनी चेष्टा से बाज नहीं आते, जब तक उन्हें यह नहीं मालूम हो जाता कि उनके पूर्व-पुरुष पहाड़-जंगलों के रहनेवाले और राही-बटोहियों का यथा-सर्वस्व लूटनेवाले थे! फिर दूसरी ओर भारत के बड़े-बड़े राजाओं के वंशधर इस बात की चेष्टा कर रहे हैं कि हम अमुक कौपीनधारी, सर्वस्वत्यागी, वनवासी, फल-मूलाहारी और वेदपाठी ऋषि की सन्तान हैं; अर्थात्, यदि तुम किसी प्राचीन ऋषि को अपना पूर्व-पुरुष बता सको, तो तुम ऊँची जाति के कहलाओगे, अन्यथा नहीं। अतएव, हमारा जातीय आदर्श अन्यान्य देशवासियों के आदर्श से बिलकुल भिन्न है। आध्यात्मिक साधना-सम्पन्न महा त्यागी ब्राह्मण ही हमारे आदर्श हैं। इस ब्राह्मण-आदर्श से मेरा क्या मतलब है? आदर्श ब्राह्मणत्व वही है, जिसमें सांसारिकता एकदम न हो और असली ज्ञान पूर्ण मात्रा में विद्यमान हो। हिन्दू-जाति का यही आदर्श है। क्या आपने नहीं सुना है, शास्त्रों में लिखा है कि ब्राह्मण के लिए कोई कानून-कायदा नहीं है—वे राजा के शासनाधीन नहीं हैं, और उनके लिए फाँसी की सजा नहीं हो सकती? यह बात बिलकुल सच है। स्वार्थपर मूढ़ लोगों ने जिस भाव से इस तत्व की व्याख्या की है, उस भाव से उसको मत समझो—सच्चे वैदान्तिक भाव से इस तत्व को समझने की चेष्टा करो। यदि ब्राह्मण कहने से ऐसे मनुष्य का बोध हो, जिसने स्वार्थपरता का एकदम नाश कर डाला है जिसका जीवन ज्ञान और प्रेम-पान में तथा इनका विस्तार करने में ही बीतता है, जो देश ऐसे ही सत्त्वभाव और धर्मपरायण ब्राह्मणों से परिपूर्ण है, उस देश के लोग यदि विधिनिषेध के परे हों, तो इसमें आश्चर्य की कौन-सी बात है? ऐसे

हिन्दू समाज का आदर्श है ब्राह्मण।

आदमियों पर शासन करने के लिए सामन्त या पुलिस इत्यादि की क्या आवश्यकता है? ऐसे आदमियों पर शासन करने का ही क्या काम है? अथवा, ऐसे लोगों को किसी शासन-तन्त्र के अधीन रहने की ही क्या ज़रूरत है?

ये लोग साधु-स्वभाव महात्मा हैं—ईश्वर के अन्तरंगस्वरूप हैं। और हम शास्त्रों में देखते हैं—सत्ययुग में पृथ्वी पर केवल एक ब्राह्मण-जाति ही थी। महाभारत में हम देखते हैं, पुराकाल में सारी पृथ्वी पर केवल ब्राह्मणों का ही निवास था। क्रमशः ज्यों-ज्यों उनकी अवनति होने लगी, वह जाति भिन्न-भिन्न जातियों में विभक्त होती गई। फिर, जब युग-चक्र घूमता-घूमता सत्ययुग आ पहुँचेगा, तब फिर से सभी ब्राह्मण ही हो जायँगे। वर्तमान युग-चक्र भविष्य में सत्ययुग के आने की सूचना दे रहा है—इसी बात की ओर मैं तुम्हारी दृष्टि आकृष्ट करना चाहता हूँ।

सत्ययुग में एक मात्र ब्राह्मण जाति ही थी।

ऊँची जातियों को नीची करने, मनचाह आहार-विहार करने और क्षणिक सुख-भोग के लिए अपने-अपने वर्णाश्रम-धर्म की मर्यादा तोड़ने से इस जाति-भेद की समस्या हल नहीं होगी। इसकी मीमांसा तभी होगी जब हम लोगों में से प्रत्येक मनुष्य वैदान्तिक धर्म का आदेश पालन करने लगेगा, जब हर कोई सच्चा धार्मिक होने की चेष्टा करेगा, और प्रत्येक व्यक्ति आदर्श ब्राह्मण बन जाएगा। तुम आर्य हो या अनार्य, ऋषि-सन्तान हो, ब्राह्मण हो या अत्यन्त नीच अन्त्यज जाति के ही क्यों न हो,—भारत-भूमि के प्रत्येक निवासी के प्रति तुम्हारे पूर्व-पुरुषों का दिया हुआ एक महान् आदेश है। तुम सब के प्रति बस एक ही आदेश है, और वह है—"चुपचाप बैठे रहने से काम न होगा। निरन्तर उन्नति के लिए चेष्टा करते रहना होगा। ऊँची-से-ऊँची जाति से लेकर नीची-से-नीची

फिर से सभी जातियों को ब्राह्मण होना पड़ेगा।

जाति के लोगों (चण्डालों) को भी ब्राह्मण होने की चेष्टा करनी होगी।"

केवल भारत को ही नहीं वरन् समस्त संसार को इसी आदर्श के अनुसार गठित करने की चेष्टा करनी होगी।

वेदान्त का यह आदर्श केवल भारतवर्ष के लिए ही उपयुक्त है, सो बात नहीं वरन् सारे संसार को इसी आदर्श के अनुसार गढ़ने की चेष्टा करनी होगी। हमारे जाति-भेद का लक्ष्य यही है। इसका उद्देश्य यह है कि धीरे-धीरे सारा मानव-समाज आदर्श धार्मिक — अर्थात् धृति, क्षमा, शौच, शान्ति, उपासना और ध्यान का अभ्यासी हो जाए। इस आदर्श का अवलम्बन करने पर ही मनुष्य-जाति क्रमशः ईश्वर-सायुज्य प्राप्त कर सकती है।

इस उद्देश्य को कार्य-रूप में परिणत करने का उपाय क्या है? मैं तुम लोगों को फिर एक बार याद दिला देना चाहता हूँ कि कोसने, निन्दा करने या गालियों की बौछार करने से कोई सदुद्देश्य पूर्ण नहीं हो सकता। लगातार वर्षों तक इस प्रकार की कितनी ही चेष्टाएँ की गयी हैं; पर परिणाम कभी अच्छा नहीं हुआ है। केवल पारस्परिक सद्भाव और प्रेम के द्वारा ही अच्छे परिणाम की आशा की जा सकती है। यह महान् उद्देश्य किस प्रकार सिद्ध हो सकता है, यह एक बहुत ही उलझनदार सवाल है। इसी उद्देश्य की सिद्धि के लिए मैं जो-जो काम करना चाहता हूँ और इस विषय में मेरे मन में नित्य प्रति जो-जो नये-नये भाव उत्पन्न होते हैं — जो विचार पैदा होते हैं — उन्हें सविस्तार आप लोगों से कहने के लिए मुझे कई व्याख्यान देने पड़ेंगे। अतएव, आज मैं यहीं पर अपनी वक्तृता का उपसंहार करता हूँ। हिन्दुओ! मैं तुम्हें केवल इतनी ही याद दिला देना चाहता हूँ कि हमारा

जातीय बेड़ा।

यह जातीय बेड़ा हमें सदियों से इस पार से उस पार करता आ रहा है। शायद आजकल इसमें कुछ छेद हो गये हैं, शायद यह कुछ पुराना भी पड़ गया है। यदि यही बात है,

तो हम सारे भारतवासियों को प्राणों की बाजी लगाकर इन छेदों को बन्द कर देने और इसका जीर्णोद्धार करने की चेष्टा करनी चाहिए। हमें अपने सभी देशभाइयों को इस विपज्जनक बात की सूचना दे देनी चाहिए। वे जागें और इस ओर ध्यान दें। मैं भारतवर्ष के एक छोर से दूसरे छोर तक के सभी मनुष्यों को ज़ोर से चिल्लाकर कहूँगा और उन्हें अपनी सच्ची अवस्था का ज्ञान प्राप्त कर यथार्थ कर्तव्य करने के लिए बताऊँगा। मान लो, लोगों ने मेरी बात अनसुनी कर दी, तो भी मैं इसके लिए उन्हें न तो कोसूँगा और न गालियाँ ही दूँगा। पुराने जमाने में हमारी जाति ने बहुत बड़े-बड़े काम किए हैं, और यदि हम उनसे भी बड़े-बड़े काम न कर सकें, तो एक साथ ही शान्ति में डूब मरें;—और हमें इसीमें सन्तोष होगा कि हम सब-के-सब एक साथ ही मर गए। स्वदेश-हितैषी बनो—जिस जाति ने भूतकाल में हमारे लिए इतने बड़े-बड़े काम किए हैं, वह हमारे लिए प्राणों से भी अधिक प्यारी है। हे स्वदेशवासियो! मैं संसार की अन्यान्य जातियों के साथ अपनी जाति की जितनी ही अधिक तुलना करता हूँ, उतना ही अधिक तुम लोगों के प्रति मेरा प्यार बढ़ता जाता है। तुम लोग शुद्ध, शान्त और सत्स्वभाव हो, और तुम्हीं लोग सदा अत्याचारों से पीड़ित रहते आए हो—इस माया-मय जड़ जगत् की पहेली ही कुछ ऐसी है! जो हो, तुम इसकी परवा मत करो। अन्त में आध्यात्मिकता की ही जय अवश्य होगी। इस बीच में हमें काम करना पड़ेगा। केवल देश की निन्दा करने से काम नहीं चलने का। हमारी इस आँधी-तूफान की मारी मातृभूमि के कर्म-जीर्ण आचारों और प्रथाओं की निन्दा मत करो। एकदम कुसंस्कारपूर्ण और बेकार प्रथाओं के विरुद्ध भी एक शब्द मत कहो, क्योंकि उनके द्वारा भी भूतकाल में हमारी जाति और देश का कुछ-न-कुछ उपकार अवश्य हुआ है। इस बात को सदा याद रखना कि हमारी सामाजिक प्रथाओं के उद्देश्य ऐसे महान् हैं जैसे संसार के किसी और देश की प्रथाओं के नहीं हैं। मैंने पृथ्वी में

प्रायः सर्वत्र जाति-पाँति का भेद-भाव देखा है; पर यहाँ के जाति-भेद में भी जैसा ऊँचा उद्देश्य है, वैसा और कहीं नहीं है। अतएव, जब जाति-भेद का होना अनिवार्य है, तब उसे धन की कमी-बेशी पर खड़ा करने की अपेक्षा पवित्रता और आत्मत्याग के ऊपर खड़ा करना कहीं अच्छा है। इसलिए निन्दावाद को एकदम छोड़ दो। तुम्हारा मुँह बन्द हो और हृदय खुल जाय! इस देश और सारे जगत् का उद्धार करो। तुम लोगों में से प्रत्येक को यह सोचना होगा कि सारा भार तुम्हारे ही ऊपर है। वेदान्त का आलोक घर-घर ले जाओ, घर-घर में वेदान्त के आदर्श पर जीवन गठित हो। प्रत्येक जीवात्मा में जो ईश्वरत्व अन्तर्निहित है, उसे जगाओ। ऐसा करने से तुम्हें यदि थोड़ी भी सफलता प्राप्त होगी, तो भी तुम्हें इतने से ही सन्तोष होगा कि तुमने एक महान् उद्देश्य की सिद्धि में ही अपना जीवन बिताया है और प्राण दिए हैं। जैसे भी हो, महत् कार्य की सिद्धि होने पर मानव-जाति का दोनों लोक में कल्याण होगा।

---

१०. मद्रास-अभिनन्दन

स्वामीजी जब मद्रास पहुँचे तो वहाँ मद्रास स्वागत-समिति द्वारा उन्हें एक सम्मान-पत्र भेंट किया गया। वह इस प्रकार था :—

परमपूज्य स्वामीजी,

आज हम सब आपके पाश्चात्य देशों में धार्मिक प्रचार से लौटने के अवसर पर आपके मद्रासनिवासी हिन्दू भाइयों की ओर से आपका हार्दिक स्वागत करते हैं। आज आपकी सेवा में जो हम यह सम्मान-पत्र अर्पित कर रहे हैं उसका अर्थ यह नहीं है कि यह एक प्रकार का लोकाचार अथवा रस्म-अदाई है वरन् इसके द्वारा हम आपकी सेवा में अपने आन्तरिक एवं हार्दिक प्रेम की भेंट देते हैं तथा आपने ईश्वर की कृपा से भारतवर्ष के उच्च धार्मिक आदर्शों का प्रचार कर जो सत्य-प्रचार का महान् कार्य किया है, उसके निमित्त अपनी कृतज्ञता प्रकट करते हैं।

जब शिकागो शहर में धर्मपरिषद् का आयोजन किया गया उस समय स्वाभाविकतः हमारे देश के कुछ भाइयों के मन में इस बात की उत्सुकता उत्पन्न हुई कि हमारे श्रेष्ठ तथा प्राचीन धर्म का भी प्रतिनिधित्व वहाँ योग्यता-पूर्वक किया जाय तथा उसका उचित रूप से अमेरिकन राष्ट्र में और फिर उसके द्वारा अन्य समस्त पाश्चात्य देशों में प्रचार हो। उस अवसर पर हमारा यह सौभाग्य था कि हमारी आपसे भेंट हुई और उस समय हमें उस बात का फिर स्मरण हो आया जो बहुधा विभिन्न राष्ट्रों के इतिहास में सत्य सिद्ध हुई है अर्थात् समय आने पर ऐसा व्यक्ति स्वयं आविर्भूत हो जाता है जो सत्य के प्रचार में सहायक होता है। और जब आपने उस धर्म-परिषद् में हिन्दू धर्म के प्रतिनिधिरूप होकर जाने का बीड़ा उठाया तो हममें से अधिकांश लोगों के

मन में यह निश्चित भावना उत्पन्न हुई कि उस चिरस्मरणीय धर्मपरिषद में हिन्दू धर्म का प्रतिनिधित्व बड़ी योग्यतापूर्वक होगा, क्योंकि आपकी अनेकानेक शक्तियों को हम लोग थोड़ा-बहुत जानते जो थे।

हिन्दू धर्म के सनातन सिद्धान्तों का प्रतिपादन आपने जिस स्पष्टता, शुद्धता तथा प्रामाणिकता से किया उससे केवल धर्मपरिषद पर ही एक चिर-स्थायी प्रभाव नहीं पड़ा वरन् उसके द्वारा अन्य पाश्चात्य देशों के स्त्री-पुरुषों को भी यह अनुभव हो गया कि भारतवर्ष के इस आध्यात्मिक स्रोत में कितना ही अमरत्व तथा प्रेम का सुखद पान किया जा सकता है और उसके फल-स्वरूप मानव-जाति का इतना सुन्दर, पूर्ण, बृहत् तथा शुद्ध विकास हो सकता है जितना कि इस विश्व में पहले कभी नहीं हुआ। हम इस बात के लिए आपके विशेष कृतज्ञ हैं कि आपने संसार के मुख्य मुख्य धर्मों के प्रतिनिधियों का चित्त हिन्दू धर्म के उस विशेष सिद्धान्त की ओर आकर्षित किया जिसका नाम दिया जा सकता है 'विभिन्न धर्मों में बन्धुत्व तथा सामञ्जस्य'। आज यह सम्भव नहीं रहा है कि कोई वास्तविक शिक्षित तथा सच्चा व्यक्ति इस बात का ही दावा करे कि सत्य तथा पावित्र्य किसी एक विशेष स्थान, सम्प्रदाय अथवा वाद की ही सत्ता है या वह यह कहे कि कोई विशेष धर्म-मार्ग या मत ही अन्त तक रहेगा और अन्य सब नष्ट हो जाएँगे।

यहाँ पर हम आप ही के उन सुन्दर शब्दों को दुहराते हैं जिनके द्वारा श्रीमद्भगवद्गीता का केन्द्रीय सामञ्जस्य भाव स्पष्ट प्रकट होता है कि 'संसार के विभिन्न धर्म एक प्रकार की यात्रा-स्वरूप हैं जहाँ कि तरह तरह के स्त्री-पुरुष इकट्ठे हुए हैं तथा जो भिन्न भिन्न दशाओं तथा परिस्थितियों में से होकर एक ही लक्ष्य की ओर जा रहे हैं'! हम तो यह कहेंगे कि यदि आपने सिर्फ इस पुण्य एवं उच्च उद्देश्य को ही अपने कर्तव्य-रूप में निबाहा होता तो भी उतने से ही आपके हिन्दू भाई बड़ी प्रसन्नता तथा कृतज्ञता पूर्वक आपके उस अमूल्य कार्य के लिए महान् आभार मानते। परन्तु आप केवल इतना ही न करके

पाश्चात्य देशों में भी गए तथा वहाँ जाकर जनता को ज्ञान तथा शान्ति का संदेश सुनाया जो भारतवर्ष के 'अनादि धर्म' की प्राचीन शिक्षा है।

वेदान्त धर्म के युक्ति-सम्मत होने को प्रमाणित करने में आपने जो यत्न किया है उसके लिए आपको हार्दिक धन्यवाद देते समय हमें आपके उस महान् संकल्प पर विचार करते हुए बड़ा हर्ष होता है जिसके आधार पर एक कर्मप्रधान मिशन स्थापित होकर उसके अनेकानेक केन्द्रों द्वारा हमारे प्राचीन हिन्दू धर्म तथा हिन्दू दर्शन का प्रचार होगा। आप जिन प्राचीन आचार्यों के पवित्र मार्ग का अनुसरण कर रहे हैं, एवं जिस महान् आचार्य ने आपके जीवन में शक्ति संचार कर उसके उद्देश्यों को नियमित किया है, वे जिस उच्च भाव से अनुप्राणित हुए थे उसी से अनुप्राणित होकर ही आपने इस महान् कार्य में अपनी सारी शक्ति नियुक्त करने का संकल्प किया है। हम इस बात के प्रार्थी हैं कि ईश्वर हमें वह सुअवसर दे जिससे कि हम आपके साथ आपके इस पुण्य कार्य में सहयोग दे सकें। साथ ही हम उस सर्वशक्तिमान दयालु परम पिता परमेश्वर से करबद्ध होकर यह भी प्रार्थना करते हैं कि वह आपको चिरंजीवी करे, शक्तिशाली बनाए तथा आपके प्रयत्नों को वह गौरव तथा सफलता प्रदान करे जो सनातन सत्य के ललाट पर सदैव अंकित रहती है।

इसके बाद खेत्री के महाराजा ने भी निम्नलिखित सम्मान-पत्र पढ़ा:—

पूज्यपाद स्वामीजी,

इस अवसर पर जब कि आप मद्रास पधारे हैं मैं यथाशक्ति शीघ्राति-शीघ्र आपकी सेवा में उपस्थित होकर विदेश से आपके कुशलपूर्वक वापस लौट आने पर अपनी हार्दिक प्रसन्नता प्रकट करता हूँ तथा पाश्चात्य देशों में आपके निःस्वार्थ प्रयत्नों को जो सफलता प्राप्त हुई है उस पर आपको हार्दिक बधाई देता हूँ। हम जानते हैं कि ये पाश्चात्य देश वे ही हैं जिनके विद्वानों का यह दावा है कि 'यदि किसी क्षेत्र में विज्ञान ने अपना अधिकार जमा लिया, तो

फिर धर्म की मजाल भी नहीं है कि वह वहाँ अपना पैर रख सके', यद्यपि सच बात तो यह है कि विज्ञान ने स्वयं अपने को कभी भी सच्चे धर्म का विरोधी नहीं ठहराया। हमारा यह पवित्र आर्यावर्त देश इस बात में विशेष भाग्यशाली है कि शिकागो के धर्म-परिषद में प्रतिनिधि के रूप में जाने के लिए उसे आप जैसा एक महापुरुष मिल सका और, स्वामीजी, यह केवल आपकी ही विद्वत्ता तथा अदम्य उत्साह का फल है कि आज पाश्चात्य देश वाले भी यह बात भलीभाँति जान गए कि आज भी भारत के पास आध्यात्मिकता की कैसी असीम निधि है।

आपके प्रयत्नों के फलस्वरूप आज यह बात पूर्ण रूप से सिद्ध हो गई है कि संसार के अनेकानेक मतमतान्तरों के विरोधाभास का सामञ्जस्य वेदान्त के सार्वभौमिक प्रकाश में हो सकता है। और संसार के लोगों को यह बात भलीभाँति समझ लेने तथा इस महान् सत्य को कार्यान्वित करने की आवश्यकता है कि विश्व के विकास में प्रकृति का सदैव ही नियम रहा है 'अनेकता में एकता'। साथ ही विभिन्न धर्मों में समन्वय, बन्धुत्व तथा पारस्परिक सहानुभूति एवं सहायता द्वारा ही यह सम्भव है कि मनुष्यजाति का जीवनव्रत उद्यापित एवं चरमोद्देश्य सिद्ध हो सकता है। आपके महान् तथा पवित्र नेतृत्व में तथा आपकी श्रेष्ठ शिक्षाओं के स्फूर्तिदायक प्रभाव के आधार पर हम आधुनिक युग वालों को इस बात का सौभाग्य प्राप्त हुआ है कि हम अपनी ही आँखों के सामने संसार के इतिहास में एक उस युग का प्रादुर्भाव देख सकेंगे जिसमें तआस्सुब, घृणा तथा संघर्ष का नाश होकर, हमें आशा है, शान्ति, सहानुभूति तथा प्रेम का साम्राज्य होगा। और मैं अपनी प्रजा के साथ ईश्वर से यह प्रार्थना करता हूँ कि उसकी कृपा आप पर सदैव बनी रहे तथा आपके प्रयत्नों को वह फलान्वित करे।

जब यह सम्मान-पत्र पढ़ा जा चुका तो स्वामीजी सभामण्डप से उठ गए और एक गाड़ी में चढ़ गए जो उन्हीं के लिए खड़ी थी। स्वामीजी के

स्वागत के लिए आई हुई जनता की भीड़ इतनी जबरदस्त थी तथा उनमें ऐसा जोश समाया था कि उस अवसर पर तो स्वामीजी केवल निम्नलिखित संक्षिप्त उत्तर ही दे सके; अपना पूर्ण उत्तर उन्होंने किसी दूसरे अवसर के लिए स्थगित रखा।

स्वामीजी का उत्तर

बन्धुओ, मनुष्य की इच्छा एक होती है परन्तु ईश्वर की दूसरी। विचार यह था कि आपके सम्मान-पत्र का पाठ तथा मेरा उत्तर ठीक अंग्रेजी शैली पर हो; परन्तु देखिए यहीं पर ईश्वरेच्छा दूसरी प्रतीत होती है—मुझे इतने बड़े जनसमूह से 'रथ' में चढ़कर गीता के ढंग से बोलना पड़ रहा है। अच्छा ही है कि ऐसा हुआ। इससे भाषण में स्वाभाविकतः ओज आ जाता है तथा जो कुछ मैं आप लोगों से कहूँगा उसमें एक प्रकार की शक्ति संचारित हो जाएगी। मैं कह नहीं सकता कि मेरी आवाज़ आप सब तक पहुँच सकेगी या नहीं, परन्तु मैं यत्न पूरा करूँगा। इसके पहले शायद खुले मैदान में इस प्रकार जनसमूह को भाषण देने का अवसर मुझे कभी नहीं आया था। जिस अपूर्व स्नेह तथा उल्लास से आप सभों ने मेरा कोलम्बो से लेकर मद्रास पर्यन्त स्वागत किया है तथा जैसा मेरा अनुमान है शायद आप लोग, भारतवर्ष में जहाँ जहाँ मैं जाऊँगा, बिना किए न रहेंगे, उसकी मुझे स्वप्न में भी कल्पना न थी। परन्तु इससे मुझे हर्ष ही होता है और वह इसलिए कि इसके द्वारा मुझे अपना वह कथन प्रत्येक बार सिद्ध होता दिखाई देता है जो मैं कई बार पहले भी कह चुका हूँ: मेरा वह कथन यही रहा है कि प्रत्येक राष्ट्र का एक ध्येय उसके लिए संजीवनीस्वरूप होता है, प्रत्येक राष्ट्र का एक विशेष निर्धारित मार्ग होता है, और भारतवर्ष का विशेषत्व है धर्म। संसार के अन्य देशों में धर्म तो केवल कई बातों में से एक है, असल में वहाँ तो वह एक छोटी सी चीज़ गिना जाता है। उदाहरणार्थ, इङ्गलैण्ड में धर्म

धर्म ही भारत की जीवनी शक्ति है।

राजनीति का केवल एक विशेष अंश है; इंग्लिश चर्च शाही घराने की एक चीज़ है और इसीलिए उनकी चाहे उसमें श्रद्धा-भक्ति हो अथवा नहीं, वे उसके सहायक सदैव बने रहेंगे, क्योंकि वे तो यह समझते हैं कि वह उनकी चीज़ है। और प्रत्येक भद्र पुरुष तथा महिला से यही आशा की जाती है कि वह उसी चर्च का एक सदस्य बनकर रहे, और वही मानो भद्रता का चिह्न है।

इसी प्रकार अन्य देशों में भी एक एक प्रबल जातीय शक्ति होती है; यह शक्ति या तो ज़बरदस्त राजनीति के रूप में दिखाई देती है अथवा किसी वैज्ञानिक या शास्त्रीय खोज के रूप में। इसी प्रकार कहीं या तो यह बड़े फौजी रूप में दिखाई देती है अथवा कहीं वाणिज्य के रूप में। उन्हीं क्षेत्रों में राष्ट्र का केन्द्र होता है; कह सकते हैं कि वहीं राष्ट्र का हृदय स्थित रहता है और इस प्रकार धर्म तो उस राष्ट्र की अन्य बहुत सी चीज़ों में से केवल एक ऊपरी सजावट की सी चीज़ रह जाती है। पर भारतवर्ष में धर्म ही राष्ट्र के हृदय का मर्मस्थल है, इसी को राष्ट्र की रीढ़ कह लीजिए अथवा वह नींव समझिए जिसके ऊपर राष्ट्ररूपी इमारत खड़ी है। इस देश में राजनीति, बल, यहाँ तक कि बुद्धिविकास भी गौण समझे जाते हैं। मैंने यह बात सैकड़ों बार सुनी है कि भारतीय जनता साधारण जानकारी की बातों से भी अभिज्ञ नहीं है और यह बात सचमुच ठीक भी है। इसका एक नमूना मेरे पास यह है कि जब मैं कोलम्बो में उतरा तो मुझे यह पता चला कि वहाँ किसी को भी इस बात का ज्ञान न था कि यूरोप में कैसी राजनीतिक उथलपुथल मची हुई है, वहाँ क्या क्या परिवर्तन हो रहे हैं, मंत्रिमण्डल की कैसी हार हो रही है, आदि आदि। एक भी व्यक्ति को यह ज्ञान न था कि सोशियलिज्म, एनारकिज्म *

* एनारकिज़्म :— किसी विषय में कोई भी शासन के अधीन न रहकर सम्पूर्ण स्वाधीनता का अवलम्बन ही इस सम्प्रदाय का मूल मंत्र है। जिस किसी उपाय से हो, क्षमताशाली सम्प्रदाय का उच्छेद कर आध्यात्मिक, सामाजिक और राजनीतिक सभी विषयों में सबका समान अधिकार लाभ ही इनका लक्ष्य है।

आदि शब्दों का अथवा यूरोप के राजनीतिक वातावरण में अमुक परिवर्तन का क्या अर्थ था। परन्तु दूसरी ओर यदि आप सीलोन के ही लोगों को लीजिए तो वहाँ के प्रत्येक स्त्री-पुरुष तथा बच्चे-बच्चे को मालूम था कि उनके देश में एक भारतीय संन्यासी आया है जो शिकागो के धर्मपरिषद में भाग लेने के लिए भेजा गया था तथा जिसने वहाँ अपने क्षेत्र में सफलता भी प्राप्त की। इससे सिद्ध होता है कि उस देश के लोग, जहाँ तक ऐसी विज्ञप्ति से सम्बन्ध है जो उनके मतलब की है अथवा जिससे उनके दैनिक जीवन का ताल्लुक है उसे वे ज़रूर जानते हैं तथा जानने की इच्छा करते हैं।

राजनीति तथा उस प्रकार की अन्य बातें भारतीय जीवन के अत्यावश्यक विषय कभी नहीं रहे हैं। परन्तु धर्म एवं आध्यात्मिकता ही एक ऐसा मुख्य आधार रहे हैं जिसके ऊपर भारतीय जीवन निर्भर रहा है तथा फला-फूला है और इतना ही नहीं, भविष्य में भी इसे इसी पर निर्भर रहना है।

संसार के राष्ट्रों के सम्मुख सदैव दो ही बड़ी समस्याएँ हैं, इसमें से भारतवर्ष ने सदैव एक समस्या को मुख्य माना है तथा अन्य सारे दूसरे राष्ट्रों ने दूसरी को। वह समस्या यह है: भविष्य में कौन टिक सकेगा; क्या कारण है कि एक राष्ट्र जीवित रहता है तथा दूसरा नष्ट हो जाता है; जीवनसंग्राम में घृणा टिक सकती है अथवा प्रेम, भोगविलास चिरस्थायी है अथवा त्याग, भौतिकता टिक सकती है या आध्यात्मिकता? हमारी विचारधारा उसी प्रकार की है जैसी हमारे पूर्वजों की प्राचीन काल में थी। जिस अन्धकारमय प्राचीन काल तक किम्वदन्तियाँ भी पहुँच नहीं सकतीं उसी समय हमारे यशस्वी पूर्वजों ने अपनी समस्या को उठा लिया और संसार को चुनौती दे दी। हमारी समस्या को हल करने का रास्ता है वैराग्य, त्याग, निर्भीकता तथा प्रेम। बस ये ही सब टिकने योग्य हैं। जो राष्ट्र इन्द्रियों में आसक्ति का त्याग कर देता है वही टिक सकता है। और इसका प्रमाण यह है कि आज हमें इतिहास इस बात

त्याग या भोग।

की गवाही दे रहा है कि प्रत्येक सदी में कितने ही छोटे छोटे नए राष्ट्र कीड़े-मकोड़ों की तरह पैदा हुए और नष्ट हो गए। बस ऐसे ही वे पैदा हो गए, कुछ दिन तक उत्पात किया और फिर विलीन हो गए। परन्तु यह भारतवर्ष का महान् राष्ट्र जिसको अनेकानेक ऐसे दुर्भाग्यों, खतरों तथा संकटों के बीच होकर गुजरना पड़ा जैसा कि संसार के अन्य किसी राष्ट्र को नहीं हुआ, आज भी कायम है, टिका हुआ है, और इसका कारण है सिर्फ वैराग्य तथा त्याग; क्योंकि यह स्पष्ट ही है कि विना त्याग के धर्म रह ही नहीं सकता।

प्रतिस्पर्धा तथा वर्णाश्रम धर्म।

इसके विपरीत यूरोप सदैव एक दूसरी ही समस्या के सुलझाने में लगा रहा है। उसकी समस्या यह है कि एक आदमी अधिक से अधिक कितनी सम्पत्ति इकट्ठा कर सकता है; वह कितनी शक्ति जुटा सकता है, भले ही वह ईमानदारी से हो या वेइमानी से, नेकनामी से या वदनामी से। यूरोप का नियम रहा है प्रतिस्पर्धा, निर्दयता तथा शुष्कहृदयता। पर हमारा नियम रहा है वर्ण-विभाग, प्रतिस्पर्धा का नाश, द्वेषभाव की सत्ता को रोकना, इसके अत्याचारों को रौंद डालना तथा इस रहस्यमय जीवन में मानवी आत्मा का पथ शुद्ध एवं सरल बना देना।

स्वामीजी का भाषण इस प्रकार हो ही रहा था कि इस अवसर पर जनता की ऐसी भीड़ उमड़ी कि उनका भाषण सुनना कठिन हो गया। इसलिए स्वामीजी ने यह कहकर ही संक्षेप में अपना भाषण समाप्त कर दिया।

स्थायी उत्साह की आवश्यकता।

"मित्रो, मैं तुम्हारा जोश देखकर बहुत प्रसन्न हूँ, यह परम प्रशंसनीय है। यह मत सोचना कि मैं तुम्हारे इस भाव को देखकर नाराज़ हूँ, मैं तो वल्कि खुश हूँ, बहुत खुश हूँ—बस ऐसा ही अदम्य उत्साह चाहिए, ऐसा ही जोश हो। सिर्फ इतना ही है कि इसे चिरस्थायी रखना — इसे बनाए रखना। इस भड़कती हुई आग को बुझ मत जाने देना। हमें भारतवर्ष में

बहुत बड़े बड़े कार्य करने हैं। उसके लिए मुझे तुम्हारी सहायता की आवश्यकता है — ठीक है, ऐसा ही जोश चाहिए। अच्छा, अब इस सभा को जारी रखना असम्भव प्रतीत होता है। तुम सभों का सदय व्यवहार तथा जोशीले स्वागत के लिए मैं तुम्हें अनेक धन्यवाद देता हूँ — किसी दूसरे मौके पर शान्ति में हम तुम फिर कुछ और बातचीत तथा भावविनिमय करेंगे — मित्रो, अभी के लिए नमस्ते।

"चूँकि तुम लोगों की भीड़ चारों ओर है और चारों ओर घूम घूमकर व्याख्यान देना असम्भव है इसलिए इस समय तुम लोग केवल मुझे देखकर ही संतुष्ट हो जाओ। अपना विस्तृत व्याख्यान मैं फिर किसी दूसरे अवसर पर दूँगा। आप सभों के उत्साहपूर्ण स्वागत के लिए पुनः धन्यवाद।"

---

११ : मेरी समर-नीति

(मद्रास के विक्टोरिया हॉल में दिया हुआ भाषण।)

उस दिन अधिक भीड़ के कारण मैं व्याख्यान समाप्त नहीं कर सका था। अस्तु, मद्रास-निवासियों ने मेरे प्रति जो सदय व्यवहार किया है उसके लिए आज उन्हें मैं धन्यवाद देता हूँ। मैं नहीं जानता कि अभिनन्दन-पत्रों में मेरे लिए जो सुन्दर सुन्दर विशेषण प्रयुक्त हुए हैं उनके लिए मैं किस प्रकार अपनी कृतज्ञता प्रकाश करूँ। अतः मैं उस प्रभु की ही प्रार्थना करता हूँ जिससे वह मुझे इन प्रशंसाओं के योग्य बना दे और इस योग्य भी बना दे कि मैं अपना सारा जीवन अपने धर्म और मातृभूमि की सेवा में अर्पण कर सकूँ।

मेरा 'सन्देश'-वहन।

मैं समझता हूँ कि मुझमें अनेक दोषों के होते हुए भी थोड़ा साहस है। मैं भारतवर्ष से पाश्चात्य देशों में कुछ सन्देश ले गया था और उसे मैंने निर्भीकता से अमेरिका और इङ्गलैण्ड वासियों के सामने प्रकट किया। आज का विषय आरम्भ करने के पहले मैं साहसपूर्वक कुछ शब्द आप लोगों के सम्मुख भी निवेदन कर देना चाहता हूँ। मेरे चारों ओर कुछ ऐसी अवस्थायें उपस्थित होती रही हैं, जो मेरे कार्य की उन्नति में बाधायें उपस्थित करती हुई यदि सम्भव हो सके तो मुझे एकबारगी कुचलकर मेरा अस्तित्व ही नष्ट कर देना चाहती हैं। ऐसी चेष्टायें सदा ही असफल होती हैं, अतः वे भी सफल न हो सकीं। गत तीन वर्षों में मेरे और मेरे कार्यों के सम्बन्ध में कुछ लोगों ने अनेक भ्रमात्मक बातें कही हैं; जब तक मैं विदेश में था, मैं चुप रहा; मैंने एक शब्द भी उस सम्बन्ध में नहीं कहा। पर आज जब मैं अपनी मातृभूमि में खड़ा हूँ, मैं उन भ्रामक बातों को स्पष्ट करने के लिए कुछ

निवेदन करना आवश्यक समझता हूँ। इन शब्दों का क्या फल होगा अथवा ये शब्द आप लोगों के हृदय में किन किन बातों का उद्रेक करेंगे, इसकी मैं कुछ परवा नहीं करता। कारण कि मैं वही संन्यासी हूँ जिसने लगभग चार वर्ष पहले अपने दण्ड और कमण्डल के साथ संन्यासी के वेष में नगर में प्रवेश किया था और वही सारी दुनिया इस समय भी मेरे सामने है।

अब और भूमिका की आवश्यकता नहीं है, मैं अपने विषय को आरम्भ करता हूँ। सबसे पहले मुझे थियासोफिकल सोसायटी के सम्बन्ध में कुछ कहना है। अवश्य ही उक्त सोसायटी से भारत का कुछ भला हुआ है। अतः प्रत्येक हिन्दू उक्त सोसायटी और खासकर श्रीमती बेसेंट का कृतज्ञ है।

थियासोफिकल सोसायटी।

यद्यपि मैं श्रीमती बेसेंट के सम्बन्ध में बहुत ही कम जानता हूँ, पर जो कुछ भी मैं उनके बारे में जानता हूँ उसके आधार पर मेरी यह धारणा है कि वे हमारी मातृभूमि की सच्ची हितचिंतक हैं और यथासाध्य उसकी उन्नति की चेष्टा कर रही हैं; इसलिए वे प्रत्येक सच्चे भारत-सन्तान की अत्यन्त कृतज्ञता की अधिकारिणी हैं एवं उन पर तथा उनसे सम्बन्ध रखनेवालों पर ईश्वर के आशीर्वाद की वर्षा हो।

परन्तु यह एक बात है और थियासोफिकल सोसायटी में योगदान देना दूसरी बात। भक्ति, श्रद्धा और प्रेम एक बात है और कोई मनुष्य जो कुछ कहे उसे बिना विचारे, उस पर तर्क बिना किये और बिना उसका विश्लेषण किये उसे निगल लेना सर्वथा दूसरी बात है। एक बात चारों ओर फैल रही है कि अमेरिका और इङ्गलैण्ड में जो कुछ काम मैंने किया है उसमें थियासोफिस्टों ने मेरी सहायता की है। मैं आप लोगों से स्पष्ट शब्दों में कहता हूँ कि इस बात का प्रत्येक शब्द झूठ है। मैं इस जगत् में उदार भाव एवं भिन्न मत वालों के लिए सहानुभूति की बड़ी लम्बी लम्बी बातें सुनता हूँ। बात तो बहुत ठीक है, पर कार्यतः मैं देखता हूँ कि जब तक कोई मनुष्य किसी

दूसरे मनुष्य की सब बातों में विश्वास करता है उस समय तक वह पहले के साथ सहानुभूति रखता है; पर ज्योंही वह किसी विषय में उससे भिन्न विचार रखने का साहस करता है, त्योंही वह सहानुभूति चल देती है और प्रेम गायब हो जाता है।

और कुछ व्यक्ति हैं जिनका खुद एक स्वार्थ है। यदि किसी देश में इस प्रकार का कोई काम हो, जिससे उनके स्वार्थ में कुछ व्याघात होता हो, तो उनके हृदय में इतनी ईर्ष्या और घृणा उत्पन्न हो उठती है कि वे उस समय क्या कर डालेंगे कुछ कहा नहीं जा सकता।

ब्राह्म समाज और मिशनरी।

यदि हिन्दू अपना घर स्वयं साफ करने की चेष्टा करते हैं तो इसमें ईसाई पादरियों की क्या हानि है? यदि हिन्दू प्राणपण से अपना संस्कार करने की चेष्टा करते हैं तो इसमें ब्राह्म समाज और अन्यान्य संस्कारक समाजों की क्या हानि होगी? फिर ये लोग हिन्दुओं के संस्कार के विरोध में क्यों खड़े होते हैं? ये लोग इस आन्दोलन के प्रबलतम शत्रु क्यों हो रहे हैं? क्यों यह सब हो रहा है, मैं यही प्रश्न करता हूँ। मैं समझता हूँ कि उनकी घृणा और ईर्ष्या का परिमाण इतना अधिक है कि इस विषय में उनसे किसी प्रकार का प्रश्न करना सर्वथा निरर्थक है।

अब मैं पहले थियासोफिष्टों के बारे में कहूँगा। आज से चार वर्ष पहले मैं अकेला, दरिद्र और अपरिचित संन्यासी के रूप में, जिसका कोई बन्धु-बान्धव नहीं था, सात समुद्र पार अमेरिका जा रहा था, जहाँ मेरा किसी एक आदमी से भी परिचय न था; उस समय मैं उक्त सोसायटी के नेता के पास गया। स्वभावतः मैंने सोचा कि ये अमेरिकावासी और भारत-भक्त हैं इसलिए सम्भवतः अमेरिकावासी किसी सज्जन के नाम मुझे एक परिचय-पत्र देंगे। किन्तु जब मैंने उनके पास जाकर इस प्रकार के परिचय-पत्र देने की प्रार्थना की तो उन्होंने पूछा कि "क्या आप मेरी सोसायटी के सदस्य बनेंगे?" मैंने जवाब दिया कि "मैं किस प्रकार आपकी सोसायटी का सदस्य हो सकता

थियासोफिकल सोसायटी।

हूँ, क्योंकि, मैं आपसे कई धार्मिक विषयों में मतभेद रखता हूँ।" उन्होंने कहा "तब जाइये, मैं आपके लिए कुछ भी नहीं कर सकता।" यदि मेरे कोई थियासोफिष्ट मित्र यहाँ मौजूद हों तो उनसे मैं पूछता हूँ कि क्या यही मेरा रास्ता बनाना था? जैसा आपको ज्ञात ही है, मैं अपने कतिपय मद्रासी मित्रों की सहायता से अमेरिका पहुँच गया। उन मित्रों में से अनेक तो यहाँ पर उपस्थित ही हैं, केवल न्यायमूर्ति सुब्रह्मण्य अय्यर ही अनुपस्थित हैं, मैं उक्त सज्जन के प्रति इस स्थान पर अपनी अत्यन्त कृतज्ञता प्रकाशित करता हूँ। उनमें प्रतिभाशाली पुरुष की अन्तर्दृष्टि विद्यमान है। इस जीवन में मेरे सच्चे मित्रों में से एक वे भी हैं, वे ही भारतमाता के सच्चे सपूत हैं। इस भाँति धार्मिक महासभा के कई मास पूर्व मैं अमेरिका पहुँच गया। मेरे पास रुपये भी बहुत कम थे जो शीघ्र ही समाप्त हो गए। अब जाड़ा आया और मेरे पास सिर्फ गरमी के महीन कपड़े थे। उस घोरतर शीतप्रधान देश में मैं क्या करूँ यह मेरी समझ में न आ सका। यदि मैं मार्ग में भीख माँगने लगता तो इसका परिणाम यह होता कि मैं जेल में भेज दिया जाता। उस समय मेरे पास सिर्फ कुछ ही डालर बचे थे, मैंने अपने कई मद्रासवासी मित्रों के पास तार भेजे। यह बात थियासोफिष्टों को मालूम हो गई और उनमें से एक ने लिखा कि "शैतान शीघ्र ही मर जायगा, ईश्वर की इच्छा से अच्छा ही हुआ।" क्या यही मेरे लिए रास्ता बना देना था? मैं इन बातों को इस समय कहना नहीं चाहता था किन्तु हमारे स्वदेशवासी इनको जानने के इच्छुक थे, अतः ये कही गई हैं। मैंने पिछले तीन वर्षों में इन बातों के सम्बन्ध में एक शब्द भी अपने मुँह से नहीं कहा; चुपचाप रहना ही मेरा मूलमंत्र था, किन्तु आज ये बातें मुँह से निकल पड़ीं। इतना ही बस नहीं है। मैंने धार्मिक महासभा में कितने ही थियासोफिष्टों को देखा, मैं उनसे बात करने और मिलने की चेष्टा करता रहा। मेरी नज़रों पर उनके अवज्ञायुक्त चेहरे

आज भी नाच रहे हैं। मानो वे कहते थे कि 'एक क्षुद्र कीड़े को देवताओं के बीच में आने का क्या प्रयोजन?' क्या यही मेरे लिए रास्ता बना देना था? धार्मिक महासभा में मेरा नाम और यश हो जाने पर मेरे लिए भयानक कार्यों का सूत्रपात हुआ, तथा प्रत्येक स्थान पर इन लोगों ने मुझे दबाने की चेष्टा की। थियासोफिकल सोसायटी के सदस्यों को मेरे व्याख्यान सुनने की मनाही कर दी गई, क्योंकि यदि वे मेरी वक्तृता सुनेंगे तो सोसायटी पर से उनकी सारी निष्ठा जाती रहेगी। इस सोसायटी के गुप्त विभाग (Esoteric) का यह नियम ही है कि जो मनुष्य उक्त विभाग का सदस्य होता है उसे कुथमी और मोरिया अथवा उनके प्रत्यक्ष प्रतिनिधि मिस्टर जज और श्रीमती बेसेन्ट से ही शिक्षा ग्रहण करनी पड़ती है। अतः उक्त विभाग के सदस्य होने का यह अर्थ है कि मनुष्य, अपनी स्वाधीन चिन्ता बिल्कुल छोड़कर पूर्ण रूप से इन लोगों के हाथ में आत्मसमर्पण कर दे। निश्चय ही मैं ये सब बातें नहीं कर सकता था और जो मनुष्य ऐसा करे उसे मैं हिन्दू कह भी नहीं सकता। मेरे हृदय में मिस्टर जज के लिए बड़ी श्रद्धा है। वे गुणवान, उदार, सरल और थियासोफिस्टों के योग्यतम प्रतिनिधि थे। उनमें और श्रीमती बेसेन्ट में जो विरोध हुआ था उसके सम्बन्ध में कुछ भी राय देने का मुझे अधिकार नहीं है, क्योंकि दोनों ही अपने अपने 'महात्मा' को सत्य कहने का दावा करते हैं। आश्चर्य का विषय तो यह है कि दोनों ही एक ही 'महात्मा' का दावा करते हैं; ईश्वर जाने सत्य कौन है। वही विचार करने वाला है। और जब दोनों पक्ष में प्रमाण की मात्रा बराबर है तब ऐसी अवस्था में किसी भी पक्ष में अपनी राय प्रकट करने का किसी को अधिकार नहीं है।

इस प्रकार समस्त अमेरिका में उन लोगों ने मेरे लिए मार्ग बनाया! इतना ही नहीं, वे दूसरे विरोधी पक्ष — ईसाई मिशनरियों — से जा मिले। इन ईसाई मिशनरियों ने ऐसे ऐसे भयानक झूठ मेरे विरुद्ध गढ़े, जिनकी कल्पना भी नहीं की जा सकती। यद्यपि मैं अकेला और मित्रहीन था तथापि

उन्होंने प्रत्येक स्थान में मेरे चरित्र पर दोषारोपण किया। उन्होंने मुझे प्रत्येक मकान से निकालने और जो मेरा मित्र बनता उसे मेरा शत्रु बनाने की चेष्टा की। उन्होंने मुझे भूखे मार डालने का प्रयत्न किया। मुझे यह कहते दुःख होता है कि इस काम में मेरे एक भारतवासी बन्धु का भी हाथ था। वे भारतवर्ष में संस्कारक दल के नेता हैं। ये सज्जन प्रति दिन घोषित करते हैं कि ईसु भारतवर्ष में आवेंगे। क्या इसी प्रकार से ईसु भारतवर्ष में आवेंगे? क्या इसी प्रकार से भारतवर्ष का संस्कार होगा? इन सज्जन को मैं अपने बचपन से ही जानता था, ये मेरे परम मित्र भी थे, जब मैं उनसे मिला तो मैं बड़ा ही प्रसन्न हुआ, क्योंकि मैंने बहुत दिनों से किसी भारतवासी को नहीं देखा था। पर उन्होंने मेरे प्रति ऐसा व्यवहार किया! जिस दिन धर्मसभा ने मुझे सम्मानित किया, जिस दिन शिकागो में मैं लोकप्रिय हुआ, उसी दिन से उनका स्वर बदल गया और मुझे नुकसान पहुँचाने के लिए छिपे छिपे जो कुछ वे कर सकते थे, उन्होंने करने में कुछ उठा नहीं रखा। मैं पूछता हूँ, क्या इसी तरह ईसु भारतवर्ष में आवेंगे? क्या बीस वर्ष ईसु की उपासना कर उन्होंने यही शिक्षा पाई है? हमारे ये बड़े बड़े संस्कारक कहते हैं कि ईसाई धर्म और ईसाई भारतवासियों को उन्नत बनाने का प्रयत्न कर रहे हैं। क्या वह इसी प्रकार होगा? अवश्य ही यदि उक्त सज्जन का उदाहरण लिया जाय तो स्थिति आशाजनक नहीं प्रतीत होती।

अमेरिका में मेरे विरोधी दल के साथ अपने एक स्वदेशवासी का मिलन।

एक बात और, मैंने समाज-संस्कारकों के मुख्य पत्र में पढ़ा था कि मैं शूद्र हूँ और मुझसे पूछा गया था कि एक शूद्र को संन्यासी होने का क्या अधिकार है? मैं यहाँ पर उसका जवाब देता हूँ। मैं उस महापुरुष का वंशधर हूँ जिसके चरणकमलों पर प्रत्येक ब्राह्मण पुष्पाञ्जलि चढ़ाकर यह मंत्र उच्चारण करता है "यमाय

शूद्र और संन्यास।

धर्मराजाय चित्रगुप्ताय वै नमः"। उसीके वंशज सबसे शुद्ध क्षत्रिय हैं। यदि अपने पुराणों पर विश्वास हो तो इन समाजसंस्कारकों को जान लेना चाहिये कि मेरी जाति ने और दूसरी सेवाओं के अतिरिक्त, पहले जमाने में कई शताब्दी तक आधे भारतवर्ष का शासन किया था। यदि मेरी जाति की गणना छोड़ दी जाय तो भारत की वर्तमान सभ्यता का क्या शेष रहेगा? केवल बंगाल में ही मेरी जाति में सबसे बड़े दार्शनिक, सबसे बड़े कवि, सबसे बड़े इतिहासज्ञ, सबसे बड़े पुरातत्ववेत्ता और सबसे बड़े धर्मप्रचारक उत्पन्न हुये हैं। मेरी ही जाति ने वर्तमान समय के सबसे बड़े वैज्ञानिकों से भारतवर्ष को विभूषित किया है। इन निन्दकों को थोड़ा अपने देश के इतिहास का तो ज्ञान प्राप्त करना था और ब्राह्मण, क्षत्रिय तथा वैश्य इन तीनों वर्णों का भी अध्ययन करना था तब वे जान जाते कि तीनों ही वर्णों को संन्यासी होने और वेद का अध्ययन करने का समान अधिकार है। ये बातें मैंने केवल प्रसङ्गवश कही हैं। मैंने पूर्वोक्त श्लोक को केवल उद्धृत किया है पर जब वे मुझे शूद्र कहते हैं तो मुझे कुछ भी दुःख नहीं होता। हमारे पूर्व पुरुषों ने गरीब आदमियों पर जो अत्याचार किया था इससे उसका कुछ परिशोध हो जायगा। यदि मैं अत्यन्त नीच चाण्डाल होता तो मुझे और भी आनन्द आता, क्योंकि मैं उस महापुरुष का शिष्य हूँ जिसने सर्वश्रेष्ठ ब्राह्मण होते हुये भी एक चाण्डाल के घर को साफ करने की अपनी इच्छा प्रकट की थी। अवश्य ही

ब्राह्मण संन्यासी और चाण्डाल।

वह चाण्डाल उनसे ऐसा नहीं करा सकता था। वह एक ब्राह्मण संन्यासी से अपना घर कैसे साफ कराता? अस्तु, एक दिन आधी रात को उठकर गुप्त रूप से उन्होंने उस चाण्डाल के घर में प्रवेश किया और उसका पैखाना साफ कर दिया तथा अपने लम्बे लम्बे बालों से उस स्थान को पोंछा, और यह काम वे बराबर कई दिनों तक करते रहे जिससे कि वे अपने को सबका दास बना सकें। मैंने उस महापुरुष के श्रीचरण-कमलों को अपने मस्तक पर धारण किया है।

वे ही मेरे आदर्श हैं, उन्हीं आदर्श पुरुष का मैं अनुकरण करने की चेष्टा करूँगा। सबका सेवक बनकर ही एक हिन्दू अपने को उन्नत करने की चेष्टा करता है, उसे इसी प्रकार, न कि विदेशी प्रभाव की सहायता से सर्वसाधारण को उन्नत करना चाहिये। बीस वर्ष की पश्चिमी सभ्यता मेरे मन में उस मनुष्य का दृष्टान्त उपस्थित कर देती है जो विदेश में अपने मित्र को भूखा मार डालना चाहता है। इसका कारण केवल यही है कि उसका मित्र लोकप्रिय हो गया और उसके विचार में वह मित्र उसके धनोपार्जन में बाधक होता है। विशुद्ध और कट्टर हिन्दू धर्म स्वतः किस रूप से अपने घर में काम करेगा, इसका उदाहरण दूसरा दृष्टान्त है। हमारे इन समाजसंस्कारकों में से कोई चाण्डाल की भी सेवा के लिए तत्पर रहनेवाला जीवन बिताकर दिखाये तब हम उसके चरणों की सेवा कर उससे शिक्षा ग्रहण कर सकते हैं, अन्यथा नहीं। बड़ी बड़ी लम्बी बातों के बनिस्बत कुछ कर दिखाना अधिक अच्छा है।

सच्चा हिन्दू तथा संस्कारक।

अब मैं मद्रास की समाजसंस्कारक समितियों के बारे में कुछ कहता हूँ। उन्होंने मेरे साथ बड़ा सदय व्यवहार किया है। उन्होंने मेरे लिए अनेक मधुर शब्दों का प्रयोग किया है और मुझे बताया है कि मद्रास और बंगाल के समाजसंस्कारकों में बड़ा अन्तर है, मैं इस सम्मति से सहमत भी हूँ। आप लोगों में से बहुतों को याद होगा जो मैंने अक्सर आप लोगों से कहा है कि मद्रास इस समय बड़ी अच्छी अवस्था में है। बंगाल में जैसी क्रिया प्रतिक्रिया चल रही है वैसी मद्रास में नहीं है। यहाँ पर धीरे धीरे स्थायी रूप से सब विषयों में उन्नति हो रही है, यहाँ पर विकास ही है, किसी प्रकार की प्रतिक्रिया नहीं। बंगाल में कहीं कहीं कुछ कुछ पुनरुत्थान हुआ है, पर मद्रास में यह पुनरुत्थान नहीं है, यह है समाज की स्वाभाविक उन्नति। अतएव दोनों जातियों की विभिन्नता के सम्बन्ध में समाजसंस्कारक

मद्रास का संस्कार-समिति-समूह।

जो कुछ कहते हैं उससे मैं सर्वथा सहमत हूँ, परन्तु एक विभिन्नता और है जिसे वे नहीं समझते। इन संस्थाओं में से कुछ मुझे डराकर अपना सदस्य बनाना चाहती हैं। परन्तु ऐसा कर लेना उनके लिए आश्चर्यजनक बात है। जिस मनुष्य ने अपने जीवन के चौदह वर्षों में फाकाकशी का मुकाबिला किया हो, जिसे यह भी न मालूम रहा हो कि दूसरे दिन भोजन और सोने का स्थान कहाँ मिलेगा, वह इतनी सरलता से धमकाया नहीं जा सकता। जो मनुष्य बिना कपड़े और बिना यह जाने कि दूसरे समय भोजन कहाँ से मिलेगा उस स्थान पर रहा हो जहाँ का तापमान शून्य से भी तीस डिग्री कम हो, वह भारतवर्ष में इतनी सरलता से नहीं डराया जा सकता। यह पहली बात है, जो मैं उनसे कहूँगा,—मुझमें एक अपनी दृढ़ता है, मेरा थोड़ा निज का अनुभव भी है, मुझे संसार को कुछ सन्देश भी देना है जिसे मैं बिना किसी डर और भविष्य की चिन्ता के घोषित करूँगा।

समाजसंस्कारकों से मैं कहूँगा कि मैं स्वयं उनसे कहीं बढ़कर समाज-संस्कारक हूँ। वे छोटे टुकड़ों का सुधार करना चाहते हैं और मैं जड़, पत्ते सभी का सुधार करना चाहता हूँ। हम लोगों का मतभेद केवल कार्य-प्रणाली में है। उनकी प्रणाली विनाशात्मक है और मेरी संगठनात्मक। मैं सुधार में विश्वास नहीं करता, मैं विश्वास करता हूँ स्वाभाविक उन्नति में। मैं अपने को ईश्वर के स्थान पर प्रतिष्ठित कर अपने समाज के लोगों के सिर पर यह उपदेश "तुम्हें इस भाँति चलना होगा, दूसरे प्रकार नहीं"—मढ़ने का साहस नहीं कर सकता। मैं तो सिर्फ उस गिलहरी की भाँति होना चाहता हूँ जो श्रीरामचन्द्रजी के पुल बनने के समय थोड़ा बालू देकर—अपना भाग पूरा कर सन्तुष्ट हो गई थी। यही मेरा भी भाव है। यह अद्भुत जातीय यंत्र बहुत दिनों से कार्य कर रहा है, यह जातीय जीवन का अद्भुत प्रवाह हम लोगों के सम्मुख बह रहा है। कौन जानता है और कौन साहस-

मेरी संस्कार-प्रणाली—विनाश नहीं, संगठन।

पूर्वक कह सकता है कि यह भला है या बुरा और यह किस प्रकार चलेगा? हजारों घटनाचक्र उसके चारों ओर उपस्थित होकर उसे एक खास प्रकार की स्फूर्ति देकर कभी गति को मन्द और कभी उसे तीव्र कर देते हैं। उसके वेग को नियमित करने का कौन साहस कर सकता है? हमारा काम तो फल की ओर दृष्टि न रख केवल काम करते रहना है, जैसा कि गीता में भी कहा है। जातीय जीवन को जिस ईंधन की जरूरत है उसे देते जाओ, वह अपने ढंग से उन्नति करता जायेगा, कोई उसकी उन्नति का मार्ग निर्दिष्ट नहीं कर सकता।

प्राच्य और पाश्चात्य दोनों ही समाज में दोष-गुण विद्यमान हैं।

हमारे समाज में बहुत सी बुराइयाँ हैं पर ऐसी बुराइयाँ प्रत्येक समाज में हैं। यहाँ की भूमि विधवाओं के आँसू से कभी कभी तर होती है और पाश्चात्य देश का वायुमण्डल अविवाहितों की आहों से भरा रहता है। यहाँ का जीवन दरिद्रता के दुःख से दुःखित है और वहाँ पर विलासिता के विष से लोग जीवन्मृत हो रहे हैं। यहाँ पर लोग इसलिए आत्महत्या करना चाहते हैं कि उनके पास कुछ खाने को नहीं है और वहाँ खाद्य की अधिकता के कारण लोग आत्महत्या करते हैं। बुराइयाँ सभी जगह हैं। ये पुराने वात-रोग की भाँति हैं। यदि इसे पैर से हटाओ तो वह सिर पर चला जाता है। वहाँ से हटाने पर वह दूसरी जगह भाग जाता है। वह केवल एक जगह से दूसरी जगह भगाया ही जा सकता है। ऐ बालको, रोग की जड़ ही साफ कर देना ठीक उपाय है। हमारे दर्शन-शास्त्रों में लिखा है कि अच्छे और बुरे का नित्य सम्बन्ध है। वे एक ही चीज़ के दो पहलू हैं। यदि तुम्हारे पास एक है तो दूसरा अवश्य रहेगा। जब समुद्र में एक स्थान पर लहर उठती है तो दूसरे स्थान पर गढ़ा होना अनिवार्य है।

शुभाशुभ नित्य-संयुक्त हैं।

नहीं, जीवन ही दुःखमय है। एक सांस भी बिना किसी को मारे नहीं ली जा

सकती। बिना किसी का भोजन छीने हम एक कौर भी स्वयं नहीं खा सकते। यही प्रकृति का नियम है और यही दार्शनिक सिद्धान्त है।

सामाजिक व्याधि के प्रतिकार का उपाय–शिक्षा, बलपूर्वक संस्कार-चेष्टा नहीं।

अतः हमें समझ लेना चाहिये कि इन सब बुराइयों का परिशोध बाहरी उपायों द्वारा नहीं, भीतरी उपायों द्वारा होगा। चाहे हम कितना ही क्यों न कहें, इन बुराइयों का नाश करना प्रत्यक्ष रूप का काम नहीं है; वे शिक्षा द्वारा ही अप्रत्यक्ष रूप से नष्ट की जा सकती हैं। समाज से बुराई हटाने के समय सब से पहले इस बात को समझना होगा और इस बात को समझकर अपने मन को शान्त करना होगा और अपने खून से जोष को हटा देना होगा। संसार का इतिहास हमें यह बात बताता है कि जहाँ कहीं इस प्रकार की उत्तेजना से समाज का सुधार हुआ है वहाँ केवल यही फल हुआ कि जिस उद्देश्य से वह किया गया उसने उस उद्देश्य को ही विफल कर दिया। दासत्व नष्ट करने वाली अमेरिका की लड़ाई की अपेक्षा, अधिकार और स्वतंत्रता की स्थापना के लिए किसी बड़े सामाजिक आन्दोलन की कल्पना ही नहीं की जा सकती। आप सभी लोग उसे जानते हैं। उसके क्या फल हुये? आजकल के दास इस युद्ध के पूर्व के दासों की अपेक्षा कई हजार गुना अधिक बुरी अवस्था में हैं। इस युद्ध के पूर्व वे निग्रो किसी की सम्पत्ति थे और सम्पत्ति होने के कारण उनकी रक्षा की जाती थी जिसमें वे नष्ट न होने पावें। आज वे किसी की सम्पत्ति नहीं हैं, उनके जीवन का कुछ मूल्य ही नहीं है। मामूली बातों के लिए आज वे जीते-जी जला दिये जाते हैं। वे गोली से मार डाले जाते हैं और उनके हत्यारों के लिए कोई कानून ही नहीं है; क्योंकि वे निग्रो हैं, मानो वे मनुष्य तो क्या पशु भी नहीं हैं! खराबियों को सहसा कानून अथवा प्रबल उत्तेजना में आकर हटाने का यह नतीजा है।

उत्तेजनाजन्य प्रत्येक आन्दोलन के विरुद्ध, चाहे वह भलाई के लिए ही

क्यों न किया गया हो, यह ऐतिहासिक प्रमाण है। मैंने इसे देखा है और मेरे अनुभव ने मुझे यह सिखा दिया है। अतः मैं सबका दोष ही देखने वाली इन संस्थाओं का सदस्य नहीं हो सकता। दोष दिखाने की क्या आवश्यकता है? सभी समाज में तो दोष हैं। यह बात तो सभी जानते हैं। आजकल का बच्चा इसे जानता है। वह सभामञ्च पर खड़ा होकर हमारे सामने हिन्दू धर्म की भयानक बुराइयों का लम्बा लम्बा वर्णन कर सकता है। प्रत्येक अशिक्षित विदेशी, जो पृथ्वी की प्रदक्षिणा करता हुआ भारतवर्ष में पहुँचता है, रेल पर दौड़ता हुआ भारतवर्ष की अवस्था का बहुत ही मामूली ज्ञान प्राप्त कर यहाँ की भयानक बुराइयों तथा अनिष्ट प्रथाओं का बड़ी विद्वत्तापूर्वक वर्णन करता है।

दोष दिखानेवाले अनेक हैं, प्रतिकार करनेवाला कहाँ है?

हम भी मानते हैं कि यहाँ बुराइयाँ हैं। बुराई तो सभी आदमी बता सकते हैं पर मनुष्य-समाज का सच्चा हितैषी वह है जो इन बुराइयों से छूटने का उपाय बताता है। यह तो डूबते हुए लड़के और दार्शनिक की कथा होगी। जब दार्शनिक गम्भीर भाव से उसे उपदेश दे रहा था तो उसने कहा, "पहले मुझे पानी से बाहर निकालिये, फिर उपदेश दीजिये।" इसी भाँति भारतवासी भी कहते हैं कि हम लोगों ने बहुत व्याख्यान सुन लिये, बहुत सी संस्थाएँ देख लीं, बहुत से पत्र पढ़ लिये, हमें बताइये वह मनुष्य कहाँ है जो अपने हाथ का सहारा देकर हमें इन दुःखों के बाहर निकालेगा? वह मनुष्य कहाँ है, जो हमसे वास्तविक प्रेम करता है? वह मनुष्य कहाँ है जो हमसे वास्तविक सहानुभूति रखता है? बस, उसी आदमी की हमें जरूरत है। इन्हीं बातों में मेरा इन समाज-सुधारक-आन्दोलनों से सर्वथा मतभेद है। सौ वर्षों से ये आन्दोलन चल रहे हैं, पर सिवाय निन्दा और विद्वेषपूर्ण साहित्य की रचना के अतिरिक्त इनसे क्या लाभ हुआ है? यदि ईश्वर की इच्छा से ये यहाँ न होते तो बड़ा ही उपकार होता; इन्होंने पुराने समाज की कठोर समालोचना, तीव्र

दोषारोपण और निन्दा की है, इसका फल यह हुआ कि पुराने समाज ने भी अपना स्वर इनके स्वर में मिला दिया और उन अपवादों का उन्हें अच्छा उत्तर दिया। इसके फलस्वरूप प्रत्येक भारतीय भाषा में ऐसे साहित्य की रचना हो गई जो प्रत्येक देश और जाति के लिए कलंकस्वरूप है। क्या यही सुधार है? क्या यही जाति को गौरवशाली बनाएगा? यह किसका दोष है?

इसके बाद एक और भी महत्वपूर्ण विषय विचारणीय है। भारतवर्ष में हमारा शासन सदा ही राजाओं के द्वारा हुआ है, राजाओं ने ही हमारे सब कानून बनाये हैं। अब वे राजा नहीं हैं और कोई इस विषय में अग्रसर होने के लिए मार्ग दिखानेवाला भी नहीं बचा है। गवर्नमेन्ट साहस नहीं कर सकती। गवर्नमेन्ट सर्वसाधारण के विचारों की गति देखकर ही अपनी कार्यप्रणाली निश्चित करती है। अपनी समस्याओं को हल कर लेनेवाली, कल्याणकर, प्रबल सर्वसाधारण की सम्मति स्थिर करने में समय लगेगा और खूब अधिक समय लगेगा, और इस बीच में हमें उसकी प्रतीक्षा करनी होगी। अतः सामाजिक सुधार की सम्पूर्ण समस्या इस भाँति उपस्थित होती है,—वे लोग कहाँ हैं जो सुधार चाहते हैं? पहले उनको प्रस्तुत करो। संस्कार चाहनेवाले लोग कहाँ हैं? कुछ थोड़े से मुट्ठी भर लोगों को कोई विषय बुरा-सा प्रतीत होता है, परन्तु अधिकांश व्यक्तियों को अभी तक वह वैसा नहीं जँचता। अब ये अल्प-संख्य व्यक्ति बाकी सब लोगों पर अपने मतानुसार संस्कार ज़बरदस्ती लादना चाहें तो वह घोर अत्याचार होगा। थोड़े लोग जो विचार करते हैं कि कुछ चीज़ें बुरी हैं, वह समग्र जाति के हृदय को स्पर्श नहीं करता। समग्र जाति अग्रसर क्यों नहीं होती? पहले समग्र जाति को शिक्षित करो, अपनी व्यवस्थापिका संस्थायें बनाओ तो नियम स्वयं ही आ

आज हमारा व्यवस्थाप्रणेता स्वधर्मावलम्बी राजा नहीं है, अब लोक-शक्ति का संगठन आवश्यक है।

जाएँगे। पहले उस शक्ति को उत्पन्न करो, जिससे नियम उत्पन्न होंगे। अब राजा नहीं है। नई शक्ति जिससे नई व्यवस्थायें होंगी वह लोकशक्ति कहाँ है? पहले उसी लोक-शक्ति को संगठित करो। अस्तु, समाज-संस्कार के लिए भी लोगों को शिक्षित करना प्रथम कर्तव्य है। जब तक वह शिक्षा पूर्ण न हो तब तक प्रतीक्षा करनी पड़ेगी।

गत शताब्दी में जिन सब संस्कारों के लिए आन्दोलन हुआ, वे केवल ऊपरी दिखावा मात्र थे। इन संस्कारों में प्रत्येक, प्रथम दो वर्णों से ही सम्बन्ध रखता है, दूसरों से नहीं। विधवा-विवाह के प्रश्न से ७० प्रति सैकड़ा भारतीय रमणियों का कोई सम्बन्ध नहीं है और इन सब आन्दोलनों का सम्बन्ध भारत के उच्च वर्णों से ही है, जो जनसाधारण को वञ्चित कर स्वयं शिक्षित हुए हैं। अपना घर साफ करने के लिए सभी प्रयत्न किये गये, पर यह संस्कार नहीं कहा जा सकता। संस्कार करने में हमें चीज़ के भीतर अर्थात् जड़ तक पहुँचना होगा। इसीको मैं आमूल संस्कार कहता हूँ। जड़ में अग्नि स्थापित करो और उसे क्रमशः ऊपर की ओर बढ़ने दो और एक अखण्ड भारतीय जाति सङ्गठित करने दो।

आमूल संस्कार।

यह समस्या बड़ी और विस्तृत है। अतः इसका हल होना भी उतना सरल नहीं है। गत कई शताब्दियों से यह समस्या हमारे महापुरुषों को ज्ञात थी। आजकल विशेषतः दक्षिण में बौद्ध धर्म और उसके अज्ञेयवाद की आलोचना करने की एक प्रथा सी चल पड़ी है। इसका उन्हें स्वप्न में भी ध्यान नहीं होता कि जो विशेष दोष आजकल हम लोगों में वर्तमान हैं वे बौद्ध धर्म के ही द्वारा हममें छोड़े गये हैं। जिन लोगों ने बौद्ध धर्म की उन्नति और अवनति के इतिहास को कभी नहीं पढ़ा है, उनके द्वारा लिखी गई पुस्तकों में तुम लोगों ने पढ़ा है कि गौतम बुद्ध के द्वारा प्रचारित अपूर्व नीति और उनके लोकोत्तर चरित्र से ही बौद्ध धर्म का इतना विस्तार हुआ। भगवान बुद्धदेव के प्रति मेरी

बौद्ध धर्म।

यथेष्ट श्रद्धा-भक्ति है। पर मेरे शब्दों की ओर विशेष ध्यान दो। बौद्ध धर्म का विस्तार गौतम बुद्ध के मत वा अपूर्व चरित्र के कारण नहीं हुआ; उसके विस्तार के कारण हैं, बौद्धों के द्वारा निर्माण किये गये मन्दिर, प्रतिमायें और समग्र जाति के सम्मुख किये गये भड़कीले उत्सव आदि। इस भाँति बौद्ध धर्म ने उन्नति की। इन सब बड़े बड़े और भड़कीले उत्सवों और मन्दिरों के सामने घरों में हवन के लिए प्रतिष्ठित छोटी छोटी अग्निशालायें न ठहर सकीं, पर अन्त में इन सबकी अवनति हुई। इन सबने वह घृणित भाव धारण किया जिसका वर्णन भी श्रोताओं के सामने नहीं किया जा सकता। जिन लोगों को इनके जानने की इच्छा हो वे दक्षिण भारत के नाना प्रकार की नक्काशियों से युक्त बड़े बड़े मन्दिरों में इन्हें देख सकते हैं।

बौद्धों से हमने दायस्वरूप केवल इन्हें ही पाया है। इसके बाद महान् संस्कारक श्रीशंकराचार्य और उनके अनुयायियों का अभ्युदय हुआ। उस समय से आज तक इन कई सौ वर्षों में भारतवर्ष की सर्वसाधारण जनता को धीरे धीरे उस मौलिक विशुद्ध वेदान्त के धर्म की ओर लाने की चेष्टा की गई है। उन संस्कारकों को बुराइयों का पूरा ज्ञान था पर उन्होंने समाज की निन्दा नहीं की। उन्होंने नहीं कहा कि "जो कुछ तुम्हारे पास है वह सभी गलत है, उसे तुम फेंक दो।" ऐसा कभी नहीं हो सकता। आज मैंने पढ़ा कि मेरे मित्र डाक्टर बरोज़ कहते हैं कि ईसाई धर्म के प्रभाव ने ३०० वर्षों में ग्रीक और रोमन धर्म के प्रभाव को उलट दिया। जिसने कभी यूरोप, ग्रीस और रोम को देखा है वह कभी ऐसा नहीं कह सकता। रोमन और ग्रीक धर्मों का प्रभाव प्रोटेस्टेंट देशों तक में सर्वत्र वर्तमान है। केवल नाम बदलकर प्राचीन देवता नये वेश में वर्तमान हैं। उनका केवल

शंकर, रामानुज आदि प्राचीन आचार्यों की संस्कार-चेष्टा तत्कालीन समाज को धीरे धीरे वेदान्त धर्म के अनुयायी करने की थी।

नाम ही बदला गया है। देवियाँ तो 'मेरी' हो गईं, देवता 'साधु' (Saints) हो गये और अनुष्ठानों ने नया-नया रूप धारण किया।

पांटिफेक्स मैक्सेमस* आदि प्राचीन उपाधियाँ पूर्ववत् ही वर्तमान हैं, इसलिए अचानक परिवर्तन नहीं हो सकते। भगवान शंकराचार्य और रामानुज भी इसे जानते थे। इसलिए उस समय प्रचलित धर्म को उच्चतम आदर्श के निकट पहुँचा देना ही उनके लिए एक उपाय शेष था। यदि वे दूसरी प्रणाली को प्रचलित करने की चेष्टा करते, तो वे कपटी हो जाते, कारण कि उनके धर्म का प्रधान मत था क्रमशः विकासवाद। उनके धर्म का यही मूलतत्व है कि इन सब नाना प्रकार की अवस्थाओं में से होकर आत्मा उच्चतम लक्ष्य पर पहुँचती है। अतः ये सभी अवस्थायें आवश्यक और हमारी सहायक हैं। कौन इनकी निन्दा करने का साहस कर सकता है?

मूर्ति-पूजा को खराब बताने की प्रथा-सी चल पड़ी है और आजकल सब लोग बिना किसी आपत्ति के उसमें विश्वास भी करने लग गये हैं। मैंने भी एक बार ऐसा ही विचारा और उसके दण्डस्वरूप हमें एक ऐसे व्यक्ति के चरणकमलों में बैठकर शिक्षा ग्रहण करनी पड़ी जिसने सब कुछ मूर्ति-पूजा के ही द्वारा प्राप्त किया था। मेरा अभिप्राय भगवान श्रीरामकृष्ण परमहंस से है। यदि मूर्ति-पूजा के द्वारा श्रीरामकृष्ण जैसे व्यक्ति उत्पन्न हो सकते हैं तब आप क्या चाहते हैं—संस्कारकों का धर्म या मूर्ति-पूजा? मैं इस प्रश्न का उत्तर चाहता हूँ। यदि मूर्ति-पूजा के द्वारा श्रीरामकृष्ण परमहंस उत्पन्न हो सकते हैं, तो और हजारों मूर्तियों की पूजा करो और ईश्वर तुम्हें इसमें सिद्धि दे। जिस किसी भी उपाय से हो सके, इस प्रकार के महात्मा पुरुषों की सृष्टि करो। फिर भी मूर्ति-पूजा की निन्दा की जाती है। क्यों? यह कोई नहीं जानता। कारण कि हजारों वर्ष बीते, किसी यहूदी

मूर्ति-पूजा।

---

*रोम में पुरोहित विद्यालय के प्रधानाध्यापक इसी नाम से पुकारे जाते हैं। इसका अर्थ है प्रधान पुरोहित। अभी पोप इसी नाम से पुकारे जाते हैं।

ने इसकी निन्दा की थी! अर्थात् उसने अपनी मूर्ति को छोड़कर और सबकी मूर्तियों की निन्दा की थी! उस यहूदी ने कहा, "यदि ईश्वर का भाव किसी विशेष भाव-प्रकाशक प्रतीक या किसी मूर्ति के द्वारा प्रकाशित किया जाय, तो यह भयानक दोष है, यही पाप है। परन्तु यदि वह एक सन्दूक के दो किनारों पर दो देवदूतों के बीच में बैठा हो और उसके ऊपर बादल हो, ऐसे भाव को प्रकाश करे, तो वह बहुत ही पवित्र होगा। यदि वह पेडुकी का रूप धारण कर आये तो वह महापवित्र होगा; पर यदि वह गाय का रूप धारण कर आये तो वह मूर्ति-पूजकों का कुसंस्कार होगा! उसकी निन्दा करो।"

दुनियाँ का यही भाव है; इसीलिए कवि ने कहा है कि हम मर्त्यजीव कितने निर्बोध हैं। इसलिए परस्पर को परस्पर के दृष्टिकोण से देखना और विचार करना कितना कठिन है और यह मनुष्य-समाज की उन्नति के लिए विघ्नस्वरूप है। यही ईर्ष्या, घृणा और झगड़ा-लड़ाई का मूल है। लड़के और अकालपक्व शिशुगण जो कभी मद्रास के बाहर नहीं गये, वे हजारों प्राचीन संस्कारों से नियंत्रित तीस करोड़ मनुष्यों को खड़े होकर नियम बताना चाहते हैं, क्या इसमें उन्हें लज्जा नहीं आती? इस प्रकार की निन्दा से विरत हो जाओ, पहले स्वयं शिक्षित बनो। श्रद्धाहीन बालकगण, तुम कागज पर कुछ पंक्तियाँ केवल घसीट सकते हो और उन्हें किसी मूर्ख के द्वारा प्रकाशित कराकर तुम समझते हो कि तुम जगत् के शिक्षक हो और तुम्हारी ही राय भारत के सर्वसाधारण की राय है। क्या ऐसी बात नहीं है?

हम दूसरों के दोष देख उन्हें शिक्षा देने जाते हैं, स्वयं के दोष नहीं देखते।

मैं मद्रास के समाजसंस्कारकों से कहना चाहता हूँ कि मुझमें उनके प्रति खूब श्रद्धा और प्रेम है। उनके विशाल हृदय, उनकी स्वदेश-प्रीति, पीड़ितों और दरिद्रों के प्रति उनके प्रेम के कारण ही मैं उनसे

संस्कारकों को नवीन प्रणाली का अवलम्बन करना होगा।

प्रेम करता हूँ। मैं उनसे भ्रातृप्रेम के तौर पर कहूँगा कि उनकी कार्यप्रणाली ठीक नहीं है। इस प्रणाली से भारतवर्ष में कई सौ वर्ष काम हुआ, पर वह सफल नहीं हो सका। अब हमें किसी नई प्रणाली से काम करना चाहिए।

क्या भारतवर्ष में कभी संस्कारकों का अभाव था? क्या तुमने भारत का इतिहास पढ़ा है? रामानुज, शंकर, नानक, चैतन्य, कबीर और दादू कौन थे? ये बड़े बड़े धर्माचार्यगण, जो भारत-गगन में अति उज्ज्वल नक्षत्रों की भाँति एक के बाद एक उदय हुए और फिर अस्त हो गये, कौन थे? क्या रामानुज के हृदय में नीच जाति के लिए प्रेम नहीं था? क्या उन्होंने अपने सारे जीवन में चाण्डाल तक को अपने सम्प्रदाय में लेने का प्रयत्न नहीं किया? क्या उन्होंने अपने सम्प्रदाय में मुसलमान तक को मिला लेने का प्रयत्न नहीं किया? क्या नानक ने मुसलमान और हिन्दू दोनों से समान भाव से परामर्श कर समाज में नये भाव लाने की चेष्टा नहीं की? इन सब लोगों ने प्रयत्न किया और उनका काम अभी भी जारी है। भेद केवल यही है कि वे आजकल के समाज-संस्कारकों की तरह दाम्भिक नहीं थे, वे अपने मुँह से कभी शाप का उच्चारण नहीं करते थे। उनके मुँह से केवल आशीर्वाद ही निकलते थे। उन्होंने कभी समाज के ऊपर दोषारोपण नहीं किया। उन्होंने लोगों से कहा कि जाति को धीरे धीरे उन्नत करना होगा। उन्होंने अतीत की ओर दृष्टि फेरकर कहा कि "हिन्दुओ, तुमने अभी तक जो किया अच्छा ही किया, पर भ्रातृगण, तुम्हें इससे भी अच्छा करना होगा। उन्होंने यह नहीं कहा कि "पहले तुम दुष्ट थे और अब तुम्हें अच्छा होना होगा।" उन्होंने यही कहा कि "पहले तुम अच्छे थे, अब और भी अच्छे बनो।" इन दोनों बातों में बड़ा भेद है। हम लोगों को अपनी प्रकृति के अनुसार उन्नति करनी होगी। वैदेशिक संस्थाओं ने बलपूर्वक जिस प्रणाली को हममें प्रचलित करने की चेष्टा की है उसके अनुसार काम

प्राचीन और आधुनिक संस्कारकों में प्रभेद।

में ईश्वर की चिन्ता करना खराब रास्ता कहा जायगा? परलोक में दृढ़ विश्वास, इस लोक के प्रति तीव्र वितृष्णा, प्रबल त्याग-शक्ति तथा ईश्वर और अविनाशी आत्मा में दृढ़ विश्वास तुम लोगों में है। क्या तुम इसे छोड़ सकते हो? तुम इसे नहीं छोड़ सकते। तुम जड़वादी होकर और जड़वाद की चर्चा करके हमें समझाने की चेष्टा कर सकते हो, पर मैं जानता हूँ कि तुम क्या हो। यदि मैं तुम्हें समझाऊँ तो तुम फिर भी वैसे ही आस्तिक हो जाओगे, जैसे आस्तिक तुम पैदा हुए थे। क्या तुम अपना स्वभाव बदल सकते हो?

प्रथम कार्य—भारत में धर्म-प्रचार।

अतः भारतवर्ष में किसी प्रकार की उन्नति की चेष्टा करने के लिए आवश्यकता है कि पहले धर्मप्रचार किया जाय। भारत को सामाजिक अथवा राजनैतिक विचारों से प्लावित करने के पहले आवश्यकता है कि उसमें आध्यात्मिक विचार भर दिए जाँय। पहला काम जिस पर हमें ध्यान देना चाहिए वह यह है कि हमारे उपनिषदों, हमारे पुराणों और हमारे दूसरे शास्त्रों में जो अपूर्व सत्य छिपा है उसे इन सब ग्रन्थों से और मठ-समूह से बाहर निकालकर, जङ्गलों से बाहर निकालकर, सम्प्रदाय-विशेष के मनुष्यों के अधिकार से बाहर निकालकर समस्त भारतवर्ष में एकबारगी फैलाना होगा, जिससे इन सब शास्त्रों में छिपा सत्य अग्नि की भाँति देश भर में उत्तर से दक्षिण, पूर्व से पश्चिम, हिमालय से कन्याकुमारी, और सिंधु से ब्रह्मपुत्रा तक फैल जाय। प्रत्येक मनुष्य उसे जान ले। कारण, कहा है कि पहले इसे सुनना होगा, फिर मनन करना होगा और उसके बाद निदिध्यासन। पहले लोगों को इस शास्त्र-वाक्य को सुनने दो और जो व्यक्ति अपने शास्त्र के उस महान् सत्य को दूसरों को सुनाने में सहायता पहुँचाएगा, वह आज ऐसा कर्म करेगा जिसके बराबर दूसरा कोई कर्म हो ही नहीं सकता। महर्षि मनु ने कहा है—"इस कलियुग में मनुष्यों के लिए एक ही धर्म शेष है, आजकल यज्ञ और कठोर तपस्याओं से कोई फल नहीं होता। इस

समय दान ही एकमात्र कर्म है। और दानों में धर्मदान, अर्थात् आध्यात्मिक ज्ञानदान ही सर्वश्रेष्ठ है।" दूसरा दान है विद्यादान, तीसरा प्राणदान और चौथा अन्नदान। इस अपूर्व दानशील हिन्दू जाति की ओर देखो, इस दरिद्र — अत्यन्त दरिद्र-देश में लोग कितना दान करते हैं, उसका भी ध्यान करो। यहाँ का अतिथि-सत्कार इस प्रकार का है कि कोई आदमी बिना अपने पास कुछ लिए उत्तर से दक्षिण तक यात्रा कर सकता है, हर स्थान में उसका ऐसा सत्कार होगा मानो वह मित्र ही है। यदि यहाँ कहीं पर भी एक टुकड़ा रोटी का रहेगा तो कोई भिक्षुक विना खाए नहीं मर सकता।

दानमेकं कलौ युगे।

इस दानशील देश में हमें पहले प्रकार के अर्थात् आध्यात्मिक ज्ञान-विस्तार के लिए साहसपूर्वक अग्रसर होना होगा। और यह ज्ञान-विस्तार भारतवर्ष की सीमा में ही आबद्ध नहीं रहना चाहिए, इसका विस्तार सम्पूर्ण जगत् में करना होगा। अभी तक यही होता भी रहा है। जो लोग कहते हैं कि भारत के विचार कभी भारत से बाहर नहीं गये और जो लोग कहते हैं कि मैं ही पहला संन्यासी हूँ जो भारत के बाहर धर्मप्रचार करने गया, वे अपनी जाति के इतिहास को नहीं जानते। यह काम कई बार हो चुका है। जिस समय संसार को इसकी आवश्यकता हुई, उसी समय निरन्तर बहनेवाले आध्यात्मिक ज्ञान-स्रोत ने संसार को प्लावित कर दिया। राजनैतिक ज्ञान का विस्तार अनेक सैनिकों को लेकर और बड़े उच्च स्वर से लड़ाई का बाजा बजाकर किया जा सकता है। लौकिक ज्ञान या सामाजिक ज्ञान का विस्तार तलवार और बन्दूक की सहायता से हो सकता है; किन्तु ओस जिस तरह अश्रुत और अदृश्य भाव से गिरने पर भी गुलाब की कलियों के समूह को खिला देती है, उसी तरह आध्यात्मिक ज्ञान भी शान्ति से ही दिया जा सकता है। भारतवर्ष ने बार बार इस आध्यात्मिक ज्ञान के उपहार को जगत् को

भारतेतर देशों में धर्मप्रचार।

दिया है। जिस समय कोई प्रबल दिग्विजयी जाति उठकर संसार की विभिन्न जातियों को एकता के सूत्र में बाँधती है, रास्ता बना देती है, जिससे एक स्थान की चीज़ें सुगमता से दूसरे स्थान पर भेजी जा सकें, उसी समय भारत ने समग्र संसार की उन्नति में जो अपना अंश उसे देना था अर्थात् धार्मिक ज्ञान, उसे दे दिया। बुद्धदेव के जन्म लेने के बहुत पहले ही यह हुआ था। चीन, एशिया माइनर और मलाया द्वीपसमूह में इस समय भी उसके चिह्न मौजूद हैं। जिस समय उस प्रबल दिग्विजयी ग्रीक ने तत्कालीन ज्ञात संसार के सब अंशों को एकत्र किया था, उस समय भारत के आध्यात्मिक ज्ञान ने बाहर निकलकर संसार को प्लावित कर दिया था। पाश्चात्य देशवासी जिस सभ्यता का इस समय गर्व करते हैं वह उसी बड़ी बाढ़ का अवशिष्ट चिह्न मात्र है। इस समय भी वह सुयोग उपस्थित हो गया है। इङ्गलैण्ड की शक्ति ने समस्त संसार की जातियों को एकता के सूत्र में बाँध दिया है जैसा पहले कभी नहीं हुआ था। इङ्गलैण्ड के मार्ग और आने-जाने के दूसरे रास्ते संसार के एक स्थान से लेकर दूसरे स्थान तक फैले हुए हैं। आज अँगरेजों की प्रतिभा के कारण संसार अपूर्व भाव से एकता के सूत्र में ग्रथित हुआ है। इस समय संसार के भिन्न भिन्न स्थानों में जिस प्रकार के व्यापारिक केन्द्र स्थापित हुए हैं, वैसे मानव जाति के इतिहास में पहले कभी नहीं हुए थे। इस सुयोग में भारतवर्ष ज्ञात अथवा अज्ञात भाव से उठकर अपने आध्यात्मिक ज्ञान का दान जगत् को दे रहा है। और वह उक्त सब मार्गों का अवलम्बन कर समस्त संसार में फैल जायेगा। मैं जो अमेरिका गया, वह मेरी या तुम्हारी इच्छा से नहीं हुआ, किन्तु भारत के भगवान की इच्छा ने जो उसके भाग्य को नियंत्रित कर रही है, मुझे अमेरिका भेजा और वही फिर इसी भाँति हजारों आदमियों को संसार की सभी जातियों के निकट भेजेगी। संसार की कोई शक्ति उसे रोक नहीं सकती। तुम्हें यह भी करना होगा— तुमको भी भारतवर्ष के बाहर धर्मप्रचार करने के लिए जाना होगा, इसका

प्रचार जगत् की सब जातियों और मनुष्यों में करना होगा। पहले यही धर्म-प्रचार आवश्यक है।

धर्मप्रचार करने के बाद उसके साथ ही साथ लौकिक विद्या और अन्यान्य विद्याएँ आएँगी जिनकी तुम लोगों को आवश्यकता है, पर यदि तुम लौकिक विद्या, बिना धर्म के ग्रहण करना चाहो तो मैं तुमसे साफ साफ कहूँगा कि भारतवर्ष में ऐसा करने का तुम्हारा प्रयत्न व्यर्थ होगा, लोगों के हृदयों में यह प्रयत्न स्थान ग्रहण न कर सकेगा। अंशतः इसी कारण से बौद्ध धर्म का इतना बड़ा आन्दोलन अपना प्रभाव यहाँ स्थापित न कर पाया।

साथ ही साथ विद्यादान।

इसलिए, मेरे मित्रो, मेरा विचार है कि मैं भारतवर्ष में कितने ही ऐसे शिक्षालय स्थापित करूँ जहाँ हमारे नवयुवक अपने शास्त्रों के ज्ञान में शिक्षित होकर भारत तथा भारत के बाहर अपने धर्म का प्रचार कर सकें। केवल मनुष्यों की आवश्यकता है और सब कुछ हो जाएगा, किन्तु आवश्यकता है वीर्यवान, तेजस्वी, श्रद्धासम्पन्न और अन्त तक कपटरहित नवयुवकों की। इस प्रकार के सौ नवयुवकों से संसार के सभी भाव बदल दिए जा सकते हैं। और सब चीज़ों की अपेक्षा इच्छाशक्ति का अधिक प्रभाव है। इच्छाशक्ति के सामने और सब शक्तियाँ दब जायेंगी, क्योंकि इच्छाशक्ति साक्षात् ईश्वर से निकलकर आती है। विशुद्ध और दृढ़ इच्छाशक्ति सर्वशक्तिमान है। क्या तुम इसमें विश्वास नहीं करते? सबके निकट अपने धर्म के महान् सत्यसमूह का प्रचार करो, संसार इसकी प्रतीक्षा कर रहा है।

आचार्य, शिक्षालय।

हजारों वर्षों से लोगों को मनुष्यों की हीनावस्था का ही ज्ञान कराया गया है। उनसे कहा गया है कि वे कुछ नहीं हैं। संसार भर में सर्वसाधारण से कहा गया है कि तुम लोग मनुष्य ही नहीं हो। कई शताब्दियों से वे ऐ

आत्मतत्व सुनने से हीन व्यक्तियों में शक्ति का विकास होगा।

डराये गए हैं कि वे सचमुच ही करीब करीब पशुत्व को प्राप्त हो गए हैं। उन्हें कभी आत्मतत्व सुनने का मौका नहीं दिया गया। उनको इस समय आत्मतत्व सुनने दो, उन्हें पहचानने दो कि छोटे से छोटे मनुष्य में भी आत्मा मौजूद है, जो न कभी मरती है और न पैदा ही होती है, जिसको न तलवार काट सकती है, न आग जला सकती है, न हवा सुखा सकती है और न जिसकी मृत्यु ही होती है, जो आदि और अन्त के परे है, जो शुद्धस्वरूप, सर्वशक्तिमान और सर्वव्यापी है।

आत्म-विश्वास।

उन्हें अपने में विश्वास करने दो। अंग्रेजों और तुममें किसलिए इतना अन्तर है? उन्हें अपने धर्म, अपने कर्तव्य आदि के सम्बन्ध में जो कहना है कहने दो; मुझे मालूम है कि दोनों जातियों में किस चीज़ में अन्तर है। अन्तर केवल यही है कि अंग्रेज अपने ऊपर विश्वास करते हैं और तुम लोग नहीं। जब वह यह विश्वास करता है कि मैं अंग्रेज हूँ उस समय वह जो चाहता है, वही कर डालता है। इस विश्वास के आधार पर उसके अन्दर छिपा हुआ ब्रह्म जाग उठता है। वह उस समय जो भी इच्छा करता है वही कर लेता है। तुम लोगों को बताया गया है और शिक्षा दी गयी है कि तुम कुछ भी नहीं हो, और तुम कुछ नहीं कर सकते; इस भाँति तुम प्रति दिन अकर्मण्य होते जाते हो। इसलिए हमें बल की आवश्यकता है और अपने में विश्वास की।

दुर्बलता और गुप्त-विद्या (Occultism)।

हम लोग दुर्बल हो गए हैं, इसीलिए गुप्त-विद्या और रहस्य-विद्या धीरे धीरे हममें घुस आई हैं। चाहे उनमें अनेक सत्य क्यों न हों पर उन्होंने हमें नष्ट कर दिया है। अपने स्नायु को बलवान बनाओ। हमें लोहे के पुट्ठों और फौलाद के स्नायु की आवश्यकता है। हम लोग बहुत दिन रो चुके। अब और रोने की आवश्यकता नहीं है। अब अपने पैरों पर खड़े हो जाओ और मनुष्य बनो। हमें ऐसे धर्म की आवश्यकता है जिससे हम

मनुष्य बन सकें। हमें ऐसे सिद्धान्तों की ज़रूरत है जिससे हम मनुष्य हो सकें। हमें मनुष्य बनानेवाली शिक्षा को सर्वत्र फैलाने की आवश्यकता है। सत्य की परीक्षा करने का यह उपाय है—जिससे तुममें शारीरिक, मानसिक और आध्यात्मिक निर्बलता आवे उसे जहर की भाँति छोड़ दो; उसमें जीवन-शक्ति ही नहीं है, अतः वह सत्य नहीं हो सकता; सत्य बलप्रद है, सत्य पवित्रता है, सत्य ज्ञान देनेवाला है। सत्य को अवश्य ही बलप्रद होना चाहिए, जो हृदय के अन्धकार को दूरकर उसमें तेज का प्रकाश कर दे। यद्यपि इन रहस्य-विद्याओं में कुछ सत्य है, तो भी ये साधारणतया मनुष्य को निर्बल ही बनाती हैं। मेरा विश्वास करो, मैंने अपने जीवन भर में अनुभव किया है और इसी परिणाम पर पहुँचा हूँ कि वे निर्बल करनेवाली हैं। मैं भारत के सभी स्थानों में घूम चुका हूँ, सभी गुफाओं का अन्वेषण कर चुका हूँ और हिमालय पर भी रह चुका हूँ। मैं ऐसे लोगों को भी जानता हूँ जो अपने जीवन भर वहीं रहे हैं। मैं अपनी जाति से प्रेम करता हूँ; मैं तुमको हीनतर और वर्तमान अवस्था से दुर्बलतर नहीं देख सकता। अतः तुम्हारे लिए और सत्य के लिए हमें चिल्लाना होगा, "बस ठहरो"। अपनी जाति की हीनतर अवस्था के विरुद्ध हमें अपनी आवाज़ उठानी होगी। निर्बल करनेवाली इन रहस्य-विद्याओं को छोड़ दो और बलवान बन जाओ। तुम्हारे उपनिषद् आलोकप्रद, बलप्रद, दिव्य दर्शन-शास्त्र हैं, उन्हीं का आश्रय ग्रहण करो, और इन सब रहस्यमय दुर्बलताजनक विषयों को दूर करो। उपनिषद्रूप महान् दर्शन का अवलम्बन करो। जगत् के सबसे बड़े सत्य बड़ी सरलता से समझे जा सकते हैं, उतनी ही सरलता से जितनी सरलता से तुम्हारा अस्तित्व। उपनिषद् के सत्य तुम्हारे सामने हैं। इनका अवलम्बन करो, इनके उपदेशों को कार्य में परिणत करो तो अवश्य ही भारत का उद्धार हो जायेगा।

बलप्रद उपनिषदों का अवलम्बन करो।

एक बात और कहकर मैं समाप्त करूँगा। लोग स्वदेश-भक्ति की चर्चा

करते हैं। मैं स्वदेशभक्ति में विश्वास करता हूँ, पर स्वदेशभक्ति के सम्बन्ध में मेरा एक आदर्श है। बड़े काम करने के लिए तीन चीज़ों की आवश्यकता होती है। बुद्धि और विचार-शक्ति हम लोगों की थोड़ी सहायता कर सकती है। वह हमको थोड़ी दूर अग्रसर कर देती है और वहीं ठहर जाती है; किन्तु हृदय के द्वारा ही महाशक्ति की प्रेरणा होती है। प्रेम असम्भव को सम्भव कर देता है।

स्वदेश-हितैषी बनने के लिए आवश्यकता है हृदय, कर्मशीलता और दृढ़ता की।

जगत् के सब रहस्यों का द्वार प्रेम ही है। अतः मेरे भावी संस्कारको, मेरे भावी देशभक्तो, तुम हृदयवान बनो। क्या तुम हृदय से समझते हो कि देव और ऋषियों की करोड़ों सन्तान पशुतुल्य हो गई हैं? क्या हृदय में अनुभव करते हो कि करोड़ों आदमी आज भूखे मर रहे हैं और वे कई शताब्दियों से इस भाँति भूखों मरते आ रहे हैं? क्या तुम समझते हो कि अज्ञान के काले बादल ने सारे भारत को आच्छन्न कर लिया है? क्या तुम यह सब समझकर कभी अस्थिर हुए हो? क्या तुम कभी इससे अनिद्रित हुए हो? क्या कभी यह भावना तुम्हारे रक्त में मिलकर तुम्हारी धमनियों में बही है? क्या वह तुम्हारे हृदय के स्पन्दन से कभी मिली है? क्या उसने कभी तुम्हें पागल बनाया है? क्या कभी तुम्हें दरिद्रता और नाश का ध्यान आया है? क्या तुम अपने नाम-यश, सम्पत्ति, यहाँ तक कि अपने शरीर को भी भूल गये हो? क्या तुम ऐसे हो गये हो? यदि हो, तो जानो कि तुमने स्वदेशभक्ति की प्रथम सीढ़ी पर पैर रखा है। जैसा तुममें से अधिक लोग जानते हैं, मैं धार्मिक महासभा के लिए अमेरिका नहीं गया था, किन्तु देश के जन-साधारण की दुर्दशा के प्रतिकार करने का भूत मुझमें—मेरी आत्मा में घुस गया था। मैं अनेक वर्ष तक समग्र भारत में घूमता रहा, पर अपने स्वदेशवासियों के लिए कार्य करने का मुझे कोई अवसर ही नहीं मिला, इसीलिए मैं अमेरिका गया। तुममें से अधिकांश जो मुझे उस समय जानते थे, इस बात को अवश्य जानते हैं। इस

धार्मिक महासभा की कौन परवाह करता था ? यहाँ मेरे रक्तमांसस्वरूप जन-साधारण की दशा हीन होती जाती थी, उनकी कौन खबर ले ? स्वदेशहितैषी होने की यह मेरी पहली सीढ़ी है।

माना कि तुम अनुभव करते हो; पर पूछता हूँ कि क्या केवल व्यर्थ की बातों में शक्तिक्षय न करके इस दुर्दशा को निवारण करने के लिए तुमने कोई यथार्थ कर्तव्यपथ निश्चित किया है ? क्या लोगों को गाली न देकर उनकी सहायता का कोई ठीक उपाय सोचा है ? क्या स्वदेशवासियों को उनकी जीवन्मृत अवस्था से बाहर निकालने के लिए और उनके दुःखों को कम करने के लिए कुछ सान्त्वनादायक शब्दों को खोजा है ? किन्तु इतने ही से पूरा न होगा। क्या पर्वताकार विघ्नबाधाओं को दबाकर कार्य करने की तुममें इच्छा है ? यदि सम्पूर्ण जगत् तलवार हाथ में लेकर तुम्हारे विपक्ष में खड़ा हो तब भी क्या तुम जिसे सत्य समझते हो, उसे पूरा करने का साहस करोगे ? यदि तुम्हारे स्त्री-पुत्र तुम्हारे प्रतिकूल हों, यदि तुम्हारा धन चला जाय, यदि तुम्हारा नाम भी नष्ट हो जाय, तब भी क्या तुम इसमें लगे रहोगे ? फिर भी क्या तुम उसका पीछा करोगे और अपने लक्ष्य की ओर स्थिरता से बढ़ते ही जाओगे ? जैसा कि राजा भर्तृहरि ने कहा है—"चाहे नीतिनिपुण लोग निन्दा करें या प्रशंसा, लक्ष्मी रहे या जहाँ उसकी इच्छा हो चली जाय, आज ही मृत्यु हो या सौ वर्ष बाद, किन्तु धीर पुरुष न्याय के पथ से विचलित नहीं होते।"* क्या तुममें यह दृढ़ता है ? यदि तुममें तीन चीजें हैं तो तुममें से प्रत्येक आदमी अलौकिक कार्य कर सकता है। तुमको समाचारपत्रों में लिखने की आवश्यकता

---

* निन्दन्तु नीतिनिपुणा यदि वा स्तुवन्तु
लक्ष्मीः समाविशतु गच्छतु वा यथेष्टम्।
अद्यैव वा मरणमस्तु युगान्तरे वा
न्याय्यात् पथः प्रविचलन्ति पदं न धीराः॥
—नीतिशतक, १४

नहीं, तुमको व्याख्यान देते हुए फिरने की आवश्यकता नहीं; स्वयं ही तुम्हारे मुख पर एक स्वर्गीय ज्योति विराजेगी। यदि तुम पर्वत की कन्दरा में रहो तब भी तुम्हारे विचार पर्वत की चट्टानों को तोड़कर बाहर निकलेंगे और सैकड़ों वर्ष तक समग्र संसार में भ्रमण करते रहेंगे, यहाँ तक कि वे किसी न किसी के मस्तिष्क का आश्रय ले लेंगे और वहीं अपना काम करने लगेंगे। चिन्ता, निष्कपटता तथा अच्छे विचारों की यह शक्ति है।

जातीय नौका।

मुझे डर है कि तुम्हें देर हो रही है। पर एक बात और कहूँगा। ऐ मेरे स्वदेशवासियो, ऐ मेरे मित्रो, मेरे बच्चो, जातीय जीवन का यह जहाज़ करोड़ों आदमियों को जीवनरूपी समुद्र के पार करता रहा है। इसकी सहायता से कई शताब्दियों तक लाखों आत्माएँ जीवन-नदी के दूसरे किनारे पर अमृतधाम में पहुँची हैं; पर आज शायद तुम्हारे ही दोष से इसमें कुछ खराबी हो गयी है, इसमें एक दो छिद्र हो गये हैं, तो क्या तुम इसकी निन्दा करोगे? संसार की दूसरी सब चीज़ों की अपेक्षा जो चीज़ हमारे अधिक काम आई थी, क्या इस समय तुम उस पर दुर्वाक्य बरसाओगे? यदि हमारे जातीय जहाज़ में, हमारे समाज में छिद्र हो गया है, तो हम उसकी सन्तान हैं, आओ चलें, हम उसे बन्द कर दें। हमें अपने हृदय के खून को भी आनन्दपूर्वक देकर उसे बन्द कर देना चाहिए। यदि हम ऐसा न कर सकें तो हमें मर जाना ही उचित है। हम अपने मस्तिष्करूपी काठ के टुकड़े से उसे बन्द करेंगे; पर कभी उसकी निन्दा न करेंगे। कभी भी इस समाज के विरुद्ध एक भी कड़े शब्द का प्रयोग मत करो। मैं उससे उसके प्राचीन महत्व के लिए प्रेम करता हूँ। मैं तुम सब लोगों से प्रेम करता हूँ, कारण कि तुम देवताओं की सन्तान हो, प्रतिष्ठित पूर्व-पुरुषों के वंशज हो। तब मैं कैसे तुम्हारी निन्दा कर सकता हूँ? तुम्हारा सब प्रकार से कल्याण हो। ऐ मेरे बच्चो, मैं तुम्हारे पास अपने सब उद्देश्य बताने के लिए आया हूँ। यदि तुम मेरी बात सुनो तो मैं तुम्हारे साथ कार्य करने

को प्रस्तुत हूँ। यदि तुम उन्हें न सुनो और मुझे अपने पैरों की ठोकरें मार-कर भारतभूमि के बाहर निकाल दो, फिर भी मैं तुम लोगों के पास आकर कहूँगा कि हम सब लोग डूब रहे हैं। मैं तुम लोगों के साथ मिलने के लिए आया हूँ और यदि डूबना है तो हम सब लोगों को साथ ही डूबने दो किन्तु किसी के लिए हमारे मुँह से खराब शब्द न निकलें।

---

१२. भारतीय जीवन में वेदान्त का प्रभाव

हमारी जाति और धर्म के व्यक्त करने के लिए एक शब्द बहुत प्रच-लित हो गया है। मैं 'हिन्दू' शब्द को लक्ष्य करके यह कह रहा हूँ। वेदान्त धर्म से मेरा क्या अभिप्राय है, इसको समझाने के लिए उक्त शब्द का अर्थ अच्छी तरह समझ लेना आवश्यक है। प्राचीन फारस देशनिवासी सिन्धु नद को 'हिन्दू' कहते थे। संस्कृत भाषा में जहाँ 'स' आता है, प्राचीन फारसी भाषा में वही 'ह' रूप में परिणत हो जाता है। इसलिए सिन्धु का 'हिन्दू' हो गया। आप लोग सभी जानते हैं कि यूनानी लोग 'ह' का उच्चारण नहीं कर सकते थे, इसलिए उन्होंने 'ह' को छोड़ दिया और इस प्रकार हम 'इण्डियन' नाम से परिचित हुए। प्राचीन काल में इस शब्द का अर्थ जो भी हो अब इस हिन्दू शब्द की, जो सिन्धु नद के दूसरे किनारे के निवासियों के लिए प्रयुक्त होता था, कोई सार्थकता नहीं है; कारण यह है कि सिन्धु नद के इस ओर रहने-वाले सभी एक धर्म के माननेवाले नहीं हैं। इस समय यहाँ हिन्दू, मुसल्मान, पारसी, ईसाई तथा बौद्ध और जैन भी वास करते हैं। 'हिन्दू' शब्द के ठीक-ठीक अर्थ के अनुसार इन सबको हिन्दू कहना होगा, किन्तु धर्म के हिसाब से इन सबको हिन्दू नहीं कहा जा सकता। हमारा धर्म भिन्न भिन्न प्रकार के धार्मिक विश्वास, भाव तथा अनुष्ठान और क्रियाकर्मों का समष्टि-स्वरूप है। सब एक साथ मिला हुआ है, किन्तु यह कोई साधारण नियम से एकत्रित नहीं हुआ, इसका कोई एक साधारण नाम भी नहीं है। इन कारणों से हमारे धर्म का एक सर्वसम्मत नाम रखना बड़ा कठिन है। कदा-चित् केवल एक यही विषय है जहाँ सारे सम्प्रदाय एकमत हैं कि हम सभी अपने शास्त्र—वेदों—पर विश्वास करते हैं। यह भी निश्चित है कि जो

हिन्दू कौन है?

व्यक्ति वेदों की सर्वोच्च प्रामाणिकता को स्वीकार नहीं करता, उसे अपने को हिन्दू कहने का अधिकार नहीं है।

तुम जानते हो कि ये वेद दो भागों में विभक्त हैं — कर्मकाण्ड और ज्ञानकाण्ड। कर्मकाण्ड में नाना प्रकार के याग-यज्ञ और अनुष्ठान-पद्धतियाँ हैं — जिनका अधिकांश आजकल प्रचलित नहीं है। ज्ञानकाण्ड में वेदों के आध्यात्मिक उपदेश लिपिबद्ध हैं — वे उपनिषद् अथवा 'वेदान्त' के नाम से परिचित हैं और द्वैतवादी, विशिष्टाद्वैतवादी अथवा अद्वैतवादी समस्त दार्शनिक और आचार्यों ने उनको ही उच्चतम प्रमाण कहकर स्वीकार किया है। भारत के समस्त दर्शन और सम्प्रदायों को यह प्रमाणित करना होता है कि उसका दर्शन अथवा सम्प्रदाय उपनिषद्रूपी नींव के ऊपर प्रतिष्ठित है। यदि कोई ऐसा करने में समर्थ न हो सके तो वह दर्शन अथवा सम्प्रदाय धर्म-विरुद्ध गिना जाता है; इसलिए वर्तमान समय में समग्र भारत के हिन्दुओं को यदि किसी साधारण नाम से परिचित करना हो तो उनको 'वैदान्तिक' अथवा 'वैदिक' कहना उचित होगा। मैं वैदान्तिक धर्म और वेदान्त इन दोनों शब्दों का व्यवहार सदा इसी अभिप्राय से करता हूँ।

हिन्दू और वैदान्तिक।

मैं इसको और भी स्पष्ट करके समझाना चाहता हूँ; कारण यह है कि आजकल कुछ लोग वेदान्तदर्शन की 'अद्वैत' व्याख्या को ही 'वेदान्त' शब्द के सहित समानार्थक रूप में प्रयोग करते हैं। हम सब जानते हैं कि उपनिषदों के आधार पर जिन समस्त विभिन्न दर्शनों की सृष्टि हुई है, अद्वैतवाद उनमें से एक है। अद्वैतवादियों की उपनिषदों के ऊपर जितनी श्रद्धा भक्ति है, विशिष्टाद्वैतवादियों की भी उतनी ही है और अद्वैतवादी अपने दर्शन को वेदान्त की भित्ति पर प्रतिष्ठित कहकर जितना अपनाते हैं, विशिष्टाद्वैतवादी भी उतना ही। द्वैतवादी और भारतीय अन्यान्य

क्या वैदान्तिक और अद्वैतवादी समानार्थक हैं?

समस्त सम्प्रदाय भी ऐसा ही करते हैं। ऐसा होने पर भी साधारण मनुष्यों के मन में 'वैदान्तिक' और 'अद्वैतवादी' समानार्थक हो गए हैं और शायद इसका कुछ कारण भी है। यद्यपि वेद ही हमारे प्रधान शास्त्र हैं तथापि वेदों के अतिरिक्त उनके परवर्ती स्मृति और पुराण भी — जो सब वेदों के समान ही विस्तृत रूप से व्याख्यात और नाना प्रकार के दृष्टान्तों द्वारा समर्थित हुए हैं — हमारे शास्त्र हैं; ये वास्तव में वेदों के समान प्रामाणिक नहीं हैं और यह शास्त्र का नियम है कि जहाँ श्रुति एवं पुराण और स्मृति में मतभेद हो, वहाँ श्रुति के मत को ग्राह्य और स्मृति के मत को परित्याग करना चाहिए। इस समय हम देखते हैं कि अद्वैत-केसरी शंकराचार्य और उनके मतावलम्वी आचार्यों की व्याख्या में अधिक परिमाण में उपनिषद् प्रमाणस्वरूप उद्धृत हुए हैं। केवल जहाँ ऐसे विषय की व्याख्या का प्रयोजन हुआ जिसको श्रुति में किसी रूप में पाने की आशा न हो, ऐसे थोड़े से स्थानों में ही केवल स्मृति-वाक्य उद्धृत हुए हैं। अन्यान्य मतावलम्बी श्रुति की अपेक्षा स्मृति के ऊपर ही अधिक निर्भर रहते हैं और अधिकतर द्वैतवादियों की ओर ध्यानपूर्वक देखने से विदित होता है कि उनके उद्धृत स्मृति-वाक्य श्रुति की तुलना में इतने अधिक होते हैं कि वैदान्तिकों से ऐसी आशा नहीं की जाती। ऐसा प्रतीत होता है कि इनका स्मृति पुराणादि प्रमाणों के ऊपर इतना अधिक निर्भर रहने के कारण अद्वैतवादी ही क्रमशः विशुद्ध वैदान्तिक कहे जाने लगे।

जो हो, हमने प्रथम ही यह दिखा दिया है कि वेदान्त शब्द से भारत के समस्त धर्म समष्टिरूप से समझे जाते हैं, और यह वेदान्त वेदों का एक भाग होने के कारण सभी लोगों द्वारा स्वीकृत हमारा सबसे प्राचीन ग्रन्थ है। आधुनिक विद्वानों के विचार जो भी हों, एक हिन्दू यह विश्वास करने को कभी तैयार नहीं है कि वेदों का कुछ अंश एक समय में और कुछ अन्य समय में लिखा गया है। उनका अब भी यह दृढ़ विश्वास है कि

'वेद' नामक अनादि अनन्त ज्ञानराशि भारतीय सर्वविध धर्ममतों की ही नहीं वरन् बौद्ध और जैन धर्मों की भी मूल भित्ति है।

समग्र वेद एक ही समय में उत्पन्न हुए थे अथवा (यदि ऐसा कहने में कोई आपत्ति न करे) उनकी सृष्टि कभी नहीं हुई, वे चिरकाल से सृष्टिकर्ता के मन में वर्तमान थे। 'वेदान्त' शब्द से मेरा अभिप्राय उसी अनादि अनन्त ज्ञानराशि से है। भारत के द्वैतवाद, विशिष्टाद्वैतवाद और अद्वैतवाद सभी उसके अन्तर्गत हैं। सम्भवतः हम बौद्ध धर्म, यहाँ तक कि, जैन धर्म के भी अंशविशेषों को ग्रहण कर सकते हैं, यदि उक्त धर्मावलम्बीगण अनुग्रहपूर्वक हमारे मध्य में आने को सहमत हों। हमारा हृदय यथेष्ट प्रशस्त है — हम उनको ग्रहण करने के लिए प्रस्तुत हैं — वे ही आने को राजी नहीं हैं। हम उनको ग्रहण करने के लिए सदा प्रस्तुत हैं; कारण यह है कि विशिष्ट रूप से विश्लेषण करने पर तुम देखोगे कि बौद्धधर्म का सारभाग इन्हीं सब उपनिषदों से लिया गया है; यहाँ तक कि, बौद्ध धर्म की नीति — जो अद्भुत और महान् नीति-तत्व कहे जाते हैं — किसी न किसी उपनिषद् में अविकलरूप से विद्यमान हैं। इसी प्रकार जैनधर्म के उत्तमोत्तम सिद्धान्त भी रंग-रहित रूप में उपनिषदों में वर्तमान हैं। इसके पश्चात् भारतीय धार्मिक विचारों का जो समस्त विकास हुआ है, उसका बीज हम उपनिषदों में देखते हैं। कभी-कभी इस प्रकार का निर्मूल अभियोग लगाया जाता है कि उपनिषदों में भक्ति का आदर्श नहीं है। जिन्होंने उपनिषदों का अध्ययन अच्छी तरह किया है, वे जानते हैं कि यह अभियोग बिल्कुल सत्य नहीं है। प्रत्येक उपनिषद् में अनुसन्धान करने से यथेष्ट भक्ति का विषय पाया जाता है; किन्तु अन्यान्य अनेक विषय, जो परवर्ती काल में पुराण तथा अन्यान्य स्मृतियों में विशेष रूप से परिणत पाये जाते हैं, उपनिषदों में बीजरूप में विद्यमान हैं। उपनिषदों में मानो उसका ढाँचा ही वर्तमान है। किसी किसी पुराण में यह ढाँचा पूर्ण भी किया गया है; किन्तु

कोई भी ऐसा पूर्ण विकसित भारतीय आदर्श नहीं है, जिसका बीज उन सब भावों के खानस्वरूप उपनिषदों में न पाया जाय। विशेषरूप से उपनिषद्-विद्याविहीन अनेक व्यक्ति 'भक्तिवाद विदेश से आया है' यह सिद्ध करने की हास्यास्पद चेष्टा करते हैं, किन्तु आप सब जानते हैं कि उनकी सम्पूर्ण चेष्टा विफल हुई है। आपको जितनी भक्ति की आवश्यकता है, सब उपनिषदों में ही क्यों, संहिता पर्यन्त सब में विद्यमान है—उपासना, प्रेम, भक्ति और जो कुछ आवश्यक है सब विद्यमान है। केवल भक्ति का आदर्श अधिकाधिक उच्च हो रहा है। संहिता के भागों में भय और क्लेशयुक्त धर्म के चिह्न पाये जाते हैं। संहिता के किसी किसी स्थानों में देखा जाता है कि उपासक, वरुण अथवा अन्य किसी देवता के सम्मुख भय से काँप रहा है। और कई स्थानों में यह भी देखा जाता है कि वे अपने को पापी समझकर अधिक यंत्रणा पाते हैं, किन्तु उपनिषदों में इस प्रकार के वर्णन के लिए कोई स्थान नहीं है, उपनिषदों में भय का धर्म नहीं है; उपनिषदों में प्रेम और ज्ञान का धर्म है।

शास्त्र और देशाचार।

ये उपनिषद् ही हमारे शास्त्र हैं। इनकी व्याख्या भिन्न भिन्न रूप से हुई है और मैं आप से पहिले कह चुका हूँ कि जहाँ परवर्ती पौराणिक ग्रंथों और वेदों में मतभेद होता है, वहाँ पुराणों के मत को अग्राह्य करके वेदों का मत ग्रहण करना पड़ेगा। किन्तु कार्यरूप में हममें से ९० प्रतिशत मनुष्य पौराणिक और शेष १० प्रतिशत वैदिक हैं और इतने भी हैं या नहीं, इसमें भी सन्देह है और साथ ही हम यह भी देखते हैं कि हममें नाना प्रकार के अत्यन्त विरोधी आचार भी विद्यमान हैं—हमारे समाज में ऐसे भी धार्मिक विचार प्रचलित हैं जिनका हिन्दू शास्त्रों में कोई प्रमाण नहीं है। शास्त्रों का अध्ययन करके हमें यह देखकर आश्चर्य होता है कि हमारे देश में अनेक स्थानों पर ऐसे कई आचार प्रचलित हैं, जिनका प्रमाण वेद, स्मृति अथवा पुराण आदि में कहीं भी नहीं पाया जाता,—उन्हें केवल देशाचार कहना

चाहिए। तथापि प्रत्येक अबोध ग्रामवासी सोचता है कि यदि उसका ग्राम्य-आचार उठ जाय, तो वह हिन्दू नहीं रह सकता। उसकी धारणा यही है कि वेदान्त-धर्म और इस प्रकार के समस्त क्षुद्र देशाचार अच्छेद्यरूप से जड़ित हैं। शास्त्रों का अध्ययन करने पर भी वे नहीं समझ सकते कि वे जो करते हैं, उसमें शास्त्रों की सम्मति नहीं है। उनके लिए यह समझना बड़ा कठिन होता है कि ऐसे समस्त आचारों का परित्याग करने से उनकी कुछ क्षति नहीं होगी, किन्तु इससे वे अधिक अच्छे मनुष्य बनेंगे। इसके अतिरिक्त एक और कठिनाई है—हमारे शास्त्र बृहत् और असंख्य हैं। पतञ्जलिप्रणीत महाभाष्य नामक शब्द-विद्या-शास्त्र में लिखा है कि सामवेद की सहस्र शाखायें थीं। वे सब कहाँ हैं? कोई नहीं जानता। प्रत्येक वेद का यही हाल है। इन समस्त ग्रन्थों के अधिकांश का लोप हो गया है, सामान्य अंश ही हमारे निकट वर्तमान हैं। एक एक ऋषि-परिवार ने एक एक शाखा का भार ग्रहण किया था। इन परिवारों में से अधिकांशों का स्वाभाविक नियम के अनुसार वंशलोप हो गया है, अथवा वैदेशिक अत्याचार से या अन्य कारणों से, उनका नाश हो गया है। और उन्हीं के साथ साथ जिस वेद-शाखा-विशेष की रक्षा का भार उन्होंने ग्रहण किया था, उसका भी लोप हो गया। यह बात हमको विशेष रूप से स्मरण रखनी चाहिए; कारण यह है कि जो कोई नये विषय का प्रचार अथवा वेदों के विरोधी किसी विषय का समर्थन करना चाहते हैं, उनके लिए यह युक्ति प्रधान सहायक है। जब भारत में श्रुति और देशाचार को लेकर तर्क होता है अथवा जब यह सिद्ध किया जाता है कि यह देशाचार श्रुति-विरुद्ध है, तब दूसरा पक्ष यही उत्तर देता है,—नहीं, यह श्रुति-विरुद्ध नहीं है, यह श्रुति की उस शाखा में था, जिसका इस समय लोप हो गया है—यह प्रथा भी वेद-सम्मत है। शास्त्रों की ऐसी समस्त टीका और टिप्पणियों में किसी साधारण सूत्र को पाना वास्तव

वेदों का लुप्त शाखासमूह तथा देशाचार।

में बड़ा कठिन है। किन्तु हमको इस बात का सहज ही में विश्वास होता है कि इन नाना प्रकार के विभागों तथा उपविभागों में कहीं न कहीं अवश्य ही एक सामञ्जस्यरूपी नींव होगी। ये छोटे छोटे गृह अवश्य किसी विशेष आदर्श के अनुसार निर्माण किये गये होंगे। हम जिसको अपना धर्म कहते हैं, उन आपातविशृंखल विभिन्न मतों का अवश्य कोई न कोई एक समन्वय का स्थान होगा। अन्यथा यह इतने समय तक कदापि खड़ा नहीं रह सकता था।

अपने भाष्यकारों के भाष्यों को देखने से हमें एक दूसरी कठिनाई का सामना करना पड़ता है। अद्वैतवादी भाष्यकार जब अद्वैत सम्बन्धी श्रुति की व्याख्या करता है, उस समय वह उसके वैसे ही भाव रहने देता है, किन्तु वही भाष्यकार जब द्वैत-भावात्मक सूत्रों की व्याख्या करने को प्रवृत्त होता है, उस समय वह उसके शब्दों की खींचातानी करके अद्भुत अर्थ निकालता है। भाष्यकारों ने समय समय पर अपना अभीष्ट अर्थ व्यक्त करने के लिए 'अजा' (जन्मरहित) शब्द का अर्थ बकरी भी किया है— कैसा अद्भुत परिवर्तन किया है! इसी प्रकार, यहाँ तक कि इससे भी बुरी तरह, द्वैतवादी भाष्यकारों ने भी श्रुति की व्याख्या की है। जहाँ उनको द्वैत के अनुकूल श्रुति मिली है, उसको उन्होंने नहीं छुआ, किन्तु जहाँ भी अद्वैतवाद का विषय आया, वहीं उन्होंने उस श्रुति के अंश की इच्छानुसार व्याख्या की है। यह संस्कृत भाषा इतनी जटिल है, वैदिक संस्कृत इतनी प्राचीन है, संस्कृत शब्द-शास्त्र इतना पूर्ण है कि एक शब्द के लिए युग-युगान्तर तक तर्क चल सकता है। यदि कोई पण्डित चाहे तो वह किसी व्यक्ति के बकवाद को भी युक्तिबल से अथवा शास्त्र और व्याकरण के नियम उद्धृत कर शुद्ध संस्कृत सिद्ध कर सकता है। उपनिषदों को समझने के मार्ग में इस प्रकार की कई विघ्न-बाधाएँ उपस्थित होती हैं। विधाता की इच्छा

वेदव्याख्या में भाष्यकारों का मतभेद।

मेरे आचार्य श्रीरामकृष्ण देव का मत-समन्वय।

से मुझे एक ऐसे व्यक्ति के सहवास का सुअवसर प्राप्त हुआ गत करके जैसे ही पक्के द्वैतवादी थे वैसे ही अद्वैतवादी भी थे, जैसे ही परम भ सेवा को वैसे ही परम ज्ञानी भी थे। इन्हीं व्यक्ति की शिक्षा के फल से मीठे प्रथम उपनिषद् और अन्यान्य शास्त्र केवल अन्धविश्वास से भाष्यकारों का अनुसरण न करके, स्वाधीन और उत्तम रूप से समझना सीखा है। और मैंने इस विषय में जितना भी अनुसन्धान किया है उससे मैं इसी सिद्धान्त पर पहुँचा हूँ कि, ये समस्त शास्त्र परस्पर विरोधी नहीं हैं; इसलिए हमको शास्त्रों की विकृत व्याख्या करने से कुछ प्रयोजन नहीं है। समस्त श्रुतिवाक्य अत्यन्त मनोरम हैं, अत्यन्त अद्भुत हैं और वे परस्पर विरोधी नहीं हैं, उनमें अपूर्व सामञ्जस्य विद्यमान है, एक तत्व मानो दूसरे का सोपानस्वरूप है। मैंने इन समस्त उपनिषदों में एक विषय विशेष भाव से यही देखा है कि प्रथम द्वैत भाव का वर्णन उपासना आदि से आरम्भ हुआ है, अन्त में अपूर्व अद्वैत भाव के उच्छ्वास में वह समाप्त हुआ है।

इसलिए अब मैं इन्हीं महापुरुष के जीवन के प्रकाश में देखता हूँ कि द्वैतवादी और अद्वैतवादियों को परस्पर विवाद करने की कोई आवश्यकता नहीं है। दोनों का ही जातीय जीवन में विशेष स्थान है। द्वैतवादी का रहना आवश्यक है; अद्वैतवादी के समान द्वैतवादी का भी जातीय धार्मिक जीवन में विशेष स्थान है। एक के बिना दूसरा नहीं रह सकता; एक दूसरे का परिणतिस्वरूप है; एक मानो गृह है, दूसरा छत। एक मानो मूल है और दूसरा फलस्वरूप है।

द्वैतवाद और अद्वैतवाद का समन्वय।

इसलिए उपनिषदों का मनमाना अर्थ करने की चेष्टा को मैं अत्यन्त हास्यास्पद समझता हूँ; कारण, मैं देखता हूँ कि उनकी भाषा ही अपूर्व है। श्रेष्ठतम दर्शन रूप में उनके गौरव के बिना भी, मानव जाति के मुक्ति-पथ

उपनिषद् की अपूर्व भाषा।

प्रदर्शक धर्मविज्ञान-रूप में उनके अद्भुत गौरव को छोड़ देने पर भी, उपनिषदों के साहित्य में महान् भावों का ऐसा अत्यन्त अपूर्व चित्र है जैसा संसार भर में और कहीं नहीं है। यहीं मानवी मन के उस प्रबल विशेषत्व का, अन्तर्दृष्टि-परायण उस हिन्दू मन का विशेष परिचय पाया जाता है।

अन्यान्य सकल जातियों के भीतर भी इस महान् भाव के चित्र को अङ्कित करने की चेष्टा देखी जाती है; किन्तु प्रायः सर्वत्र ही आप देखेंगे कि वे बाह्य प्रकृति के महान् भाव को पकड़ने की चेष्टा करते हैं। उदाहरणस्वरूप मिल्टन, दान्ते, होमर अथवा अन्य किसी पाश्चात्य कवि के काव्य की आलोचना कीजिये,—उनके काव्यों में स्थान स्थान पर महत्वभावव्यंजक अपूर्व कविताएँ देखी जाती हैं, किन्तु उनमें सर्वत्र ही इन्द्रियग्राह्य बाह्य प्रकृति के वर्णन की चेष्टा है—बाह्य प्रकृति का विशाल भाव, देश काल के अनन्त भाव का वर्णन है। हम वेदों के संहिता भाग में भी यही चेष्टा देखते हैं। कुछ अपूर्व ऋक्-मंत्रों में जहाँ सृष्टि प्रभृति का वर्णन है, बाह्य प्रकृति का महान् भाव, देश काल का अनन्तत्व अत्यन्त उच्च भाषा में वर्णित किया गया है; किन्तु उन्होंने शीघ्र ही जान लिया कि इन उपायों से अनन्तस्वरूप को प्राप्त नहीं किया जा सकता; उन्होंने समझ लिया कि अपने मन के जिन सकल भावों को वे भाषा में व्यक्त करने की चेष्टा कर रहे थे उनको अनन्त देश, अनन्त विस्तार और अनन्त बाह्य प्रकृति भी प्रकाश करने में असमर्थ है। तब उन्होंने जगत्-समस्या की व्याख्या के लिए अन्य मार्गों का अवलम्बन किया।

उपनिषद् की भाषा नास्ति-भावद्योतक है।

उपनिषदों की भाषा ने नया रूप धारण किया,—उपनिषदों की भाषा एक प्रकार से नास्ति-भाव-द्योतक है, स्थान स्थान पर अस्फुट है, मानो वह आपको अतीन्द्रिय राज्य में ले जाने की चेष्टा करती है; किन्तु आधे रास्ते में जाकर ही शान्त हो जाती है, केवल आपको

एक अग्राह्य अतिन्द्रिय वस्तु दिखा देगी, तथापि उस वस्तु के सत्त करके सम्बन्ध में आपको कुछ संदेह नहीं रहेगा। संसार में ऐसी कविता कैया को जिसके साथ इस श्लोक की तुलना हो सके? मीठे

न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकं -

नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निः। †

"वहाँ सूर्य की किरण नहीं पहुँचती, वहाँ चन्द्रमा और तारे भी नहीं चमकते, बिजली भी उस स्थान को प्रकाशित नहीं कर सकती, इस सामान्य अग्नि का तो कहना ही क्या!"

समस्त संसार के समग्र दार्शनिक भाव का अत्यन्त सम्पूर्ण चित्र आप संसार में और कहाँ पायेंगे? हिन्दू जाति की समग्र चिन्ता का, मानव जाति की मोक्षाकांक्षा की समस्त कल्पना का सारांश जिस प्रकार अद्भुत भाषा में अंकित हुआ है, जिस प्रकार अपूर्व रूपक में वर्णित हुआ है, ऐसा आप और कहाँ पायेंगे?—

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते।

तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति॥

समाने वृक्षे पुरुषो निमग्नोऽनीशया शोचति मुह्यमानः।

जुष्टं यदा पश्यत्यन्यमीशमस्य महिमानमिति वीतशोकः॥

यदा पश्यः पश्यते रुक्मवर्णं कर्तारमीशं पुरुषं ब्रह्मयोनिम्।

तदा विद्वान् पुण्यपापे विधूय निरञ्जनः परमं साम्यमुपैति॥*

एक ही वृक्ष के ऊपर सुन्दर पंखवाली दो चिड़ियाँ रहती हैं — दोनों बड़ी मित्र हैं; उनमें एक उसी वृक्ष के फल खाती है, दूसरी फल न खाकर स्थिर भाव से चुपचाप बैठी है। नीचे की शाखा में बैठी चिड़िया कभी मीठे, कभी कड़ुवे फल खाती है — और इसी कारण से कभी सुखी अथवा कभी

† कठोपनिषद्।

* मुण्डकोपनिषद्।

दुखी होती है, किन्तु ऊपर की शाखा में बैठी हुई चिड़िया स्थिर और गम्भीर भाव से बैठी हुई है—वह भले बुरे कोई फल नहीं खाती है—वह सुख और दुःख की परवाह नहीं करती—अपनी ही महिमा में मग्न है। ये दोनों पक्षी जीवात्मा और परमात्मा हैं। मनुष्य इस जीवन के मीठे और कड़ुवे फल खाता है, वह धन की खोज में मत्त है—वह इन्द्रिय-सुख के पीछे दौड़ता है, सांसारिक क्षणिक वृथा सुख के लिए उन्मत्त होकर पागल के समान दौड़ता है। उपनिषदों ने एक और स्थान में सारथि और उसके असंयत दुष्ट घोड़े के साथ मनुष्य के इस इन्द्रिय सुखान्वेषण की तुलना की है। मनुष्य इस प्रकार जीवन के वृथा सुख के अनुसन्धान की चेष्टा में दौड़ता है। शैशव काल में मनुष्य कितने उत्तम स्वप्न देखते हैं; किन्तु वे शीघ्र ही समझ लेते हैं कि ये स्वप्न हैं—वृद्धावस्था में वे अपने अतीत कर्मों की पुनरावृत्ति करते हैं, और पुनः वैसे ही कर्मों में लिप्त रहते हैं। किन्तु इस घोर संसार-जाल से कैसे बाहर निकला जाय, इसका उनको कुछ उपाय नहीं सूझता। संसार ऐसा ही है। किन्तु सभी मनुष्यों के जीवन में समय समय पर ऐसे उत्तम अवसर आते हैं,—मनुष्य के अत्यन्त शोक में, यहाँ तक कि महा आनन्द के समय ऐसे उत्तम सुअवसर आ उपस्थित होते हैं, जब सूर्य के प्रकाश को छिपाने वाला मेघ-खण्ड मानो थोड़ी देर के लिए हट जाता है। उस समय हम क्षणकाल के लिए अपने इस सीमाबद्ध भाव के परे उस सर्वातीत सत्ता का किञ्चित् दर्शन प्राप्त करते हैं जो अत्यन्त दूर है, जो पञ्चेन्द्रियाबद्ध जीवन से बहुत दूर है, जो इस संसार के व्यर्थ भोग और इसके सुख-दुःख से बहुत ही दूर है, जो प्रकृति के उस पार है, जो इहलोक अथवा परलोक में हम जिस सुख-भोग की कल्पना करते हैं उससे भी बहुत दूर है, जो धन, यश, और सन्तान की तृष्णा से भी

उपनिषदों का आरम्भ द्वैतवाद में और समाप्ति अद्वैतवाद में है। उदाहरणार्थ, जीवात्मा और परमात्मा पक्षीद्वय।

बहुत दूर हैं। उस समय मनुष्य क्षणकाल के लिए दिव्यदृष्टि प्राप्त करके स्थिर होता है — वह उस समय वृक्ष के ऊपर भाग में बैठी हुई चिड़िया को शान्त और महिमामय देखता है — वह देखता है कि वह खट्टे और मीठे कोई भी फल नहीं खाती है — वह अपनी महिमा में स्वयं आत्म-तृप्त है — जैसा गीता में कहा है :—

यस्त्वात्मरतिरेव स्यादात्मतृप्तश्च मानवः ।
आत्मन्येव च सन्तुष्टस्तस्य कार्यं न विद्यते ॥

"जो आत्मरति हैं, जो आत्मतृप्त हैं और जो आत्मा में ही सन्तुष्ट हैं, उनके करने के लिए और कौन कार्य शेष रह गया है? वे वृथा कार्य करके क्यों समय गंवायें?"

एक बार अचानक ब्रह्म-दर्शन प्राप्त करने के पश्चात् मनुष्य पुनः भूल जाता है, पुनः संसाररूपी वृक्ष के खट्टे और मीठे फल खाता है — और उस समय उसको कुछ भी स्मरण नहीं रहता। कदाचित् कुछ दिनों के पश्चात् वह पुनः एक बार पहिले के समान ब्रह्म के दर्शन प्राप्त करता है और जितनी चोट खाता है उतना ही वह नीचे की शाखा में बैठा हुआ पक्षी ऊपर बैठे हुए पक्षी के निकट जाता है। यदि वह सौभाग्य से संसार के तीव्र आघात पाता रहे, तो वह अपने साथी, अपने प्राण, अपने सखा उसी दूसरे पक्षी के निकट क्रमशः आता है। और वह जितना ही निकट आता है, उतना ही देखता है कि उस ऊपर बैठे हुए पक्षी की देह की ज्योति आकर उसके पंखों के चारों ओर खेल रही है। और वह जितना ही निकट जाता है उतना ही उसका रूप बदल जाता है। धीरे-धीरे वह जब अत्यन्त निकट पहुँच जाता है, तब देखता है कि मानो वह क्रमशः मिलता जा रहा है — अन्त में उसका पूर्ण रूप से लोप हो जाता है। उस समय वह समझता है कि उसका पृथक् अस्तित्व किसी समय में भी न था, वह उसी हिलते हुए पत्तों के भीतर शान्त और गम्भीर भाव में बैठे हुए दूसरे पक्षी का प्रतिबिम्ब

मात्र है। उस समय वह जानता है कि वह स्वयं ही वही ऊपर बैठा हुआ पक्षी है, वह सदा से शान्त भाव में बैठा हुआ था — वह उसी की महिमा है। वह निर्भय हो जाता है; उस समय वह सम्पूर्ण रूप से तृप्त होकर धीर और शान्त भाव में निमग्न रहता है। इसी रूपक में उपनिषद् द्वैतभाव से आरम्भ कर पूर्ण अद्वैत भाव में हमें ले जाते हैं।

उपनिषदों के अपूर्व कवित्व, महत्व का चित्र तथा महोच्च भावसमूह दिखलाने के लिए सैकड़ों उदाहरण उद्धृत किये जा सकते हैं किन्तु इस वक्तृता में इसके लिए समय नहीं है। तो भी एक बात और कहूँगा;—उपनिषदों की भाषा और भाव की गति सरल है, उनकी प्रत्येक बात तलवार के धार के समान, हथौड़े की चोट के समान साक्षात् भाव से हृदय में आघात करती है। उनके अर्थ समझने में कुछ भी भूल होने की सम्भावना नहीं है — उस संगीत के प्रत्येक सुर में शक्ति है, और वह हृदय में पूर्ण असर करता है। उनमें किसी प्रकार की अस्पष्टता नहीं है, एक भी असम्बद्ध बयान नहीं है, एक भी जटिल वाक्य नहीं है जिससे दिमाग घूम जाय। उनमें अवनति के चिह्न नहीं हैं, रूपक-वर्णन की भी ज्यादा चेष्टा नहीं की गई है। विशेषण के पश्चात् विशेषण देकर क्रमागत भाव को जटिल करने से प्रकृत विषय का पता नहीं मिलता, दिमाग चक्कर में आ जाता है, उस समय उस शास्त्ररूपी गोरखधंधे के बाहर निकलने का उपाय नहीं मिलता — उपनिषदों में इस प्रकार की बातों का कोई भी परिचय नहीं पाया जाता। यदि यह मानवप्रणीत है, तो वह एक ऐसी जाति का साहित्य है, जिसमें अब भी अपने जातीय तेजवीर्य के एक बिन्दु का भी ह्रास नहीं हुआ। उपनिषदों का प्रत्येक पृष्ठ तेजवीर्य से भरा हुआ है।

उपनिषदों की भाषा में और एक विशेषत्व है—उसमें अस्पष्टता नहीं है।

यह विषय विशेष रूप से स्मरण रखने योग्य है — समस्त जीवन में मैंने

यही महाशिक्षा प्राप्त की है—उपनिषद् कहते हैं, हे मानव, तेजस्वी बनो, दुर्बलता को त्यागो। मनुष्य कातर भाव से प्रश्न करता है, क्या मनुष्य में दुर्बलता नहीं है? उपनिषद् कहते हैं, अवश्य है, किन्तु अधिकतर दुर्बलता द्वारा क्या यह दुर्बलता दूर होगी? मैल क्या मैल से छूटता है, पाप के द्वारा पाप अथवा निर्बलता द्वारा निर्बलता दूर होती है? उपनिषद् कहते हैं, हे मनुष्य, तेजस्वी बनो, तेजस्वी बनो, उठकर खड़े होओ, वीर्य अवलम्बन करो। जगत् के साहित्य में केवल इन्हीं उपनिषदों में 'अभीः' (भयशून्य) यह शब्द बार बार व्यवहृत हुआ है—और संसार के किसी शास्त्र में ईश्वर अथवा मानव के प्रति 'अभीः'—'भयशून्य' यह विशेषण प्रयुक्त नहीं हुआ है। 'अभीः'—भयशून्य—बनो।—और मेरे मन में अत्यन्त अतीत काल के उस पाश्चात्य देशीय सम्राट सिकन्दर का चित्र उदय होता है—मानो मैं देख रहा हूँ—वह महाप्रतापशाली सम्राट सिन्धु नद के तट पर खड़ा होकर अरण्यवासी, शिलाखण्डोपविष्ट, वृद्ध, नग्न, हमारे ही एक संन्यासी के साथ बात कर रहा है—सम्राट ने संन्यासी के अपूर्व ज्ञान से विस्मित होकर उसको अर्थ और मान का प्रलोभन दिखाकर ग्रीस देश में आने के लिए निमंत्रित किया। संन्यासी ने अर्थमानादि के प्रलोभन की कथा सुनकर हँसी के साथ ग्रीस आना अस्वीकार कर दिया; उस समय सम्राट ने अपना राजप्रताप प्रकाश करके कहा, "यदि आप नहीं आयेंगे तो मैं आपको मार डालूँगा।" यह सुनकर संन्यासी ने खिलखिलाकर कहा, "तुमने इस समय जैसा कहा, जीवन में ऐसा मिथ्या भाषण और कभी नहीं किया। मुझको कौन मार सकता है? जड़-जगत् के सम्राट, तुम मुझको मारोगे? कदापि नहीं! मैं चैतन्यरूप, अज और अक्षय हूँ! मेरा कभी जन्म नहीं हुआ और

उपनिषदों का उपदेश—भय-शून्य बनो, तेजस्वी बनो।

संन्यासी तथा दिग्विजयी सिकन्दर।

न कभी मेरी मृत्यु हो सकती है! मैं अनन्त, सर्वव्यापी और सर्वज्ञ हूँ! तुम बालक हो, क्या तुम मुझको मारोगे?" यही सच्चा तेज और यही सच्चा वीर्य है!

हे बन्धुगण, हे स्वदेशवासियो, मैं जितना ही उपनिषदों को पढ़ता हूँ, उतना ही मैं तुम्हारे लिए आँसू बहाता हूँ; क्योंकि उपनिषदों में वर्णित इसी तेजस्विता को ही हमको विशेष रूप से जीवन में परिणत करना आवश्यक हो गया है। शक्ति, शक्ति — यही हमको चाहिए, हमको शक्ति की बड़ी आवश्यकता है। हमको शक्ति कौन प्रदान करेगा? हमको दुर्बल करने के लिये सहस्रों विषय हैं, कहानियाँ भी बहुत हैं। हमारे प्रत्येक पुराण में इतनी कहानियाँ हैं कि जिससे संसार में जितने पुस्तकालय हैं उनका तीन-चतुर्थांश पूर्ण हो सकता है। जो हमारी जाति को शक्तिहीन कर सकती हैं, ऐसी दुर्बलताओं का प्रवेश हममें विगत एक हजार वर्ष से ही हुआ है। ऐसा प्रतीत होता है, मानो विगत एक हजार वर्ष से हमारे जातीय जीवन का यही एकमात्र लक्ष्य था कि किस प्रकार हम अपने को दुर्बल से अधिकतर दुर्बल बना सकेंगे। अन्त में हम वास्तव में कीड़ों के समान हो गए हैं — इस समय जो चाहे वही हमको कुचल सकता है। हे बन्धुगण, तुम्हारे और मेरे नसों में एक ही रक्त का प्रवाह बह रहा है, तुम्हारा जीवन-मरण मेरा भी जीवन-मरण है। मैं तुमसे पूर्वोक्त कारणों से कहता हूँ कि हमको शक्ति, केवल शक्ति ही चाहिए। और उपनिषद् शक्ति की विशाल खान है। उपनिषदों में ऐसी प्रचुर शक्ति विद्यमान है कि वे समस्त संसार को तेजस्वी कर सकते हैं। उनके द्वारा समस्त संसार पुनरुज्जीवित एवं शक्ति और वीर्य सम्पन्न हो सकता है। समस्त जातियों को, सकल मतों को, भिन्न भिन्न सम्प्रदाय के दुर्बल, दुखी, पददलित लोगों को वे उच्च स्वर से पुकारकर स्वयं अपने पैरों खड़े होकर मुक्त होने के लिए कहते हैं। मुक्ति अथवा स्वाधीनता — दैहिक स्वाधीनता, मानसिक स्वाधी-

पुराणों की कहानियों को छोड़कर उपनिषदों के तेज का अवलम्बन करो।

नता, आध्यात्मिक स्वाधीनता यही उपनिषदों का मूलमंत्र है। संसार भर में ये ही एकमात्र शास्त्र हैं, जिनमें उद्धार (Salvation) का वर्णन नहीं किन्तु मुक्ति का वर्णन है। प्रकृति के बन्धन से मुक्त होओ, दुर्बलता से मुक्त होओ।

और उपनिषद् तुमको यह भी बतलाएँगे कि यह मुक्ति तुममें पहिले से ही विद्यमान है। उपनिषदों के उपदेश की यह और भी एक विशेषता है।

आत्मा की स्वरूपावस्था; इस विषय में द्वैत और अद्वैतवादियों का मत एक ही है।

तुम द्वैतवादी हो —कुछ चिन्ता नहीं; किन्तु तुमको यह स्वीकार करना ही होगा कि आत्मा स्वभाव ही से पूर्णस्वरूप है, केवल कितने ही कार्यों के द्वारा वह संकुचित हो गई है। आधुनिक विकासवादी (Evolutionist) जिसको क्रमविकास (Evolution) और क्रमसंकोच (Atavism) कहते हैं, रामानुज का संकोच और विकास का सिद्धान्त भी ठीक ऐसा ही है। आत्मा स्वाभाविक पूर्णता से भ्रष्ट होकर मानो संकोच को प्राप्त होती है, उसकी शक्ति अव्यक्तभाव धारण करती है; सत्कर्म और अच्छे विचारों द्वारा वह पुनः विकास को प्राप्त होती है और उसी समय उसकी स्वाभाविक पूर्णता प्रकट हो जाती है। अद्वैतवादी के साथ द्वैतवादी का इतना ही मतभेद है कि अद्वैतवादी आत्मा के विकास को नहीं, किन्तु प्रकृति के विकास को स्वीकार करता है। मान लीजिए एक परदा है और इस परदे में एक छोटा सुराख है। मैं इस परदे के भीतर से इस महान् जनसमुदाय को देख रहा हूँ। मैं प्रथम केवल थोड़े से मनुष्यों को देख सकूँगा। मान लीजिए, छेद बढ़ने लगा, छिद्र जितना ही बड़ा होगा उतना ही मैं इन एकत्र व्यक्तियों का अधिकांश देख सकूँगा। अन्त में छिद्र बढ़ते बढ़ते परदा और छिद्र एक हो जाएँगे। तब आपके और मेरे बीच किसी प्रकार की रुकावट नहीं रहेगी। इस स्थान में आपमें और मुझमें किसी प्रकार का परिवर्तन नहीं हुआ। जो कुछ परिवर्तन हुआ वह परदे में ही हुआ। आप आरम्भ से अन्त तक एक से थे; केवल

परदे में ही परिवर्तन हुआ था। विकास के सम्बन्ध में अद्वैतवादियों का यही मत है—प्रकृति का परिणाम और आभ्यन्तरीण आत्मा के स्वरूप का प्रकाश। आत्मा किसी प्रकार भी संकोच को प्राप्त नहीं हो सकती। यह अपरिवर्तनशील और अनन्त है। वह मानो मायारूपी परदे से ढँकी हुई थी—जितना ही यह मायारूपी परदा पतला होता जाता है, उतना ही आत्मा की स्वयंसिद्ध स्वाभाविक महिमा का प्रकाश होता है और क्रमशः वह अधिकतर प्रकाशमान होती है।

संसार इस महान् तत्व को भारत से सीखने की अपेक्षा कर रहा है। वे चाहे जो कहें, वे जितना ही अपने अभिमान को प्रकाश करने की चेष्टा करें, वे क्रमशः दिन प्रतिदिन जान लेंगे कि बिना इस तत्व को स्वीकार किए कोई समाज टिक नहीं सकता। क्या आप नहीं देख रहे हैं कि समस्त पदार्थों में कैसा भीषण परिवर्तन हो रहा है? क्या आप नहीं जानते कि पहिले वस्तुओं को स्वभावतः बुरा कहकर ग्रहण करने की प्रथा थी, किन्तु अब वे स्वभावतः अच्छी कहकर प्रमाणित हो रही हैं? शिक्षाप्रणाली में, अपराधियों की दण्ड-व्यवस्था में, पागलों की चिकित्सा में, यहाँ तक कि साधारण रोग की चिकित्सा पर्यंत यही प्राचीन नियम था कि सभी को स्वभावतः बुरा कहकर ग्रहण करना। आधुनिक नियम क्या है?

आत्मा स्वभावतः ही पूर्णस्वरूप है—इस मतवाद की कार्यकारिता।

आधुनिक नियम के अनुसार शरीर स्वभाव ही से स्वस्थ है; वह अपनी प्रकृति से ही रोगों को दूर करता है। औषधि अधिक से अधिक शरीर में सार पदार्थों के संचय में सहायता कर सकती है। अपराधियों के सम्बन्ध में यह आधुनिक नियम क्या कहता है? आधुनिक नियम यह स्वीकार करता है कि कोई अपराधी, वह कितना ही हीन क्यों न हो उसमें भी ईश्वरत्व है जिसका कभी परिवर्तन नहीं होता है, इसलिए अपराधियों के प्रति हमको तद्रूप व्यवहार करना चाहिए। अब पहिले के ये सब भाव बदल रहे हैं। इस समय कैदखानों

को संशोधनागार कहा जाता है। सब विषयों में इसी तरह परिवर्तन हो रहा है। जान कर कहिये अथवा बिना जाने — प्रत्येक व्यक्ति के भीतर ईश्वरत्व वर्तमान है, यह भारतीय भाव अन्यान्य देशों में भी नाना भावों से व्यक्त हो रहा है। और केवल आपके शास्त्रों में ही इसकी व्याख्या है; उनको यह व्याख्या ग्रहण करनी ही पड़ेगी। मनुष्य के प्रति मनुष्य के व्यवहार में महान् परिवर्तन हो जायगा और मनुष्य की दुर्बलताओं को बतलाने वाले ये प्राचीन विचार नहीं रहेंगे। इस शताब्दी में इन भावों का लोप हो जायगा। इस समय लोग हमारी नुकताचीनी करेंगे। "संसार में पाप नहीं है," मैं इस घोर पैशाचिक सिद्धान्त का प्रचार कर रहा हूँ — इसीलिए संसार के प्रत्येक प्रान्त के लोगों ने मुझको गाली दी है। बहुत अच्छा, किन्तु इस समय जिन्होंने मुझको बुरा-भला कहा है, उनके ही वंशज मुझको अधर्म का प्रचारक नहीं, किन्तु धर्म का प्रचारक कहकर आशीर्वाद देंगे। मैं धर्म का प्रचारक हूँ, अधर्म का नहीं। मैंने अज्ञानान्धकार का प्रचार नहीं किया किन्तु ज्ञान-प्रकाश के विस्तार की चेष्टा की है, इसे मैं अपना गौरव समझता हूँ।

उपनिषदों से संसार और एक तत्व सीखेगा — वह है समग्र जगत् का अखण्डत्व।

समग्र संसार का अखण्डत्व — हमारे उपनिषदों से इस महान् उपदेश को प्राप्त करने की संसार अपेक्षा कर रहा है। प्राचीन काल की हदबन्दी और पार्थक्य इस समय शीघ्र कम होते जा रहे हैं। बिजली और भाप की शक्ति संसार के विभिन्न अंशों का परस्पर परिचय करा रही है। इसके फलस्वरूप, हम हिन्दू इस समय अपने देश के अतिरिक्त अन्य सब देशों को केवल भूत प्रेत, राक्षस, पिशाचों से पूर्ण नहीं देख रहे हैं और ईसाई-धर्म-प्रधान देशों के लोग भी नहीं कहते कि भारत में केवल नरमाँसभोजी और असभ्य लोग रहते हैं। अपने देश से बाहर जाकर हम देखते हैं कि हमारे भाई सहायता के लिए अपना हाथ बढ़ाते हैं और मुँह से उत्साहित करते हैं। किसी समय अन्य देशों में

अपने देश की अपेक्षा ऐसे लोगों की संख्या अधिक दिखाई देती है। जब वे यहाँ आते हैं, वे भी यहाँ वैसा ही भ्रातृभाव, उत्साह और सहानुभूति पाते हैं। हमारे उपनिषदों ने ठीक ही कहा है, अज्ञान ही सर्व प्रकार के दुःखों का कारण है। सामाजिक अथवा आध्यात्मिक, अपने जीवन के चाहे जिस विषय में देखिये, यही सम्पूर्ण सत्य है, ऐसा प्रतीत होता है। अज्ञान से ही हम परस्पर एक दूसरे से घृणा करते हैं, अज्ञान से ही हम एक दूसरे को जानते नहीं और इसीलिए प्यार नहीं करते। जिस समय हम अच्छी तरह एक दूसरे को जान लेंगे उसी समय आपस में प्रेम का उदय होगा। प्रेम का उदय निश्चय होगा — कारण, क्या हम सब एक आत्मस्वरूप नहीं हैं? इसलिए हम देखते हैं कि चेष्टा न करने पर भी, हम सब का एकत्वभाव स्वभाव ही से आ जाता है। यहाँ तक कि राजनीति और समाजनीति के क्षेत्रों में भी जो समस्याएँ बीस वर्ष पहिले केवल जातीय समस्या थीं, इस समय केवल जातीयता के आधार से ही उनकी मीमांसा नहीं की जा सकती। उक्त समस्याएँ क्रमशः कठिन हो रही हैं और विशाल आकार धारण कर रही हैं। केवल अन्तर्जातीय आधार पर उदार दृष्टि से विचार करने पर ही उनकी मीमांसा की जा सकती है। अन्तर्जातीय संगठन, अन्तर्जातीय संघ, अन्तर्जातीय विधान, — ये ही आजकल के मूलमंत्र-स्वरूप हैं। सब लोगों के भीतर एकत्वभाव किस प्रकार विस्तृत हो रहा है, यही उसका प्रमाण है। विज्ञान में भी जड़तत्व के सम्बन्ध में ऐसे ही सार्वभौमिक भाव ही इस समय आविष्कृत हो रहे हैं। इस समय आप समग्र जड़-वस्तु को, समस्त संसार को एक अखण्ड वस्तुरूप में, बृहत् जड़समुद्र-सा वर्णन करते हैं जिसमें आप, मैं, चन्द्र-सूर्य, यहाँ तक कि और जो कुछ है, सभी इस महान् समुद्र में विभिन्न क्षुद्र भँवर मात्र हैं और कुछ नहीं। मानसिक दृष्टि से देखने पर वह एक अनन्त चिन्तारूपी समुद्र प्रतीत होता है; आप और मैं उस चिन्तारूपी समुद्र के अत्यन्त छोटे छोटे भँवरों के सदृश हैं और आत्म-दृष्टि से देखने पर समग्र जगत् एक अचल, अपरिवर्तनशील सत्ता अर्थात्

आत्मा प्रतीत होती है। नीति के लिए भी संसार लालायित है — यह भी हमारे ग्रन्थों में विद्यमान है। नीतितत्व की व्याख्या के लिए भी संसार व्याकुल है — यह भी हमारे शास्त्रों से ही मिलेगा।

हमको भारत में किसकी आवश्यकता है? यदि विदेशियों को इन पदार्थों की आवश्यकता है, तो हमको इनकी आवश्यकता बीस गुना अधिक है। कारण, हमारे उपनिषद् कितने ही बड़े क्यों न हों, अन्यान्य जातियों के साथ तुलना में हमारे पूर्वपुरुष ऋषिगण कितने ही बड़े क्यों न हों, मैं आपसे स्पष्ट भाषा में कह देता हूँ कि हम दुर्बल हैं, अत्यन्त दुर्बल हैं। प्रथमतः,— हमारी शारीरिक दुर्बलता — यह शारीरिक दुर्बलता कम से कम हमारे एक तिहाई दुःखों का कारण है। हम आलसी हैं; हम कार्य नहीं कर सकते हैं; हम एकसाथ मिल नहीं सकते; हम एक दूसरे से प्रेम नहीं करते हैं; हम बड़े स्वार्थी हैं; हम तीन मनुष्य एकत्रित होते ही एक दूसरे से घृणा करते हैं, ईर्ष्या करते हैं। हमारी इस समय ऐसी अवस्था है — हम पूर्णरूप से असंगठित हैं, घोर स्वार्थी हो गये हैं — सैकड़ों शताब्दियों से इसीलिए झगड़ते हैं कि तिलक इस तरह धारण करना चाहिए या उस तरह। अमुक व्यक्ति को देखने से हमारा भोजन नष्ट होगा या नहीं, ऐसी गुरुतर समस्याओं के ऊपर हम बड़े बड़े ग्रन्थ लिखते हैं! जिस जाति के मस्तिष्क की समस्त शक्ति ऐसी अपूर्व सुन्दर समस्याओं को हल करने में नियुक्त है, उसकी इस समय जैसी अवस्था है, तदपेक्षा उसकी उन्नति की और क्या आशा की जा सकती है! और हमको शर्म भी नहीं आती! हाँ, कभी कभी शर्मिन्दा होते भी हैं, किन्तु हम जो सोचते हैं उसको कार्य में परिणत नहीं कर सकते। हम अनेक बातें सोचते हैं किन्तु उनके अनुसार कार्य नहीं कर सकते। इस प्रकार तोते के समान चिन्ता करना हमारा अभ्यास हो गया है — आचरण में हम बहुत पिछड़े हुए हैं। इसका कारण क्या है? शारीरिक दौर्बल्य ही

हमारी हीनता का प्रधान कारण है— शारीरिक दुर्बलता

इसका कारण है। दुर्बल मस्तिष्क कुछ नहीं कर सकता; हमको अपने मस्तिष्क को बलवान बनाना होगा। प्रथम तो हमारे युवकों को बलवान बनाना होगा। धर्म पीछे आयेगा। हे मेरे युवकबन्धुगण, तुम बलवान बनो, — यही तुम्हारे लिए मेरा उपदेश है। गीता पाठ करने की अपेक्षा तुम फुटबाल खेलने से स्वर्ग के अधिक समीप पहुँचोगे। मैंने अत्यन्त साहसपूर्वक ये बातें कही हैं, और इनको कहना अत्यावश्यक है, कारण मैं तुमको प्यार करता हूँ। मैं जानता हूँ कि कङ्कड़ कहाँ चुभता है। मैंने कुछ अनुभव प्राप्त किया है। बलवान शरीर से अथवा मजबूत पुट्ठों से तुम गीता को अधिक समझ सकोगे। शरीर में ताजा रक्त होने से तुम श्रीकृष्ण की महती प्रतिभा और महान् तेजस्विता को अच्छी तरह समझ सकोगे। जिस समय तुम्हारा शरीर तुम्हारे पैरों के बल दृढ़ भाव से खड़ा होगा, जब तुम अपने को मनुष्य समझोगे, तब तुम उपनिषद् और आत्मा की महिमा भलीभाँति समझोगे। इस तरह वेदान्त को अपनी आवश्यकताओं के अनुसार काम में लाना होगा। मनुष्य बहुधा मेरे अद्वैतवाद के प्रचार से विरक्त हो जाते हैं। अद्वैतवाद, द्वैतवाद अथवा अन्य कोई वाद प्रचार करना मेरा उद्देश्य नहीं है। हमको इस समय आवश्यक है केवल आत्मा का यही अपूर्व तत्व, उसकी अनन्त शक्ति, अनन्त वीर्य, अनन्त शुद्धता और अनन्त पूर्णता के तत्व को जानना।

गीता और फुटबाल।

यदि मेरे कोई सन्तान होती तो मैं उसे जन्म के समय से ही सुनाता 'त्वमसि निरञ्जनः।' आपने अवश्य ही पुराण में रानी मदालसा की वह सुन्दर कहानी पढ़ी होगी। उसके सन्तान होते ही वह उसको अपने हाथ से झूले पर रखकर झुलाते हुए उसके निकट गाती थी, 'त्वमसि निरञ्जनः'। इस कहानी में महान् सत्य छिपा हुआ है। आप अपने को महान् अनुभव कीजिए, आप महान् होंगे। सभी लोग पूछते हैं, आपने समग्र संसार में भ्रमण करके क्या अनुभव प्राप्त

त्वमसि निरञ्जनः।

किया ? अँगरेज लोग पाप, पापी इत्यादि अनेक प्रकार की बातें करते हैं; पर वास्तव में यदि सभी अँगरेज अपने को पापी समझते, तो वे आफ्रिका के मध्यभाग के रहनेवाले हबशी जैसे हो जाते। ईश्वर की कृपा से इस बात पर वे विश्वास नहीं करते। वे तो यह विश्वास करते हैं कि संसार के अधीश्वर होकर हमने जन्म धारण किया है। वे अपनी श्रेष्ठता पर पूरा विश्वास रखते हैं। उनकी धारणा है कि हम सब कुछ कर सकते हैं। इच्छा होने पर हम सूर्यलोक और चन्द्रलोक की भी सैर कर सकते हैं। इसी इच्छा के बल से वे बड़े हुए हैं। यदि वे अपने पुरोहितों के इन वाक्यों पर — कि मनुष्य क्षुद्र है, हतभाग्य और पापी है, अनन्त काल तक वह नरकाग्नि में दग्ध होगा, — विश्वास करते, तो जिस रूप में उन्हें आज हम देख रहे हैं, ऐसे बड़े कभी न देखते। यही बात मैं प्रत्येक जाति के भीतर देखता हूँ। उनके पुरोहित लोग चाहे जो कुछ कहें और वे कितने ही कुसंस्कारपूर्ण क्यों न हों, किन्तु उनके अभ्यन्तर का ब्रह्मभाव लुप्त न होगा, उसका विकास अवश्य होगा। हम विश्वास खो बैठे हैं। क्या आप मेरे इस कथन पर विश्वास करेंगे ? हम अंग्रेजों की अपेक्षा कम विश्वास रखते हैं — सहस्रगुण कम विश्वास रखते हैं। मैं साफ साफ कह रहा हूँ। बिना कहे दूसरा उपाय भी मैं नहीं देखता। आप देखते नहीं ? — अंग्रेज जब हमारे धर्मतत्व को कुछ कुछ समझने लगते हैं तब वे मानो उसी को लेकर उन्मत्त हो जाते हैं। यद्यपि वे शासक हैं, तथापि अपने स्वदेशवासियों की ठट्ठा और उपहास की उपेक्षा करके भारत में हमारे ही धर्म का प्रचार करने के लिए वे आते हैं। आप लोगों में से कितने ऐसे हैं जो ऐसा काम कर सकते हैं ? आप क्यों ऐसा नहीं कर सकते ? क्या आप जानते नहीं, इसलिए नहीं कर सकते ? उनकी अपेक्षा आप अधिक ही जानते हैं। इसी से तो ज्ञान के अनुसार आप काम नहीं कर सकते। जितने के जानने से कल्याण होगा उससे आप ज्यादा जानते हैं, यही आफत है !

अंग्रेज श्रेष्ठ क्यों हैं? — अपने आत्म-विश्वास के बल पर।

तुम जानते तो बहुत हो, परन्तु शारीरिक दुर्बलता के कारण तुममें कार्य करने की क्षमता नहीं है।

आपका रक्त दूषित, मस्तिष्क मुर्दार और शरीर दुर्बल हो गया है। इस शरीर को बदलना होगा। शारीरिक दुर्बलता ही सब अनिष्टों की जड़ है और कुछ नहीं। गत कई सदियों से आप नाना प्रकार के संस्कार, आदर्श आदि की बातें कर रहे हैं और जब काम करने का समय आता है तब आपका पता ही नहीं मिलता। अतः आपके आचरणों से सारा संसार क्रमशः विरक्त हो रहा है और समाज-सुधार का नाम तक समस्त संसार के उपहास की वस्तु हो गई है! इसका कारण क्या है? क्या आप जानते नहीं हैं? आप अच्छी तरह जानते हैं। ज्ञान की कमी तो आप में है ही नहीं! कुल अनर्थों का मूल कारण यही है कि आप दुर्बल हैं, अत्यन्त दुर्बल हैं; आपका शरीर दुर्बल है, मन दुर्बल है, और अपने ऊपर आत्मविश्वास भी बिल्कुल नहीं है। सैकड़ों सदियों से ऊँची जाति—राजाओं और विदेशियों ने आपके ऊपर अत्याचार करके, आपको चकनाचूर कर डाला है। भाइयो! आपके ही स्वजनों ने आपका सब बल हरण कर लिया है! आप इस समय मेरुदण्डहीन और पददलित कीड़ों के समान हैं। इस समय हमें शक्ति कौन देगा? मैं आपसे कहता हूँ, इसी समय हमको बल और वीर्य की आवश्यकता है। इस शक्ति को प्राप्त करने का पहला उपाय है—उपनिषदों पर विश्वास करना और यह विश्वास करना कि "मैं आत्मा हूँ।" "मुझे न तो तलवार काट सकती है, न बरछी छेद सकती है, न आग जला

उपाय—उपनिषदुक्तआत्म-तत्व में विश्वास।

सकती है और न हवा सुखा सकती है; मैं सर्वशक्तिमान हूँ, सर्वज्ञ हूँ।" इन आशाप्रद और बचानेवाले वाक्यों का सर्वदा उच्चारण करो। मत कहो—हम दुर्बल हैं। हम सब कुछ कर सकते हैं। हम क्या नहीं कर सकते? हमसे सब कुछ हो सकता है। हम सबके भीतर एक ही

महिमामय आत्मा है। हमें इस पर विश्वास करना होगा। नचिकेता के समान विश्वासी बनो। नचिकेता के पिता ने जब यज्ञ किया था, उसी समय नचिकेता के भीतर श्रद्धा का प्रवेश हुआ। मेरी इच्छा है — आप लोगों के भीतर इसी श्रद्धा का आविर्भाव हो, आपमें से हरएक आदमी खड़ा होकर इशारें से संसार का चलानेवाला प्रतिभासम्पन्न महापुरुष हो, अनन्त ईश्वरतुल्य हो। मैं आप लोगों को ऐसा ही देखना चाहता हूँ। उपनिषदों से आप ऐसी ही शक्ति प्राप्त करेंगे और उपनिषदों से ही आपको ऐसा विश्वास होगा। यह सब कुछ उपनिषदों में है।

प्राचीन काल में केवल अरण्यवासी संन्यासी ही उपनिषदों की चर्चा करते थे। शंकर ने कुछ सदय हो कहा है— "गृही मनुष्य भी उपनिषदों का अध्ययन कर सकते हैं; इससे उनका कल्याण ही होगा, कोई अनिष्ट न होगा;

क्या उपनिषद् केवल संन्यासियों के लिए हैं?

परन्तु अभी तक यह संस्कार कि उपनिषदों में वन, जंगल अथवा एकान्तवास का ही वर्णन है — मनुष्यों के मन से नहीं हटा। मैंने आप लोगों से उस दिन कहा था कि जो स्वयं वेदों के प्रकाशक हैं, उन्हीं भगवान श्रीकृष्ण के द्वारा वेदों की एकमात्र प्रामाणिक टीका — गीता — एक ही बार चिर काल के लिए बनी है; यह सबके लिए और जीवन की सभी अवस्थाओं के लिए उपयोगी है। उस पर और कोई टीका-टिप्पणी नहीं चल सकती। इसी गीता में वेदान्त के प्रत्येक व्यक्ति के लिए उपदेश हैं। तुम कोई भी काम करो, तुम्हारे लिए वेदान्त की आवश्यकता है। वेदान्त के ये सब महान् तत्व केवल अरण्य में अथवा गिरिगुहाओं में आबद्ध नहीं रहेंगे; विचारालयों में, प्रार्थना-मन्दिरों में, दरिद्रों की कुटी में, मत्स्यजीवियों के गृह में, छात्रों के अध्ययन-स्थान में — सर्वत्र ही इन तत्वों की आलोचना होगी और ये काम में लाये जाएँगे। हरएक व्यक्ति, हरएक सन्तान चाहे जो काम करे, चाहे जिस अवस्था में हो — सर्वत्र ही वेदान्त के प्रभाव का विस्तार हो जाना आवश्यक है।

भय का अब कोई कारण नहीं है। उपनिषदों के सिद्धान्तों को कैवर्त आदि साधारण जन किस प्रकार काम में लायेंगे? इसका उपाय शास्त्रों में बताया गया है। यह मार्ग अनन्त है — धर्म अनन्त है, कोई इसके पार नहीं जा सकता। तुम निष्कपट भाव से जो कुछ करते हो तुम्हारे लिए वही अच्छा है। अत्यन्त छोटा कर्म भी यदि अच्छे भाव से किया जाय, तो उससे अद्भुत फल की प्राप्ति होती है। अतएव जो जहाँ तक अच्छे भाव से काम कर सके, करे। मत्स्यजीवी यदि अपने को आत्मा कहकर चिन्तन करे, तो वह एक उत्तम मत्स्यजीवी होगा। विद्यार्थी यदि अपने को आत्मा विचारे, तो वह एक श्रेष्ठ विद्यार्थी होगा। वकील यदि अपने को आत्मा समझे, तो वह एक अच्छा वकील होगा। औरों के विषय में भी यही समझिए।

सर्वसाधारण के बीच वेदान्त-ज्ञान के प्रचार की प्रयोजनीयता और उसकी कार्यकारिता।

इसका फल यह होगा कि जातिविभाग अनन्त काल तक रह जायेगा; क्योंकि विभिन्न श्रेणियों में विभक्त होना ही समाज का स्वभाव है। पर रहेगा क्या नहीं? विशेष अधिकारों का अस्तित्व न रह जायेगा। जातिविभाग प्राकृतिक नियम है। सामाजिक जीवन में एक विशेष काम मैं कर सकता हूँ, तो दूसरा काम आप कर सकते हैं। आप एक देश का शासन कर सकते हैं तो मैं एक पुराने जूते की मरम्मत कर सकता हूँ, किन्तु इस कारण आप मुझसे बड़े नहीं हो सकते। क्या आप जूते की मरम्मत कर सकते हैं? मैं क्या देश का शासन कर सकता हूँ? यह कार्यविभाग स्वाभाविक है। मैं जूते की सिलाई करने में चतुर हूँ, आप वेदपाठ में निपुण हैं। यह कोई कारण नहीं कि आप इस विशेषता के लिए मेरे सिर पर पैर रखें। आप यदि हत्या भी करेंगे तो भी आपकी प्रशंसा करनी होगी और मुझे

वेदान्तप्रचार के द्वारा जातिविभाग अनन्त काल तक रह जायेगा, विशेष अधिकार केवल नष्ट होंगे।

एक सेव चुराने पर ही फाँसी पर लटकना होगा, ऐसा नहीं हो सकता। ऐसे अधिकारों का तारतम्य उठ जायेगा। जातिविभाग अच्छा है। जीवन-समस्या के समाधान के लिए यही एकमात्र स्वाभाविक उपाय है। मनुष्य अलग अलग दलों में विभक्त होंगे, यह अनिवार्य है। जहाँ आप जाइए, जातिविभाग रहेगा; किन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि इस प्रकार के अधिकारों का तारतम्य भी रहेगा। इनको जड़ से उखाड़ फेंकना होगा। यदि मत्स्यजीवी को आप वेदान्त सिखलायेंगे तो वह कहेगा, हम और आप दोनों बराबर हैं। आप दार्शनिक हैं, मैं मत्स्यजीवी हूँ; पर इससे हुआ क्या? आपके भीतर जो ईश्वर है वही मुझमें भी है। हम यही चाहते हैं। किसी को कोई विशेष अधिकार प्राप्त न हो, और प्रत्येक मनुष्य की उन्नति के लिए समान सुभीते हों।

सब लोगों को उनके भीतर स्थित ब्रह्मतत्व सम्बन्धी शिक्षा दो। प्रत्येक व्यक्ति अपनी मुक्ति के लिए स्वयं चेष्टा करेगा। उन्नति के लिए सबसे पहिले स्वाधीनता की आवश्यकता है। यदि आप लोगों में से कोई यह कहने का साहस करे कि मैं अमुक स्त्री अथवा अमुक लड़के की मुक्ति के लिए काम करूँगा, तो यह अत्यन्त अन्याय और भूल होगी। मुझसे बारबार यह पूछा जाता है कि विधवाओं और सारी स्त्री जाति की उन्नति के उपाय के विषयों में आप क्या सोचते हैं? मैं इस प्रश्न का अन्तिम उत्तर यह देता हूँ,—क्या मैं विधवा हूँ जो तुम ऐसा निरर्थक प्रश्न मुझसे पूछते हो? क्या मैं स्त्री हूँ जो तुम बारंबार मुझसे यही प्रश्न पूछते हो? स्त्री जाति के प्रश्न को हल करने के लिए आगे बढ़नेवाले तुम हो कौन? क्या तुम हरएक विधवा और हरएक स्त्री के भाग्यविधाता साक्षात् भगवान हो? अलग हो जाओ। अपनी समस्याओं की पूर्ति वे स्वयं कर लेंगी। यथेच्छाचारी अत्याचारियो, क्या तुम समझते हो कि तुम सब के लिए सब कुछ कर सकते हो? जाओ, अलग हो

हम संसार की सहायता नहीं कर सकते, हमारा अधिकार सेवा में ही है।

जाओ। ईश्वर सबकी चिन्ता करेंगे। अपने को सर्वज्ञ समझनेवाले तुम हो कौन? नास्तिको, तुम यह सोचने का दुस्साहस कैसे करते हो कि तुम्हारा ईश्वर पर अधिकार है? क्या तुम जानते नहीं कि प्रत्येक आत्मा ईश्वर ही का स्वरूप है? तुम अपना ही कर्म करो, तुम्हारे लिए तुम्हारे सिर पर बहुत से कर्मों का भार है। नास्तिको! तुम्हारी जाति तुमको आसमान पर चढ़ा दे, तुम्हारा समाज तुम्हारी प्रशंसा के पुल बाँध दे, मूर्ख लोग तुम्हारी तारीफ करें, किन्तु ईश्वर सो नहीं रहे हैं; इस लोक में या परलोक में इसका दण्ड तुम्हें अवश्य मिलेगा।

अतएव हरएक स्त्री को, हरएक पुरुष को—सभी को ईश्वर के ही समान देखो। तुम किसी की सहायता नहीं कर सकते, तुम्हें केवल सेवा करने का अधिकार है। प्रभु की सन्तान की—यदि भाग्यवान हो तो—स्वयं प्रभु की ही सेवा करो। यदि ईश्वर के अनुग्रह से उसकी किसी सन्तान की सेवा कर सकोगे, तो तुम धन्य हो जाओगे। अपने ही को बहुत बड़ा मत समझो। तुम धन्य हो, क्योंकि सेवा करने का तुमको अधिकार मिला है और दूसरों को नहीं मिला। यह सेवा तुम्हारे लिए पूजा के तुल्य है। दरिद्र व्यक्तियों में हमको भगवान को देखना चाहिए—अपनी ही मुक्ति के लिए उनके निकट जाकर हमें उनकी पूजा करनी चाहिए; उनमें ईश्वर का वास है। हम लोगों की मुक्ति के लिए कितने ही जीव दुःख उठा रहे हैं। हमें रोगी, पागल, कोढ़ी, पापी आदि स्वरूपों में विचरते हुए प्रभु की पूजा करनी चाहिए। मेरा वर्णन बड़ा कठिन हो गया है। मेरा कथन यह है कि हम लोगों के जीवन का सर्वश्रेष्ठ सौभाग्य यही है कि हम इन भिन्न-भिन्न रूपों में विराजमान भगवान की सेवा कर सकते हैं। प्रभुत्व से किसी का कल्याण कर सकने की धारणा त्याग दो। जिस प्रकार पौधे के बढ़ने के लिए जल, मिट्टी, वायु आदि पदार्थों का संग्रह कर देने पर फिर वह पौधा अपनी प्रकृति के नियमानुसार आवश्यक पदार्थों का ग्रहण आप ही कर लेता है और अपने स्वभाव के अनुसार बढ़ता जाता है, उसी प्रकार दूसरों की उन्नति के साधन एकत्र करके उनका हित करो।

संसार में ज्ञान के प्रकाश का विस्तार करो; प्रकाश, प्रकाश लाओ। प्रत्येक व्यक्ति ज्ञान के प्रकाश को प्राप्त करे। जब तक सब लोग भगवान के निकट न पहुँच जायँ तब तक तुम्हारा कार्य शेष नहीं हुआ है। गरीबों में ज्ञान का विस्तार करो, धनियों पर और भी अधिक प्रकाश डालो; क्योंकि दरिद्रों की अपेक्षा धनियों को अधिक प्रकाश की आवश्यकता है। अपढ़ लोगों को भी प्रकाश दिखाओ। शिक्षित मनुष्यों के लिए और अधिक प्रकाश चाहिए, क्योंकि आजकल शिक्षा का मिथ्याभिमान खूब प्रबल हो रहा है। इसी तरह सबके निकट प्रकाश का विस्तार करो। जो काम पड़ा रह जायेगा वह भगवान करेंगे, क्योंकि स्वयं भगवान कहते हैं,—

संसार में सर्वत्र ज्ञानालोक का विस्तार करो।

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।
मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि ॥ *

"कर्म में ही तुम्हारा अधिकार है, फल में नहीं; तुम इस भाव से कर्म मत करो जिससे तुम्हें फल-भोग करना पड़े। तुम्हारी प्रवृत्ति कर्म-त्याग करने की ओर न हो।"

सैकड़ों युग पूर्व हमारे पूर्व पुरुषों को जिन्होंने ऐसे महोच्च सिद्धान्त सिखलाए हैं वे हमें उन आदर्शों को काम में लाने की शक्ति दें और हमारी सहायता करें।

---

* गीता, २–४७

१३. भारत के महापुरुष

भारतीय महापुरुषों के विषय में कुछ कहने के पहले मुझे उस समय का स्मरण होता है जिस समय का पता इतिहास को नहीं मिला;— जिस अतीत के अन्धकार में पैठकर भेद खोलने का किंवदन्तियाँ वृथा प्रयत्न करती हैं। भारत में इतने महापुरुष पैदा हुए हैं कि उनकी गणना नहीं हो सकती; और ऋषि पैदा करना छोड़ हजारों वर्षों से इस हिन्दू जाति ने और किया ही क्या! अतः इन महर्षियों में से युगान्तर करनेवाले कुछ सर्वश्रेष्ठ आचार्यों का वर्णन अर्थात् उनके चरित्र की आलोचना करके जो कुछ मैं समझा हूँ, वही आप के निकट कहूँगा। पहले अपने शास्त्रों के सम्बन्ध में हमें कुछ जान लेना चाहिए। हमारे शास्त्रों में सत्य के दो आदर्श हैं। पहला वह है जिसे हम सनातन सत्य कहते हैं; और दूसरा वह जो पहले की तरह प्रमाण-पुष्ट न होने पर भी, विशेष विशेष देश, काल और पात्र पर प्रयुज्य है। श्रुति अथवा वेदों में जीवात्मा और परमात्मा के स्वरूप और उनके पारस्परिक सम्बन्ध का वर्णन है; मन्वादि स्मृतियों में, याज्ञवल्क्यादि संहिताओं में, पुराणों और तन्त्रों में दूसरे प्रकार का सत्य है। ये दूसरे दर्जे के ग्रंथ और शिक्षाएँ श्रुति के अधीन हैं; क्योंकि स्मृति और श्रुति में यदि विरोध हो तो श्रुति को ही प्रमाणस्वरूप ग्रहण करना होगा। शास्त्रसम्मति यही है। मतलब यह कि श्रुति में जीवात्मा की नियति और उसके चरम लक्ष्यविषयक मुख्य सिद्धान्तों का वर्णन है; और स्मृतियों और पुराणों का काम है केवल इन्हीं के सम्बन्ध में गौण विषयों का सविशेष वर्णन करना,— वे प्रथमोक्त सत्य के ही सविस्तार वर्णन हैं। साधारणतया उपदेशों के लिए श्रुति ही पर्याप्त है। धार्मिक जीवन बिताने के लिए सार तत्व के विषय में श्रुति के कहे उपदेशों से अधिक न

सनातन सत्य और युगधर्म।

और कुछ कहा जा सकता है, और न कुछ जानने की आवश्यकता ही है। इस विषय में जो कुछ आवश्यक है, वह श्रुति में है; जीवात्मा की सिद्धि-प्राप्ति के लिए जो जो उपदेश चाहिए, उनका सम्पूर्ण वर्णन श्रुति में है। केवल विशेष अवस्थाओं के विशेष विधान श्रुति में नहीं हैं। भिन्न भिन्न समय की विशेष व्यवस्था स्मृतियों में दी गई है। श्रुति में एक विशेषता और है। जिन महर्षियों ने श्रुति में विभिन्न तत्व सम्बद्ध किये हैं (इनमें पुरुषों की ही संख्या अधिक है, किन्तु कुछ नारियों का भी उल्लेख है) उनके व्यक्तिगत जीवन के सम्बन्ध में अथवा उनके जन्म के सन, तारीख आदि के विषय में हमें बहुत कम ज्ञान है किन्तु उनके सर्वोत्कृष्ट विचार (उन्हें श्रेष्ठ आविष्क्रिया कहना ही अच्छा होगा) हमारे देश के धर्म-साहित्य वेदों में लेखबद्ध और रक्षित हैं। पर स्मृतियों में ऋषियों की जीवनी और प्रायः उनके कार्यकलाप ही देखने को मिलते हैं, स्मृतियों में ही हम अद्‌भुत, महाशक्तिशाली, मनोहर-चरित्र और इशारे से सारे संसार को चलानेवाले महर्षियों का परिचय प्राप्त करते हैं। उनके समुन्नत और उज्ज्वल चरित्र के आगे उनके उपदेश मानो क्षुद्र जान पड़ते हैं।

हिन्दू तथा अन्यान्य धर्मों में प्रभेद।

हमारे धर्म में ईश्वरविषयक जो यह उपदेश है कि ईश्वर निर्गुण ही नहीं है किन्तु सगुण भी—यह उसकी एक विशेषता है जिसे हमें समझना चाहिए। उसमें व्यक्तिगत सम्बन्धों से रहित अनन्त सनातन सिद्धान्तों के साथ साथ असंख्य व्यक्तियों अर्थात् अवतारों के भी उपदेश हैं, परन्तु श्रुति अथवा वेद ही हमारे धर्म के मूल हैं, उनमें केवल सनातन तत्व के उपदेश हैं। बड़े बड़े अवतारों, बड़े बड़े आचार्यों और महर्षियों का उल्लेख स्मृतियों और पुराणों में है। और ध्यान देने योग्य एक बात यह भी है कि केवल हमारे धर्म को छोड़कर संसार के और सब धर्म किसी धर्म-प्रवर्तक अथवा धर्म-प्रवर्तकों के जीवन से ही अच्छेद्य सम्बन्ध रखते हैं। ईसाई धर्म ईसा के, मुसल-

मान धर्म मुहम्मद के, बौद्ध धर्म बुद्ध के, जैन धर्म जिनों के और अन्यान्य धर्म अन्यान्य व्यक्तियों के जीवन के ऊपर प्रतिष्ठित हैं।' इसलिए इन महापुरुषों के जीवन के ऐतिहासिक प्रमाणों को लेकर उन धर्मों में जो यथेष्ट वाद-विवाद होता है, वह स्वाभाविक है। यदि कभी इन प्राचीन महापुरुषों के अस्तित्वविषयक ऐतिहासिक प्रमाण दुर्बल होते हैं तो उनकी धर्मरूपी अट्टालिका गिरकर चूर चूर हो जाती है। हमारा धर्म व्यक्तिविशेष के ऊपर नहीं किन्तु सनातन सिद्धान्तों के ऊपर प्रतिष्ठित होने के कारण हम उस विपत्ति से मुक्त हैं। किसी महापुरुष, यहाँ तक कि किसी अवतार के कथन को ही आप अपना धर्म मानते हैं, सो नहीं। कृष्ण के वचनों से वेदों की प्रामाणिकता सिद्ध नहीं होती; किन्तु वे वेदों के अनुगामी हैं, इसीसे कृष्ण के वे वाक्य प्रमाण-स्वरूप हैं। कृष्ण वेदों के प्रमाण नहीं हैं, किन्तु वेद ही कृष्ण के प्रमाण हैं। कृष्ण का माहात्म्य यही है कि वेदों के जितने प्रचारक हुए हैं उनमें सर्वश्रेष्ठ वे ही हैं। अन्यान्य अवतार और समस्त महर्षियों के सम्बन्ध में भी ऐसा ही समझिये। हम आरम्भ ही से यह स्वीकार कर लेते हैं कि मनुष्य की पूर्णता-प्राप्ति के लिए, उसकी मुक्ति के लिए जो कुछ आवश्यक है उसका वर्णन वेदों में है। कोई और नया आविष्कार नहीं हो सकता। समस्त ज्ञान के चरम लक्ष्यस्वरूप पूर्ण एकत्व के आगे आप कभी बढ़ नहीं सकते।

इस पूर्ण एकत्व का आविष्कार बहुत पहिले ही वेदों ने किया है; इससे अधिक अग्रसर होना असम्भव है। 'तत्त्वमसि' का आविष्कार हुआ कि आध्यात्मिक ज्ञान सम्पूर्ण हो गया। यह 'तत्त्वमसि' वेदों में ही है। विभिन्न देश, काल, पात्र के अनुसार समय समय की केवल लोकशिक्षा शेष रह गई। इस प्राचीन सनातन मार्ग में मनुष्यों का चलना ही शेष रह गया; इसीलिए समय समय पर विभिन्न महापुरुषों और आचार्यों का अभ्युदय होता है। गीता में श्रीकृष्ण की उस प्रसिद्ध वाणी के अतिरिक्त इस तत्व का वर्णन ऐसे सुन्दर और स्पष्ट रूप से कहीं नहीं हुआ है।

"यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम्।" *

"हे भारत, जभी धर्म की हानि और अधर्म की वृद्धि होती है तभी मैं अपने रूप को प्रकट करता हूँ।" इत्यादि—यही भारतीय धारणा है।

इसका परिणाम क्या होता है? एक ओर ये सनातन तत्व हैं, जो स्वतःप्रमाण हैं, जो किसी प्रकार की युक्ति के ऊपर नहीं टिके, जो ऋषियों के (वे कितने ही बड़े क्यों न हों) अथवा अवतारों के (वे कितने ही महिमा-सम्पन्न क्यों न हों) वाक्यों के ऊपर नहीं ठहरे। यहाँ हमारा कथन यह है कि अन्यान्य देशों की अपेक्षा भारतीय विचारों की उक्त विशेषता के कारण

हिन्दू धर्म ही एकमात्र सार्वभौमिक धर्म क्यों है?

हम वेदान्त को ही संसार का एकमात्र सार्वभौमिक धर्म कहने का दावा कर सकते हैं। वेदान्त ही संसार का एकमात्र वर्तमान सार्वभौमिक धर्म है। कारण यह है कि यह किसी व्यक्तिविशेष के मत को प्रमाण कहकर ग्रहण करने का उपदेश नहीं देता। यह केवल सनातन तत्वसमूहों की शिक्षा देता है। किसी व्यक्तिविशेष के चलाये हुए धर्म को संसार की समग्र मानवजाति ग्रहण नहीं कर सकती। अपने ही देश में हम देखते हैं कि यहाँ कितने ही महापुरुष हो गये हैं। हम एक छोटे से शहर में ही देखते हैं कि उस शहर के लोग अन्यान्य सैकड़ों लोगों को अपना आदर्श चुनते हैं। अतः समस्त संसार का एकमात्र आदर्श मुहम्मद, बुद्ध अथवा ईसा मसीह ऐसा कोई एक व्यक्ति किस प्रकार हो सकता है? अथवा उस एक ही मनुष्य के वाक्यरूपी प्रमाणों से सारी नीतिविद्या, आध्यात्मिक सिद्धान्त और धर्म को किस प्रकार सत्य स्वीकार किया जा सकता है? वेदान्त धर्म में इस प्रकार किसी व्यक्तिविशेष के वाक्यों को प्रमाण मान लेने की आवश्यकता नहीं। मनुष्य की सनातन प्रकृति ही इसका प्रमाण है,

* गीता, ४–७

इसके नीतितत्व मानवजाति के सनातन आध्यात्मिक एकत्वरूप नींव के ऊपर प्रतिष्ठित हैं। यह एकत्व चेष्टा द्वारा प्राप्त नहीं होता किन्तु यह पहले ही से लब्ध है।

दूसरी ओर शास्त्रकारों ने ऐतिहासिक आदर्शों की प्रयोजनीयता को भी स्वीकार किया था।

दूसरी ओर हमारे ऋषियों ने अत्यन्त प्राचीन काल से ही समझ लिया था कि संसार के अधिकांश लोग किसी न किसी व्यक्ति के ऊपर निर्भर किये बिना नहीं रह सकते। किसी न किसी प्रकार मनुष्य एक व्यक्तिविशेष को ईश्वर मान लेते हैं। जिन बुद्धदेव ने साकार ईश्वर के विरुद्ध प्रचार किया था, उनके देहत्याग के पश्चात् पचास वर्ष में ही उनके शिष्यों ने उनको ईश्वर मान लिया। किन्तु साकार ईश्वर की भी आवश्यकता है; और हम जानते हैं; ईश्वर की वृथा कल्पना से (प्रायः इस प्रकार का काल्पनिक ईश्वर मनुष्य की उपासना के अयोग्य है) बढ़कर जीवित ईश्वर इस पृथ्वी में समय-समय पर उत्पन्न होकर हम लोगों के साथ रहते भी हैं। किसी प्रकार के काल्पनिक ईश्वर की अपेक्षा, अपनी कल्पना से बनाई हुई किसी वस्तु की अपेक्षा, अर्थात् ईश्वर सम्बन्धी जितनी धारणा हम कर सकते हैं इन सबकी अपेक्षा वे पूजा के अधिक योग्य हैं। ईश्वर के सम्बन्ध में हम लोग जितनी धारणा कर सकते हैं उसकी अपेक्षा श्रीकृष्ण बहुत बड़े हैं। हम अपने मन में जितने उच्च आदर्श का विचार कर सकते हैं, उसकी अपेक्षा बुद्धदेव अधिक उच्च आदर्श हैं, जीवित आदर्श हैं। इसीलिए सब प्रकार के काल्पनिक देवताओं को पदच्युत करके वे चिरकाल से मनुष्यों द्वारा पूजे जा रहे हैं। हमारे ऋषि यह जानते थे, इसीलिए उन्होंने समस्त भारतवासियों के लिए इन महापुरुषों की—इन अवतारों की—पूजा करने का मार्ग खोला है। इतना ही नहीं, जो हमारे सर्वश्रेष्ठ अवतार हैं, उन्होंने और भी आगे बढ़कर कहा है:—

"यद्यत् विभूतिमत् सत्त्वं श्रीमदूर्जितमेव वा।
तत्तदेवावगच्छ त्वं मम तेजोऽशसम्भवम्॥"*

"अर्थात् मनुष्यों में जहाँ अद्भुत आध्यात्मिक शक्ति का प्रकाश होता है, जानो वहाँ मैं वर्तमान हूँ; मुझसे ही इस आध्यात्मिक शक्ति का प्रकाश होता है।"

सब देशों के, सब धर्मों के, सब अवतार ही हिन्दू के उपास्य हैं।

यह हिन्दुओं के लिए समस्त देशों के समस्त अवतारों की उपासना करने का द्वार खोल देता है। हिन्दू किसी भी देश के किसी भी साधु-महात्मा की पूजा कर सकते हैं। हम बहुधा ईसाइयों के गिर्जों और मुसलमानों की मसजिदों में जाकर उपासना भी करते हैं। यह अच्छा है। हम इस तरह उपासना क्यों न करें? मैंने पहले ही कहा है, हमारा धर्म सार्वभौमिक है। यह इतना उदार, इतना प्रशस्त है कि यह सब प्रकार के आदर्शों को आदरपूर्वक ग्रहण कर सकता है। संसार में धर्मों के जितने आदर्श हैं, उनका इसी समय ग्रहण किया जा सकता है, और भविष्य में जो समस्त विभिन्न आदर्श होंगे, उनके लिए हम धैर्य के साथ अपेक्षा कर सकते हैं। उनको भी इसी प्रकार ग्रहण करना होगा, वेदान्तिक धर्म ही अपनी विशाल भुजाओं को फैलाकर सबको हृदय से लगा लेगा।

ऋषि, अर्थात् जिसने धर्म-तत्त्व का साक्षात्कार कर लिया है।

ईश्वरावतार के सम्बन्ध में हमारी यही धारणा है। इनकी अपेक्षा एक प्रकार के नीचे दर्जे के महापुरुष और हैं। वेदों में ऋषि शब्द का उल्लेख बारम्बार पाया जाता है और आजकल तो यह एक चलित शब्द हो गया है। ऋषि-वाक्य विशेष प्रमाण माने जाते हैं। हमें इसका मतलब समझना चाहिए। ऋषि का अर्थ है मंत्रद्रष्टा अर्थात् जिसने किसी तत्व का दर्शन किया हो। अत्यन्त प्राचीन काल से

* गीता, १०—४१

ही प्रश्न पूछा जाता है कि धर्म का प्रमाण क्या है। बाह्य इन्द्रियों में धर्म की सत्यता प्रमाणित नहीं होती, यह अत्यन्त प्राचीन काल से ही ऋषियों ने कहा है।

"यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह।"*

अर्थात्—"मन के सहित वाक्य जिसको न पाकर वहाँ से लौट आते हैं।"

"न तत्र चक्षुर्गच्छति न वाग् गच्छति नो मनः।"†

"जहाँ आँखों की पहुँच नहीं, जहाँ वाक्य भी नहीं जा सकते और मन भी नहीं जा सकता" इत्यादि।

सैकड़ों युगों से ऋषियों ने यही बात कही है कि आत्मा का अस्तित्व, ईश्वर का अस्तित्व, अनन्त जीवन, मनुष्यों का चरम लक्ष्य आदि प्रश्नों का उत्तर बाह्य प्रकृति नहीं दे सकेगी, क्योंकि यह मन सदा परिवर्तनशील है, मानो यह सदा बहता जा रहा है। यह परिमित है, मानो इसके छोटे छोटे टुकड़े कर दिए गए हैं। तो यह किस प्रकार उस अनन्त, अपरिवर्तनशील, अखण्ड, अविभाज्य सनातन वस्तु के विषय में कुछ कह सकता है? यह कदापि सम्भव नहीं और चैतन्यहीन जड़ पदार्थ से इन प्रश्नों का उत्तर प्राप्त करने की मनुष्य जाति ने जभी वृथा चेष्टा की है तभी परिणाम कितना भयानक हुआ है, इतिहास इसका साक्षी है। फिर यह वेदोक्त ज्ञान कहाँ से आया? ऋषि होने से यह ज्ञान प्राप्त होता है। यह ज्ञान इन्द्रियों में नहीं है। क्या इन्द्रियाँ ही मनुष्यों के लिए सब कुछ हैं? यह कहने का किसे साहस है कि इन्द्रियाँ ही सारसर्वस्व हैं। हमारे जीवन में, सभी के जीवन में एक समय आता है जब कि हमारे सामने ही हमारे किसी प्रियजन की मृत्यु हो जाती है अथवा हमें अन्य किसी प्रकार की चोट लग जाती है अथवा आनन्द की मात्रा हद से ज्यादा हो जाती है,—इन सब अवस्थाओं में कभी कभी मन

* तैत्तिरीय उपनिषद्।

† केन उपनिषद्।

मानो एकदम स्थिर हो जाता है। कभी कभी तो ऐसा भी होता है कि मन स्थिर होकर क्षण भर के लिए अपने सच्चे स्वरूप को, उस अनन्त को देख लेता है, जहाँ न मन की पहुँच है और न वाक्यों की। साधारण जनों के ही जीवन में ऐसा होता है। इस अवस्था को अभ्यास के द्वारा प्रगाढ़, स्थिर और पूर्ण रूप देना चाहिए। हजारों वर्ष पहले ऋषियों ने आविष्कार किया था कि आत्मा न तो इन्द्रियों द्वारा ही बद्ध है और न किसी सीमा से ही घिर सकती है; केवल इतना ही नहीं, वह ज्ञान के द्वारा भी सीमाबद्ध नहीं हो सकती। हमें समझना होगा कि ज्ञान उस आत्मारूपी अनन्त शृंखला का एक क्षुद्र अंश मात्र है। सत्ता ज्ञान से अभिन्न नहीं है, ज्ञान उसी सत्ता का एक अंश है। ऋषियों ने ज्ञान की अतीत भूमि में निर्भय होकर आत्मा का अनुसन्धान किया था। ज्ञान पञ्चेन्द्रियों द्वारा सीमाबद्ध है। आध्यात्मिक जगत् के सत्य को प्राप्त करने के लिए मनुष्यों को ज्ञान की अतीत भूमि में इन्द्रियों के परे जाना होगा। और इस समय भी ऐसे मनुष्य हैं जो पञ्चेन्द्रियों की सीमा के परे जा सकते हैं। ये ही ऋषि कहलाते हैं, क्योंकि आध्यात्मिक सत्यों के साथ इनका साक्षात् होता है।

अपने सामने के इस मेज को जिस प्रकार हम प्रत्यक्ष प्रमाण से जानते हैं, उसी तरह वेदोक्त सत्यों के प्रमाणों को भी प्रत्यक्ष अनुभव से हम जान सकते हैं। मेज को हम इन्द्रियों से देख रहे हैं और आध्यात्मिक सत्यों को भी हम जीवात्मा की ज्ञानातीत अवस्था में साक्षात् देखते हैं। ऐसा ऋषित्व प्राप्त करना देश, काल, लिंग अथवा जातिविशेष के ऊपर निर्भर नहीं करता। वात्स्यायन निर्भयतापूर्वक कहते हैं कि यह ऋषित्व ऋषियों की सन्तानों, आर्य-अनार्यों, यहाँ तक कि म्लेच्छों की भी साधारण सम्पत्ति है।

यही वेदों का ऋषित्व है; हमको भारतीय धर्म के इस आदर्श को सर्वदा स्मरण रखना होगा और मेरी इच्छा है कि संसार की अन्य जातियाँ भी इस आदर्श को समझकर याद रखें, क्योंकि इससे विविध धर्मों का वादविवाद

कम हो जायगा। शास्त्रों के अध्ययन से धर्म की प्राप्ति नहीं होती, अथवा मतमतान्तरों या वचनों द्वारा यहाँ तक कि तर्कयुक्ति और विचार के द्वारा भी धर्म की प्राप्ति नहीं होती। हमें धर्मसाक्षात्कार करना होगा। ऋषि होना होगा। ऐ मेरे मित्रो, जब तक आप ऋषि नहीं बनेंगे, जब तक आध्यात्मिक सत्य के साथ साक्षात् नहीं होगा, निश्चय है कि तब तक आपका धार्मिक जीवन आरम्भ नहीं हुआ। जब तक आपकी यह ज्ञानातीत अवस्था आरम्भ नहीं होती तब तक धर्म केवल कहने ही की बात है, तब तक यह केवल धर्मप्राप्ति के लिए तैयार होना ही है, तब तक आप दूसरों के ही मुँह का जूठन खाते हैं। एक समय बुद्धदेव के साथ कुछ ब्राह्मणों का तर्क हुआ। उस समय उन्होंने एक सुन्दर कहानी कही — वह यहाँ पर ठीक प्रयुक्त होती है। ब्राह्मणों ने बुद्धदेव के पास आकर ब्रह्म के स्वरूप पर प्रश्न किये। उस महापुरुष ने उन्हींसे प्रश्न किया, "आपने क्या ब्रह्म को देखा है?" उन्होंने कहा, "नहीं, हमने ब्रह्म को नहीं देखा।" बुद्धदेव ने पुनः उनसे प्रश्न किया, "आपके पिता ने क्या उसको देखा है?" — "नहीं, उन्होंने भी नहीं देखा।" "क्या आपके पितामह ने उसको देखा है?" — "हम समझते हैं कि उन्होंने भी उसको नहीं देखा।" तब बुद्धदेव ने कहा, "मित्रो, आपके पितृपितामहों ने भी जिसको नहीं देखा, ऐसे पुरुष के विषय पर आप किस प्रकार विचार द्वारा एक दूसरे को परास्त करने की चेष्टा कर रहे हैं?" समस्त संसार का यही हाल है। वेदान्त की भाषा में हम कहेंगे —

धर्मजीवन का लाभ करने के लिए ऋषि होना होगा। बुद्धदेव तथा ब्राह्मणगण।

"नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो
न मेधया न बहुना श्रुतेन।" *

"यह आत्मा वागाडम्बर से प्राप्त नहीं की जा सकती, प्रखर बुद्धि

* कठोपनिषद्।

से भी नहीं, यहाँ तक कि बहुत वेदपाठ से भी उसकी प्राप्ति करना सम्भव नहीं है।"

संसार की समस्त जातियों से वेदों की भाषा में हमको कहना होगा— "तुम्हारा लड़ना और झगड़ना वृथा है, तुम जिस ईश्वर का प्रचार करना चाहते हो, क्या तुमने उसको देखा है? यदि तुमने उसको नहीं देखा है तो तुम्हारा प्रचार करना वृथा है; जो तुम कहते हो वह स्वयं नहीं जानते; और यदि तुम ईश्वर को देख लोगे तो तुम झगड़ा नहीं करोगे, तुम्हारा चेहरा चमकने लगेगा।" उपनिषदों के एक प्राचीन ऋषि ने अपने पुत्र को ब्रह्मज्ञान प्राप्त करने के लिए गुरु के पास भेजा था। जब लड़का वापस आया, तो पिता ने पूछा, "तुमने क्या सीखा?" पुत्र ने उत्तर दिया, "अनेक विद्याएँ सीखी हैं।" पिता ने कहा "यह कुछ नहीं है; जाओ फिर गुरु के पास जाओ।" पुत्र गुरु के पास गया, लड़के के लौट आने पर पिता ने फिर वही प्रश्न पूछा। लड़के ने फिर भी वही सर्व विद्याओं की बात कही। उसको एक बार और गुरु के पास जाना पड़ा। इस बार जब वह लौटकर आया तो उसका चेहरा चमक रहा था। तब पिता ने कहा, "बेटा, आज तुम्हारा चेहरा ब्रह्मज्ञानी के समान चमक रहा है।" जब तुम ईश्वर को जान लोगे तो तुम्हारा मुख, स्वर, सारी आकृति बदल जायेगी। तब तुम मनुष्य-जाति के लिए महाकल्याण-स्वरूप हो जाओगे। ऋषि होने पर उसकी शक्ति को कोई नहीं रोक सकेगा। यही ऋषित्व है और यही हमारे धर्म का आदर्श है। और शेष जो कुछ हैं—ये सब वचन, युक्ति-विचार, दर्शन, द्वैतवाद, अद्वैतवाद, यहाँ तक कि वेद भी—यही ऋषित्व प्राप्त करने के सोपान मात्र हैं, गौण हैं। ऋषित्व प्राप्त करना ही मुख्य है। "वेद, व्याकरण, ज्योतिषादि सब गौण हैं। जिसके द्वारा हम उस अपरिवर्तनशील वस्तु की प्रत्यक्ष अनुभूति प्राप्त करते हैं वही चरम ज्ञान है।" जिन्होंने यह प्राप्त किया है वे ही वैदिक ऋषि

प्रत्येक हिन्दू को ऋषित्व लाभ करना होगा। पितापुत्र-संवाद।

हैं। ऋषि का अर्थ है एक विशेष अवस्था का पुरुष। यथार्थ हिन्दू होते हुए हमें अपने जीवन के किसी न किसी अवस्था में यह ऋषित्व प्राप्त करना ही होगा, और ऋषित्व प्राप्त करना ही हिन्दुओं के लिए मुक्ति है। कुछ सिद्धान्तों में ही विश्वास करने से, सहस्रों मन्दिरों के दर्शन से अथवा संसार भर की कुल नदियों में स्नान करने से, हिन्दू मत के अनुसार मुक्ति नहीं होगी। ऋषि होने पर, मंत्रद्रष्टा होने पर ही मुक्ति प्राप्त होगी।

पिछले समय की बातों की आलोचना करने पर हम देखते हैं कि इसी समय सारे संसार को आलोड़ित करनेवाले महापुरुषों तथा श्रेष्ठ अवतारों ने जन्म ग्रहण किया है। अवतारों की संख्या बहुत है। भागवत के अनुसार भी अवतारों की संख्या असंख्य है; इनमें से राम और कृष्ण ही भारत में विशेष भाव से पूजे जाते हैं। महर्षि वाल्मीकि इस प्राचीन वीरयुग के आदर्श हैं, जिन्होंने सत्यपरायणता और समग्र नीतितत्व के साकार मूर्तिस्वरूप, आदर्श तनय, आदर्श पति, आदर्श पिता, सर्वोपरि आदर्श राजा रामचन्द्रजी का चरित्र चित्रण करके हमारे सम्मुख स्थापित किया है। महाकवि ने जिस भाषा में रामचरित्र का वर्णन किया है, उसकी अपेक्षा अधिक शुद्ध, मधुर अथवा सरल भाषा हो ही नहीं सकती। और सीता के विषय में क्या कहा जाय!

भगवान रामचन्द्र। आदर्श हिन्दू-नारी सीतादेवी।

आप संसार के समस्त प्राचीन साहित्य को अध्ययन करके समाप्त कर सकते हैं, और मैं आप से निःसङ्कोच कहता हूँ कि आप संसार के भावी साहित्य को भी समाप्त कर सकते हैं, किन्तु उसमें से आप सीता के समान दूसरा चरित्र नहीं निकाल सकेंगे। सीता-चरित्र असाधारण है। यह चरित्र सदा के लिए एक ही बार चित्रित हुआ है। राम तो कदाचित् अनेक हो गये हैं, किन्तु सीता और नहीं हुई। भारतीय स्त्रियों को जैसा होना चाहिए, सीता उनके लिए आदर्श हैं। स्त्री-चरित्र के जितने भारतीय आदर्श हैं वे सब सीता के ही चरित्र से उत्पन्न हुए हैं और समग्र आर्यावर्त भूमि में सहस्रों वर्षों से वे आबालवृद्ध-

वनिता की पूजा पा रही हैं। महामहिमामयी सीता, स्वयं शुद्धता से भी शुद्ध, सहिष्णुता का परमोच्च आदर्श सीता सदा इसी भाव से पूजी जाएँगी। जिन्होंने बिलकुल विचलित न होकर ऐसे महादुःख का जीवन व्यतीत किया, वही नित्य साध्वी, सदा शुद्ध-स्वभाव सीता, आदर्श पत्नी सीता, मनुष्यलोक यहाँ तक कि देवलोक की भी आदर्श मूर्ति पुण्य-चरित्र सीता सदा हमारी जातीय देवी बनी रहेंगी। हम सभी उनके चरित्र को भलीभाँति जानते हैं, इसलिए उनका विशेष वर्णन करने की आवश्यकता नहीं है। हमारे सब पुराण नष्ट हो सकते हैं यहाँ तक कि, हमारे वेद भी लुप्त हो सकते हैं, हमारी संस्कृत भाषा सदा के लिए कालस्रोत में विलुप्त हो सकती है, किन्तु मेरी बात ध्यानपूर्वक सुनिये, जब तक भारत में अतिशय ग्राम्य भाषाभाषी पाँच भी हिन्दू रहेंगे, तब तक सीता की कथा विद्यमान रहेगी। सीता का प्रवेश हमारी जाति की अस्थिमज्जा में हो चुका है; प्रत्येक हिन्दू नरनारी के रक्त में सीता विराजमान हैं; हम सभी सीता की सन्तान हैं। हमारी नारियों को आधुनिक भावों में संगठित करने की जो चेष्टाएँ हो रही हैं, यदि उन सब प्रयत्नों में उनको सीताचरित्र के आदर्श से भ्रष्ट करने की चेष्टा होगी तो वे सब असफल होंगे। और हम प्रतिदिन इसका उदाहरण देखते हैं। भारतीय नारियों से सीता के चरण-चिह्नों का अनुसरण कराकर अपनी उन्नति की चेष्टा करनी होगी। यही भारतीय नारियों की उन्नति का एकमात्र पथ है।

गीता की साकार मूर्ति — भगवान श्रीकृष्ण।

इसके पश्चात् उनकी आलोचना करनी चाहिए जो नाना भाव से पूजे जाते हैं — जो आबाल-वृद्ध-वनिता सभी भारतवासियों के परम प्रिय इष्टदेवता हैं। मैं उनको लक्ष्य करके यह कह रहा हूँ जिन्हें भागवतकार अवतार कहके भी तृप्त नहीं होते — कहते हैं —

"एते चांशकलाः पुंसः कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्।"

"अन्यान्य अवतार उस भगवान् के अंश और कलास्वरूप हैं, किन्तु कृष्ण स्वयं भगवान् हैं।"

और जब हम उनके विविध-भाव-समन्वित चरित्र के विषय में आलोचना करते हैं तब उनके प्रति जो ऐसे विशेषण प्रयुक्त हुए हैं उससे आश्चर्य नहीं होता। वे एक ही स्वरूप में अपूर्व संन्यासी और अद्भुत गृही थे, उनमें अत्यन्त अद्भुत रजःशक्ति का विकास था और उनमें अद्भुत त्याग भी था। बिना गीता का अध्ययन किये कृष्ण-चरित्र कभी समझ में नहीं आ सकता, क्योंकि अपने उपदेशों के वे आकार-स्वरूप थे। सभी अवतार, जो प्रचार करने को आये थे, उनका जीवन ही उन उपदेशों का उदाहरणस्वरूप था। गीता के प्रचारक कृष्ण सदा भगवद्गीता के उपदेशों की साकार मूर्ति थे, वे अनासक्ति के उज्ज्वल उदाहरण थे। उन्होंने बहुतों को राजा बनाया, किन्तु स्वयं सिंहासन पर अधिकार नहीं किया; जिनके कहने ही से राजा अपने अपने सिंहासनों को छोड़ देते थे ऐसे समग्र भारत के नेता ने स्वयं राजा होना नहीं चाहा। उन्होंने बाल्यकाल में जिस सरल भाव से गोपियों के साथ क्रीड़ा की, जीवन की अन्य अवस्थाओं में भी उनका वह सरल स्वभाव नहीं छूटा।

उनके जीवन की उस चिरस्मरणीय घटना की याद आती है जिसका समझना अत्यन्त कठिन है। जब तक कोई पूर्ण ब्रह्मचारी और पवित्र स्वभाव का नहीं बनता, तब तक उसे इसके समझने की चेष्टा करना उचित नहीं। उस प्रेम का अत्यन्त अद्भुत विकास—जो उस वृन्दावन की मधुर लीला में रूपक भाव से वर्णित हुआ है—प्रेमरूपी मदिरा के पान से जो उन्मत्त हुआ हो उसको छोड़कर उसे और कोई नहीं समझ सकता। कौन उन गोपियों के प्रेम से उत्पन्न विरह-यंत्रणा के भाव को समझ सकता है, जो प्रेम आदर्शस्वरूप है, जो प्रेम प्रेम के अतिरिक्त और कुछ नहीं चाहता, जो प्रेम स्वर्ग की भी आकांक्षा नहीं करता, जो प्रेम इहलोक और परलोक की किसी भी वस्तु की

श्रीकृष्ण और गोपी प्रेम।

कामना नहीं करता? और हे मित्रो, इसी गोपीप्रेम द्वारा सगुण और निर्गुण ईश्वरवाद के झगड़े का फैसला हुआ है। हम जानते हैं, सगुण ईश्वर मनुष्य की उच्चतम धारणा है। हम यह भी जानते हैं कि दार्शनिक दृष्टि से समग्र जगद्-व्यापी — समस्त संसार जिसका विकासमात्र है — उस निर्गुण ईश्वर में विश्वास ही स्वाभाविक है। पर साथ ही हम साकार वस्तु की कामना करते हैं, ऐसी वस्तु चाहते हैं जिसको हम पकड़ सकें, जिसके चरण-कमलों में अपने हृदय को उत्सर्ग कर सकें। इसलिए सगुण ईश्वर ही मनुष्य स्वभाव की उच्चतम धारणा है। किन्तु युक्ति इस धारणा से सन्तुष्ट नहीं होती। यह वही अति प्राचीन, प्राचीनतम समस्या है — जिसका ब्रह्मसूत्रों में विचार किया गया है, वनवास के समय युधिष्ठिर के साथ द्रौपदी ने जिसका विचार किया है — यदि एक सगुण, सम्पूर्ण दयामय, सर्वशक्तिमान ईश्वर है तो इस नारकीय संसार का अस्तित्व क्यों है? उसने उसकी सृष्टि क्यों की? उस ईश्वर को महापक्षपाती कहना ही उचित है। इसकी किसी प्रकार मीमांसा नहीं होती। केवल शास्त्रों में गोपीप्रेम-सम्बन्धी जो वर्णन है, उसी से इसकी मीमांसा हुई है। कृष्ण के प्रति किसी विशेषण का प्रयोग करना वे नहीं चाहतीं; वे यह जानना नहीं चाहतीं कि कृष्ण सृष्टिकर्ता हैं, सर्वशक्तिमान हैं। वे केवल यही समझती हैं कि कृष्ण प्रेममय हैं; यही उनके लिए यथेष्ट है। गोपियाँ कृष्ण को केवल वृन्दावन का कृष्ण समझती हैं। बहुत सेनाओं के नेता राजाधिराज कृष्ण उनके निकट सदा गोप ही थे।

गोपीप्रेम में सगुण और निर्गुण ईश्वर-वाद का सामञ्जस्य विद्यमान है।

"न धनं न जनं न च सुन्दरीं कवितां वा जगदीश कामये।
मम जन्मनि जन्मनीश्वरे भवताद्भक्तिरहैतुकी त्वयि॥"

"हे जगदीश, मैं धन, जन, कविता अथवा सुन्दरी — कुछ भी नहीं चाहता; हे ईश्वर, आपके प्रति जन्मजन्मान्तरों में मेरी अहैतुकी भक्ति हो।" यह अहैतुकी भक्ति, यह निष्काम कर्म धर्म के इतिहास में एक नया अध्याय है।

मनुष्यों के इतिहास में सर्वश्रेष्ठ अवतार श्रीकृष्ण के मुँह से सबसे पहले भारतक्षेत्र में ही यह तत्व निकला था। भय के धर्म — कामना के धर्म सदा के लिए चले गये और मनुष्य हृदय के स्वाभाविक नरक के भय और स्वर्ग-सुख-भोग की इच्छा की जगह इस अहेतुकी भक्ति और निष्काम कर्मरूप श्रेष्ठ आदर्श का अभ्युदय हुआ।

अशुद्धचित्त व्यक्तियों का गोपीप्रेम की चर्चा में अनधिकार।

इस प्रेम की महिमा और क्या कहूँ! मैंने आप लोगों से कहा है कि गोपीप्रेम उपलब्ध करना बड़ा कठिन है। हमारे बीच ऐसे मूर्खों का अभाव नहीं है, जो श्रीकृष्ण के जीवन के ऐसे अति अपूर्व अंश के अद्भुत तात्पर्य को समझने में असमर्थ हैं। मैं पुनः कहता हूँ कि हमारे ही रक्त से उत्पन्न अशुद्धात्मा अनेक मूर्ख हैं, जो गोपी-प्रेम का नाम सुनते ही मानो उसको अत्यन्त अपवित्र समझकर भय से दूर भाग जाते हैं। उनसे मैं सिर्फ इतना ही कहना चाहता हूँ कि पहले अपने मन को शुद्ध करो और तुमको यह भी स्मरण रखना चाहिए कि जिन्होंने इस अद्भुत गोपी-प्रेम का वर्णन किया है, वे और कोई नहीं, आजन्म शुद्ध व्यासतनय शुकदेव हैं। जब तक हृदय में स्वार्थपरता रहेगी, तब तक भगवत्प्रेम असम्भव है। यह केवल दूकानदारी है कि 'मैं आपको कुछ देता हूँ, भगवान, आप भी मुझको कुछ दीजिये।' और भगवान कहते हैं, 'यदि तुम ऐसा न करोगे, तो तुम्हारे मरने पर मैं तुम्हें देख लूँगा — चिरकाल तक तुम्हें जलाकर मारूँगा।' सकाम व्यक्ति की ईश्वर-धारणा ऐसी ही होती है। जब तक मस्तिष्क में ऐसे भाव रहेंगे तब तक गोपियों की प्रेमजनित विरह की उन्मत्तता मनुष्य किस प्रकार समझेंगे?

"सुरतवर्धनं शोकनाशनं स्वरितवेणुना सुष्ठु चुम्बितम्।
इतररागविस्मारणं नृणां वितर वीर नस्तेऽधरामृतम्॥" *

* श्रीमद्भागवत।

"एक बार, केवल एक ही बार यदि उन मधुर अधरों का चुम्बन प्राप्त हो और जिसका तुमने एक बार चुम्बन किया है, चिरकाल तक तुम्हारे लिए उसकी पिपासा बढ़ती जाती है, उसके सकल दुःख दूर हो जाते हैं, तब अन्यान्य विषयों की आसक्ति दूर हो जाती है, केवल तुम्हीं उस समय प्रीति की वस्तु हो जाते हो।"

पहले कांचन, नाम यश और इस क्षुद्र मिथ्या संसार के प्रति आसक्ति को छोड़िये। तभी, केवल तभी आप गोपीप्रेम को समझेंगे। यह इतना विशुद्ध है कि बिना सब कुछ छोड़े इसको समझने की चेष्टा करना ही अनुचित है। जब तक आत्मा पूर्ण रूप से पवित्र नहीं होती, तब तक इसको समझने की चेष्टा करना वृथा है। हर समय जिनके हृदय में काम, धन, यशोलिप्सा के बुलबुले उठते हैं, वे ही गोपीप्रेम समझने और उसकी समालोचना करने का साहस करते हैं! कृष्ण-अवतार का मुख्य उद्देश्य यही गोपी-प्रेम की शिक्षा है, यहाँ तक कि दर्शनशास्त्र-शिरोमणि गीता पर्यन्त उस प्रेमोन्मत्तता की बराबरी नहीं कर सकती। कारण, गीता में साधक को धीरे धीरे उसी चरम लक्ष्य मुक्ति के साधन का उपदेश दिया गया है; किन्तु इस गोपीप्रेम में ईश्वर-रसास्वाद की उन्मत्तता, घोर प्रेमोन्मत्तता विद्यमान है; यहाँ गुरु, शिष्य, शास्त्र-उपदेश, ईश्वर, स्वर्ग सब एकाकार हैं, भय के धर्म का चिह्न मात्र नहीं है; सब बह गया है —शेष रह गई है केवल प्रेमोन्मत्तता। उस समय संसार का कुछ भी स्मरण नहीं रहता, भक्त उस समय संसार में उसी कृष्ण, एकमात्र उसी कृष्ण के अतिरिक्त और कुछ नहीं देखता, उस समय वह समस्त प्राणियों में कृष्ण के ही दर्शन करता है, उसका मुँह भी उस समय कृष्ण के ही समान दीखता है, उसकी आत्मा उस समय कृष्णवर्ण में रङ्ग जाती है। महानुभव कृष्ण की ऐसी महिमा है!

गीतोक्त उपदेशों के भी ऊपर गोपी-प्रेम का स्थान है—केवल त्यागियों का ही उसमें अधिकार है।

श्रीकृष्ण के जीवन की छोटी छोटी बातों में समय वृथा मत गँवाओ, उनके जीवन के जो मुख्य अंश हैं, उन्हीं का सहारा लेना चाहिए। कृष्ण के जीवन-चरित्र में बहुत सा ऐतिहासिक विरोध मिल सकता है। अनेक विषय छल या कपट से जोड़े गए हैं। ये सभी सत्य हो सकते हैं, किन्तु फिर भी उस समय समाज में जो एक अपूर्व नये भाव का उदय हुआ था, उसका कुछ आधार अवश्य था।

कृष्णोपदेश का अभिनवत्व और कृष्ण का ऐतिहासिकत्व।

अन्य किसी भी महापुरुष के जीवन की आलोचना करने पर यह जान पड़ता है कि वह जीवन अपने पूर्ववर्ती कितने ही भावों की ध्वनि मात्र है; हम देखते हैं कि उसने अपने देश में, यहाँ तक कि, उस समय में जैसी शिक्षा प्रचलित थी, केवल उसी का प्रचार किया है; यहाँ तक कि उस महापुरुष के अस्तित्व पर भी सन्देह हो सकता है, किन्तु कृष्ण के निष्काम कर्म और निष्काम प्रेमतत्त्व के ये उपदेश संसार में मौलिक आविष्कार नहीं हैं, इसको भला सत्य तो साबित कीजिए। यदि ऐसा नहीं कर सकते तो यह अवश्य स्वीकार करना पड़ेगा कि किसी एक व्यक्ति ने निश्चय ही इन तत्वों को उत्पन्न किया है। यह स्वीकार नहीं किया जा सकता कि ये तत्व किसी दूसरे मनुष्य से लिये गए हैं। कारण यह कि कृष्ण के उत्पन्न होने के समय सर्वसाधारण में इन तत्वों का प्रचार नहीं था। भगवान श्रीकृष्ण ही इनके प्रथम प्रचारक हैं, उनके शिष्य वेदव्यास ने पूर्वोक्त तत्वों का साधारण जनों में प्रचार किया। मनुष्यों की भाषा में ऐसा श्रेष्ठ आदर्श और कभी चित्रित नहीं हुआ। हम उनके ग्रन्थ में गोपीजनवल्लभ वृन्दावन-विहारी से और कोई उच्चतर आदर्श नहीं पाते। जब आपके मस्तिष्क में इस उन्मत्तता का प्रवेश होगा, जब आप भाग्यवती गोपियों के भाव को समझेंगे, तभी आप जानेंगे कि प्रेम क्या वस्तु है। जब समस्त संसार आपकी दृष्टि से अन्तर्धान हो जायेगा, जब आप के हृदय में और कोई कामना नहीं रहेगी, जब आपका चित्त पूर्णरूप से

शुद्ध हो जायेगा, अन्य कोई लक्ष्य न होगा, यहाँ तक कि, जब आपमें सत्यानुसन्धान की वासना भी नहीं रहेगी तभी आपके हृदय में उस प्रेमोन्मत्तता का आविर्भाव होगा, तभी आप गोपियों की अहैतुकी प्रेम-भक्ति समझेंगे। यही लक्ष्य है। यदि आपको यह प्रेम मिला तो सब कुछ मिल गया।

इस बार हम नीचे की तहों में प्रवेश करते हुए गीताप्रचारक श्रीकृष्ण की आलोचना करेंगे। भारत में इस समय कितने ही लोगों में ऐसी चेष्टा दिखती है, जो घोड़े के आगे गाड़ी जोतनेवालों की सी होती है! हममें से बहुतों की यह धारणा है कि श्रीकृष्ण का गोपियों के साथ प्रेमलीला करना बड़ी ही खटकनेवाली बात है। साहब लोग भी इसे पसन्द नहीं करते। अमुक पण्डित इस गोपी-प्रेम को अच्छा नहीं समझते, अतएव अवश्य गोपियों को यमुना में बहा दो! बिना साहबों के अनुमोदन के कृष्ण कैसे टिक सकते हैं? कदापि नहीं टिक सकते! महाभारत में दो एक स्थानों को छोड़कर—वे भी वैसे उल्लेखयोग्य नहीं—गोपियों का प्रसंग तो है ही नहीं। केवल द्रौपदी की प्रार्थना में और शिशुपाल-वध के समय शिशुपाल की वक्तृता में वृन्दावन का वर्णन आया है।

गीताप्रचारक श्रीकृष्ण।

ये सब पीछे जोड़े गए हैं। साहब लोग जिसको नहीं चाहते वह सब उड़ा देना चाहिए। गोपियों का वर्णन, यहाँ तक कि कृष्ण का वर्णन भी प्रक्षिप्त है। जो लोग ऐसी घोर वाणिज्य-वृत्ति के हैं, जिनके धर्म का आदर्श भी व्यवसाय ही से उत्पन्न हुआ है, उनका विचार यही है कि वे इस संसार में कुछ करके स्वर्ग प्राप्त करेंगे। व्यवसायी सूद दर सूद चाहते हैं, वे यहाँ ऐसा कुछ पुण्यसंचय करना चाहते हैं, जिसके फल से स्वर्ग में जाकर सुखभोग करेंगे। इनके धर्ममत में गोपियों के लिए अवश्य स्थान नहीं है।

अब हम उस आदर्श प्रेमी श्रीकृष्ण का वर्णन छोड़कर और भी नीचे की तह में प्रवेश करके गीताप्रचारक श्रीकृष्ण की आलोचना करेंगे। यहाँ भी

हम देखते हैं कि गीता के समान वेदों का भाष्य कभी नहीं बना है और बनेगा भी नहीं। श्रुति अथवा उपनिषदों का तात्पर्य समझना बड़ा कठिन है; क्योंकि नाना भाष्यकारों ने अपने अपने मतानुसार उनकी व्याख्या करने की चेष्टा की है। अन्त में जो स्वयं श्रुति के वक्ता हैं, उन्हीं भगवान ने आकर गीता के प्रचारक-रूप से श्रुति का अर्थ समझाया और आज भारत में उस व्याख्या-प्रणाली की जैसी आवश्यकता है, सारे संसार में इसकी जैसी आवश्यकता है, वैसी किसी और वस्तु की नहीं है। यह बड़े ही आश्चर्य की बात है कि अगले युगों के

गीता ही श्रुति का एकमात्र प्रामाणिक भाष्य है; अन्यान्य श्रुतिभाष्य और गीता में प्रभेद; गीता में सर्वमत-समन्वय।

शास्त्र-व्याख्याता गीता तक की व्याख्या करने में बहुधा भगवान के वाक्यों का अर्थ नहीं समझ सके। गीता में क्या है और आधुनिक भाष्यकारों ही में हम क्या देखते हैं? एक अद्वैतवादी भाष्यकार ने किसी उपनिषद् की व्याख्या की; उसमें बहुत द्वैतभाव के वाक्य हैं; बस उसने उनको तोड़-मरोड़कर अपना मनमाना अर्थ उनसे निकाल लिया। फिर द्वैतवादी भाष्यकार ने भी अद्वैत-मूलक वाक्यों से खींचातानी करके द्वैत अर्थ निकाला; परन्तु गीता में श्रुति के तात्पर्य को इस तरह बिगाड़ने की चेष्टा नहीं है। भगवान कहते हैं, ये सब सत्य हैं, जीवात्मा धीरे धीरे स्थूल से सूक्ष्म, सूक्ष्म से अति सूक्ष्म सीढ़ियों पर चढ़ती जाती है, इस प्रकार क्रमशः वह उस चरम लक्ष्य — अनन्त पूर्ण-स्वरूप को प्राप्त होती है। गीता में इसी भाव से वेदों का तात्पर्य समझाया गया है, यहाँ तक कि कर्मकाण्ड भी गीता में स्वीकृत हुआ है और यह दिखलाया गया है कि यद्यपि कर्मकाण्ड साक्षात् मुक्ति का साधन नहीं है, किन्तु गौणभाव से मुक्ति का साधन है, तथापि वह सत्य है; मूर्तिपूजा भी सत्य है, सब प्रकार के अनुष्ठान और क्रियाकर्म भी सत्य हैं, केवल एक विषय पर ध्यान रखना होगा — वह है चित्त की शुद्धि। यदि हृदय शुद्ध और

विभिन्न प्रकार की साधन-प्रणाली की प्रयोजनीयता।

निष्कपट हो तभी उपासना ठीक उतरती है और हमें चरम लक्ष्य तक पहुँचा देती है। ये विभिन्न उपासना-प्रणालियाँ सत्य हैं, क्योंकि यदि वे सत्य न होतीं तो उनकी सृष्टि ही क्यों हुई? कुछ आधुनिक लोगों का मत है कि विभिन्न धर्म और सम्प्रदाय कुछ कपटी एवं दुष्ट लोगों द्वारा बनाये गये हैं, उन्होंने धन के लोभ से इन धर्मों और सम्प्रदायों की सृष्टि की है। यह कथन सर्वथा असत्य है। बाहरी दृष्टि से उनकी व्याख्या कितनी ही युक्तियुक्त क्यों न प्रतीत हो, पर यह बात सत्य नहीं है; इनकी सृष्टि इस तरह नहीं हुई। जीवात्मा की स्वाभाविक आवश्यकता के लिए इन सबका अभ्युदय हुआ है। विभिन्न श्रेणियों के मनुष्यों की धर्म-पिपासा चरितार्थ करने के लिए इनका अभ्युदय हुआ है, इसलिए तुम्हारे इनके विरुद्ध खड़े होने से कुछ लाभ नहीं होगा। जिस दिन इनकी आवश्यकता नहीं रहेगी उस दिन उस आवश्यकता के अभाव के साथ साथ इनका भी लोप हो जायेगा। पर जब तक उनकी आवश्यकता रहेगी, तब तक आप इनकी कितनी ही कड़ी समालोचना क्यों न करें, इनके विरुद्ध कितना ही क्यों न लड़ें, ये अवश्य विद्यमान रहेंगे। तलवार और बन्दूक के ज़ोर से आप संसार को खून में बहा दे सकते हैं, किन्तु जब तक मूर्तियों की आवश्यकता रहेगी तब तक मूर्तिपूजा अवश्य रहेगी। ये विभिन्न अनुष्ठान-पद्धतियाँ और धर्म के विभिन्न सोपान अवश्य रहेंगे और हम भगवान श्रीकृष्ण के उपदेश से समझ सकते हैं कि इनकी क्या आवश्यकता है।

श्रीकृष्ण के अन्तर्धान होने के कुछ ही काल पश्चात् भारतीय इतिहास का एक शोकजनक अध्याय शुरू हुआ। हम गीता में भी भिन्न भिन्न सम्प्रदायों के विरोध के कोलाहल की दूर से आती हुई आवाज़ सुन पाते हैं, और देखते हैं कि समन्वय के वे अद्भुत प्रचारक भगवान श्रीकृष्ण बीच में पड़कर विरोध को हटा रहे हैं। वे कहते हैं —

"मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव।" अर्थात्, "सारा जगत् मुझमें उसी तरह गूँथा हुआ है जिस तरह तागे में मोती गूँथे रहते हैं।"*

साम्प्रदायिक झगड़ों की दूर से सुनाई देनेवाली धीमी आवाज़ हम तभी से सुन रहे हैं। सम्भव है कि भगवान के उपदेश से ये झगड़े कुछ देर के लिए थमकर समन्वय और शान्ति का सञ्चार हुआ हो, किन्तु यह विरोध फिर उत्पन्न हुआ। केवल धर्ममत ही पर नहीं, सम्भवतः जाति पर भी यह विवाद चलता रहा—हमारे समाज के दो प्रबल अङ्ग ब्राह्मणों और क्षत्रियों के बीच विवाद आरम्भ हुआ था। और एक हजार वर्ष तक जिस विशाल तरङ्ग ने समग्र भारत को डुबा दिया था, उसके सर्वोच्च शिखर पर हम एक और महामहिम मूर्ति को देखते हैं। वे दूसरे कोई नहीं—हमारे गौतम शाक्यमुनि हैं। उनके उपदेशों और प्रचारकार्य से आप सभी अवगत हैं। हम उनको ईश्वरावतार समझकर उनकी पूजा करते हैं, नीतितत्त्व का इतना बड़ा निर्भीक प्रचारक संसार में और उत्पन्न नहीं हुआ। वे कर्मयोगियों में से सर्वश्रेष्ठ हैं। स्वयं कृष्ण ही मानो शिष्यरूप से अपने उपदेशों को कार्य में परिणत करने के लिए उत्पन्न हुए। पुनः वही वाणी सुनाई दी, जिसने गीता में शिक्षा दी थी—

कर्मयोगिश्रेष्ठ भगवान बुद्धदेव।

"स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात्।"

"इस धर्म का थोड़ा सा अनुष्ठान करने पर भी महाभय से रक्षा होती है।"

"स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि यान्ति परां गतिम्।"

"स्त्री, वैश्य और शूद्र तक परमगति को प्राप्त होते हैं।"*

गीता के वाक्य, श्रीकृष्ण की वज्र के समान गम्भीर और महती वाणी सबके बन्धन, सबकी शृंखला तोड़ देती है और सभी को उस परम पद पाने का अधिकारी कर देती है।

---

* गीता।

"इहैव तैर्जितः सर्गो येषां साम्ये स्थितं मनः।
निर्दोषं हि समं ब्रह्म तस्माद्ब्रह्मणि ते स्थिताः ॥"

"जिनका मन साम्यभाव में अवस्थित है, उन्होंने यहीं सारे संसार को जीत लिया हैं। ब्रह्म समत्वभाव और निर्दोष है, इसलिए वे ब्रह्म में ही अवस्थित हैं।"

"समं पश्यन् हि सर्वत्र समवस्थितमीश्वरम्।
न हिनस्त्यात्मनात्मानं ततो याति परां गतिम् ॥"

"परमेश्वर को सर्वत्र तुल्य रूप से अवस्थित देखकर ज्ञानी आत्मा से आत्मा की हिंसा नहीं करता, इसलिए वह परम गति को प्राप्त होता है।"

भगवान बुद्धदेव तथा श्रीकृष्ण का कर्मयोग।

गीता के उपदेशों के जीते-जागते उदाहरण-स्वरूप, गीता के उपदेशक दूसरे रूप में पुनः इस मृत्युलोक में पधारे जिससे जनता द्वारा उसकी एक बून्द भी कार्यरूप में परिणत हो सके। ये ही शाक्यमुनि हैं। ये दीन-दुखियों को उपदेश देने लगे। सर्व-साधारण को आकर्षित करने के लिए देवभाषा संस्कृत को भी छोड़ ये जनता की भाषा में उपदेश देने लगे। राजसिंहासन को त्यागकर ये दुखी, गरीब, पतित, भिखमङ्गों के साथ रहने लगे, इन्होंने दूसरे राम के समान चण्डाल को भी छाती से लगा लिया।

आप सभी उनके महान् चरित्र और अद्भुत प्रचार-कार्य को जानते हैं। किन्तु इस प्रचार-कार्य में एक भारी त्रुटि थी, जिसके लिए हम आज तक दुख भोग रहे हैं। भगवान बुद्ध का कुछ दोष नहीं है, उनका चरित्र परम विशुद्ध और उज्ज्वल है.। खेद का विषय है कि बौद्ध धर्म के प्रचार से जो विभिन्न असभ्य और अशिक्षित जातियाँ अर्य समाज में घुसने लगीं, वे बुद्धदेव के उच्च आदर्शों का ठीक अनुसरण न कर सकीं। इन जातियों में नाना प्रकार के कुसंस्कार और वीभत्स उपासना-पद्धतियाँ थीं, उनके झुंड के झुंड आर्यों की समाज में घुसने लगे। कुछ समय के लिए ऐसा प्रतीत हुआ

कि वे सभ्य बन गए, किन्तु एक ही शताब्दी में वे अपने पुरखों के सर्प, भूत आदि की उपासना समाज में चलाने लगे। इस प्रकार सारा भारत कुसंस्कारों का लीलाक्षेत्र बनकर घोर अवनति को पहुँचा। पहले बौद्ध प्राणि-हिंसा की निन्दा करते हुए वैदिक यज्ञों के घोर विरोधी हो गए थे। उस समय घर घर इन यज्ञों का अनुष्ठान होता था। हर एक घर पर यज्ञ के लिए आग जलती थी—बस, इसलिए और कुछ ठाटबाट न था। बौद्ध धर्म के प्रचार से इन यज्ञों का लोप हो गया। उनकी जगह बड़े बड़े ऐश्वर्ययुक्त मन्दिर, आडम्बर से भरी अनुष्ठान-पद्धतियाँ, आडम्बर के भक्त पुरोहित तथा वर्तमान काल में भारत में और जो कुछ दिखाई देता है, सबका आविर्भाव हुआ। कितने ही ऐसे आधुनिक पण्डितों के, जिनसे अधिक ज्ञान की आशा की जाती है, ग्रन्थों को पढ़ने से यह विदित होता है कि बुद्ध ने ब्राह्मणों की मूर्तिपूजा उठा दी थी—मुझे यह पढ़कर हँसी आ जाती है। वे नहीं जानते कि बौद्ध धर्म ही ने भारत में ब्राह्मण्य-धर्म और मूर्तिपूजा की सृष्टि की थी। एक ही दो वर्ष हुए रूस-निवासी एक प्रतिष्ठित पुरुष ने एक पुस्तक प्रकाशित की। उसमें उन्होंने लिखा कि उन्हें ईसा मसीह के एक अद्भुत जीवन चरित्र का पता लगा है। उसी पुस्तक के एक स्थान पर उन्होंने लिखा है कि ईसा धर्मशिक्षार्थ ब्राह्मणों के पास जगन्नाथजी के मन्दिर में गए थे, किन्तु उनकी संकीर्णता और मूर्तिपूजा से तंग आकर वे वहाँ से तिब्बत के लामाओं के पास धर्मशिक्षार्थ गये और उनके उपदेश से सिद्ध होकर स्वदेश लौटे। जिन्हें भारत के इतिहास का थोड़ा भी ज्ञान है वे इसी विवरण से जान सकते हैं कि पुस्तक में साद्यन्त कैसा छल-प्रपंच भरा हुआ

बौद्ध धर्म की अवनति तथा भारतीय सामाजिक जीवन पर उसका बुरा परिणाम।

रूस-निवासी एक प्रतिष्ठित व्यक्ति द्वारा प्रकाशित ईसा मसीह की अद्भुत जीवनी।

है, क्योंकि जगन्नाथजी का मन्दिर तो एक बौद्ध मन्दिर है। हमने इसको एवं अन्यान्य बौद्ध मन्दिरों को हिन्दू मन्दिर बना लिया। इस प्रकार के कार्य हमें इस समय भी बहुत करने पड़ेंगे। यही जगन्नाथ का इतिहास है और यद्यपि उस समय वहाँ एक भी ब्राह्मण न था, तथापि कहा जा रहा है कि ईसा मसीह वहाँ ब्राह्मणों से उपदेश लेने के लिए गये थे! हमारे दिग्गज रूसी पुरातत्ववेत्ता की ऐसी ही राय है! ऊपर लिखे हुए कारणों से बौद्धधर्म की प्राणिमात्र के लिए दया, उसके अपूर्व नीतितत्त्व और नित्य आत्मा के अस्तित्व सम्बन्धी बाल की खाल निकालनेवाले विचारों के होते हुए भी समग्र बौद्धधर्मरूपी प्रासाद चूर चूर होकर गिर गया और उसका खण्डहर बड़ा ही वीभत्स है। बौद्धधर्म की अवनति से जिन घृणित आचारों का आविर्भाव हुआ, उनका वर्णन करने के लिए मेरे पास न समय है, न इच्छा ही है। अति कुत्सित अनुष्ठान-पद्धतियाँ, अत्यन्त भयनक और अश्लील ग्रन्थ — जो मनुष्यों द्वारा और कभी नहीं लिखे गये, मनुष्य कभी जिसकी कल्पना तक नहीं कर सके, अत्यन्त भीषण पाशविक अनुष्ठान-पद्धतियाँ जो और कभी धर्म के नाम से प्रचलित नहीं हुई — ये सभी गिरे हुए बौद्धधर्म की सृष्टि हैं।

परन्तु भारत को जीवित रहना ही था, इसीलिए पुनः भगवान का आविर्भाव हुआ। जिन्होंने कहा था, "जब कभी धर्म की हानि होती है तभी मैं आता हूँ" — वे फिर से आये। इस बार दक्षिण देश में भगवान का आविर्भाव हुआ। उस ब्राह्मण युवक का, जिसके बारे में कहा गया है कि उसने सोलह वर्ष की उम्र में ही अपनी सारी ग्रन्थ-रचना समाप्त की थी, उसी अद्भुत प्रतिभाशाली शंकराचार्य का अभ्युदय हुआ। इस सोलह वर्ष के बालक के लेखों से आधुनिक सभ्य संसार विस्मित हो रहा है। वे स्वयं अद्भुत शक्तिशाली पुरुष थे। उन्होंने संकल्प किया था कि समग्र भारत को उसके प्राचीन विशुद्ध मार्ग में ले जाऊँगा; पर

ज्ञानावतार भगवान शंकराचार्य।

यह कार्य कितना कठिन और विशाल था, इसका विचार भी कीजिए। उस समय भारत की जैसी अवस्था थी इसका भी आप लोगों को दिग्दर्शन कराता हूँ। जिन भीषण आचारों का सुधार करने को आप लोग अग्रसर हो रहे हैं, वे उसी अधःपतन के युग के फल हैं। तातार, बिलूची आदि भयानक जातियों के लोग भारत में आकर बौद्ध बने और हमारे साथ मिल गए। अपने जातीय आचारों को भी वे साथ लाये। इस तरह हमारा जातीय जीवन अत्यन्त भयानक पाशविक आचारों से भर गया। उक्त ब्राह्मण युवक को बौद्धों से विरासत में यही मिला था और उसी समय से अब तक भारत भर में इसी अधःपतित बौद्धधर्म पर वेदान्त की विजय चल रही है। अब भी यही काम जारी है, अब भी उसका अन्त नहीं हुआ। महादार्शनिक शंकर ने आकर दिखलाया कि बौद्धधर्म और वेदान्त के सारांश में विशेष अन्तर नहीं है। किन्तु बुद्धदेव के शिष्य-प्रशिष्य अपने आचार्य के उपदेशों का मर्म न समझ हीन हो गए और आत्मा तथा ईश्वर का अस्तित्व अस्वीकार करके नास्तिक हो गए—शंकर ने यही दिखलाया। तब सभी बौद्ध अपने प्राचीन धर्म का अवलम्बन करने लगे, पर वे उन अनुष्ठानों के आदी बन गए थे। इन अनुष्ठानों के लिये क्या किया जाय, यह कठिन समस्या उठ खड़ी हुई।

भगवान रामानुजाचार्य।

तब महानुभव रामानुज का अभ्युदय हुआ। शंकर की प्रतिभा प्रखर थी किन्तु उनका हृदय रामानुज के समान उदार नहीं था। रामानुज का हृदय शंकर की अपेक्षा अधिक उदार था। पतितों के दुःख से उनका हृदय भर आया, उनका दुःख उनके दिल में चुभ गया। उस समय की प्रचलित अनुष्ठान-पद्धतियों में उन्होंने यथाशक्ति सुधार किया और नई अनुष्ठान-पद्धतियों, नई उपासना-प्रणालियों की सृष्टि करके उन लोगों को उपदेश करने लगे जिनके लिए ये अत्यावश्यक थे। इसी के साथ साथ उन्होंने ब्राह्मण से लेकर चांडाल तक सबके लिए सर्वोच्च आध्यात्मिक उपासना का द्वार खोल दिया। इस तरह

रामानुज का कार्य चला। उनके कार्य का प्रभाव चारों ओर फैलने लगा, आर्यावर्त तक इसकी लहरें पहुँचीं; वहाँ भी कई आचार्य इसी तरह कार्य करने लगे; किन्तु यह बहुत देर में, मुसलमानों के शासन-काल में हुआ था। आर्यावर्तवासी इन आधुनिक आचार्यों में से चैतन्य सर्वश्रेष्ठ हुए। रामानुज के समय से धर्मप्रचार की एक विशेषता की ओर लक्ष्य कीजिये—तब से धर्म का द्वार सर्वसाधारण के लिए खुला रहा। शंकर के पूर्ववर्ती आचार्यों का यह जैसा मूलमंत्र था, रामानुज के परवर्ती आचार्यों का भी यह वैसा ही मूलमंत्र रहा। मैं नहीं जानता कि लोग शंकर को अनुदारमत के पोषक क्यों कहते हैं। उनके लिखे ग्रन्थों में ऐसा कुछ भी नहीं मिलता जो उनकी संकीर्णता का परिचय दे। जिस तरह भगवान बुद्धदेव के उपदेश उनके शिष्यों के हाथ बिगड़ गये हैं, उसी तरह शंकराचार्य के उपदेशों पर संकीर्णता के जो दोष लगाये जाते हैं बहुत सम्भव है कि उनके लिए वे जिम्मेदार नहीं हैं। उनके शिष्यों की ही नासमझी के कारण सम्भवतः यह दोष शंकर पर लगाया जाता है।

मैं अब आर्यावर्त-निवासी भगवान श्रीचैतन्य के विषय में कुछ कहकर यह भाषण समाप्त करूँगा। वे गोपियों के प्रेमोन्मत्त भाव के आदर्श थे।

प्रेमावतार भगवान श्री चैतन्य।

चैतन्यदेव स्वयं एक ब्राह्मण थे, उस समय के एक बड़े पण्डित वंश में उनका जन्म हुआ था। वे न्याय के अध्यापक थे, तर्क द्वारा सबको परास्त करते थे,—यही उन्होंने बचपन से जीवन का उच्चतम आदर्श समझ रखा था। किसी महापुरुष की कृपा से इनका सम्पूर्ण जीवन बदल गया; तब इन्होंने वाद-विवाद, तर्क, न्याय की अध्यापना, सब कुछ छोड़ दिया। संसार में भक्ति के जितने बड़े बड़े आचार्य हुये हैं, प्रेमोन्मत्त चैतन्य उनमें से एक श्रेष्ठ आचार्य हैं। उनकी भक्ति-तरंग सारे बंगाल में फैल गई, जिससे सबके हृदय को शान्ति मिली। उनके प्रेम की सीमा न थी। साधु, असाधु, हिन्दू, मुसलमान, पवित्र, अपवित्र, वेश्या, पतित सभी उनके प्रेम के भागी थे, वे सब पर दया रखते

थे। यद्यपि उनका चलाया हुआ सम्प्रदाय घोर अवनति की दशा को पहुँच गया है (काल के प्रभाव से सभी अवनति को प्राप्त होते हैं), तथापि आज तक वह दरिद्र, दुर्बल, जातिच्युत, पतित, किसी भी समाज में जिनका स्थान नहीं है, ऐसे लोगों का आश्रयस्थान है। परन्तु सत्य के लिए मुझे स्वीकार करना ही होगा कि दार्शनिक सम्प्रदायों में ही हम अद्भुत उदार भाव देखते हैं। शंकरमतावलम्बी कोई भी यह बात स्वीकार नहीं करेगा कि भारत के विभिन्न सम्प्रदायों में वास्तव में कोई भेद है, किन्तु जातिभेद के विषय में शंकर अत्यन्त संकीर्णता का भाव रखते थे। इसके विपरीत, प्रत्येक वैष्णवाचार्य में हम जातिभेद के विषय पर अद्भुत उदारता देखते हैं, किन्तु उनका धार्मिक मत अत्यन्त संकीर्ण है।

एक का था अद्भुत मस्तिष्क, दूसरे का था विशाल हृदय। अब एक ऐसे अद्भुत पुरुष के जन्म लेने का समय आ गया था, जिनमें ऐसा ही हृदय और मस्तिष्क दोनों एकसाथ विराजमान हों; जो शंकर के अद्भुत मस्तिष्क एवं चैतन्य के अद्भुत, विशाल, अनन्त हृदय के एक ही साथ अधिकारी हों, जो देखें कि सब सम्प्रदाय एक ही आत्मा, एक ही ईश्वर की शक्ति से चालित हो रहे हैं और प्रत्येक प्राणी में वही ईश्वर विद्यमान है, जिनका हृदय भारत में अथवा भारत के बाहर दरिद्र, दुर्बल, पतित सबके लिए पानी पानी हो जाय, लेकिन साथ ही जिनकी विशाल बुद्धि ऐसे महान् तत्त्वों को पैदा करे जिनसे भारत में अथवा भारत के बाहर सब विरोधी सम्प्रदायों में समन्वय साधित हो और इस अद्भुत समन्वय द्वारा एक ऐसे सार्वभौमिक धर्म को प्रकट करे जिससे हृदय और मस्तिष्क दोनों की बराबर उन्नति होती रहे। एक ऐसे ही पुरुष ने जन्म ग्रहण किया और मैंने वर्षों तक उनके चरणों के तले बैठकर शिक्षा-लाभ का सौभाग्य प्राप्त किया। ऐसे एक पुरुष के जन्म लेने का समय आ गया था, इसकी आवश्यकता पड़ी थी,

ज्ञान-भक्ति-समन्वयाचार्य भगवान श्रीरामकृष्ण।

और वे उत्पन्न हुए। सबसे अधिक आश्चर्य की बात यह थी कि उनका समग्र जीवन एक ऐसे शहर के पास व्यतीत हुआ जो पाश्चात्य भावों से उन्मत्त हो रहा था, भारत के सब शहरों की अपेक्षा जो विदेशी भावों से अधिक भरा हुआ था। उनमें पोथियों की विद्या कुछ भी न थी, ऐसे महाप्रतिभासम्पन्न होते हुए भी वे अपना नाम तक नहीं लिख सकते थे, किन्तु हमारे विश्वविद्यालय के बड़े बड़े उपाधिधारियों ने उन्हें देखकर एक महाप्रतिभाशाली व्यक्ति मान लिया था। वे एक अद्‌भुत महापुरुष थे। यह तो एक बड़ी लम्बी कहानी है, आज रात को आपके निकट उनके विषय में कुछ भी कहने का समय नहीं है। इसलिए मुझे भारतीय सब महापुरुषों के पूर्णप्रकाश-स्वरूप युगाचार्य भगवान श्रीरामकृष्ण का उल्लेख भर करके आज समाप्त करना होगा। उनके उपदेश आजकल हमारे लिए विशेष कल्याणकारी हैं। उनके भीतर जो ऐश्वरिक शक्ति थी उस पर विशेष ध्यान दीजिये। वे एक दरिद्र ब्राह्मण के लड़के थे। उनका जन्म बंगाल के सुदूर, अज्ञात, अपरिचित किसी एक गाँव में हुआ था। आज यूरोप अमेरिका के सहस्रों व्यक्ति वास्तव में उनकी पूजा कर रहे हैं, भविष्य में और भी सहस्रों मनुष्य उनकी पूजा करेंगे। ईश्वर की लीला कौन समझ सकता है? हे भाइयो, आप यदि इसमें विधाता का हाथ नहीं देखते तो आप अन्धे हैं, सचमुच जन्मान्ध हैं। यदि समय मिला, यदि आप लोगों से आलोचना करने का और कभी अवकाश मिला तो आपसे इनके सम्बन्ध में विस्तारपूर्वक कहूँगा; इस समय केवल इतना ही कहना चाहता हूँ कि यदि मैंने जीवन भर में एक भी सत्य वाक्य कहा है तो वह उन्हीं का वाक्य है; पर यदि मैंने ऐसे वाक्य कहे हैं जो असत्य, भ्रमपूर्ण अथवा मानव-जाति के लिए हितकारी न हों, तो वे सब मेरे ही वाक्य हैं, उनके लिए पूरा उत्तरदायी मैं ही हूँ।

---

१४. हमारा प्रस्तुत कार्य

[यह व्याख्यान ट्रिप्लिकेन, मद्रास की साहित्य-समिति में दिया गया था। अमेरिका जाने के पहले स्वामी विवेकानन्दजी का इस समिति के सदस्यों से परिचय हुआ था। इन सदस्यों के साथ स्वामीजी ने अनेक विषयों पर चर्चा की थी। इससे वे सदस्यगण तथा मद्रास की जनता बहुत ही प्रभावित हुई थी। अन्त में इन सज्जनों के विशेष आग्रह एवं प्रयत्न से ही वे अमेरिका की शिकागो-धर्ममहासभा में हिन्दू धर्म के प्रतिनिधि के रूप में भेजे गए थे। इस व्याख्यान का अतएव एक विशेष महत्व है।]

संसार ज्यों ज्यों आगे बढ़ रहा है, त्यों त्यों जीवन-समस्या गहरी और व्यापक हो रही है। उस पुराने जमाने में जब कि समस्त जगत् के अखण्डत्व-रूप वैदान्तिक सत्य का प्रथम आविष्कार हुआ था, तभी से उन्नति के मूल मंत्रों और सार तत्वों का प्रचार होता आ रहा है।

जीवन-समस्या की सार्वभौमिक मीमांसा।

विश्वब्रह्माण्ड का एक परमाणु सारे संसार को अपने साथ बिना घसीटे तिल भर भी नहीं हिल सकता है। जब तक सारे संसार को साथ साथ उन्नति के पथ पर आगे नहीं बढ़ाया जायेगा तब तक संसार के किसी भी भाग में किसी भी प्रकार की उन्नति सम्भवपर नहीं है। और दिन दिन यह और भी स्पष्ट हो रहा है कि किसी प्रश्न की मीमांसा सिर्फ जातीय या किन्हीं संकीर्ण युक्तियों पर नहीं टिक सकती। हरएक विषय को तथा हरएक भाव को तब तक बढ़ाना चाहिए जब तक उसमें सारा संसार न आ जाय, हर एक आकांक्षा को तब तक बढ़ाते रहना चाहिए जब तक वह समस्त मनुष्यजाति को — नहीं, — समस्त प्राणिजगत् को अपने पेट में न डाल ले। इससे सूचित होगा कि क्यों

हमारा देश गत कई सदियों से वैसा महान् नहीं रह गया है जैसा वह प्राचीन काल में था। हम देखते हैं कि जिन कारणों से वह गिर गया है उनमें से एक कारण दृष्टि की संकीर्णता तथा कार्यक्षेत्र का संकोच है।

ग्रीक और हिन्दू।

जगत् में ऐसी दो आश्चर्यजनक जातियाँ हो गई हैं जो एक ही जाति से फूटी हैं, परन्तु भिन्न परिस्थितियों और घटनाओं में स्थापित रहकर हरएक ने जीवन की समस्याओं को अपने ही निराले ढंग से हल कर लिया है—मेरा मतलब प्राचीन हिन्दू और प्राचीन ग्रीक से है। भारतीय आर्यों की उत्तरी सीमा हिमालय की उन बर्फीली चोटियों से घिरी हुई है जिनके तल में सम भूमि पर समुद्र-सी स्वच्छतोय सरिताएँ हिलोरें मार रही हैं और वहाँ वे अनंत अरण्य वर्तमान हैं जो आर्यों को संसार का अन्तिम छोर-सा प्रतीत होते हैं। इन सब मनोरम दृश्यों को देखकर आर्यों का मन सहज ही अंतर्मुख हो उठा। आर्यों का मस्तिष्क सूक्ष्मभावग्राही था। चारों ओर घिरी हुई महान् दृश्यावली देखने का यह स्वाभाविक फल था कि आर्य अन्तस्तत्त्व के अनुसंधान में लग गये, चित्त का विश्लेषण आर्यों का मुख्य ध्येय हो गया। दूसरी ओर, ग्रीक जाति संसार के एक दूसरे भाग को पहुँची। वह स्थान जितना गम्भीर भावोद्दीपक था उससे अधिक सुन्दर था। ग्रीक टापुओं के भीतर के वे सुन्दर दृश्य, उनके चारों ओर की वह हास्यमयी किन्तु निराभरणा प्रकृति देखकर ग्रीक जाति स्वभावतः बाहर को मुड़ी। उसने बाह्य संसार का विश्लेषण करना चाहा और फलस्वरूप, हम देखते हैं कि विश्लेषणात्मक सब प्रकार के विज्ञान भारत से निकले और श्रेणीविभागात्मक सब प्रकार के, ग्रीस से।

हिन्दुओं का मन अपनी ही गति से चला और उसने अद्भुत फल दिखाया, यहाँ तक कि वर्तमान समय में भी, हिन्दुओं की वह विचार-शक्ति—वह अपूर्व शक्ति, जिसे भारतीय मस्तिष्क अब तक धारण करता है, तुलना-रहित है। हम सभी जानते हैं कि हमारे लड़के दूसरे देश के लड़कों से प्रति-

योगिता करके सदा ही विजय प्राप्त करते हैं, परन्तु हमारी यह जातीय शक्ति शायद मुसलमानों के विजय प्राप्त करने के दो शताब्दी पहले ही दूर हो गई थी। यह जातीय शक्ति इतनी जर्जर हो गई थी कि वह स्वयं ही अधःपतन की ओर चल पड़ी थी,—और वही अधःपतन अब भारतीय शिल्प, संगीत, विज्ञान आदि हर विषय में दिखाई दे रहा है। शिल्प में अब वह उदार धारणा नहीं रह गई, भावों की वह उच्चता तथा भिन्न भिन्न अंगों को सुडौल बनाने की वह चेष्टा अब और नहीं रह गई, किन्तु उसकी जगह अत्यधिक अलङ्कारप्रियता का समावेश हो गया और जाति की सारी मौलिकता नष्ट हो चली। संगीत में चित्त को मस्त कर देनेवाले वे गम्भीर भाव जो प्राचीन संस्कृत में पाये जाते हैं, अब नहीं रहे—जिस तरह वे पहले थे उस तरह उनमें से कोई भी अब अपने पैरों नहीं खड़ा हो सकता—वह अपूर्व एकतानता नहीं छेड़ सकता। हरएक स्वर अपनी विशिष्टता खो बैठा। हमारे समग्र आधुनिक सङ्गीत में नाना प्रकार के स्वर-रागों की खिचड़ी हो गई है—उसकी बहुत ही बुरी दशा हो गई है। संगीत की अवनति का यही चिह्न है। इसी प्रकार, भावराज्य सम्बन्धी दूसरी बातों का विश्लेषण करने पर देखेंगे कि अतिरञ्जना की ही चेष्टा की गई, और इस तरह मौलिकता का नाश हुआ। और, यहाँ तक कि धर्म में भी, जो कि तुम्हारी विशेषता है, वही भयानक अवनति हुई है। उस जाति से तुम क्या आशा कर सकते हो, जो सैकड़ों वर्ष तक यह जटिल प्रश्न हल करती रह गई कि पानी-भरा लोटा दाहिने हाथ से पीना चाहिए या बायें हाथ से? इससे और अधिक अवनति क्या हो सकती है कि देश के बड़े बड़े मेधावी मनुष्य जलपात्र को लेकर तर्क करते हुए सैकड़ों वर्ष बिता दें,—वादविवाद यही छूताछूत का रहा कि तुम हमें छूने लायक हो या हम तुम्हें, और इस छूत-अछूत के कारण कौन सा प्रायश्चित्त लिया जाय! वेदान्त के वे तत्त्व, ईश्वर

मुसलमानों द्वारा भारतविजय के कुछ वर्ष पूर्व हिन्दू जाति की अवनति।

और आत्मा सम्बन्धी वे सबसे उज्ज्वल तथा महान् सिद्धान्त जिनका सारे संसार में प्रचार हुआ था प्रायः नष्ट हो गए, निबिड़ अरण्यनिवासी कुछ संन्यासियों द्वारा रक्षित होकर वे छिपे रहे और शेष सब लोग केवल छूत-अछूत, खाद्य-अखाद्य आदि गुरुतर प्रश्नों को हल करने में व्यस्त रहे! हमें मुसलमानों से कई अच्छे विषय मिले, इसमें कुछ सन्देह नहीं। संसार में हीनतम मनुष्य भी श्रेष्ठ मनुष्यों को कुछ न कुछ शिक्षा अवश्य दे सकते हैं, किन्तु वे हमारी जाति में शक्ति-संचार नहीं कर सके।

इसके पश्चात् शुभ के लिए हो चाहे अशुभ के लिए, भारत में अंगरेजों का राज्य हो गया। किसी जाति के लिए विजित होना निःसन्देह बुरी चीज़ है; विदेशियों का शासन कभी भी कल्याणकर नहीं होता। किन्तु तो भी, अशुभ के भीतर से होते हुए कभी कभी शुभ का आगमन होता है। अतएव अंगरेजों की विजय का शुभ फल यह है:— इंग्लैण्ड तथा समग्र यूरोप को सभ्यता के लिए ग्रीस के निकट ऋणी होना चाहिए, क्योंकि यूरोप के सभी भावों में मानो ग्रीस की ही प्रतिध्वनि सुनाई दे रही है, यहाँ तक कि उसके हरएक मकान में, मकान की हरएक चीज़ में ग्रीस का ही प्रभाव दीख पड़ता है। यूरोप के विज्ञान, शिल्प आदि सभी ग्रीस ही के प्रतिबिम्ब हैं। आज वही प्राचीन ग्रीक तथा प्राचीन हिन्दू भारतभूमि पर मिल रहे है। इस प्रकार धीर और निःस्तब्ध भाव से एक परिवर्तन आ रहा है और आज हमारे चारों ओर जो उदार, जीवनप्रद पुनरुत्थान के आन्दोलन दिखाई दे रहे हैं सब इन दोनों विभिन्न भावों के सम्मिलन के ही फल हैं। अब मानवजीवन सम्बन्धी हमारी धारणाएँ भी उदारतर हो रही हैं। यद्यपि हम पहले कुछ भ्रम में पड़ गए थे और भावों को संकीर्ण करना चाहते थे, तथापि अब हम देखते हैं कि आजकल ये जो महान् भाव और जीवन की ऊँची धारणाएँ काम कर रही हैं, हमारे प्राचीन ग्रन्थों में लिखे हुए तत्वों की स्वाभाविक परिणति ही हैं। ये

अंग्रेज द्वारा भारत-विजय का शुभ फल।

उन बातों का यथार्थ न्यायसंगत परिणाम मात्र हैं जिनका हमारे पूर्वजों ने पहले ही प्रचार किया था। विशाल बनना, उदार बनना, क्रमशः सार्वभौमिक भाव में उपनीत होना — यही हमारा लक्ष्य है। परन्तु हम अपने शास्त्रोपदेशों पर ध्यान न देकर दिनोंदिन अपने को संकीर्ण से संकीर्णतर करते जा रहे हैं।

हमारी उन्नति के मार्ग में कुछ विघ्न हैं और उनमें प्रधान है हमारा यह दुराग्रह कि संसार में जितनी जातियाँ हैं उन सबके सिरमौर हम हैं। मैं हृदय से भारत को प्यार करता हूँ, स्वदेश के हितार्थ मैं सदा कमर कसे तैयार रहता हूँ, पूर्वजों पर मेरी आन्तरिक श्रद्धा और भक्ति है, तथापि मेरा यह विचार कि संसार से हमें भी बहुत कुछ शिक्षा प्राप्त करनी है, मैं नहीं त्याग सकता। शिक्षाग्रहणार्थ हमें सबके पैरों तले बैठना चाहिए, क्योंकि ध्यान इस बात पर देना आवश्यक है कि सभी हमें महान् महान् शिक्षा दे सकते हैं। हमारे श्रेष्ठ स्मृतिकार मनु महाराज की उक्ति है —

श्रद्दधानो शुभां विद्यामाददीतावरादपि।
अन्त्यादपि परं धर्मं स्त्रीरत्नं दुष्कुलादपि॥

अर्थात् "नीच जातियों से भी श्रद्धा के साथ हितकारी विद्या ग्रहण करनी चाहिए, और निम्नतम अन्त्यज ही क्यों न हो, सेवा द्वारा उससे भी श्रेष्ठ धर्म लेना चाहिए।" — इत्यादि।

अतएव यदि हम मनु की सच्ची सन्तान हैं तो हमें उनके आदेशों का अवश्य ही प्रतिपालन करना चाहिये। और जो कोई हमें शिक्षा देने के लिए योग्य है, उसीसे ऐहिक या पारमार्थिक विषयों में शिक्षा ग्रहण करने के लिये हमें सदा ही तैयार रहना चाहिये।

किन्तु साथ ही यह भी न भूलना चाहिए कि संसार को हम भी कोई विशेष शिक्षा दे सकते हैं। भारत से बाहर के देशों से सम्बन्ध बिना जोड़े हमारा काम नहीं चल सकता। किसी समय हम लोगों ने जो इसके विपरीत सोचा था, वह हमारी निर्बुद्धिता मात्र थी और उसी की सजा का फल है कि

हजारों वर्षों से हम दासता के बन्धनों से बँध गये हैं। हम लोग दूसरी जातियों से अपनी तुलना करने के लिए विदेश नहीं गये और हमने संसार की गति पर ध्यान रखकर चलना नहीं सीखा,—यही है भारतीय मन की अवनति का प्रधान कारण। हमें यथेष्ट सजा मिल चुकी, अब हमें चाहिए कि ऐसे भ्रम में कभी न पड़ें। भारत से बाहर जाना भारतीयों के लिए अनुचित है—इस प्रकार की वाहियात बातें बच्चों की-सी हैं। उन्हें बिलकुल हटा देना चाहिए। जितना ही तुम भारत से बाहर अन्यान्य देशों में घूमोगे, उतना ही तुम्हारा और तुम्हारे देश का कल्याण होगा। यदि तुम पहले ही से—सैकड़ों सदियों के पहले ही से—ऐसा करते, तो तुम आज उस जाति के पदानत न हो जाते जिसने तुम्हें दबाने की कोशिश की। जीवन का पहला और स्पष्ट लक्षण है विस्तार। यदि तुम बचना चाहो तो तुम्हें लकीर की फकीरी छोड़नी होगी। जिस क्षण से तुम्हारे जीवन का विस्तार बन्द हो जायेगा, उसी क्षण से जान लेना कि मृत्यु ने तुम्हें घेर लिया है, विपत्तियाँ तुम्हारे सामने हैं। मैं यूरोप और अमेरिका गया था, इसका तुम लोगों ने सहृदयतापूर्ण उल्लेख किया है। मुझे वहाँ जाना पड़ा, क्योंकि यही विस्तृति जातीय जीवन के पुनर्जागरण का पहला चिह्न है। इस फिर से जगनेवाले जातीय जीवन ने भीतर ही भीतर विस्तार प्राप्त करके मुझे मानो दूर फेंक दिया था और इस तरह और भी हजारों लोग फेंके जाएँगे। मेरी बात ध्यान से सुनो। यदि यह जाति बची रहेगी तो यह जरूर होगा। अतएव यह विस्तार जातीय जीवन के पुनरभ्युदय का सर्वप्रधान लक्षण है और मनुष्य की सारी ज्ञानसमष्टि तथा समग्र जगत् की उन्नति के लिए हमें जो कुछ देना चाहिए वह भी इस विस्तार के साथ भारत से बाहर दूसरे देशों को जा रहा है।

विदेश में धर्म-प्रचार तथा विदेशियों के साथ सम्बन्ध रखना हमारा कर्तव्य है।

परन्तु यह कोई नया काम नहीं। तुम लोगों में से जिनकी यह धारणा

है कि हिन्दू अपने देश की चहारदीवारी के भीतर ही चिरकाल से पड़े हैं, वे बड़ी ही भूल करते हैं। तुमने अपने प्राचीन शास्त्र पढ़े नहीं। तुमने अपने जातीय इतिहास का ठीक ठीक अध्ययन किया नहीं। हरएक जाति को अपनी प्राणरक्षा के लिए दूसरी जातियों को कुछ देना ही पड़ेगा। प्राण देने पर ही प्राणों की प्राप्ति होती है, दूसरों से कुछ लेना होगा तो बदले में मूल्य के रूप में उन्हें कुछ देना ही होगा। हम जो हजारों वर्षों से जीवित हैं इसे हम अस्वीकार नहीं कर सकते—और इतने दिनों तक हम जो बचे हुए हैं, इसी से सूचित हो जाता है कि सदा संसार को हमें कुछ न कुछ देना पड़ा है, फिर अज्ञ जन चाहे जो कुछ सोचें।

विदेशगमन हिन्दुओं के लिए नई बात नहीं है।

भारत का दान है धर्म, दार्शनिक ज्ञान और आध्यात्मिकता। धर्म-प्रचार के लिए यह आवश्यक नहीं कि सेना उसके आगे आगे मार्ग निष्कंटक करती हुई चले। ज्ञान और दार्शनिक तत्व को शोणित-प्रवाह पर से ढोने की आवश्यकता नहीं। ज्ञान और दार्शनिक तत्व खून से भरे जख्मी आदमियों के ऊपर से सदर्प विचरण नहीं करते। वे शान्ति और प्रेम के पंखों से उड़कर शान्तिपूर्वक आया करते हैं, और सदा हुआ भी यही। अतएव यह स्पष्ट है कि संसार के लिए भारत को सदा कुछ देना पड़ा है। लन्दन में किसी युवती स्त्री ने मुझसे पूछा, 'तुम हिन्दुओं ने क्या किया? तुमने कभी किसी भी जाति को नहीं जीत पाया है।' अङ्गरेज जाति की दृष्टि में—वीर, साहसी, क्षत्रियप्रकृति अङ्गरेज जाति की दृष्टि में ही इस बात की शोभा है,—उनकी दृष्टि में यदि किसी ने किसी दूसरी जाति को जीत लिया तो वह सर्वश्रेष्ठ गौरव की बात समझी जाती है। यह उनके विचारों में सत्य भले ही हो किन्तु हमारी दृष्टि इसके बिलकुल विपरीत है। जब मैं अपने मन से यह प्रश्न करता हूँ कि भारत के श्रेष्ठत्व का क्या कारण है, तब मुझे यह उत्तर मिलता है कि हमने कभी दूसरी

भारत का दान धर्मदान है।

जाति पर विजय प्राप्त नहीं की, यही हमारा महान् गौरव है। तुम लोग आजकल सदा यह निन्दा सुन रहे हो कि हिन्दुओं का धर्म दूसरों के धर्म को जीत लेने में सचेष्ट नहीं; और मैं बड़े दुःख से कहता हूँ कि वह बात ऐसे ऐसे मनुष्यों के मुँह की होती है, जिनसे हम अधिकतर ज्ञान की आशा रखते हैं। मुझे यह जान पड़ता है कि हमारा धर्म दूसरे धर्मों की अपेक्षा सत्य के अधिक निकट है; इसकी प्रधान युक्ति यही है कि हमारे धर्म ने कभी दूसरे धर्मों पर विजय प्राप्त नहीं की, उसने कभी खून की नदियाँ नहीं बहाईं, उसने सदा आशीर्वाद और शान्ति के शब्द कहे, सबको उसने प्रेम और सहानुभूति की कथा सुनाई। यहीं, केवल यहीं दूसरे धर्म से द्वेष न रखने के भाव सबसे पहले प्रचारित हुए, केवल यहीं परधर्म-सहिष्णुता तथा सहानुभूति के ये भाव कार्यरूप में परिणत हुए। दूसरे देशों में यह केवल मतवाद मात्र है। यहीं, केवल यहीं, यह देखने में आता है कि हिन्दू मुसलमानों के लिए मसजिदें और ईसाइयों के लिए गिर्जे बनवाते हैं। अतएव, भाइयो, तुम समझ गये होगे कि किस तरह हमारे भाव धीरे धीरे, शान्त और अज्ञात रूप से दूसरे देशों में ढोये गये हैं। भारत के सब विषयों में यही बात है। भारतीय चिन्ता का सबसे बड़ा लक्षण है उसका शान्त स्वभाव और उसकी नीरवता।

हिन्दुओं ने नीरव और शान्त भाव से धर्म-दान किया है।

जो शक्ति इसके पीछे है उसका प्रकाश जबरदस्ती से नहीं होता। भारतीय चिन्ता सदा जादू-सा असर करती है। जब कोई विदेशी हमारे साहित्य का अध्ययन करता है, तो पहले वह उसे अरुचिपूर्ण प्रतीत होता है, क्योंकि इसमें उसके निज के साहित्य की जैसी उद्दीपना नहीं, तीव्र गति नहीं जिससे उसका हृदय सहज ही उछल पड़े। यूरोप के शोकान्त नाटकों की हमारे नाटकों से तुलना करो। पश्चिमी नाटक विभिन्न घटनाओं से पूर्ण हैं। वे कुछ देर के लिए उद्दीप्त तो कर देते हैं, किन्तु ज्योंही समाप्त होते हैं त्योंही तुरन्त प्रतिक्रिया शुरू हो जाती है—तुम्हारे मस्तिष्क से उसका सम्पूर्ण प्रभाव निकल जाता है। भारत के

दुःखान्त नाटकों में मानो इन्द्रजाल की शक्ति भरी हुई है। वे मन्दगति से चुपचाप अपना काम करते हैं किन्तु उनका एक बार पढ़ना आरम्भ करते ही वे तुम पर अपना प्रभाव फैलाते रहेंगे। फिर तुम टस से मस नहीं हो सकते — तुम बँध जाते हो। हमारे साहित्य में जिस किसी ने प्रवेश लाभ किया उसे उसका बन्धन अवश्य ही स्वीकार करना पड़ा और चिरकाल के लिए हमारे साहित्य से उसका प्रेम हो गया।

लोगों की नज़र बचाकर तथा बिना कोई आवाज़ किये पड़नेवाले हिम के शीतल कण जिस प्रकार गुलाब की सुहावनी कलियों को खिला देते हैं, वैसा ही असर भारत के दान का संसार की विचारधारा पर पड़ता रहता है। बिना शोरगुल किये, अज्ञेय किन्तु महाशक्ति के अदम्य बल से, उसने सारे जगत् की चिन्ता-राशि में उथल-पुथल मचा दी है — एक नया ही युग खड़ा कर दिया है; किन्तु तो भी कोई नहीं जानता, कब ऐसा हुआ। किसी ने प्रसंगवशात् मुझसे कहा था,—'भारत के किसी प्राचीन ग्रन्थकार का नाम ढूँढ़ निकालना कितना कठिन काम है!' इस पर मैंने यह उत्तर दिया कि यही भारत का स्वभावसिद्ध धर्म है। भारत के लेखक आजकल के जैसे लेखक नहीं थे — जो उनके ग्रन्थों से ९० फी सदी साफ़ उड़ा लेते हैं — जिनका अपना केवल दशमांश होता है — किन्तु तो भी जो ग्रन्थारम्भ में भूमिका लिखते हुए यह कहते नहीं चूकते कि इन मत-मतान्तरों का पूरा दायित्व मेरे सिर है! मनुष्यजाति के हृदय में उच्च भाव भरनेवाले वे महामनीषिगण ग्रन्थों की रचना करके ही सन्तुष्ट थे, उन्होंने ग्रन्थों में अपना नाम तक नहीं दिया, और अपने ग्रन्थ समाज को सौंपकर वे शान्तिपूर्वक इस संसार से चल बसे। हमारे दर्शनकारों या पुराणकारों के नाम कौन जानता है? वे सभी व्यास, कपिल आदि उपाधियों ही से परिचित हैं। वे ही श्रीकृष्ण के योग्य सपूत हैं — वे ही गीता के यथार्थ अनुयायी हैं — उन्होंने ही श्रीकृष्ण के इस महान् उपदेश —

भारतीय ग्रन्थकार-गण अज्ञात हैं।

'कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन' *

'कर्म ही में तुम्हारा अधिकार है, फल में कदापि नहीं'— का पालन कर दिखाया।

मित्रो, इस प्रकार भारत ने संसार में अपना कर्म किया, परन्तु इसके लिए भी एक बात अत्यन्त आवश्यक है। वाणिज्य द्रव्य की भाँति, विचारों का समूह भी किसी के बनाये हुए मार्ग पर से ही चलता है। भावराशि के एक देश से दूसरे देश को जाने के पहले, उसके जाने का मार्ग तैयार होना चाहिये। संसार के इतिहास में, जभी पृथ्वी को जीत लेनेवाली किसी बड़ी जाति ने संसार के भिन्न भिन्न देशों को एक तागे से बाँधा है, तभी उसके बनाये हुए मार्ग से भारत की विचारधारा बह चली है और प्रत्येक जाति की नस नस में समा गई है। ज्यों ज्यों समय बीत रहा है, त्यों त्यों प्रमाणसमूह इकट्ठे हो रहे हैं कि बुद्ध के जन्म लेने के पहले ही भारत के विचार सारे संसार में फैल चुके थे। बौद्ध धर्म के उदय के पहले ही चीन, फारस और पूर्वी टापुओं में वेदान्त का प्रवेश हो चुका था। फिर जब ग्रीस की विशाल शक्ति ने पूर्वी भूखण्डों को एक ही सूत से बाँधा था, तब फिर वहाँ भारत की विचारधारा बह गई थी; और, ईसाई धर्म की डींग हाँकनेवाले जिस सभ्यता पर गला फाड़ रहे हैं, वह भी भारतीय चिन्ता के छोटे छोटे टुकड़ों के संग्रह के सिवा और कुछ नहीं। हम उसी धर्म के पुजारी हैं, बौद्ध धर्म (उसमें विशेष गुण रहने पर भी) जिसकी विद्रोही सन्तान है और ईसाई धर्म जिसकी नगण्य नकल मात्र है। युगचक्र फिर घूमा है, वैसा ही समय फिर आया है, इङ्गलैण्ड की प्रचण्ड शक्ति ने भूमण्डल के भिन्न भिन्न भागों को फिर एक दूसरे से जोड़ दिया है। अंग्रेजों के मार्ग रोमन जाति के मार्गों की तरह केवल स्थलभाग में ही नहीं, अतल समुद्र के सब भागों में भी

वैदेशिक दिग्विजय तथा भारत का धर्मप्रचार।

* गीता, २-४७

दौड़ रहे हैं। संसार का प्रत्येक अंश एक दूसरे से एक कर दिया गया है और बिजली नव-नियुक्त दूत की भाँति अपना अद्भुत नाटक खेल रही है। इन अनुकूल अवस्थाओं को प्राप्त कर भारत फिर जाग रहा है और संसार की उन्नति तथा सारी सभ्यता को जो कुछ देना है, उसके लिए वह तैयार हो रहा है। इसीके फलस्वरूप प्रकृति ने मानो जबर्दस्ती मुझे धर्म का प्रचार करने के लिए इङ्गलैण्ड और अमेरिका भेजा। हममें से हरएक को यह अनुभव करना चाहिए था कि प्रचार का समय आ गया है। चारों ओर शुभ लक्षण दीख रहे हैं और भारतीय आध्यात्मिक और दार्शनिक विचारसमूह की फिर से सारे संसार पर विजय होगी। अतएव हमारी जीवनसमस्या दिन दिन बृहत्तर आकार धारण कर रही है। क्या हमें केवल अपने ही देश को जगाना होगा?—नहीं, यह तो एक तुच्छ बात है; मैं एक कल्पनाप्रिय भावुक मनुष्य हूँ, मेरा यह विश्वास है कि हिन्दू जाति सारे संसार पर विजय प्राप्त करेगी।

जगत् में बड़ी बड़ी जातियाँ हो चुकी हैं जिन्होंने औरों को जीत लिया था। हम भी बड़े विजेता हो चुके। हमारी विजय की कथा को भारत के उन महान् सम्राट अशोक ने धर्म और आध्यात्मिकता ही की विजय बताया है। फिर से भारत को जगत् को जीत लेना होगा। यही मेरे जीवन का स्वप्न है, और मैं चाहता हूँ कि तुममें से प्रत्येक मनुष्य जो कि मेरी बातें सुन रहा है अपने अपने मन में उसी स्वप्न का पोषण करे, और उसे कार्यरूप में परिणत किए बिना नहीं छोड़े। लोग हर रोज तुमसे कहेंगे कि पहले अपने अपने घर को सँभालो, बाद में विदेशों में प्रचार करना। पर मैं तुम लोगों से साफ साफ कह देता हूँ कि तुम सबसे अच्छा काम तभी करते हो जब तुम दूसरे के लिए काम करते हो। अपने लिए सबसे अच्छा काम तुमने तभी किया जब कि तुमने औरों के लिए काम किया—अपने विचारों को समुद्रों के उस पार विदेशी भाषाओं

विदेश में धर्म प्रचार के द्वारा ही देश के अधिकतर कल्याण की सम्भावना।

में प्रचार करने का प्रयत्न किया; और यह सभा ही इस बात का प्रमाण है कि तुम्हारा अन्यान्य देशों को अपने विचारों से शिक्षित करने का प्रयत्न तुम्हारे अपने देश को भी लाभ पहुँचा रहा है। यदि मैं अपने विचारों को भारत ही में सीमाबद्ध रखता, तो उस फल का एक चौथाई भी न हो पाता जो कि मेरे इंग्लैण्ड और अमेरिका जाने से इस देश में हुआ। हमारे सामने यही एक महान् आदर्श है, और हरएक को इसके लिए तैयार रहना चाहिए—वह आदर्श, भारत की विश्व पर विजय है—उससे छोटा कोई आदर्श न चलेगा—और हम सभी को इसके लिए तैयार होना चाहिए और भरसक कोशिश करनी चाहिए। अगर विदेशी आकर इस देश को अपनी सेनाओं से छा दें तो कुछ परवाह नहीं। उठो भारत, तुम्हारी आध्यात्मिकता द्वारा जगत् पर विजय प्राप्त कर लो। जैसा कि इसी देश में पहले-पहल प्रचार किया गया है, प्रेम ही घृणा पर विजय प्राप्त करेगा—घृणा घृणा को जीत नहीं सकती, हमें भी वैसा ही करना पड़ेगा। जड़वाद और उसकी लाई हुई दुर्गतियाँ जड़वाद ही से दूर नहीं होतीं। जब एक सैन्य दूसरे सैन्य पर जय पाने की चेष्टा करता है तो वह मानव जाति को पशु बना देता है और इस प्रकार वह पशुओं की संख्या बढ़ा देता है। धर्मभाव ही पाश्चात्य पर विजय प्राप्त करेगा। धीरे धीरे पाश्चात्यवासी यह अनुभव कर रहे हैं कि उन्हें जाति के रूप में बना रहने के लिए धर्मभाव की आवश्यकता है। वे इसकी प्रतीक्षा कर रहे हैं—चाव से इसकी बाट जोह रहे हैं। उसकी पूर्ति कहाँ से होगी? वे आदमी कहाँ हैं जो भारतीय महाऋषियों का उपदेश जगत् के सब देशों में पहुँचाने के लिए तैयार हों? कहाँ हैं वे लोग जो इसलिए सब कुछ छोड़ने को तैयार हों कि वे कल्याणकर उपदेश संसार के कोने कोने तक फैल जायँ? सत्य के प्रचार के लिए ऐसे ही वीर-हृदय लोगों की आवश्यकता है। वेदान्त के महासत्यों को फैलाने के लिए ऐसे वीर कर्मियों को बाहर जाना चाहिए। जगत् इसके लिए तरस रहा है, इसके बिना जगत्

ध्वंस को प्राप्त होगा। सारा पाश्चात्य जगत् मानो एक ज्वालामुखी पर बसा हुआ है जो कल ही फूटकर उसे चूर चूर कर सकता है। पाश्चात्यवालों ने सारी दुनिया छान डाली, पर उन्हें तनिक भी शान्ति नहीं मिली। उन्होंने इन्द्रियसुख का प्याला पीकर खाली कर डाला, पर फिर भी उससे उन्हें तृप्ति नहीं मिली। भारत के धार्मिक विचारों को पाश्चात्य देशों की नस नस में भर देने का यही समय है। इसलिए मद्रासी नवयुवको, मैं विशेषकर तुम्हीं को इसे याद रखने को कहता हूँ। हमें बाहर जाना ही पड़ेगा, अपनी आध्यात्मिकता तथा दार्शनिक चिन्ता से हमें जगत् को जीत लेना पड़ेगा। दूसरा कोई उपाय ही नहीं है, हमें यह करना ही पड़ेगा, नहीं तो मृत्यु अनिवार्य है। हमारा जातीय जीवन जो एक समय सतेज था उसे यदि हम फिर से जगाना चाहते हैं तो भारतीय चिन्ताराशि द्वारा जगत् पर विजय प्राप्त करनी पड़ेगी।

साथ ही हमें न भूलना चाहिए कि आध्यात्मिक विचारों की विश्व-विजय से मेरा मतलब है उन सिद्धान्तों के प्रचार से, जिनसे जीवन-सञ्चार हो, न कि उन सैकड़ों कुसंस्कारों से, जिन्हें हम सदियों से अपनी छाती से लगाते आये हैं। इनको तो इस भारतभूमि से भी उखाड़कर दूर फेंक देना चाहिए जिससे वे सदा के लिए नष्ट हो जायँ। इस जाति के अधःपतन के ये ही कारण हैं और ये दिमाग को कमज़ोर बना देते हैं। हमें उस दिमाग से बचना चाहिए जो उच्च और महान् चिन्ता नहीं कर सकता, जो निस्तेज होकर मौलिक चिन्ता की सारी शक्तियाँ खो बैठता है, और जो धर्म के नाम पर चले जानेवाले सब प्रकार के छोटे छोटे कुसंस्कारों के विष से अपने को जर्जरित कर डालता है। हमारी दृष्टि में भारतवर्ष के लिए कई आपदाएँ खड़ी हैं। इनमें से दो से—घोर जड़वाद और इसकी प्रतिक्रिया से पैदा हुए घोर कुसंस्कार, इन दो चट्टानों से अवश्य बचना चाहिए। आज हमें एक तरफ़ वह मनुष्य दिखता

धर्म के मूल तत्वों के प्रचार की आवश्यकता है, न कि अवान्तर कुसंस्कारों की।

है जो पाश्चात्य ज्ञान-रूपी मदिरा पान से मत्त होकर अपने को सर्वज्ञ समझता है। वह प्राचीन ऋषियों की हँसी उड़ाया करता है। उसके लिए हिन्दुओं के सब विचार बिलकुल वाहियात चीज़ हैं, हिन्दू दर्शन-शास्त्र बच्चों की बोली मात्र हैं और हिन्दू धर्म मूर्खों का कुसंस्कार-भर है। दूसरी तरफ, एक वह आदमी है जो शिक्षित तो है, पर एक प्रकार का पागल है—वह उल्टी राह लेकर हरएक छोटी सी बात का अलौकिक अर्थ निकालने की कोशिश करता है। अपनी विशेष जाति या देव-देवियों या गाँव से सम्बन्ध रखनेवाले जितने कुसंस्कार हैं उनके लिए दार्शनिक, आध्यात्मिक तथा बच्चों को सुहानेवाले अर्थ उसके पास सर्वदा ही मौजूद हैं। उसके लिए प्रत्येक ग्राम्य कुसंस्कार वेदों की आज्ञा है और उसकी समझ में उसे कार्य रूप में परिणत करने ही पर जातीय जीवन निर्भर है। तुम्हें इन सब से बचना चाहिए।

तुममें से प्रत्येक मनुष्य कुसंस्कारपूर्ण मूर्ख होने के बदले यदि घोर नास्तिक भी हो जाय तो मुझे पसन्द है, क्योंकि नास्तिक तो जिन्दा है, मृत नहीं, तुम उसे किसी तरह सुधार भी सकते हो, परन्तु कुसंस्कार यदि घुस जाएँ तो मस्तिष्क बिगड़ जाता है, कमज़ोर हो जाता है और मनुष्य विनाश की ओर आगे बढ़ता है। तो इन दो संकटों से बचो। हमें निर्भीक साहसी मनुष्यों का ही प्रयोजन है। हमें खून में तेजी और स्नायुओं में बल की आवश्यकता है—लोहे के पुट्ठे और फौलाद के स्नायु चाहिए, न कि दुर्बलता लाने-वाले वाहियात विचार। इन सबों को त्याग दो, सब रहस्य—लुकाछिपी को छोड़ दो। धर्म में कोई लुकाछिपी नहीं है।

ऋषि एवं गुप्त तत्व और गुप्त समिति।

क्या वेदान्त, वेदों, संहिताओं अथवा पुराणों में कोई ऐसी गोपनीय बातें हैं? प्राचीन ऋषियों ने अपने धर्मप्रचार के लिए कौन सी गोपनीय समितियाँ स्थापित की थीं? क्या किताबों में ऐसे कोई प्रमाण हैं कि अपने महासत्यों

को मानवजाति में प्रचारित करने के लिए उन्होंने ऐसे ऐसे जादूगरों के से हथकण्डों का उपयोग किया था? हर बात में लुकाछिपी करना और कुसंस्कार —ये सदा दुर्बलता के ही चिह्न होते हैं। अवनति और मृत्यु के ही चिह्न हैं। इसलिए उनसे बचे रहो, बलवान हो और अपने पैरों पर खड़े हो जाओ। संसार में हम अनेक प्रकार के अद्भुत एवं आश्चर्यजनक व्यापार पाते हैं। प्रकृति के बारे में आज हमारी जो धारणाएँ हैं उनकी तुलना में हम उन्हें अतिप्रकृति (Supernatural) कह सकते हैं, परन्तु उनमें से एक भी गोपनीय नहीं है। इस भारतभूमि पर यह कभी प्रचारित नहीं हुआ कि धर्मराज्य के सत्य गोपनीय विषय हैं, अथवा यह कि वे हिमालय की बर्फीली चोटियों पर बसनेवाली गुप्त समितियों के ही विशेष अधिकार हैं। मैं हिमालय में गया था; तुम लोग वहाँ पर नहीं गये होगे, वह स्थान तुम्हारे घरों से कई सौ मील दूर है। मैं संन्यासी हूँ और गत चौदह वर्षों से मैं पैदल घूम रहा हूँ। ये गुप्त समितियाँ कहीं भी नहीं हैं। इन कुसंस्कारों के पीछे मत दौड़ो। तुम्हारे अपने और जाति के लिए बेहतर होगा कि तुम घोर नास्तिक बन जाओ—क्योंकि कम से कम उससे तुम्हारा कुछ बल बना रहेगा पर इस प्रकार कुसंस्कारपूर्ण होना तो अवनति तथा मृत्यु है। मानवजाति को धिक्कार है कि सतेज मस्तिष्कवाले मनुष्य इन कुसंस्कारों पर अपना समय गवाँ रहे हैं, दुनिया के सड़े से सड़े कुसंस्कारों की रूपक-व्याख्या करने में समय नष्ट कर रहे हैं। साहसी बनो, सब विषयों की उस तरह व्याख्या करने की कोशिश मत करो। बात यह है कि हमारे बहुतेरे कुसंस्कार हैं, हमारी देह पर बहुत से काले धब्बे तथा हानिकारक घाव हैं—इनको काट और चीर-फाड़कर एकदम निकाल देना होगा—नष्ट कर देना होगा; पर इनके नष्ट होने से हमारा धर्म, हमारा जातीय जीवन हमारी आध्यात्मिकता नष्ट नहीं होगी बल्कि इससे हमारे धर्म के मूल तत्व अटूट रहेंगे और जितने ही ये काले

सब विषयों की व्याख्या करने की चेष्टा मत करो।

धब्बे निकाले जाएँगे उतने ही अधिक जगमगाहट के साथ ये मूलतत्व चमकते रहेंगे। इन्हीं पर डटे रहो।

तुम लोग सुनते हो कि हरएक धर्म जगत् का सार्वभौमिक धर्म होने का दावा करता है। मैं तुमसे पहले ही कह देता हूँ कि शायद कभी भी ऐसा धर्म न निकलेगा जो सार्वभौमिक धर्म कहलाएगा, पर यदि कोई धर्म यह दावा कर सके तो वह तुम्हारा ही धर्म है — दूसरा कोई नहीं, क्योंकि दूसरा हरएक धर्म किसी व्यक्ति या व्यक्तियों के समूह पर निर्भर रहता है। अन्यान्य सभी धर्म किन्हीं व्यक्तियों के जीवन पर अवलम्बित होकर बने हैं जिन्हें उनके अनुयायी ऐतिहासिक पुरुष समझते हैं, और इसीलिये सोचते हैं कि उनके धर्म दृढ़ भित्ति पर स्थापित हैं। पर यदि इन पुरुषों की ऐतिहासिकता का खण्डन किया जाय तो उनके धर्म-रूपी प्रासाद गिरकर धूलि में मिल जाएँगे। इन महान् धर्मसंस्थापकों के जीवन-चरित्रों में से आधे तो उड़ा दिये गए और बाकी आधे के विषय में घोर सन्देह उपस्थित किया गया है। अतएव हरएक सत्य, जिसकी प्रामाणिकता इन्हीं की बातों पर निर्भर रहती थी, हवा में मिल जा रहा है। पर हमारे धर्म के सत्य किसी व्यक्तिविशेष पर निर्भर नहीं हैं यद्यपि हमारे धर्म में महापुरुषों की संख्या यथेष्ट है। कृष्ण की महिमा यह नहीं कि वे कृष्ण थे, पर यह कि वे वेदान्त के महान् आचार्य थे। यदि ऐसा न होता तो उनका नाम भी भारत से उसी तरह उठ जाता जैसे कि बुद्ध का नाम उठ गया है।

हिन्दू धर्म ही एकमात्र सार्वभौमिक धर्म क्यों है?

अतः हम चिरकाल ही धर्म के तत्वों के उपासक ही रहे हैं, न कि व्यक्तियों के। व्यक्ति केवल तत्वों के प्रकट रूप हैं — उनके उदाहरणस्वरूप हैं। यदि तत्व बने रहे तो व्यक्ति एक नहीं, हजारों और लाखों की संख्या में पैदा होंगे। यदि तत्व बचा रहा तो बुद्ध जैसे सैकड़ों और हजारों पुरुष पैदा होंगे; परन्तु यदि तत्व का नाश हुआ और लोग उसे भूल गए एवं सारी जाति ऐतिहासिक व्यक्ति

हिन्दू व्यक्तिविशेष के मतानुयायी नहीं हैं, धर्म के मूल सत्यों के वे उपासक हैं।

कहलानेवाले किसी पुरुषविशेष पर ही निर्भर रहे तो उस धर्म का नाश अवश्यम्भावी है। हमारा धर्म ही है एकमात्र धर्म है जो किसी व्यक्ति या व्यक्तियों पर निर्भर नहीं रहता; वह तत्वों पर प्रतिष्ठित है। पर साथ ही लाखों अवतारों एवं महापुरुषों के लिए उसमें स्थान है। नूतन अवतारों या नूतन महापुरुषों को भी स्थान देने के लिए उसमें काफी गुञ्जाइश है, पर उनमें से प्रत्येक को उन तत्वों के उदाहरणस्वरूप होना चाहिए। हमें यह न भूलना चाहिए। हमारे धर्म के ये तत्व अब तक अटूट हैं, और हममें से प्रत्येक का जीवन-व्रत यही होना चाहिए कि हम उन्हीं की रक्षा करें, उन्हें युग-युगान्तर से जमा होनेवाले मैल और गर्द से बचायें। यह एक अद्भुत घटना है कि हमारी जाति के बारंबार अवनति के कब्जे में आने पर भी, वेदान्त के ये तत्व कभी मलिन न होने पाये। किसी ने — वह कितना ही दुष्ट क्यों न हो — उन्हें दूषित करने का साहस नहीं किया। हमारे शास्त्रों की संसार भर में अन्य सब शास्त्रों की अपेक्षा अच्छी रक्षा होती आई है। अन्यान्य शास्त्रों की तुलना में इनमें कोई भी प्रक्षिप्त अंश नहीं घुस पाया है, पाठों की तोड़मरोड़ नहीं हुई है, उनके विचारों का सारपदार्थ नष्ट नहीं हो पाया है। वह ज्यों का त्यों बना रहा है और मनुष्य-मन को आदर्श की — लक्ष्य की — ओर परिचालित कर रहा है।

तुम देखते हो कि इन ग्रन्थों के भाष्य भिन्न भिन्न भाष्यकारों ने किये, उनका प्रचार बड़े बड़े आचार्यों ने किया, और उन्हीं पर सम्प्रदायों की नींव डाली गई; और तुम देखते हो कि इन वेद-ग्रन्थों में ऐसे अनेक तत्व हैं जो आपाततः विरोधी प्रतीत होते हैं,— कुछ ऐसे श्लोक हैं जो सम्पूर्ण द्वैतभाव के हैं और कितने ही बिलकुल अद्वैत भाव के। द्वैतवाद के भाष्यकार द्वैतवाद छोड़कर और कुछ समझ नहीं पाते, अतएव वे अद्वैतवाद के श्लोकों पर बुरी तरह वार करने की कोशिश करते हैं। सभी द्वैतवादी धर्माचार्य तथा पुरोहितगण

भाष्यकारों का वेद-व्याख्या में मतभेद।

उन्हें द्वैतात्मक अर्थ देना चाहते हैं। अद्वैतवाद के भाष्यकार द्वैतवाद के सूत्रों की वही दशा करते हैं, परन्तु यह वेदों का दोष नहीं। यह चेष्टा करना कोरी मूर्खता है कि सम्पूर्ण वेद द्वैतभावात्मक हैं। उसी प्रकार समग्र वेदों को अद्वैतभावसमर्थक प्रमाणित करने की चेष्टा भी निरी निर्बुद्धिता है। वेदों में द्वैतवाद अद्वैतवाद दोनों ही हैं। आजकल के नये भावों के उजाले में हम उन्हें पहले से कुछ अच्छी तरह समझ सकते हैं। ये विभिन्न सिद्धान्त तथा धारणायें जिनकी गति द्वैतवाद और अद्वैतवाद दोनों ओर है, मन की क्रमोन्नति के लिए आवश्यक हैं, और इसी कारण वेद उनका प्रचार करते हैं। समग्र मनुष्यजाति पर कृपा करके वेद उच्चतम लक्ष्य के भिन्न भिन्न सोपानों का निर्देश करते हैं। यह नहीं कि वे एक दूसरे के विरोधी हों। बच्चे जैसे अबोध मनुष्यों को मोहने के लिए वेदों ने वृथा वाक्यों का प्रयोग नहीं किया है। उनकी ज़रूरत है और वह केवल बच्चों के लिए नहीं, किन्तु कितने ही बड़े बूढ़ों के लिए भी। जब तक हमारे शरीर हैं और जब तक हम इस शरीर को ही आत्मा समझ बैठते हैं, जब तक हम पंचेंद्रियबद्ध हैं और जब तक हम इस स्थूल जगत् को देखते हैं तब तक हमें व्यक्तिविशेष ईश्वर या सगुण ईश्वर स्वीकार करना ही होगा; क्योंकि महामनीषी श्री रामानुज ने प्रमाणित किया है कि ईश्वर, जीव और जगत् इनमें से एक को स्वीकार करने पर शेष सबको स्वीकार करना ही पड़ेगा। अतएव जब तक हम बाहरी संसार देख रहे हैं तब तक ईश्वर और जीवात्मा को स्वीकार न करना निरा पागलपन है।

जब तक देहबुद्धि वर्तमान है तब तक सगुण ईश्वर को स्वीकार करना ही होगा।

परन्तु महापुरुषों के जीवन में वह समय आ सकता है जब जीवात्मा अपने सब बंधनों के अतीत होकर प्रकृति के परे — उस सर्वातीत प्रदेश में चला जाता है जिसके बारे में श्रुति कहती है —

देहादिभाव के लोप से अद्वैतानुभूति।

'यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह' *

'न तत्र चक्षुर्गच्छति न वाग्गच्छति नो मनः' S

'नाहं मन्ये सुवेदेति नो न वेदेति वेद च' X

'मन के साथ वाणी जिसे न पाकर लौट आती है।' 'वहाँ न नेत्र पहुँचते हैं, न वाक्य, न मन।' 'मैं उसे जानता हूँ, न यही कह सकता हूँ —और नहीं जानता, न यही।'

तभी जीवात्मा सारे बन्धनों को पार कर जाता है; तभी, केवल तभी उसके हृदय में अद्वैतवाद का यह मूल तत्व उदित होता है कि समस्त संसार और मैं एक हूँ, मैं और ब्रह्म एक हूँ।

और तुम देखोगे कि यह सिद्धान्त न केवल शुद्ध ज्ञान और दर्शन ही से प्राप्त हुआ है, किन्तु प्रेम के द्वारा भी उसकी कुछ झलक पायी गई है। तुमने भागवत में पढ़ा होगा कि जब श्रीकृष्ण अन्तर्धान हो गये और गोपियाँ उनके वियोग से विकल हो गई तो अन्त तक श्रीकृष्ण की भावना का गोपियों के चित्त पर इतना प्रभाव पड़ा कि हरएक गोपी अपनी देह को भूल गई और सोचने लगी कि वही श्रीकृष्ण है, और अपने को उसी तरह सज्जित करके क्रीड़ा करने लगी जिस तरह श्रीकृष्ण करते थे। अतएव हमने यह समझ लिया कि यह एकत्व का अनुभव प्रेम से भी होता है। फारस के एक पुराने सूफी कवि अपनी एक कविता में कहते हैं—"मैं अपने प्यारे के पास गया और देखा तो द्वार बन्द था; मैंने दरवाजे पर धक्का लगाया तो भीतर से आवाज़ आई, 'कौन है?' मैंने उत्तर दिया—'मैं हूँ।' द्वार न खुला। मैंने दूसरी बार आकर दरवाजा खड़खड़ाया तो उसी

प्रेमबल से भी अद्वैतानुभूति सम्भवनीय है।

* तैत्तिरीय उपनिषद्, २-९

S केनोपनिषद्, १-३

X ,, २-२

स्वर ने फिर पूछा कि कौन है, मैंने उत्तर दिया—'मैं अमुक हूँ।' फिर भी द्वार न खुला। तीसरी बार मैं गया और वही ध्वनि हुई—'कौन है?' मैंने कहा—'मैं तुम हूँ मेरे प्यारे!' द्वार खुल गया।"

अतएव हमें समझना चाहिए कि ब्रह्मप्राप्ति के अनेक सोपान हैं और यद्यपि पुराने भाष्यकारों में—जिन्हें हमें श्रद्धा की दृष्टि से देखना चाहिए—एक दूसरे से विवाद होता रहा तथापि हमें विवाद न करना चाहिए, क्योंकि ज्ञान की कोई सीमा नहीं। क्या प्राचीन काल में, क्या वर्तमान समय में, सर्वज्ञत्व पर किसी एक का सर्वाधिकार नहीं है। यदि अतीत काल में अनेक ऋषि, महापुरुष हो गये हैं, तो निश्चय जानो कि वर्तमान समय में भी अनेक होंगे। यदि व्यास, वाल्मीकि और शंकराचार्यादि पुराने जमाने में हो गये हैं तो क्या कारण है कि अब भी तुममें से हर एक शंकराचार्य न हो सकेगा? हमारे धर्म में एक विशेषता और है जिसे तुम्हें याद रखना चाहिए। अन्यान्य शास्त्रों में भी ईश्वर का आदेश पाये हुए पुरुषों के वाक्य ही शास्त्रों के प्रमाणस्वरूप बतलाये गये हैं। परन्तु इन पुरुषों की संख्या उनके मत में एक दो अथवा बहुत ही अल्प व्यक्तियों तक सीमित है। उन व्यक्तियों ने ही सर्व-साधारण जनता में इस सत्य का प्रचार किया—हम सभी को उनकी बात माननी ही पड़ेगी। नाज़रथ के ईसा में सत्य का प्रकाश हुआ था—हम सभी को उसे ही मान लेना होगा, हम और अधिक कुछ नहीं जानते। परन्तु हमारे धर्म का कथन है, मंत्रद्रष्टा ऋषियों के हृदय में उसी सत्य का आविर्भाव हुआ था—केवल एक-दो के नहीं, अनेकों के भीतर उस सत्य का आविर्भाव हुआ था और भविष्य में भी होगा। किन्तु वह न बतूनियों में होगा, न पुस्तकें चाट जानेवालों में, न बड़े विद्वानों में, न शब्दवेत्ताओं में; वह केवल तत्वदर्शियों में ही सम्भव है।

विभिन्न मत ब्रह्मानुभूति के विभिन्न उपाय तथा सोपान मात्र हैं, और सभी का उसमें अधिकार है।

'नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो
न मेधया न बहुना श्रुतेन।' *

अर्थात् 'आत्मा ज्यादा बातें गढ़ने से नहीं प्राप्त होता, न वह बड़ी बुद्धि-मत्ता से ही सुलभ है और न वह वेदों के पठन से ही मिल सकता है।'

वेद स्वयं यह बात कहते हैं। क्या तुम किसी दूसरे शास्त्रों में इस प्रकार की निर्भीक वाणी पाते हो कि शास्त्र-पाठ द्वारा भी आत्मा की प्राप्ति नहीं हो सकती?

हृदय खोलो और तन्मय होकर उसे पुकारो। धर्म का अर्थ न गिर्जे का जाना है, न ललाट रंगना है, न विचित्र ढंग का भेष धरना है। इन्द्रधनुष के सब रंगों से तुम अपने को चाहे भले ही रंग लो, किन्तु यदि हृदय नहीं खुल गया तो तुम ईश्वर को कदापि न पा सकोगे—तुम्हारे सब कृत्य व्यर्थ के होंगे। जिसने हृदय को रंग लिया है, उसके लिए दूसरे रंग की आवश्यकता नहीं। यही धर्म का सच्चा निष्कर्ष है। परन्तु हमें यह न भूलना चाहिए कि रंग और ऊपर कही गई कुल बातें अच्छी तब तक मानी जा सकती हैं जब तक वे हमें धर्ममार्ग में सहायता दें; तभी तक उनका हम स्वागत करते हैं। परन्तु वे प्रायः अधःपतित कर देती हैं और सहायता की जगह विघ्न ही खड़ा करती हैं, क्योंकि इन्हीं बाहरी कृत्यों को मनुष्य धर्म समझ लेता है। फिर मन्दिर का जाना और पुरोहित को कुछ देना ही धर्म-जीवन के बराबर समझा जाता है। ये बातें बड़ी भयानक हैं, इनसे हानि होती है; इन्हें दूर करना चाहिए। हमारे शास्त्रों में बार बार कहा गया है कि बहिरिन्द्रियों के ज्ञान के द्वारा धर्म कभी प्राप्त नहीं हो सकता। धर्म वही है जो हमें उस अक्षर पुरुष का साक्षात्कार कराता है, और हरएक के लिए धर्म यही है। जिसने इस इन्द्रियातीत सत्ता का साक्षात्कार कर लिया,

धर्म बाहर नहीं है, भीतर है।

* कठोपनिषद्, १-२-२३

जिसने आत्मा का स्वरूप उपलब्ध कर लिया, जिसने भगवान् को प्रत्यक्ष देखा—हर वस्तु में देखा, वही ऋषि हो गया। और तब तक तुम्हारा जीवन धर्मजीवन नहीं जब तक तुम भी ऋषि नहीं हो जाते। तभी तुम्हारे प्रकृत धर्म का आरम्भ होगा और अभी तो ये सब धर्मप्राप्ति की तैयारियाँ ही हैं। तभी तुम्हारे भीतर धर्म का प्रकाश फैलेगा, अभी तो तुम केवल मानसिक व्यायाम कर रहे हो—शारीरिक कष्ट झेल रहे हो।

अतएव हमें अवश्य स्मरण रखना चाहिये कि हमारा धर्म स्पष्ट रूप से यह कह रहा है कि जो कोई मुक्ति-प्राप्ति की इच्छा रखे उसे ही इस ऋषित्व का लाभ करना होगा, मन्त्रद्रष्टा होना होगा, ईश्वर साक्षात्कार करना होगा। यही मुक्ति है।

और यदि यही हमारे शास्त्रों का सिद्धान्त है तो हम समझ पाते हैं कि हम स्वयं ही अति सरल रूप से अपने शास्त्रों का अर्थ जान सकेंगे तथा उनमें से हमारे लिये जितना आवश्यक है उतना ग्रहण कर सकेंगे। साथ ही हमें उन ऋषियों के प्रति, जिन्होंने सत्य उपलब्ध कर हमारे सम्मुख रखे हैं, सन्मान प्रदर्शित करना चाहिए। वे प्राचीन ऋषिगण महान् थे परन्तु हमें और भी महान् होना है। अतीत काल में उन्होंने बड़े बड़े काम किये, परन्तु हमें उनसे भी बड़ा काम कर दिखाना है। प्राचीन भारत में सैकड़ों ऋषि थे, और अब करोड़ों होंगे—निश्चय ही होंगे। इस बात पर तुममें से हरएक जितनी जल्दी विश्वास करेगा, भारत का और समग्र संसार का उतना ही अधिक हित होगा। तुम जो कुछ विश्वास करोगे तुम वही हो जाओगे। यदि तुम अपने को निर्भय सोचोगे तो तुम निर्भय हो जाओगे। यदि तुम अपने को साधु समझोगे तो कल ही तुम साधु हो जाओगे। तुम्हें रोक दे ऐसी कोई चीज नहीं है। आपातविरोधी सम्प्रदायों के बीच यदि कोई साधारण मत है, तो वह यही है कि आत्मा में पहले से ही महिमा, तेज

तुम्हारे भीतर ही सब कुछ विद्यमान है—केवल उसी को व्यक्त करो।

और पवित्रता वर्तमान हैं। केवल रामानुज के मत में आत्मा कभी कभी संकुचित हो जाती है और कभी कभी विकसित; परन्तु शंकराचार्य के मतानुसार ये संकोच-विकास भ्रम मात्र हैं। इस मतभेद पर ध्यान मत दो। सभी तो यह स्वीकार करते हैं कि व्यक्त या अव्यक्त चाहे जिस भाव में रहे, वह शक्ति है जरूर। और जितनी शीघ्रता से उस पर विश्वास कर सकोगे उतना ही तुम्हारा कल्याण होगा। सभी शक्ति तुम्हारे भीतर है, तुम सब कुछ कर सकते हो, यह विश्वास करो। मत विश्वास करो कि तुम दुर्बल हो। आजकल हममें से अधिकांश जैसे अपने को अधपागल समझते हैं, मत समझो कि तुम वैसे ही हो। इतना ही नहीं, तुम हरएक काम बिना किसी की सहायता के ही कर सकते हो। तुममें सब शक्ति है। खड़े हो जाओ और तुममें जो अधीश्वरत्व छिपा हुआ है उसे प्रकट करो।

---

१५. भारत का भविष्य

[मद्रास का यह अन्तिम व्याख्यान एक विशाल मण्डप में लगभग चार हजार श्रोताओं के सम्मुख दिया गया था।]

यह वही प्राचीन भूमि है जहाँ दूसरे देशों को जाने से पहले ही तत्त्वज्ञान ने आकर अपनी वासभूमि बनाई थी — यह वही भारत है जहाँ के आध्यात्मिक प्रवाह का स्थूल प्रतिरूप उसके बहनेवाले समुद्राकार नद हैं — जहाँ चिरन्तन हिमालय स्तर स्तर में उठा हुआ अपने हिम-शिखरों द्वारा मानो स्वर्गराज्य के रहस्यों की ओर निहार रहा है। यह वही भारत है जिसकी भूमि पर बड़े बड़े ऋषियों और महर्षियों की चरण-रज पड़ चुकी है। यहीं सबसे पहले मनुष्य-प्रकृति तथा अन्तर्जगत् के रहस्योद्घाटन की जिज्ञासाओं के अंकुर उगे थे। आत्मा का अमरत्व, अन्तर्यामी ईश्वर एवं जगत्प्रपंच तथा मनुष्य के भीतर ओतप्रोत भाव से विराजमान परमात्मा-विषयक मतवादों का पहले पहल यहीं उद्भव हुआ था। और यहीं धर्म और दर्शन के आदर्शों ने अपनी चरम उन्नति प्राप्त कर ली थी। यह वही भूमि है जहाँ से उमड़ती हुई बाढ़ की तरह धर्म तथा दार्शनिक तत्त्वों ने समग्र संसार को प्लावित कर दिया है, और यहीं से पुनः ऐसी ही तरंगें उठकर निस्तेज जातियों में शक्ति और जीवन का संचार कर देंगी। यह वही भारत है जो शत शत शताब्दियों के आघात, विदेशियों के शत शत आक्रमण और सैकड़ों आचार-व्यवहारों के विपर्यय सहकर भी अक्षय बना हुआ है। यह वही भारत है जो अपने अविनाशी वीर्य और जीवन के साथ अब तक पर्वत से भी दृढ़तर भाव से खड़ा है। आत्मा जैसे अनादि, अनन्त और अमृतस्वरूप है, वैसे ही हमारी भारतभूमि भी है, और हम इसी देश की सन्तान हैं।

प्राचीन भारत।

भारत के बच्चो, तुमसे आज मैं यहाँ कुछ काम की बातें कहूँगा; और तुम्हारे पूर्व गौरव की तुम्हें याद दिलाने का उद्देश्य केवल तुम्हें कर्म-पथ पर बुलाना ही है। कितनी ही बार मुझसे कहा गया है कि अतीत की ओर नज़र डालने से सिर्फ मन की अवनति ही होती है और इससे कोई फल नहीं होता अतएव हमें भविष्य की ओर दृष्टि रखकर कार्य करना चाहिए। यह सच है। परन्तु अतीत से ही भविष्य का निर्माण होता है। अतएव जहाँ तक हो सके, पीछे—अतीत की ओर देखो, पीछे जो चिरन्तन निर्झर बह रहा है, आकण्ठ उसका जल पीओ और इसके बाद सामने देखो और भारत को उज्ज्वलतर, महत्तर, पहले से और भी उन्नत करो। हमारे पूर्वज महान् थे। पहले यह बात हमें याद करनी होगी। हमें समझना होगा, हम किन उपादानों से बने हैं—कौनसा खून हमारी नसों में बह रहा है। उस खून पर हमें विश्वास करना होगा। इस विश्वास और अतीत गौरव के ज्ञान से हम अवश्य एक ऐसे भारत की नींव डालेंगे जो पहले से श्रेष्ठ होगा। अवश्य ही यहाँ बीच-बीच में दुर्दशा और अवनति के युग भी बीत चुके हैं पर उनको मैं अधिक महत्त्व नहीं देता। हम सभी यह जानते हैं। ऐसे युगों की आवश्यकता थी। किसी विशाल वृक्ष ने एक सुन्दर पका हुआ फल पैदा किया, फल जमीन पर गिरा, वह मुरझाया और सड़ा, इस विनाश से जो अंकुर उगा, सम्भव है वह पहले के वृक्ष से बड़ा हो जाय। अवनति के जिन युगों के भीतर से हमें गुजरना पड़ा है, वे सभी आवश्यक थे। इसी अवनति के भीतर से भविष्य का भारत आ रहा है, वह अंकुरित हो चुका है, उसके नये पल्लव निकल चुके हैं और उस शक्तिधर विशालकाय वृक्ष—उस 'ऊर्ध्वमूलम्' वृक्ष का निकलना शुरू हो चुका है और उसी के सम्बन्ध में मैं तुमसे कहने जा रहा हूँ।

अतीत गौरव की चिन्ता भावी कार्य के लिए उत्तेजक है।

किसी भी दूसरे देश की अपेक्षा भारत की समस्याएँ अधिक जटिल

और गुरुतर है। जन्मगत भेद, धर्म, भाषा, शासन-प्रणाली — ये ही एक साथ मिलकर एक जाति की सृष्टि करते हैं। यदि एक एक जाति को लेकर हमारी जाति से तुलना की जाय तो हम देखेंगे, कि जिन उपादानों से संसार की दूसरी जातियाँ संगठित हुई हैं वे संख्या में यहाँ के उपादानों से कम हैं। यहाँ आर्य हैं, द्राविड़ हैं, तातार हैं, तुर्क हैं, मोगल हैं, युरोपीय हैं — मानो संसार की सभी जातियाँ इस भूमि पर अपना अपना खून मिला रही हैं। भाषा के सम्बन्ध में यहाँ एक विचित्र ढंग का जमाव है; आचार-व्यवहारों के सम्बन्ध में दो भारतीय जातियों में जितना अन्तर है उतना पूर्वी और यूरोपीय जातियों में नहीं।

इस देश की समस्या अन्यान्य देशों की अपेक्षा जटिलतर है।

हमारी एकमात्र सम्मिलन भूमि हमारे परम्परागत धार्मिक विचार हैं — हमारा धर्म है। एकमात्र साधारण भूमि वही है, और उसी पर से हमें जाति का संगठन करना होगा। यूरोप में राजनीतिक विचार ही जातीय एकता का कारण है। किन्तु एशिया में जातीय ऐक्य का आधार धर्म ही है। अतएव, भारत के भविष्य संगठन की पहली शर्त के तौर पर, उसकी धार्मिक एकता की ही आवश्यकता है। देश भर में एक ही धर्म सबको स्वीकार करना होगा। एक ही धर्म से मेरा क्या मतलब है? यह उस तरह का एक ही धर्म नहीं जिसका ईसाइयों, मुसलमानों या बौद्धों में प्रचार है। हम जानते हैं, हमारे विभिन्न सम्प्रदायों के सिद्धान्त तथा दावे चाहे कितने ही विभिन्न क्यों न हों, उनमें कुछ सिद्धान्त ऐसे हैं जो सभी सम्प्रदायों द्वारा स्वीकृत हैं। अस्तु, हमारे सम्प्रदायों के ऐसे कुछ साधारण सिद्धान्त अवश्य हैं, और उनको स्वीकार करने पर हमारे धर्म में अद्भुत विविधता के लिए गुंजाइश हो जाती है, और साथ ही विचार और स्वच्छन्द जीवन-निर्वाह के लिए हमें सम्पूर्ण स्वाधीनता प्राप्त हो जाती है। हम लोग,

धर्म ही इस जटिल समस्या का मीमांसक है।

कम से कम वे, जिन्होंने इस पर विचार किया है, यह बात जानते हैं। और अपने धर्म के ये जीवनप्रद साधारण तत्व हम सबके सामने लाएँ और देश के सभी स्त्री-पुरुष, बालक-वृद्ध उन्हें समझें, तथा जीवन में परिणत करें — यही हमारे लिए आवश्यक है। यही हमारा प्रधान कार्य है। हम देखते हैं कि एशिया में और विशेषतः भारत में जाति, भाषा, समाज सम्बन्धी सभी बाधाएँ धर्म की इस एकीकरण-शक्ति के सामने उड़ जाती हैं। हम जानते हैं कि भारतीय मन के लिए धार्मिक आदर्श से बड़ा और कुछ भी नहीं है। धर्म ही भारतीय जीवन का मूल मंत्र है, और हमें सबसे कम बाधावाले मार्ग में ही सफलता प्राप्त होगी।

यह केवल सत्य ही नहीं कि धार्मिक आदर्श यहाँ सबसे बड़ा आदर्श है, किन्तु भारत के लिए कार्य करने का एकमात्र सम्भाव्य उपाय यही है। पहले उस पथ को सुदृढ़ किये बिना, दूसरे मार्ग से कार्य करने पर उसका फल घातक होगा। इसीलिए भविष्य भारत-निर्माण का पहला कार्य, वह पहला सोपान, जिसे युगों के इस भारतरूपी महाचल पर खोदकर बनाना होगा — धार्मिक एकता लाना है। यह शिक्षा हम सबको मिलनी चाहिये कि हम हिन्दू — द्वैतवादी, विशिष्टाद्वैतवादी या अद्वैतवादी, अथवा दूसरे सम्प्रदाय के लोग, जैसे शैव, वैष्णव, पाशुपत आदि, भिन्न भिन्न मतों के होते हुए भी आपस में कुछ साधारण भाव भी रखते हैं, और अब वह समय आ गया है कि अपने हित के लिए, अपनी जाति के हित के लिए हम इन तुच्छ भेदों और विवादों को त्याग दें। सचमुच ये झगड़े बिल्कुल वाहियात हैं, हमारे शास्त्र इनकी निन्दा करते हैं, हमारे पूर्वपुरुषों ने इनके बहिष्कार का उपदेश दिया है, और वे महापुरुषगण जिनके हम वंशज बताते हैं, जिनका खून हमारी नसों में बह रहा है, अपने बच्चों को थोड़े से भेद के लिए झगड़ते हुए देखकर उनको घोर घृणा की दृष्टि से ताक रहे हैं।

धर्म के साधारण तत्वसमूह में विश्वासी होकर विरोधों को त्याग देना चाहिए।

लड़ाई-झगड़े छोड़ने के साथ ही अन्यान्य विषयों की उन्नति अवश्य ही होगी। यदि जीवन का खून तेज और साफ है तो शरीर में विषैले जीवाणु नहीं रह सकते। हमारे जीवन का खून आध्यात्मिकता ही है। यदि यह साफ बहता रहे, यदि यह तेज और जोरदार बना रहे, तो सब कुछ दुरुस्त रहता है। राजनीतिक, सामाजिक, चाहे जिस किसी तरह की ऐहिक त्रुटियाँ हों, चाहे देश दरिद्र ही क्यों न हो, सब सुधर जायँगे, क्योंकि यदि रोगवाले जीवाणु शरीर से निकाल दिये जायँ तो फिर दूसरी कोई बुराई खून में नहीं समा सकती। आधुनिक चिकित्सा-शास्त्र की एक उपमा लीजिए। हम जानते हैं कि किसी बीमारी के फैलने के दो कारण होते हैं,—एक तो बाहर से कुछ विषैले जीवाणुओं का प्रवेश; दूसरा, शरीर की अवस्था-विशेष। यदि शरीर की अवस्था ऐसी न हो जाय कि वह जीवाणुओं को घुसने दे, यदि शरीर की जीवनी-शक्ति इतनी क्षीण न हो जाय कि जीवाणु शरीर में घुसकर बढ़ते रहें तो संसार में किसी भी जीवाणु में इतनी शक्ति नहीं जो शरीर में पैठकर बीमारी पैदा कर सके। वास्तव में प्रत्येक मनुष्य के शरीर के भीतर से सदा करोड़ों जीवाणु निकलते-पैठते रहते हैं; परन्तु जब तक शरीर बलवान है, हमें उनकी कोई खबर नहीं रहती। जब शरीर कमज़ोर हो जाता है, तभी ये विषैले जीवाणु उस पर अधिकार कर लेते और रोग पैदा करते हैं। जातीय जीवन के बारे में भी यही बात है। जब जातीय जीवन कमज़ोर हो जाता है तभी हर तरह के रोग-जीवाणु उस जाति के शरीर में इकट्ठे जमकर उसकी राजनीति, समाज, शिक्षा और बुद्धि को रुग्ण बना देते हैं। अतएव उसकी चिकित्सा के लिए हमें इस बीमारी की जड़ तक पहुँचकर रक्त से कुल दोषों को निकाल देना चाहिए। ज़ोर एक मात्र इस बात पर दें कि मनुष्य बलवान हो, खून साफ हो और शरीर तेजस्वी हो, जिससे ये सब बाहरी

धर्म की उन्नति में अन्य सब प्रकार की उन्नति;—रक्त शुद्ध होने से शरीर में रोग प्रवेश नहीं कर पाता।

त्रियों को दबा और हटा देने लायक हो सकें। हमने देखा है कि हमारा धर्म ही हमारे तेज, हमारे बल, यही नहीं, हमारे जातीय जीवन की भी मूल भित्ति है।

इस समय मैं यह तर्क-वितर्क करने नहीं जा रहा हूँ कि धर्म सत्य है या मिथ्या, हमारे जातीय जीवन का धर्म में होना ठीक है या नहीं, इसमें कोई त्रुटि है या नहीं, एवं अन्त तक यह लाभदायक है या नहीं। किन्तु अच्छा हो या बुरा, धर्म ही हमारे जातीय जीवन की भित्ति है, तुम उससे निकल नहीं सकते। अभी और चिरकाल के लिए भी तुम्हें उसी का अवलम्बन करना होगा और तुम्हें उसी के आधार पर खड़ा होना होगा, चाहे तुम्हें इस पर वह विश्वास न हो जो मुझे है। तुम इसी धर्म में बँधे हुए हो, और अगर तुम इसे छोड़ दो तो तुम चूर-चूर हो जाओगे। वही हमारी जाति का जीवन है और उसे अवश्य ही जोरदार करना होगा। तुम जो युगों के धक्के सहकर भी अक्षय हो, इसका कारण केवल यही है कि धर्म के लिए तुमने बहुत कुछ प्रयत्न किया था, उस पर सब कुछ निछावर किया था। तुम्हारे पूर्वजों ने धर्मरक्षा के लिए सब कुछ साहसपूर्वक सहन किया था, मृत्यु को भी उन्होंने हृदय से लगाया था।

विदेशी विजेताओं द्वारा मन्दिर के बाद मन्दिर तोड़े गये, परन्तु उस बाढ़ के बह जाने में देर नहीं हुई कि मन्दिर की चूड़ा फिर खड़ी हो गई। दक्षिण के इन्हीं पुराने मन्दिरों में से कुछ, और गुजरात के सोमनाथ के जैसे मन्दिर तुम्हें राशि राशि ज्ञान की शिक्षा देते हैं। वे जाति के इतिहास की जो गहरी अन्तर्दृष्टि खोलते हैं वह ढेरों पुस्तकों से नहीं मिल सकती। ध्यान से देखो

प्राचीन मन्दिर-समूह महाशिक्षा के आकर हैं।

—किस तरह ये मन्दिर सैकड़ों आक्रमणों और सैकड़ों पुनरुत्थानों के चिह्न धारण करते हैं; ये बार बार नष्ट हुए और ध्वंसावशेष से उठकर बार बार नया जीवन प्राप्त करते हुए अब पहले ही की तरह अटल भाव से खड़े हैं।

इसलिए यहीं, इस धर्म में ही हमारा जातीय मन है, हमारा जातीय जीवन-प्रवाह है। इसका अनुसरण करोगे तो यह तुम्हें महत्त्व की ओर ले जाएगा। इसे छोड़ोगे तो मृत्यु निश्चित है। पूर्ण ध्वंस — मृत्यु ही अवश्यम्भावी परिणाम होगा अगर उस जीवन-प्रवाह से तुम बाहर निकल आये। मेरे कहने का यह मतलब नहीं कि दूसरी चीजों की आवश्यकता ही नहीं, मेरे कहने का यह अर्थ नहीं कि राजनीतिक या सामाजिक उन्नति अनावश्यक है, किन्तु मेरा तात्पर्य यही है — और मैं तुम्हें सदा इसकी याद दिलाना चाहता हूँ — कि यहाँ वे गौण विषय हैं, मुख्य विषय धर्म है। पहले तो भारतीय मन धार्मिक है, फिर कुछ और। अतएव धर्म को ही जोरदार बनाना होगा। अस्तु —

धर्मत्याग से विनाश।

किस तरह यह बलवान बनाया जाय? मैं तुम्हारे सामने अपनी कार्य-प्रणाली रखता हूँ। बहुत दिनों से, यहाँ तक कि अमेरिका के लिए मद्रास का समुद्री तट छोड़ने के वर्षों पहले से, वह मेरे मन में रह चुकी है, और उसी कारण मैं अमेरिका और इङ्गलैण्ड गया था। धर्ममहासभा या किसी दूसरी वस्तु की मुझे कुछ भी परवाह नहीं थी; वह तो एक सुयोग मात्र था,— वे केवल मेरे ये संकल्प ही थे जो सारे संसार में मुझे लिये फिरते रहे। मेरा विचार है, हमारे शास्त्र-ग्रन्थों में आध्यात्मिकता के जो रत्न मौजूद हैं, और जो कुछ ही मनुष्यों के अधिकार में मठों और अरण्यों में छिपे हुए हैं, सबसे पहले उन्हें निकालना होगा। जिन लोगों के अधिकार में ये छिपे हुए हैं, केवल वहीं से इस ज्ञान का उद्धार करने से काम न होगा, किन्तु उससे भी दुर्भेद्य पेटिका अर्थात् जिस भाषा में ये सुरक्षित हैं, उस शताब्दियों के संस्कृत शब्दों के जाल से उन्हें निकालना होगा। तात्पर्य यह

मेरी कार्यप्रणाली।

सर्वसाधारण के लिए बोधगम्य कर शास्त्रीय तत्वों का प्रचार।

है कि मैं उन्हें सबके लिए सुलभ कर देना चाहता हूँ। मैं इन तत्त्वों को निकालकर सबकी — भारत के प्रत्येक मनुष्य की — साधारण सम्पत्ति बनाना चाहता हूँ, चाहे वह संस्कृत जानता हो या नहीं। इस मार्ग की बहुत बड़ी कठिनाई तब तक दूर नहीं हो सकती जब तक हमारी जाति के सभी मनुष्य — यदि सम्भव हो तो — संस्कृत के अच्छे विद्वान् न हो जायँ। यह कठिनाई तुम्हारी समझ में आ जाएगी जब मैं कहूँगा कि आजीवन इस संस्कृत भाषा का अध्ययन करने पर भी जब मैं इसकी कोई नई पुस्तक उठाता हूँ तब वह मुझे बिल्कुल नई जान पड़ती है। अब सोचो कि जिन लोगों ने कभी विशेष रूप से इस भाषा का अध्ययन करने का समय नहीं पाया उनके लिए यह कितना अधिक क्लिष्ट होगा। अतएव मनुष्यों की बोलचाल की भाषा में उन विचारों की शिक्षा देनी होगी।

साथ ही साथ संस्कृत सिखाना होगा।

साथ ही संस्कृत की भी शिक्षा होती रहेगी, क्योंकि संस्कृत शब्दों का उच्चारण ही जाति को एक प्रकार का गौरव, शक्ति और बल देता है। महानुभाव रामानुज, चैतन्य और कबीर ने भारत की नीची जातियों को उठाने का जो प्रयत्न किया था उसमें उन महान् धर्माचार्यों को अपने ही जीवनकाल में अद्भुत सफलता मिली थी; किन्तु फिर उनके बाद उस कार्य का जो शोचनीय परिणाम हुआ उसकी व्याख्या होनी चाहिए, और जिस कारण से उन बड़े बड़े धर्माचार्यों के तिरोभाव के प्रायः एक ही शताब्दी के भीतर वह उन्नति रुक गई, वह भी बतलाना चाहिए। इसका उत्तर यही है:— उन्होंने नीची जातियों को उठाया था; वे सब चाहते थे कि ये उन्नति के सर्वोच्च शिखर पर आरूढ़ हो जायँ, परन्तु उन्होंने जनता में संस्कृत का प्रचार करने में शक्ति नहीं लगाई। यहाँ तक कि भगवान बुद्ध ने भी यह भूल की कि उन्होंने जनता में संस्कृतशिक्षा का विस्तार बंद कर दिया। वे आशु फल-प्राप्ति के इच्छुक थे, इसीलिए उस समय की भाषा पाली में संस्कृत-भाषा-निबद्ध भावों का

अनुवाद कर उन्होंने उनका प्रचार किया। यह बहुत ही सुन्दर हुआ था — जनता उनका अभिप्राय समझ पायी, क्योंकि वे जनता की बोलचाल की भाषा में बोले थे। यह बहुत ही अच्छा हुआ था, इससे उनके भाव बहुत शीघ्र फैले और बहुत दूर दूर तक पहुँचे; पर इसके साथ ही संस्कृत का भी प्रचार होना चाहिए था। ज्ञान का विस्तार हुआ सही, पर उसके साथ साथ 'गौरव-बुद्धि' तथा 'संस्कार' न बने। जब तक शिक्षा मज्जागत होकर संस्कार में परिणत नहीं हो जाती तब तक केवल ज्ञान की राशि नाना भाव-विप्लवों के सम्मुख खड़ी नहीं रह सकेगी। तुम संसार के सामने प्रभूत ज्ञान रख सकते हो, परन्तु इससे उसका विशेष उपकार न होगा। संस्कार को खून में व्याप्त हो जाना चाहिए। वर्तमान समय में हम कितनी ही जातियों के सम्बन्ध में जानते हैं जो विशाल ज्ञान की अधिकारिणी हैं, परन्तु इससे क्या? वे बाघ की तरह नृशंस हैं, वे बर्बरों के सदृश हैं, क्योंकि उनका ज्ञान संस्कारगत — संस्कार में परिणत — नहीं हुआ है। सभ्यता की तरह ज्ञान भी चर्मावरण तक ही परिमित है — छिछला है, और उसमें जहाँ एक खरोंट लगी कि वह पुरानी नृशंसता जग उठती है। ऐसी घटनाएँ हुआ करती हैं। यही भय है। जनता को उसकी बोलचाल की भाषा में शिक्षा दो, उसे भाव दो; वह बहुत कुछ जान जाएगी, परन्तु साथ ही यह कोशिश करो जिससे कि उनका ज्ञान संस्कार में परिणत हो जाय। जब तक तुम यह नहीं कर सकते तब तक उनकी उन्नत दशा कदापि स्थायी नहीं हो सकती। एक ऐसी नवीन जाति की सृष्टि होगी जो संस्कृत भाषा सीखकर शीघ्र ही अन्यान्य जातियों के ऊपर उठेगी और पहले की तरह उन पर अपना प्रभुत्व फैलाएगी। ऐ नीची जातियों के लोगो, मैं तुम्हें बतलाता हूँ, तुम्हारे बचाव का, तुम्हारी अपनी दशा को उन्नत करने का एकमात्र उपाय संस्कृत पढ़ना है। यह लड़ना-झगड़ना और उच्च वर्णों के विरोध में लेख लिखना व्यर्थ है। इससे कोई उपकार न होगा, इससे लड़ाई-झगड़े और बढ़ेंगे; और यह जाति, दुर्भाग्यवश पहले ही से जिसके टुकड़े-टुकड़े हो चुके हैं, और भी टुकड़ों में बँटती रहेगी।

जातिभेद हटाने तथा साम्य भाव लाने का एकमात्र उपाय उस संस्कार और शिक्षा का अर्जन करना है जो उच्च वर्णों का बल और गौरव है। यदि यह तुम कर सको तो जो कुछ तुम चाहते हो, तुम्हें मिल जाएगा।

इसके साथ मैं और एक प्रश्न पर विचार करना चाहता हूँ, जो खास-कर मद्रास से सम्बन्ध रखता है। एक मत है कि दक्षिण-भारत में द्राविड़ी नाम की एक जाति के मनुष्य थे जो उत्तर भारत की आर्य जाति से बिल्कुल जुदे थे और दक्षिण-भारत के ब्राह्मण ही उत्तर-भारत से गए हुए आर्य हैं; वहाँ की अन्यान्य जातियाँ दाक्षिणी ब्राह्मणों से सम्पूर्ण पृथक् जाति की हैं। भाषातत्त्ववित् महाशय, मुझे क्षमा कीजिएगा, यह मत बिल्कुल बेजड़ है। इसका एक-मात्र प्रमाण यह है कि उत्तर और दक्षिण की भाषा में भेद है। दूसरा भेद मेरी नज़र में नहीं आता। यहाँ हम उत्तर-भारत के इतने मनुष्य हैं, मैं अपने यूरोपीय मित्रों से कहता हूँ, वे इस सभा के उत्तरी भारत और दाक्षिणी भारत के मनुष्यों को चुनकर अलग कर दें। भेद कहाँ है? ज़रा सा भेद भाषा में है। पूर्वोक्त मतवादी कहते हैं कि दाक्षिणी ब्राह्मण जब उत्तर से आए थे तब वे संस्कृत बोलते थे, अभी यहाँ आकर द्राविड़ी भाषा बोलते बोलते संस्कृत भूल गए। यदि ब्राह्मणों के सम्बन्ध में ऐसी बात है तो फिर दूसरी जातियों के सम्बन्ध में भी यही बात क्यों न होगी? क्यों न कहा जाय कि दूसरी जातियाँ भी एक एक करके उत्तर-भारत से आई हैं—उन्होंने द्राविड़ी भाषा को अपनाया और संस्कृत भूल गईं? यह युक्ति तो दोनों ओर लग सकती है। ऐसी वाहियात बातों पर विश्वास न करो। यहाँ ऐसी कोई द्राविड़ी जाति रही होगी जो यहाँ से लुप्त हो गई है, और उनमें से जो कुछ थोड़े से रह गए थे वे जंगलों और दूसरे दूसरे स्थानों में बसने लगे। यह बिल्कुल सम्भव है कि संस्कृत के बदले यह द्राविड़ी भाषा ले ली गई होगी, परन्तु हैं ये सब आर्य ही जो उत्तर से आए हुए हैं। सारे भारत के मनुष्य आर्यों के सिवा और कोई नहीं।

समग्र भारत ही आर्यमय है।

इसके बाद एक दूसरा विचार उठता है कि शूद्र लोग निश्चय ही अनार्य होंगे। वे और कौन हैं? वे आर्यों के गुलाम हैं। पाश्चात्य पण्डितगण कहते हैं कि इतिहास की पुनरावृत्ति आपसे आप होती रहती है। अमेरिकन, अंग्रेज, डच और पोर्तुगीज अफरीकनों को पकड़ लेते थे; जब तक वे जीते तब तक उनसे घोर परिश्रम कराते थे; और इन गोरे पिताओं से उनके जो सन्तान होती थी, वह दासता में उत्पन्न होकर चिरकाल तक दासता में ही पड़ी रहती थी। इस अद्भुत उदाहरण से मन हजारों वर्ष पीछे जाकर यहाँ भी उसी तरह की घटनाओं की कल्पना करता है, और हमारे भाषातत्त्ववित् भारत के सम्बन्ध में स्वप्न देखते हैं कि भारत काली आँखोंवाले अनार्यों से भरा हुआ था, और गोरे आर्य बाहर से आए — परमात्मा जाने, कहाँ से आए! कुछ लोगों के मत से वे मध्य तिब्बत से आए, दूसरे कहते हैं, वे मध्य-एशिया से आए। कुछ स्वदेश-प्रेमी अंग्रेज हैं जो सोचते हैं कि आर्य लाल बालवाले थे। अपनी रुचि के अनुसार दूसरे सोचते हैं, वे सब काले बालवाले थे। अगर लेखक खुद काले बालवाला मनुष्य हुआ तो सभी आर्य काले बालवाले थे! कुछ दिन हुए, यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया गया था कि आर्य स्वीज़रलैण्ड की झीलों के किनारे बसते थे। मुझे ज़रा भी दुःख न होता अगर वे सब के सब, इन सब सिद्धान्तों के साथ वहीं डूब मरते! आजकल कोई कोई कहते हैं, वे उत्तर-मेरु में रहते थे। ईश्वर आर्यों और उनके निवास-स्थलों पर कृपा-दृष्टि रखे! इन सिद्धान्तों की सत्यता के बारे में यही कहना है कि हमारे शास्त्रों में एक भी शब्द नहीं है जो प्रमाण दे सके कि आर्य भारत के बाहर से किसी देश से आये। हाँ, प्राचीन भारत में अफ़गानिस्तान भी शामिल था, बस। और यह सिद्धान्त भी कि शूद्र अनार्य और असंख्य थे, बिलकुल अयौक्तिक है। उन दिनों के लिए यह सम्भव ही नहीं था कि मुट्ठी भर आर्य यहाँ आकर लाखों अनार्यों पर अधिकार जमाकर बसने लगे हों। अजी, पाँच ही मिनट में वे अनार्य उन्हें खा जाते, उनकी चटनी बना डालते।

जातिभेद-समस्या की एकमात्र युक्तिसंगत व्याख्या महाभारत में मिलती है। उसमें लिखा है कि सत्ययुग के आरम्भ में एक ही जाति — ब्राह्मण — थी और फिर पेशे के भेद से वह भिन्न भिन्न जातियों में बँटती गई। बस, यही एकमात्र व्याख्या सच और युक्तिपूर्ण है। भविष्य में जो सत्ययुग आ रहा है उसमें ब्राह्मणेतर सभी जातियाँ फिर ब्राह्मण-रूप में परिणत होंगी। इसीलिए भारतीय जाति-समस्या की मीमांसा इसी प्रकार होती है कि उच्च वर्णों को गिराना नहीं होगा — ब्राह्मणों का अस्तित्व लोप करना नहीं होगा। भारत में ब्राह्मणत्व ही मनुष्यत्व का चरम आदर्श है। इसे शंकराचार्य ने गीता के भाष्यारम्भ में बड़े ही सुन्दर ढंग से पेश किया है, जहाँ कि उन्होंने ब्राह्मणत्व की रक्षा के लिए प्रचारक के रूप में श्रीकृष्ण के आने का कारण बतलाया है। यही उनके अवतरण का महान् उद्देश्य था। इस ब्राह्मण का, इस ब्रह्मज्ञ पुरुष का, इस आदर्श और सिद्ध पुरुष का रहना परमावश्यक है। ब्रह्मज्ञ पुरुष के लोप होने से नहीं चलेगा। और इस समय इस जातिभेद की प्रथा में जितने दोष हैं उनके रहते हुए भी, हम जानते हैं कि हमें ब्राह्मणों को यह श्रेय देने के लिए तैयार रहना होगा कि दूसरी जातियों की अपेक्षा उन्हीं में से अधिकसंख्यक मनुष्य यथार्थ ब्राह्मणत्व को लेकर आए हैं। यह सच है। दूसरी जातियों को उन्हें यह श्रेय देना ही होगा, उनसे यह उनका प्राप्य है। हमें बहुत स्पष्टवादी होकर उनके दोषों की समालोचना करनी चाहिए, पर साथ ही जो श्रेय उनका प्राप्य है उसे भी उन्हें देना चाहिए। अंग्रेजी की पुरानी कहावत याद रखो — 'हरएक मनुष्य को उसका प्राप्य दे दो।' अतएव, मित्रो, जातियों का आपस में झगड़ना बेकार है। इससे क्या लाभ होगा? इससे हम और भी बँट जाएँगे, और भी कमज़ोर हो जाएँगे, और भी गिर जाएँगे। एकाधिकार तथा उसके दावे के दिन गये, भारतभूमि से वे चिरकाल के लिए अन्तर्हित हो गये और यह भारत में ब्रिटिश-शासन का एक सुफल है।

जातिभेद-समस्या की मीमांसा महाभारत में ही मौजूद है।

यहाँ तक कि मुसलमानों के शासनकाल से भी हमें यह उपकार मिला था — उन्होंने भी एकाधिकार को तोड़ा था। सब कुछ होने पर भी वह शासन सर्वांशतः बुरा नहीं था, कोई भी वस्तु सर्वांशतः न बुरी होती है और न अच्छी ही। मुसलमानों की भारत-विजय पददलितों और गरीबों का मानो उद्धार करने के लिए हुई थी। यही कारण है कि हमारी एक-पंचमांश जनता मुसलमान हो गई। यह सारा काम तलवार से ही नहीं हुआ। यह सोचना कि यह सभी तलवार और आग का काम था, बेहद पागलपन होगा। अगर तुम सचेत न होगे तो मद्रास के तुम्हारे एक-पंचमांश — नहीं, अर्धांश — मनुष्य ईसाई हो जाएँगे। जैसा मैंने मलाबार में देखा, क्या वैसी बातें संसार में पहले भी कभी थीं? जिस रास्ते से उच्चवर्ण के लोग चलते हैं, गरीब परिया उससे नहीं चलने पाता। परन्तु ज्योंही उसने कोई बेढब अंग्रेजी नाम या कोई मुसलमानी नाम रख लिया कि बस, सारी बातें सुधर जाती हैं! यह सब देखकर इसके सिवा तुम और क्या सिद्धान्त ठीक कर सकते हो कि सब मलाबारी पागल हैं, और उनके घर पागलखाने हैं? और जब तक वे होश सम्भाल कर अपनी प्रथाओं का संशोधन नहीं करेंगे तब तक भारत की सभी जातियाँ उनकी खिल्ली उड़ाती रहेंगी। ऐसी बुरी और पैशाचिक प्रथाओं को आज भी जारी रखना क्या उनके लिए लज्जा का विषय नहीं? उनके अपने बच्चे तो भूखों मरते हैं, परन्तु ज्योंही उन्होंने किसी दूसरे धर्म का आश्रय लिया कि फिर उन्हें अच्छा भोजन मिल जाता है। अब जातियों में आपसी लड़ाई बिल्कुल नहीं होनी चाहिए।

मुसलमान और अंग्रेज शासन का सुफल।

उच्च वर्णों को उतारकर इस समस्या की मीमांसा न होगी, किन्तु नीची जातियों को ऊँची जातियों के बराबर उठाना होगा। और यद्यपि कुछ लोगों को, जिनका अपने शास्त्रों का ज्ञान और अपने पूर्वजों के महान् उद्देशों के समझने की शक्ति एक शून्य से अधिक नहीं, तुम कुछ का कुछ कहते

प्राचीन शास्त्रकारों की जातिभेद-समस्या की मीमांसा — नीच जाति को क्रमशः उन्नत करना।

हुए सुनते हो, तथापि मैंने जो कुछ कहा है, हमारे शास्त्रों में वर्णित कार्य-प्रणाली वही है। वे समझते नहीं; समझते वे हैं जिनके मस्तिष्क हैं, तथा जो पूर्वजों की सविस्तार कार्यप्रणाली समझ लेने की क्षमता रखते हैं। वे तटस्थ होकर युग-युगान्तरों से गुजरते हुए जातीय जीवन की विचित्र गति को लक्ष्य करते हैं। वे नये और पुराने सभी शास्त्रों में इसकी परम्परा देख पाते हैं।

अच्छा, तो वह तरीका — वह प्रणाली कौनसी है? उस आदर्श का एक छोर ब्राह्मण है और दूसरा छोर चाण्डाल, और सम्पूर्ण कार्य चाण्डाल को उठाकर ब्राह्मण बनाना है। जो अपेक्षाकृत आधुनिक शास्त्र हैं उनमें तुम देख पाते हो कि नीची जातियों को धीरे धीरे अधिकाधिक अधिकार दिये जाते हैं। कुछ ग्रन्थ भी हैं जिनमें तुम्हें ऐसे कठोर वाक्य पढ़ने को मिलते हैं—"अगर शूद्र वेद सुन ले तो उसके कानों में सीसा गलाकर भर दो, और अगर वह वेद की एक भी पंक्ति याद कर ले तो उसकी जीभ काट डालो; यदि वह किसी ब्राह्मण को 'ऐ ब्राह्मण' कह दे तो भी उसकी जीभ काट लो।" यह पुराने जमाने की पैशाचिक नृशंसता है, इसमें ज़रा भी सन्देह नहीं; परन्तु स्मृतिकारों को दोष न दो, क्योंकि उन्होंने समाज के किसी अंश में प्रचलित प्रथाओं को ही सिर्फ लिपिबद्ध किया है। ऐसे आसुरी-प्रकृति लोग प्राचीनों में कभी कभी पैदा हो गये थे। ऐसे लोग सभी युगों में कम या अधिक होते आये हैं। इसलिए बाद के समय में तुम देखोगे, जबान कुछ मुलायम होती आ रही है, जैसे, "शूद्रों को दण्ड न दो, परन्तु उन्हें उच्च शिक्षा दो।" फिर धीरे धीरे हम दूसरी स्मृतियों में देखते हैं,— खास कर उन स्मृतियों में जिनका आजकल प्रभाव है,—"अगर शूद्र ब्राह्मणों के आचार-व्यवहारों का अनुकरण करें तो वे अच्छा करते हैं; उन्हें उत्साह दो।"

चाहिए।" इसी ढंग से उन्नति होती जा रही है। तुम्हारे सामने अधिकार-तारतम्य का विस्तृत वर्णन करने का मुझे समय नहीं है कि इसके बाद यह और इस तरह हुआ, किन्तु प्रत्यक्ष घटनाओं का विचार करने से हम देखते हैं, सभी जातियाँ धीरे धीरे उठेंगी। अस्तु, आज जो हजारों जातियाँ हैं उनमें से कुछ तो ब्राह्मणों में ही शामिल हो रही हैं। कोई जाति अगर अपने को ब्राह्मण कहे तो इस पर कोई क्या कह सकता है? जातिभेद कितना भी कठोर क्यों न हो, वह इस रूप से ही सृष्ट हुआ है। सोचो, यहाँ कुछ जातियाँ हैं जिनमें हरएक की लोकसंख्या दस हजार है। अगर ये सब इकठ्ठी होकर अपने को ब्राह्मण कहने लगें तो इन्हें कौन रोक सकता है? ऐसा मैंने अपने ही जीवन में देखा है। कुछ जातियाँ जोरदार हो गई, और ज्योंही उन सब की एक राय हुई, फिर उनसे 'नहीं' भला कौन कह सकता है?—क्योंकि और कुछ भी हो हरएक जाति दूसरी जाति से सम्पूर्ण पृथक् है। कोई जाति किसी दूसरी जाति के कामों में, यहाँ तक कि एक ही जाति की भिन्न भिन्न शाखाएँ भी एक दूसरे के कार्यों में हस्तक्षेप नहीं करतीं।

जातिभेद की कठोरता रहते हुए भी विभिन्न जातियों की क्रमोन्नति।

और शंकराचार्य आदि शक्तिमान युग-प्रवर्तक ही बड़े बड़े जाति-संगठक थे। उन लोगों ने जो अद्भुत अद्भुत कार्य किये वे सब मैं तुमसे नहीं कह सकता, और सम्भव है कि तुममें से किसी किसी को मेरी बातों से विरक्ति हो जाय। परन्तु अपने भ्रमण और अभिज्ञता से मैंने उनके सिद्धान्त ढूँढ़ निकाले, और इससे मुझे अद्भुत फल मिला है। कभी कभी उन्होंने दल के दल बिलोचियों को लेकर क्षण भर में उन्हें क्षत्रिय बना डाला है, दल के दल धीवरों को लेकर क्षणभर में ब्राह्मण बना दिया है। वे सब ऋषि-मुनि थे और हमें उनके सामने सिर झुकाना होगा।

शंकराचार्य प्रभृति युगाचार्यगण नवीन जाति के स्रष्टा थे।

तुम्हें भी ऋषि-मुनि बनना होगा, कृतकार्य होने का यही गूढ़ रहस्य है। अत्याधिक परिमाण में सबको ही ऋषि होना होगा। ऋषि का अर्थ है पवित्र आत्मा। पहले पवित्र होओ, तभी तुम शक्ति पाओगे। 'मैं ऋषि हूँ', कहने ही से न होगा, किन्तु जब तुम यथार्थ ऋषित्व लाभ करोगे, तो देखोगे, दूसरे आप ही आप तुम्हारी आज्ञा मानते हैं। तुम्हारे भीतर से एक अजीब कुछ निकलकर दूसरों के मन के ऊपर प्रभाव विस्तारित करेगा, और उसके फलस्वरूप बाध्य होकर वे तुम्हारा अनुसरण करेंगे, तुम्हारी आज्ञा का पालन करेंगे, यहाँ तक कि अपनी इच्छा के विरुद्ध अज्ञात भाव से वे तुम्हारी संकल्पित कार्यसिद्धि में सहायक होंगे। यही ऋषित्व है।

कार्य करने का उपाय—ऋषित्व लाभ।

सविस्तार कार्यप्रणाली के बारे में यही कहना है कि पीढ़ियों तक उसका अनुसरण करना होगा। मैंने तुमसे जो कुछ कहा है वह एक सूचना मात्र है जिसका उद्देश यह दिखाना है कि ये लड़ाई-झगड़े बन्द हो जाना चाहिए। मुझे विशेष दुःख इस बात पर होता है कि वर्तमान समय में भी जातियों के बीच में इतना तर्क-वितर्क होता रहता है। इसका अन्त हो जाना चाहिए। यह उभय पक्षों के लिए व्यर्थ है, खास कर ब्राह्मणों के लिए, क्योंकि इस तरह के एकाधिकारों के दिन चले गए। हरएक अभिजात जाति का कर्तव्य है कि अपनी समाधि वह आप ही खोदे, और जितना शीघ्र इसे कर सके उतना ही अच्छा है। जितनी ही वह देर करेगी, उतनी ही वह सड़ेगी और उसकी मृत्यु भी उतनी ही भयंकर होगी। अतएव ब्राह्मण जाति का कर्तव्य है भारत की दूसरी सब जातियों के उद्धार की चेष्टा करना। यदि वह ऐसा करे एवं जब तक ऐसा करे तभी तक वह ब्राह्मण है और अगर वह धन के फेर में चक्कर लगाती रहे तो वह ब्राह्मण नहीं। इधर तुम्हें भी उचित है कि यथार्थ ब्राह्मणों की ही सहायता करो। इससे तुम्हें स्वर्ग

ब्राह्मण जाति का कर्तव्य—सर्वसाधारण को धर्म तथा विद्या दान।

मिलेगा। पर यदि तुम अयोग्य मनुष्य को दान दोगे तो उसका फल स्वर्ग न होकर उसके विपरीत होगा — हमारे शास्त्रों का यही कथन है। इस विषय में तुम्हें सावधान हो जाना चाहिए। यथार्थ ब्राह्मण वे ही हैं जो सांसारिक कोई कर्म नहीं करते। सांसारिक कर्म दूसरी जातियों के लिए हैं, ब्राह्मणों के लिए नहीं। मैं ब्राह्मणों को पुकारकर कहता हूँ — आप जो कुछ जानते हैं उसकी शिक्षा देकर और सदियों से आपने जिस शिक्षा एवं अभिज्ञता का सञ्चय किया है उसका प्रचार कर भारतीय जनता को उन्नत करने के लिए भरसक प्रयत्न करें। भारतीय ब्राह्मणों का स्पष्ट कर्तव्य है — यथार्थ ब्राह्मणत्व क्या है उसका स्मरण करना। मनु कहते हैं —

"ब्राह्मणो जायमानो हि पृथिव्यामधिजायते।
ईश्वरः सर्वभूतानां धर्मकोषस्य गुप्तये॥" *

अर्थात् ब्राह्मणों को जो इतना सम्मान और विशेष विशेष अधिकार दिए जाते हैं, इसका कारण यह है कि उनके पास धर्म का भाण्डार है। उन्हें वह भाण्डार खोलकर उसके रत्न संसार में बाँट देना चाहिए। यह सच है कि ब्राह्मणों ने ही पहले भारत की सब जातियों में धर्म का प्रचार किया, और उन्होंने सबसे पहले — उस समय जब कि दूसरी जातियों में त्याग के भाव का उन्मेष ही नहीं हुआ था — जीवन के सर्वोच्च सत्य में प्रतिष्ठित होने के लिए सब कुछ छोड़ा।

ब्राह्मणेतर जातियों का कर्तव्य।

यह ब्राह्मणों का दोष नहीं कि वे उन्नति के मार्ग पर अन्यान्य जातियों से आगे बढ़े। दूसरी जातियों ने भी ब्राह्मणों की तरह समझने और करने की चेष्टा क्यों नहीं की? क्यों उन्होंने सुस्त बैठी रहकर ब्राह्मणों को बाजी मार लेने दिया? परन्तु दूसरों की अपेक्षा अधिक अग्रसर होना तथा सुविधाएँ प्राप्त करना एक बात है और दुरुपयोग के लिए उन्हें बनाए-रखना दूसरी बात। शक्ति जब कभी

* मनुस्मृति, १-९९

बुरे उद्देश के हेतु लगाई जाती है तो वह आसुरी हो जाती है; उसका उपयोग सदुद्देश के लिए ही होना चाहिए। अतएव युगों की यह सञ्चित शिक्षा तथा संस्कार, जिनके ब्राह्मण रक्षक होते आए हैं, उन्हें अब साधारण जनता को देना पड़ेगा, और चूँकि उन्होंने साधारण जनता को वह सम्पत्ति नहीं दी, इसीलिए मुसलमानों का आक्रमण सम्भव हो सका था। हम जो हजारों वर्षों तक, जिस किसी ने भारत पर धावा बोलना चाहा उसी के पैरों तले कुचलते रहे, इसका कारण यही है कि ब्राह्मणों ने शुरू से साधारण जनता के लिए वह खजाना खोल नहीं दिया। हम इसीलिए अवनत हो गए।

वैदेशिक आक्रमण का कारण—ब्राह्मणेतर जातियों को धर्म और विद्या से वंचित रखना।

और हमारा पहला कार्य यही है कि हमारे पूर्वजों के बटोरे हुए धर्मरूपी अमोल रत्न जिन कोठरियों में छिपे हुए हैं उन्हें तोड़कर उन रत्नों को बाहर निकालें और उन्हें सबको दे दें। यह कार्य सबसे पहले ब्राह्मणों को ही करना होगा। बंगाल में एक पुराना कुसंस्कार है कि जो गोखुरा साँप काटता है, वह अगर खुद अपना विष खींच ले तो रोगी ज़रूर बच जायेगा। अतएव ब्राह्मणों को ही अपना विष खींच लेना होगा।

ब्राह्मणेतर जातियों से मैं कहता हूँ, ठहरो, जल्दी मत करो, ब्राह्मणों से लड़ने का मौका मिलते ही उसका उपयोग न करो, क्योंकि मैं पहले दिखा चुका हूँ, तुम अपने ही दोष से कष्ट पा रहे हो। तुम्हें आध्यात्मिकता का उपार्जन करने और संस्कृत सीखने के लिए किसने मना किया था? इतने दिनों तक तुम क्या करते रहे? क्यों तुम इतने दिनों तक उदासीन रहे? और दूसरों ने तुमसे बढ़कर मस्तिष्क, वीर्य, साहस और क्रियाशक्ति का परिचय दिया, इस पर अब चिढ़ क्यों रहे हो? संवाद-पत्रों में इन सब व्यर्थ वाद-विवादों और झगड़ों में

ब्राह्मणेतर जातियों को उन्नत होने के लिए संस्कृत विद्या का उपार्जन करना होगा।

शक्ति क्षय न करके, अपने ही घरों में इस तरह लड़ते-झगड़ते न रहकर — जो पाप है — ब्राह्मणों के चरित्रोत्कर्ष को अपनाने के लिए अपनी सारी शक्ति लगा दो। बस तभी तुम्हारा उद्देश्य सिद्ध होगा। तुम क्यों संस्कृत के पण्डित नहीं होते? भारत की सभी जातियों में संस्कृत-शिक्षा का प्रचार करने के लिए तुम क्यों नहीं करोड़ों रुपये खर्च करते? मेरा प्रश्न तो यही है। जिस समय तुम यह कार्य करोगे उसी क्षण तुम ब्राह्मणों के बराबर हो जाओगे। भारत में शक्तिलाभ का गूढ़ रहस्य यही है।

मन के बल से ही सब कुछ होता है।

संस्कृत में पाण्डित्य होने से ही भारत में सम्मान प्राप्त होता है। संस्कृत भाषा का ज्ञान होने से ही कोई भी तुम्हारे विरुद्ध कुछ भी बोलने का साहस न करेगा। यही एकमात्र रहस्य है, अतएव इसे जान लो और संस्कृत पढ़ो। अद्वैतवादी की प्राचीन उपमा द्वारा कहने पर बोलना होगा कि समस्त जगत् अपनी माया से आप ही मुग्ध हो रहा है। संकल्प ही जगत् में अमोघ शक्ति है। प्रबल इच्छाशक्ति का अधिकारी मनुष्य एक ऐसी ज्योतिर्मयी प्रभा अपने चारों ओर फैला देता है, कि दूसरे लोग स्वतः उस प्रभा से प्रभावित होकर उसके भाव से भावित हो जाते हैं। ऐसे महापुरुष अवश्य ही प्रकट हुआ करते हैं। जब वे आविर्भूत होते हैं तब उनके विचार हम लोगों के मस्तिष्क में प्रवेश करते हैं और हममें से कितने ही आदमी उनके विचारों तथा भावों को अपना लेते और शक्तिशाली बन जाते हैं। किसी संगठन या संघ में इतनी शक्ति क्यों होती है? संगठन को केवल भौतिक या जड़-शक्ति मत मानो। इसका क्या कारण है, अथवा वह कौन सी वस्तु है, जिसके द्वारा कुल चार करोड़ अँग्रेज़ पूरे तीस करोड़ भारतवासियों पर शासन करते हैं? इस प्रश्न के उत्तर में मनोविज्ञान क्या कहता है? यही, कि वे चारों करोड़ मनुष्य अपनी-अपनी इच्छा-शक्ति को एकत्र कर देते अर्थात् शक्ति का अनन्त भाण्डार बना लेते हैं और तुम तीस करोड़ मनुष्य अपनी अपनी इच्छाओं को एक दूसरे से पृथक् किये

रहते हो। बस यही इसका रहस्य है कि वे कम होकर भी तुम्हारे ऊपर शासन करते हैं।

अतएव यदि भारत को महान् बनाना है, उसका भविष्य उज्ज्वल बनाना है, तो इसके लिए आवश्यकता है संगठन करने की, शक्ति-संग्रह करने की और बिखरी हुई इच्छा-शक्तियों को एकत्र करने की। मुझे ऋग्वेद-संहिता की एक ऋचा याद आ गई, जो सदा ध्यान में रखने योग्य है। उसमें कहा गया है कि "तुम सब लोग एक-मन हो जाओ, सब लोग एक ही विचार के बन जाओ, क्योंकि प्राचीन काल में एक-मन होने के कारण ही देवताओं ने बलि पाई है।" "संगच्छध्वं संवदध्वं सं वो मनांसि जानताम्। देवा भागं यथा पूर्वे" *...इत्यादि। देवता मनुष्य द्वारा इसीलिए पूजे गए कि वे एक-चित्त थे। एक-मन हो जाना ही समाज-गठन का रहस्य है। और यदि तुम 'आर्य' और 'द्राविड़', 'ब्राह्मण' और 'अब्राह्मण' जैसे तुच्छ विषयों को लेकर 'तू-तू मैं-मैं' करोगे—झगड़े और पारस्परिक विरोध-भाव को बढ़ाओगे—तो समझ लो कि तुम उस शक्ति-संग्रह से दूर हटे चले जाओगे, जिसके द्वारा भारत का भविष्य गठित होनेवाला है। इस बात को याद रखो, कि भारत का भविष्य सम्पूर्णतः उसी पर निर्भर करता है। बस, इच्छा-शक्ति को केन्द्रीभूत और शतमुखी शक्तियों को एकमुखी करने में ही सारा रहस्य है। प्रत्येक चीनी अपनी-अपनी शक्तियों को भिन्न भिन्न मार्गों से परिचालित करता है, तथा मुट्ठीभर जापानी अपनी इच्छा-शक्ति एक ही मार्ग से परिचालित करते हैं, और उसका फल क्या हुआ है, यह तुम लोगों से छिपा नहीं है। इसी तरह की बात सारे संसार में देखने में आती है। यदि तुम संसार के इतिहास पर दृष्टि डालो, तो तुम देखोगे कि सर्वत्र छोटी-छोटी जातियाँ बहुत बड़ी-बड़ी जातियों पर शासन कर रही हैं। ऐसा होना स्वाभाविक है, क्योंकि जिन

सब समान अन्तः-करण के होने से ही जातीय उन्नति होती है।

---

* ऋग्वेद-संहिता, १०—१९१—२

जातियों में अल्प-संख्यक लोग हैं, वे अपनी इच्छा-शक्तियों को आसानी के साथ एकत्र कर सकती हैं, अपने विचारों को एक साँचे में ढाल सकती हैं और इस प्रकार वे अपनी केन्द्रीभूत शक्ति को विकसित करने में समर्थ होती हैं। दूसरी ओर, जिन जातियों में लोगों की संख्या जितनी अधिक होती है, उतना ही संहत भाव से कार्य करना कठिन हो जाता है। वे मानो असंहत, अनियंत्रित लोगों की समष्टि मात्र हैं, वे कभी परस्पर सम्बद्ध हो नहीं सकतीं। अतएव ये सब मतभेद के झगड़े एकदम बन्द हो जाने चाहिए।

इसके सिवा हमारे भीतर एक और बड़ा भारी दोष है। महिलाएँ मुझे क्षमा करेंगी। पर असल बात यह है कि सदियों से गुलामी करते करते हमारी जाति औरतों की जाति बन गई है। चाहे इस देश में हो या किसी अन्य देश में, कहीं भी, तुम तीन स्त्रियों को शायद ही कभी एक साथ पाँच मिनट से अधिक देर तक देख पाओगे। यूरोपीय देशों में स्त्रियाँ बहुत बड़ी-बड़ी सभा-समितियाँ स्थापित करती हैं और अपनी शक्ति की बड़ी बड़ी घोषणाएँ करती हैं। इसके बाद क्या होता है? वे आपस में झगड़ा करने लग जाती हैं। इसी समय कोई पुरुष बीच में कूद पड़ता और उन पर अपना प्रभुत्व जमा लेता है। सारे संसार में उन पर शासन करने के लिए पुरुषों की आवश्यकता होती है। हमारी भी ठीक वही हालत है। हम भी स्त्रियों के समान हो गए हैं। यदि कोई स्त्री स्त्रियों का नेतृत्व करने चलती है, तो सब मिलकर फौरन उसकी खरी समालोचना करना शुरू कर देती हैं—उसकी खिल्लियाँ उड़ाने लग जाती हैं, और अन्त में उसे नेतृत्व से हटाकर, उसे बैठाकर ही दम लेती हैं। यदि कोई पुरुष आता और उनके साथ ज़रा कड़ा-रूखा बर्ताव करता है और बीच-बीच में डाँट-फटकार सुना देता है, तो बस, वे शान्त हो रहती हैं, ऐसी सीधी गौ बन जाती हैं मानो उन पर किसी ने जादू डाल दिया हो। सारा संसार ही इस प्रकार की सम्मोहन या वशीकरण विद्या के अधीन है। ठीक इसी तरह से, यदि हम लोगों में से किसी ने आगे बढ़ना चाहा, हमें रास्ता दिखाने की कोशिश की,

तो हम फौरन उसकी टाँग पकड़कर पीछे खींचेंगे और उसे बैठा देंगे। परन्तु यदि कोई विदेशी हमारे बीच में कूद पड़े और हमें पैरों से ठुकराए, तो हम बड़ी खुशी से उसके पैर सहलाने लग जाएँगे। ऐसा क्यों? इसीलिए कि हमारे साथ सदियों से यही व्यवहार होता चला आ रहा है। क्या यह बात नहीं है? पर, हमें यों गुलाम बने रहना भी नहीं है। हमको अब नेता बनना चाहिए। इसलिए यह ईर्ष्या का दोष त्याग दो।

आगामी पचास वर्ष के लिए यह जननी मातृभूमि ही मानो तुम्हारी आराध्या देवी बन जाय। इस आधी शताब्दी के लिए अपने मस्तिष्क से अन्यान्य देवी-देवताओं को हटाने में भी कुछ हानि नहीं है। अपना सारा ध्यान इसी एक ईश्वर पर लगाओ, देश को जगाओ, जाति को जगाओ, इसी में उस परब्रह्म परमात्मा को देखो। सर्वत्र उसके हाथ हैं, सर्वत्र उसके पैर हैं और सर्वत्र उसके कान हैं। समझ लो कि अन्यान्य देवी-देवता सो रहे हैं। जिन देवी-देवताओं को हम देख नहीं पाते हैं उनके पीछे तो हम बेकार दौड़ें और ईश्वर के जिस विराट रूप को हम अपने चारों ओर देख रहे हैं उसकी पूजा ही न करें? जब हम इस सामने आये हुए देवता की पूजा कर लेंगे, तभी हम अन्यान्य देव-देवियों की पूजा करने योग्य होंगे, अन्यथा नहीं। आधा मील चलने की तो हममें शक्ति ही नहीं और हम हनुमानजी की तरह एक ही छलांग में समुद्र पार करने की इच्छा करें! नहीं, ऐसा हो ही नहीं सकता। जिसे देखो वही योगी होने की धुन में है, जिसे देखो वही समाधि लगाने जा रहा है। नहीं, ऐसा नहीं होने का। दिनभर तो उदर-दरी की पूर्ति के लिए मारे-मारे फिरोगे, दुनिया में सैकड़ों प्रपंच-जाल बिछाओगे और शाम को आँख मूँदकर, नाक दबाकर साँस चढ़ाओ-उतारोगे! क्या योग की सिद्धि और समाधि को इतना सहज समझ रखा है कि ऋषि लोग, तुम्हारे तीन बार नाक फड़फड़ाने और साँस चढ़ाने से हवा में मिलकर तुम्हारे पेट में घुस जावेंगे? क्या इसे

जननी जन्मभूमि रूपी विराट देवता की उपासना करो।

तुमने कोई हँसी-मज़ाक मान लिया है? हर्गिज़ नहीं, ये सब विचार वाहियात हैं। इन्हें फितूर समझकर दिमाग से निकालकर फेंक दो। जिसे ग्रहण करने की — अपनाने की — आवश्यकता है, वह है चित्तशुद्धि। और उसकी प्राप्ति ही कैसे होगी? इसका उत्तर यह है, कि सबसे पहले ईश्वर के उस विराट रूप की पूजा करो, जिसे तुम अपने चारों ओर देख रहे हो। उनकी पूजा करो, सेवा नहीं; सेवा शब्द से मेरा अभिप्रेत भाव ठीक समझाया नहीं जाता। ये मनुष्य और पशु, जिन्हें हम आस-पास और आगे-पीछे देख रहे हैं, ये ही हमारे ईश्वर हैं। इनमें सबसे पहले पूजा करो अपने देशवासियों की। इनकी सेवा करो, इनका सम्मान करो, ईर्ष्या-द्वेष का भाव अपने मन से निकाल दो, यही सच्ची पूजा है। झगड़ा मिटाकर सद्भाव स्थापित करने का ही नाम पूजा है। हमारे लिए यह परम कर्तव्य है और जिसे न करने का फल हम हाथोंहाथ पा रहे हैं। फिर भी हमारी आँखें नहीं खुलतीं!

अस्तु। यह विषय इतना विस्तृत है कि मेरी समझ में ही नहीं आता, मैं कहाँ पर अपना वक्तव्य समाप्त करूँ। इसलिए मैं चाहता हूँ कि मद्रास में किस प्रकार काम करना चाहिए, इस विषय के बारे में संक्षेप में अपना मत व्यक्त कर व्याख्यान समाप्त कर दूँ। सबसे पहले हमें अपनी जाति की आध्यात्मिक और लौकिक शिक्षा का भार ग्रहण करना होगा। क्या तुम इस बात की सार्थकता को समझ रहे हो? तुम्हें इस विषय पर सोचना-विचारना होगा, इस पर तर्क-वितर्क और आपस में परामर्श करना होगा, दिमाग लगाना होगा और अन्त में, उसे कार्य-रूप में परिणत करना होगा। जब तक तुम यह काम पूरा नहीं करते हो, तब तक तुम्हारी जाति का उद्धार होना असम्भव है। जो शिक्षा तुम अभी पा रहे हो, उसमें अच्छा अंश बहुत ही कम और बुराइयाँ बहुत हैं। इसलिए उसकी बुराइयाँ उसके भले अंश को अपने पेट में डाल लेती हैं। सबसे पहली बात तो यह है कि यह शिक्षा मनुष्य-बनानेवाली नहीं

आधुनिक शिक्षा के दोष-गुण।

कही जा सकती। यह शिक्षा नहीं वरन् अशिक्षा है। यह अशिक्षा नास्ति-भाव-पूर्ण बनाती है। जिस शिक्षा से इस प्रकार सब टूट-फूट जाता है वह मृत्यु से भी भयानक है। कोमल-मति बालक पाठशाला में भर्ती होता है और सबसे पहली बात जो उसे सिखाई जाती है, वह यह कि तुम्हारा बाप मूर्ख है। दूसरी बात जो वह सीखता है, वह यह है कि तुम्हारा दादा पागल है। तीसरी बात—'तुम्हारे जितने शिक्षक और आचार्य हैं, वे झूठे और अनृतभाषी हैं।' और चौथी बात है, 'तुम्हारे जितने पवित्र धर्मग्रन्थ हैं, उनमें झूठी और कपोलकल्पित बातें भरी हुई हैं।' इस प्रकार की असार बातें सीखते-सीखते जब बालक सोलह वर्ष की अवस्था को पहुँचता है, तब वह असारताओं की खान बन जाता है—उसमें न जान रहती है और न उसके शरीर में रीढ़ ही होती है। अतएव इसका जैसा परिणाम होना चाहिए था वैसा ही हुआ है। पिछले पचास वर्षों से दी जानेवाली इस शिक्षा ने एक भी स्वतन्त्र विचारों का मनुष्य पैदा नहीं किया; और जो स्वतन्त्र विचार के लोग हैं उन्होंने यहाँ शिक्षा नहीं पाई है, विदेशों में पाई है अथवा भ्रममूलक सन्देहों का भञ्जन करने के लिए अपने पुराने दर्शनों का अध्ययन किया है। शिक्षा का मतलब यह नहीं है कि तुम्हारे दिमाग में ऐसी बहुत सी बातें इस तरह ठूँस दी जायँ, जो आपस में लड़ने लगें और तुम्हारा दिमाग उन्हें जीवन भर में हजम न कर सके। जिस शिक्षा से हम अपना जीवन-निर्माण कर सकें, मनुष्य बन सकें, चरित्र-गठन कर सकें और विचारों का सामञ्जस्य कर सकें, वही वास्तव में शिक्षा कहलाने योग्य है। यदि तुम पाँच ही भावों को हजम कर तदनुसार जीवन और चरित्र गठित कर सके हो तो तुम्हारी शिक्षा उस आदमी की अपेक्षा बहुत अधिक है, जिसने एक पूरी-की-पूरी लाइब्रेरी ही कण्ठस्थ कर ली है। कहा भी है—"यथा खरश्चन्दन-

शिक्षा का अर्थ तोड़ना नहीं, गढ़ना है।

केवल ग्रंथपाठ से शिक्षालाभ नहीं होता।

भारवाही भारस्य वेत्ता न तु चन्दनस्य।" अर्थात्—"वह गधा, जिसके ऊपर चन्दन की लकड़ियों का बोझ लाद दिया गया हो, बोझ की ही बात जान सकता है, चन्दन के मूल्य को क्या वह समझ सकता है?"

यदि बहुत तरह की खबरों का संग्रह करना ही शिक्षा है, तब तो ये लाइब्रेरियाँ संसार में सर्वश्रेष्ठ मुनि और 'एनसाइक्लोपीडिया' ही ऋषि हैं! इसलिए हमारा आदर्श यह चाहिए कि अपने देश की समग्र आध्यात्मिकता और लौकिक शिक्षा के प्रचार का भार अपने हाथों में ले लें और जहाँ तक सम्भव हो, जातीय रीति से जातीय शिक्षा विस्तारित करें। हाँ, यह ठीक है कि यह एक बहुत बड़ी योजना है—कठिन समस्या है। मैं नहीं कह सकता कि यह कार्यरूप में परिणत होगी या नहीं; और होगी, तो कब तक? पर उसका विचार छोड़कर हमें यह काम फौरन शुरू कर देना चाहिए।

जातीय भाव से शिक्षादान करना होगा।

लेकिन कैसे? किस तरह से काम में हाथ लगाया जाय? उदाहरण के लिए मद्रास का ही काम ले लीजिए। सबसे पहले हमें एक मन्दिर की आवश्यकता है, क्योंकि सभी कार्यों में हिन्दू प्रथम स्थान धर्म को ही देते हैं। आप कहेंगे कि ऐसा होने से हिन्दुओं के विभिन्न मतावलम्बियों में परस्पर झगड़े होने लगेंगे। पर मैं आपको किसी मतविशेष के अनुसार वह मन्दिर बनाने को नहीं कहता। वह इन साम्प्रदायिक भेद भावों के परे हो। उसका एकमात्र उपास्य ॐ हो जो कि हमारे सभी धर्म-सम्प्रदायों का मूल-मन्त्र है। यदि हिन्दुओं में कोई ऐसा सम्प्रदाय हो, जो इस ओङ्कार को न माने, तो समझ लीजिए कि वह हिन्दू कहलाने योग्य नहीं है। वहाँ सब लोग अपने-अपने सम्प्रदाय के अनुसार ही उस ओङ्कार की व्याख्या कर सकेंगे, पर मन्दिर सब के लिए एक ही होगा। उसमें जो उपासक हों, वे अपने सम्प्रदाय के अनुसार जिस देव-देवी की

असाम्प्रदायिक हिन्दू मन्दिरों की प्रतिष्ठा करनी होगी।

प्रतिमा-पूजा करना चाहें, अन्यत्र जाकर करें; पर इस मन्दिर में वे औरों से झगड़ा न करें। इस मन्दिर में वे ही धार्मिक तत्व समझाये जायेंगे जो सब सम्प्रदायों में समान हैं। साथ ही हरएक सम्प्रदायवाले को अपने मत की शिक्षा देने का यहाँ पर अधिकार रहेगा; पर वे मत-भेद की झगड़ेवाली बातें बताने या सिखाने नहीं पायेंगे। बोलो, तुम क्या बोलते हो? संसार तुम्हारी सम्मति जानना चाहता है, पर उसे यह सुनने को समय नहीं है कि तुम औरों के विषय में क्या विचार प्रकट कर रहे हो। औरों की बात छोड़, तुम अपनी ही ओर ध्यान दो।

उक्त मन्दिर के साथ ही साथ आचार्यों के शिक्षालय स्थापन करने होंगे।

इस मन्दिर के साथ ही एक और संस्था हो जिससे धार्मिक शिक्षक और प्रचारक तैयार किये जावें और वे सभी घूम-फिरकर धर्म-प्रचार करने को भेजे जायँ। परन्तु ये केवल धर्म का ही प्रचार न करें, वरन् उसके साथ-साथ लौकिक ज्ञान का भी प्रचार करें। जैसे हम धर्म का प्रचार द्वार द्वार जाकर करते हैं वैसे ही हमें लौकिक ज्ञान का भी प्रचार करना पड़ेगा। यह काम आसानी से हो सकता है। इन्हीं धर्म-प्रचारकों तथा व्याख्यान-दाताओं के द्वारा हमारे कार्य का विस्तार होता जायेगा; और क्रमशः अन्यान्य स्थानों में ऐसे ही मन्दिर प्रतिष्ठित होंगे और इस प्रकार समस्त भारत में यह भाव फैल जायेगा।

यह योजना तुमको बड़ी भारी मालूम होगी, पर इसकी इस समय आवश्यकता है। तुम पूछ सकते हो, इस काम के लिए धन कहाँ से आएगा?

मनुष्य चाहिए।

पिछले बारह वर्षों से मैं ऐसा जीवन व्यतीत कर रहा हूँ कि मैं यह नहीं जानता, कि आज यहाँ खा रहा हूँ, तो कल कहाँ खाऊँगा? और न मैंने कभी इसकी परवाह भी की। धन या किसी भी वस्तु की जब मुझे इच्छा होगी तभी उसकी प्राप्ति हो

जायेगी, क्योंकि वे मेरे गुलाम हैं — न कि मैं उनका गुलाम हूँ। जो मेरा गुलाम है, उसे मेरी इच्छा होते ही मेरे पास आना पड़ेगा। अतएव उसकी कोई चिन्ता न करो। अब प्रश्न यह है कि काम करनेवाले लोग कहाँ हैं ?

मद्रास के नवयुवको ! तुम्हारे ऊपर ही मेरी आशा है। क्या तुम अपनी जाति और राष्ट्र की पुकार सुनोगे ? प्यारे युवको ! अपने आप पर अगाध, अटूट विश्वास रखो। मैं बाल्यकाल में अपने ऊपर बहुत विश्वास रखता था और उसी के बल से मेरे हृदय में जो उच्च अभिलाषाएँ थीं, उन्हें अब कार्य-रूप में परिणत कर रहा हूँ। तुम अपने आप पर विश्वास रखो। यह विश्वास रखो, कि प्रत्येक की आत्मा में अनन्त शक्ति विद्यमान है। बस तभी तुम सारे भारतवर्ष को पुनरुज्जीवित कर सकोगे। फिर तो हम दुनिया के सभी देशों में जाएँगे और आगामी दस वर्ष में हमारे भाव उन सब विभिन्न शक्तियों के एक अंश-स्वरूप हो जाएँगे, जिनके द्वारा संसार की प्रत्येक जाति संगठित हो रही है। हमें भारत में बसनेवाली और भारत के बाहर बसनेवाली सभी जातियों के अन्दर प्रवेश करना होगा। इसके लिए हमें प्रयत्न करना होगा।

विश्वास से ही शक्ति आएगी।

इसके लिए मुझे युवक चाहिए। वेदों में कहा है,—"युवक, दृढ़, बलशाली, तीव्र मेधावाले और उत्साहयुक्त मनुष्य ही ईश्वर के पास पहुँच सकते हैं।"* तुम्हारे भविष्य को निश्चित करने का यही समय है। इसीलिए मैं कहता हूँ कि अभी इस भरी हुई जवानी में, इस नये जोश के जमाने में ही काम करो। काम करने का यही समय है। इसलिए अभी अपने भाग्य का निर्णय कर लो और काम में लग जाओ; क्योंकि जो फूल मसला नहीं गया है, जो ताज़ा है और

कुछ दृढ़शरीर स्वार्थ-त्यागी युवकों की आवश्यकता है।

---

* 'आशिष्ठो बलिष्ठो द्रढ़िष्ठो मेधावी'— तैत्तिरीय उपनिषद, २–८

जो सूँघा नहीं गया है, वही भगवान के चरणों पर चढ़ाया जाता है और वे उसे ही ग्रहण करते हैं। इस बात को सदा याद रखो। अपने पैरों आप खड़े हो जाओ, देर न करो, क्योंकि जीवन क्षणस्थायी है। वकील-बैरिस्टर बनने की अभिलाषा ही जीवन की सर्वोच्च अभिलाषा नहीं है। इससे तो झगड़े-झंझट बढ़ाने की प्रवृत्ति ही अधिकतर पुष्ट होती है। इससे भी ऊँची अभिलाषा रखो और अपनी जाति, देश, राष्ट्र और समग्र मानव-समाज के कल्याण के लिए आत्मोत्सर्ग करना सीखो। इस जीवन में क्या है? तुम हिन्दू हो और इसलिए तुम्हारा यह दृढ़ विश्वास है कि तुम अनन्त काल तक रहनेवाले हो। कभी-कभी मेरे पास नास्तिकता के विषय पर वार्तालाप करने के लिए कुछ युवक आया करते हैं। पर मेरा विश्वास है कि कोई हिन्दू नास्तिक नहीं हो सकता। सम्भव है कि किसी ने पाश्चात्य ग्रंथादि पढ़े हों और अपने को जड़वादी समझने लग गया हो। पर उसका वह ख़याल स्थायी नहीं होता। यह बात तुम्हारे खून के भीतर नहीं है। जो बात तुम्हारी रग-रग में रमी हुई है, उसे तुम निकाल नहीं सकते और न उनकी जगह और किसी धारणा पर तुम्हारा विश्वास ही हो सकता है। इसीलिए वैसी चेष्टा मत करो। मैंने भी बाल्यावस्था में ऐसी चेष्टा की थी, पर वैसा नहीं हो सका। जीवन की अवधि अल्प है; पर आत्मा अमर, अजर और अनन्त है, और मृत्यु अनिवार्य है, इसलिए आओ, हम अपने आगे एक महान् आदर्श खड़ा करें और उसके लिए अपना जीवन उत्सर्ग कर दें। उसे ही हम अपना इष्ट समझ लें और मेरी यही प्रार्थना है कि वे भगवान् जिन्होंने ऐसा वचन दिया है कि "मैं साधुओं के परित्राण के लिए संसार में बार बार आविर्भूत होता हूँ,"—वे ही महान् कृष्ण हम पर आशीर्वाद की वर्षा करें एवं हमारे उद्देश्य की सिद्धि में सहायक हों।

---

१६. दान

जब स्वामीजी मद्रास में थे उस समय एक बार उनके सभापतित्व में 'चेन्नापुरी अन्नदान समाजम्' नामक एक 'दातव्य भण्डार' का वार्षिक समारोह मनाया गया। उस अवसर पर उन्होंने एक संक्षेप भाषण दिया जिसमें उन्होंने उसी समारोह के एक वक्ता महोदय के विचारों पर कुछ प्रकाश डाला। इन वक्ता महोदय ने कहा था कि यह अनुचित है कि अन्य सब जातियों की अपेक्षा केवल ब्राह्मण को ही विशेष दान दिया जाय। इसी प्रसंग में स्वामीजी ने कहा कि इस बात के दो पहलू हैं — एक अच्छा, दूसरा बुरा। यदि हम ध्यानपूर्वक देखें तो प्रतीत होगा कि राष्ट्र की समस्त शिक्षा एवं सभ्यता अधिकतर केवल ब्राह्मणों में ही पाई जाती हैं; साथ ही ब्राह्मण ही समाज के विचारशील तथा मननशील व्यक्ति रहे हैं। यदि थोड़ी देर के लिए मान लो कि तुम उनके वे साधन छीन लो जिनके सहारे वे मनन, अभ्यास आदि करते हैं तो परिणाम यह होगा कि सारे राष्ट्र को धक्का लगेगा।

इसके बाद स्वामीजी ने यह बतलाया कि यदि हम भारतवर्ष के दान की शैली की तुलना जो बिना विचार अथवा भेदभाव के होती है, दूसरे राष्ट्रों की उस शैली से करें जिसका एक प्रकार से कानूनी रूप होता है तो हमें यह प्रतीत होगा कि हमारे यहाँ का एक भिखमंगा भी बस उतने से सन्तुष्ट हो जाता है जो उसे तुरन्त दे दिया जाय, और उतने में ही वह अपनी सब की जिन्दगी बसर करता है। परन्तु इसके विपरीत पाश्चात्य देशों में पहली बात तो यह है कि कानून भिखमंगों को गरीबखाने (Poor House) में जाने के लिए बाध्य करता है। परन्तु मनुष्य भोजन की अपेक्षा स्वतंत्रता अधिक पसंद करता है, इसलिए वह गरीबखाने में न जाकर डाकू, समाज का दुश्मन बन जाता है। और फिर

इसी कारण हमें इस बात की ज़रूरत पड़ती है कि हम अदालत, पुलिस, जेल तथा अन्य साधनों का निर्माण करें। यह निश्चय है कि समाज-शरीर में जब तक 'सभ्यता' नामक बीमारी बनी रहेगी तब तक उसके साथ साथ निर्धनता भी रहेगी और इसीलिए हमें कुछ उपचार की आवश्यकता होती है।

यही कारण है कि भारतवासियों ने उस दानशैली को श्रेष्ठ समझा जो बिना किसी भेद-भाव की हो। और रही संन्यासियों की बात। उनका तो यह हाल है कि भले ही उनमें से कोई सच्चे सन्यासी न हों, परन्तु फिर भी उन्हें भिक्षाटन करने के लिए अपने शास्त्रों के कम से कम कुछ अंशों को तो पढ़ ही लेना पड़ता है। और पाश्चात्य देशों में जहाँ आदमी को देख-परखकर दान देने की शैली है जिसके कारण निर्धन के लिए कड़े कानून बन गए, वहाँ फल यह हुआ कि फकीरों को डाकू तथा अत्याचारी बन जाना पड़ा। इन दोनों को छोड़ अन्य मार्ग नहीं है और थोड़ा सोचने पर ही मालूम होगा कि इनमें से कौनसा पथ अवलम्बनीय है।

१७. कलकत्ता-अभिनन्दन

स्वामीजी जब कलकत्ता पहुँचे तो लोगों ने उनका स्वागत बड़े जोश तथा उत्साह के साथ किया। शहर के अनेकों सजे सजाए रास्तों से उनका बड़ा भारी जुलूस निकला और रास्ते के चारों ओर जनता की ज़बरदस्त भीड़ थी जो उनका दर्शन पाने के लिए बड़ी उत्सुक थी। उनका सजःवटी स्वागत तो फिर एक सप्ताह बाद शोभा बाजार के स्व० राजा राधाकान्त देव बहादुर के निवासस्थान पर हुआ; उस अवसर के सभापति राजा विनयकृष्ण देव बहादुर थे। सभापति द्वारा कुछ संक्षिप्त परिचय द्वारा स्वामीजी की सेवा में निम्नलिखित अभिनन्दन-पत्र एक सुन्दर चाँदी के पात्र में रखकर भेंट किया गया:—

सेवा में

श्रीमत् स्वामी विवेकानन्दजी,

प्रिय बन्धु,

हम कलकत्ता तथा बंगाल के अन्य स्थानों के हिन्दू निवासी आज आपके अपनी मातृभूमि में वापस आने के अवसर पर आपका हृदय से स्वागत करते हैं। महाराज, आपका स्वागत करते समय हमें बड़ा गर्व तथा कृतकृत्यता होती है, क्योंकि आपने महान् कर्म तथा आदर्श द्वारा संसार के भिन्न भिन्न भागों में केवल हमारे धर्म को ही गौरवान्वित नहीं किया है वरन् हमारे देश और विशेषतः हमारे बंगाल प्रान्त का सिर ऊँचा किया है।

१८९३ ई० में अमेरिका के शिकागो शहर में जो महामेला हुआ था उसकी अंगभूत महासभा के अवसर पर आपने आर्य धर्म के तत्वों का विशेष रूप से वर्णन किया। आपके भाषण का सार अधिकतर श्रोतागणों के लिए बड़ा शिक्षाप्रद तथा प्रकाशमय था और ओज तथा माधुर्य के कारण वह वैसा ही

हृदयग्राही था। सम्भव है कि आपके उस भाषण को कुछ लोगों ने सन्देह की दृष्टि से सुना हो तथा कुछ ने उस पर तर्क-वितर्क भी किया हो, परन्तु इसका सर्वसाधारण प्रभाव तो यही हुआ कि उसके द्वारा अधिकतर शिक्षित अमेरिकन जनता के धार्मिक विचारों में काफी परिवर्तन हो गया तथा उन्हें एक नया-सा प्रकाश दीख पड़ा। उनके मन में एक नया-सा जो प्रकाश पड़ा उसका उन्होंने अपनी स्वाभाविक निष्कपटता तथा सत्य के प्रति अनुराग के वश हो अधिक से अधिक लाभ उठाने का निश्चय किया। फल यह हुआ कि आपका प्रचार-बीज अंकुरित हो वृक्ष का आकार धारण करने लगा। अनेक देशों के भिन्न भिन्न शहरों से आपके पास निमंत्रण पर निमंत्रण आते रहे और उन्हें भी आपको स्वीकार करना पड़ता था, कितने ही प्रकार की शंकाओं का समाधान करना होता था, प्रश्नों का उत्तर देना पड़ता था, लोगों की अनेकों समस्याओं को हल करना पड़ता था और हम जानते हैं कि यह सारा कार्य आपने बड़े उत्साह तथा जोश, योग्यता तथा लगन के साथ किया। इस सबका फल भी चिरस्थायी ही निकला। आपकी शिक्षाओं द्वारा बहुतेरी शिक्षित एवं सभ्य अमेरिकन जनता पर बड़ा गहरा असर पड़ा और उसी के कारण उन लोगों में अनेक दिशाओं में विचार-विनिमय, मनन तथा अन्वेषण का भी बीजारोपण हुआ तथा अनेकों की हिन्दू धर्म के प्रति जो प्राचीन गलत धारणाएँ थीं वे बदल गईं और हिन्दू धर्म के प्रति उनकी श्रद्धा एवं भक्ति बढ़ गई। उसके बाद शीघ्र ही जो अनेकों नये नये क्लब तथा समितियाँ धर्म सम्बन्धी तुलनात्मक अध्ययन के लिए स्थापित हुई वे इस बात के स्पष्ट द्योतक हैं कि दूर पाश्चात्य देशों में आपके प्रयत्नों का फल क्या हुआ तथा कैसा हुआ। आप तो लन्दन में वेदान्तदर्शन की शिक्षा प्रदान करनेवाले विद्यालय के आदि-निर्माता कहे जा सकते हैं। आपके जो व्याख्यान हुए वे सदैव ठीक समय पर हुए, जनता भी उन्हें ठीक समय पर सुनने आई तथा उनका उचित मनन एवं प्रशंसा हुई। निश्चय ही उनका प्रभाव लेक्चर-हॉल तक ही सीमित नहीं रहा वरन् उसके

आदर भी गया। आपकी शिक्षाओं द्वारा जनता में जिस प्रीति तथा श्रद्धा की जागृति हुई उसका द्योतक वह भावनापूर्ण अभिनन्दन-पत्र है जो आपको लन्दन छोड़ते समय वहाँ के वेदान्तदर्शन के विद्यार्थियों ने दिया था।

वेदान्ताचार्य के नाते आपको जो सफलता प्राप्त हुई है उसका कारण केवल यही नहीं रहा है कि आप आर्य-धर्म के सत्य सिद्धान्तों से इतनी भलीभाँति परिचित हैं, और न यही कि आपके भाषण तथा लेख इतने सुन्दर तथा जोशीले होते हैं वरन् इसका कारण मुख्यतः आपका स्वयं का चरित्र ही रहा है। आपके भाषण, निबन्ध तथा पुस्तकें सदैव उच्च श्रेणी की आध्यात्मिक तथा साहित्यिक दोनों प्रकार की विशेषताओं से परिपूर्ण रहे हैं और इसलिए अपना पूरा असर किए बिना वे कभी रह ही नहीं सकते। यहाँ यह कह देना आवश्यक है कि इनका प्रभाव यदि और भी अधिक पड़ा है तो उसका कारण है आपके स्पष्टीकरण की शैली, आप स्वयं का सादा, परोपकारी तथा निःस्वार्थ जीवन, आपकी नम्रता, आपकी भक्ति तथा आपकी लगन।

यहाँ पर जब हम आपकी उन सेवाओं का उल्लेख कर रहे हैं जो आपने हिन्दू धर्म के असली सत्य सिद्धान्तों के आचार्य होने के नाते की हैं, तो हम अपना यह परम कर्तव्य समझते हैं कि हम आपके पूज्य गुरुदेव तथा पथ-प्रदर्शक भगवान श्रीरामकृष्ण परमहंस देव को भी अपनी श्रद्धांजलि अर्पित करें। हम तो यह कहेंगे कि मुख्यतः उन्हीं के कारण हमें आपकी प्राप्ति हुई है। अपनी अद्वितीय दैवी शक्ति द्वारा उन्होंने आपमें उस दैवी ज्योति का अंश शीघ्र ही पहचान लिया था और आपके निमित्त एक उस उच्च जीवन की भविष्य-वाणी कर दी थी जिसे आज हम हर्षपूर्वक सफल होती देख रहे हैं। यह वे ही थे जिन्होंने आपकी छिपी हुई दैवी शक्ति तथा दिव्य दृष्टि को आपके लिए खोल दिया, आपके विचारों एवं जीवन के उद्देशों को दैवी झुकाव दे दिया तथा उस अदृश्य राज्य के तत्वों के अन्वेषण में आपको सहायता प्रदान की। भावी सन्तान के लिए उनकी ओर से जो अमूल्य देन रही वह आप ही हैं।

हे महात्मन्! बहादुरी के साथ, उसी मार्ग पर बढ़े चलिए जो आपने अपने कार्य के निमित्त चुना है। आपके सम्मुख सारा संसार जीतने को है। हिन्दू धर्म का संदेश आपको अनभिज्ञ से लेकर, नास्तिक तथा जानबूझकर जो अंधा बना है उस तक पहुँचाना है। जिस उत्साह से आपने कार्य आरम्भ किया उससे हम मुग्ध हो गए हैं और आपने जो सफलता भी प्राप्त कर ली है वह कितने ही देशों को ज्ञात है। परन्तु अभी भी कार्य का काफी अंश शेष है और उसके लिए हमारा देश, बल्कि हम कह सकते हैं आपका ही देश आपकी ओर निहार रहा है। हिन्दू धर्म के सिद्धान्तों का प्रतिपादन तथा प्रचार अभी कितने ही हिन्दुओं के निकट आपको करना है। अतएव आप इस महान् कार्य में ही जुट जाइये। हमें आपमें तथा अपने इस सत्कार्य के ध्येय में पूर्ण विश्वास है। हमारा जातीय धर्म इस बात का इच्छुक नहीं है कि उसे कोई भौतिक विजय प्राप्त हो। इसका ध्येय तो सदैव आध्यात्मिकता, सत्य ही रहा है जो इन चर्मचक्षुओं से परे है तथा जो केवल ज्ञान-दृष्टि से ही देखा जा सकता है। आप समग्र संसार को और जहाँ जहाँ आवश्यक हो, हिन्दुओं को भी जगा दीजिए ताकि वे अपने ज्ञानचक्षु खोलें, इन्द्रियों से परे हो जायँ, धार्मिक ग्रन्थों का उचित रूप से अध्ययन करें, एक मात्र सत्य-रूप परमेश्वर को प्राप्त करने की चेष्टा करें तथा इस बात को अनुभव करें कि मनुष्य होने के नाते उनका क्या कर्तव्य है तथा क्या स्थान है। महाराज, इस प्रकार की जागृति कराने के लिए या उन्हें पुकारने के लिए आप से बढ़कर अधिक योग्य कोई नहीं है। अपनी ओर से हम आपको यह सदैव ही पूर्ण विश्वास दिलाते हैं कि आपके उस सत्कार्य में, जिसका बीड़ा आपने स्पष्टतः दैवी प्रेरणा से उठाया है, हमारा सदैव ही हार्दिक, भक्तिपूर्ण तथा सेवा-रूप में विनम्र सहयोग रहेगा।

परम प्रिय बंधु,
हम हैं,
आपके प्रिय मित्र तथा भक्तगण

कलकत्ता-अभिनन्दन का उत्तर

अपनी मुक्ति की चेष्टा में मनुष्य जगत्-प्रपञ्च का कुल सम्बन्ध छोड़ देना चाहता है; वह अपने आत्मीय-स्वजन, स्त्री-पुत्र और बन्धु बान्धवों की माया काटकर संसार से दूर — बहुत दूर भाग जाना चाहता है। वह दैहिक सम्पूर्ण सम्बन्धों — पुराने सम्पूर्ण संस्कारों को छोड़ने की चेष्टा करता है। यहाँ तक कि वह साढ़े तीन हाथ का एक देहधारी मनुष्य है, इसे भूलने का भी भरसक प्रयत्न करता है, परन्तु उसके अन्तर के अन्तर में सदा ही एक मृदु अस्फुट ध्वनि उसे सुनाई पड़ती है, उसके कानों में सदा ही एक स्वर बजता रहता है, न जाने कौन दिनरात उसके कानों में मधुर स्वर से कहता रहता है, 'जननी जन्मभूमिश्च स्वर्गादपि गरीयसी।" हे भारत-साम्राज्य की राजधानी के अधिवासियो! तुम्हारे पास मैं संन्यासी के रूप में नहीं आ रहा, धर्मप्रचारक की हैसियत से भी नहीं, किन्तु तुम्हारे पास पहले की तरह कलकत्ते के उसी बालक के रूप में आलाप करने के लिए आया हुआ हूँ। भाइयो! मेरी इच्छा होती है, आज इस नगर के रास्ते की धूल पर बैठकर बालक की तरह सरल अन्तःकरण से तुमसे अपने मन की सब बातें खोलकर कहूँ। तुम लोगों ने मुझे भाई कहकर सम्बोधन किया है, इसके लिए तुम्हें हृदय के साथ धन्यवाद देता हूँ। हाँ, मैं तुम्हारा भाई हूँ, तुम भी मेरे भाई हो। पश्चिमी देशों से लौटने के कुछ ही समय पहले एक अंग्रेज मित्र ने मुझसे पूछा था, "स्वामीजी, चार वर्षों तक विलास की लीलाभूमि गौरवशाली महाशक्तिमान पश्चिमी भूमि पर भ्रमण कर चुकने पर आपकी मातृभूमि अब आपको कैसी लगेगी?" मैंने कहा, "पश्चिम में आने से पहले भारत को मैं प्यार ही करता था, अब तो भारत की धूलि भी मेरे लिए पवित्र है, भारत की हवा अब मेरे निकट पवित्रता से मिली हुई है, भारत अब मेरे निकट तीर्थ-सा है।" इसके सिवा और कोई उत्तर मुँह में न आया।

मैं कलकत्तावासी बालक के रूप में तुम्हारे निकट आया हूँ।

हे कलकत्तावासियो, मेरे भाइयो, तुम लोगों ने मेरे प्रति जो अनुग्रह दिखाया है, उसके लिए तुम्हारे प्रति कृतज्ञता प्रकट करने में मैं असमर्थ हूँ। अथवा तुम्हें धन्यवाद ही क्या दूँ, क्योंकि तुम मेरे भाई हो — यथार्थ भाई का, हिन्दू भाई ही का काम तुमने किया है, कारण, ऐसा पारिवारिक बन्धन, ऐसा सम्बन्ध, ऐसा प्रेम मेरी मातृभूमि की सीमा के बाहर और कहीं नहीं है।

शिकागो की धर्म-महासभा निस्सन्देह एक विराट अधिवेशन थी। भारतवर्ष के कितने ही नगरों से हम लोगों ने इस सभा के उद्योगियों को धन्यवाद दिया है। हम लोगों के प्रति उन्होंने जैसी दया प्रकाशित की है, उसके लिए वे धन्यवाद के पात्र भी हैं, परन्तु इस धर्म-महासभा का यथार्थ इतिहास, यथार्थ उद्देश्य मैं तुम्हें सुना देना चाहता हूँ। उनकी इच्छा थी कि वे अपनी प्रभुता की प्रतिष्ठा करें। महासभा के कुछ अधिकांश आदमियों की इच्छा थी, ईसाई धर्म की प्रतिष्ठा और दूसरे धर्मों को हास्यापद सिद्ध करें। परन्तु फल कुछ और ही हुआ। विधाता की विधि में वैसा होना ही था। मेरे प्रति अनेकों ने सदय व्यवहार किया था। उन्हें यथेष्ट धन्यवाद दिया जा चुका है। यथार्थ बात यह है — मैं धर्म-महासभा का उद्देश्य लेकर अमेरिका नहीं गया। वह सभा तो एक गौण व्यापार मात्र थी, उससे हमारा रास्ता बहुत कुछ साफ हो गया और कार्य करने की बहुत कुछ सुविधा हो गई, इसमें सन्देह नहीं। इसके लिए हम भी महासभा के सदस्यों के विशेष रूप से कृतज्ञ हैं।

शिकागो धर्म-महासभा का यथार्थ इतिहास।

सहृदय अमेरिकन जाति।

परन्तु वास्तव में हमारा धन्यवाद युक्तराज्य के निवासी, सहृदय, आतिथेय, महान् अमेरिकन जाति को मिलना चाहिए जिसमें दूसरी जातियों की अपेक्षा भ्रातृभाव का अधिक विकास हुआ है। किसी अमेरिकन के साथ रेलगाड़ी पर पाँच मिनट बातचीत होने से वे तुम्हारे मित्र हो जायेंगे और अतिथि के रूप में निमन्त्रित करके तुम्हें अपने घर ले जाकर हृदय की बात खोलकर कहेंगे। यही

अमेरिकन चरित्र का लक्षण है, और हम इसे खूब पसन्द करते हैं। मेरे प्रति उन्होंने जो दया दिखलाई उसका वर्णन नहीं हो सकता। मेरे साथ उन्होंने कैसा अपूर्व दयापूर्ण व्यवहार किया, उसे प्रकट करने में मुझे कई वर्ष लग जायँगे।

परन्तु केवल अमेरिकनों को धन्यवाद देने से नहीं चलेगा; अटलान्टिक महासागर के दूसरे पार में रहनेवाली अंग्रेज जाति को भी हमें उसी तरह धन्यवाद देना चाहिए। अंग्रेज जाति पर मुझसे अधिक घृणा का भाव लेकर ब्रिटिश भूमि पर कभी किसी ने पैर न रखे होंगे; इस वक्तृता-मञ्च पर जो अंग्रेज बन्धु हैं वे ही इसकी साक्ष्य देंगे। परन्तु जितना ही मैं उन लोगों के साथ एकत्र रहने लगा, जितना ही उनके साथ मिलने लगा, जितना ही ब्रिटिश जाति के जीवनयन्त्र की गति पर लक्ष्य करने लगा, उस जाति का हृदय-स्पन्दन किस जगह हो रहा है, यह जितना ही समझने लगा, उतना ही उन्हें प्यार करने लगा। अब हे भाइयो, यहाँ ऐसा कोई न होगा जो मुझसे ज्यादा अंग्रेजों को प्यार करता हो। उनके सम्बन्ध में यथार्थ ज्ञान प्राप्त करने के लिए यह जानना आवश्यक है कि वहाँ क्या क्या हो रहा है और साथ ही हमें उनके साथ रहना भी होगा। हमारे जातीय दर्शनशास्त्र वेदान्त ने जिस तरह सम्पूर्ण दुःख को अज्ञान-प्रसूत कहकर सिद्धान्त स्थिर किया है, उसी तरह अंग्रेज और हमारे बीच का विरोध-भाव भी प्रायः अज्ञानजन्य है — यही समझना चाहिए। न हम उन्हें जानते हैं, न वे हमें।

भावगोपन में अभ्यस्त अंग्रेज जाति।

दुर्भाग्य की बात है, पश्चिमी देशवालों की ऐसी धारणा है कि आध्यात्मिकता, यहाँ तक कि नीति भी, सांसारिक उन्नति के साथ चिरसंश्लिष्ट है। और जब कभी कोई अंग्रेज या कोई दूसरे पाश्चिमी महाशय भारत आते हैं और यहाँ दुःख और दारिद्र्य को अबाध राज्य करते देखते हैं, तो वे तुरन्त सिद्धान्त कर देते हैं कि इस देश में धर्म की तो बात क्या, नीति भी नहीं टिक

अज्ञान ही प्राच्य और पाश्चात्य जाति के परस्पर विद्वेष का मूल है।

सकती। उनकी अपनी अभिज्ञता निस्सन्देह सत्य है। यूरोप की शैत्यप्रधान जलवायु और दूसरे अनेक कारणों से वहाँ दारिद्र्य और पाप एक जगह रहते देखे जाते हैं, परन्तु भारत में ऐसा नहीं। मेरी अभिज्ञता यह है, भारत में जो जितना दरिद्र है, वह उतना ही अधिक साधु है। परन्तु इसको जानने के लिए समय की जरूरत है। भारत के जातीय जीवन का यह गुप्त रहस्य समझने के लिए कितने विदेशी दीर्घकाल तक भारत में रहकर प्रतीक्षा करने के लिए तैयार हैं? इस जाति के चरित्र का धैर्य के साथ अध्ययन करें और समझें ऐसे मनुष्य थोड़े ही हैं। यहीं, केवल यहीं ऐसी जाति का वास है, जिसके निकट दारिद्र्य और पाप का एक ही अर्थ नहीं लगाया जाता। इतना ही नहीं, दारिद्र्य को यहाँ बड़ा ऊँचा आसन दिया जाता है। यहाँ दरिद्र संन्यासी के वेश को ही सब से ऊँचा स्थान मिलता है। इसी तरह हमें भी पश्चिमी सामाजिक रीतिरिवाजों का अध्ययन बड़े धैर्य के साथ करना होगा। उनके सम्बन्ध में एकाएक कोई सिद्धान्त कर लेना ठीक न होगा। उनके स्त्री-पुरुषों का हेलमेल और दूसरे दूसरे व्यवहार, सब एक खास अर्थ रखते हैं, सबमें एक पहलू अच्छा भी होता है, तुम्हें केवल यत्नपूर्वक धैर्य के साथ उसकी आलोचना करनी होगी। मेरे इस कथन का यह उद्देश नहीं कि हमें उनके आचार-व्यवहारों का अनुकरण करना है, अथवा वे हमारे आचारों का अनुकरण करेंगे। सभी जातियों के आचार-व्यवहार शताब्दियों के मन्द मन्द गति से होनेवाले क्रमविकास के फलस्वरूप हैं, और सभी में एक गम्भीर अर्थ रहता है। अतएव न हमें उनके आचार-व्यवहारों का उपहास करना चाहिए और न उन्हें हमारे आचार-व्यवहारों का।

मैं इस सभा के समक्ष एक और बात कहना चाहता हूँ। मेरे मत में अमेरिका की अपेक्षा इङ्गलैण्ड में मेरा काम और अधिक सन्तोषकर हुआ है।

निर्भीक अध्यवसायशील अंग्रेज जाति के मस्तिष्क में यदि किसी तरह एक बार कोई भाव संचारित किया जा सके (उसकी खोपड़ी यद्यपि दूसरी जातियों की अपेक्षा स्थूल है—कोई भाव सहज ही नहीं समाना चाहता परन्तु अध्यवसायपूर्वक इस खोपड़ी का भेद कर उसके मस्तिष्क में यदि किसी भाव का प्रवेश करा दिया जाय) तो वह वहीं रह जाता है, कभी बाहर नहीं होता और उस जाति की असीम कार्यकारिणी शक्ति के बल से बीजरूप से समाये हुए उस भाव से अंकुर का उद्गम होता और बहुत जल्द वह फल प्रसव करता है। ऐसा किसी दूसरे देश में नहीं है। इस जाति की जैसी असीम कार्यकारिता और जीवनी-शक्ति है, वैसी तुम और दूसरी किसी जाति में न देखोगे। इस जाति की कल्पनाशक्ति कम है और कार्यकारिणी शक्ति बहुत। और कौन जान सकता है, इस अंग्रेज हृदय का गुप्त प्रस्रवण—झरना—कहाँ है? उसके हृदय के गहन प्रदेश में, कौन समझ सकता है, कितनी कल्पनाएँ और भावोच्छ्वास छिपे हुए हैं? वह वीरों की जाति है, वे यथार्थ क्षत्रिय हैं, भाव छिपाना—कभी न दिखाना उनकी शिक्षा है; बचपन से उन्हें यही शिक्षा मिली है। बहुत कम अंग्रेज देखने को मिलेंगे जिन्होंने कभी अपने हृदय का भाव प्रकाशित किया होगा। पुरुषों की तो बात ही क्या, अंग्रेज स्त्रियाँ भी कभी हृदय के उच्छ्वास को ज़ाहिर नहीं होने देतीं। मैंने अंग्रेज महिलाओं को ऐसे भी कार्य करते हुए देखा है जिन्हें करने में अत्यन्त साहसी बंगाली भी पीठ फेरेंगे। इसी वीरत्व की इमारत के नीचे, इसी क्षत्रियोचित कठिनता के पर्दे में, अंग्रेज-हृदय के भाव-वारि का गम्भीर प्रस्रवण छिपा हुआ है। यदि आप एक बार भी उसके पास पहुँच सकें, यदि एक बार भी अंग्रेजों के साथ आपकी घनिष्ठता हो जाय, यदि उनके साथ आप मिलें, यदि उनसे एक बार भी अपने सम्मुख उनके हृदय की बात व्यक्त करवा सकें, तो वे आपके परम मित्र हो जायेंगे, सदा के लिए आपके दास हो जायेंगे।

मेरी राय में इंग्लैण्ड में मेरा प्रचार-कार्य अधिक स्थायी होगा।

इस कारण से मेरे मत में दूसरे स्थानों की अपेक्षा इंग्लैण्ड में मेरा प्रचारकार्य अधिक सन्तोषजनक हुआ है। मेरा दृढ़ विश्वास है कि अगर कल मेरा शरीर छूट जाय, तो मेरा प्रचारकार्य इंग्लैण्ड में अक्षुण्ण रहेगा और क्रमशः विस्तार लाभ करता जायेगा।

मेरे आचार्य श्रीरामकृष्ण परमहंस देव।

हे सज्जनो, आप लोगों ने मेरे हृदय की एक दूसरी तन्त्री — सर्वापेक्षा गम्भीरतम तन्त्री को स्पर्श किया है — वह है मेरे गुरुदेव, मेरे आचार्य, मेरे जीवनादर्श, मेरे इष्ट, मेरे प्राणों के देवता श्रीरामकृष्ण परमहंस देव का उल्लेख। यदि मनसा-वाचा-कर्मणा मैंने कोई सत्कार्य किया हो, यदि मेरे मुँह से कोई ऐसी बात निकली हो जिससे संसार के किसी भी मनुष्य का कुछ उपकार हुआ हो, तो उसमें मेरा कुछ भी गौरव नहीं, वह उनका है। परन्तु यदि मेरी जिह्वा ने कभी अभिशाप की वर्षा की हो, यदि मुझसे कभी किसी के प्रति घृणा का भाव निकला हो, तो वे मेरे हैं, उनके नहीं। जो कुछ दुर्बल और दोषावह है, सब मेरा है, पर जो जीवनप्रद है, बलप्रद है, जो कुछ पवित्र है, वह सब उन्हींकी शक्ति का खेल है, उन्हींकी वाणी है और वे स्वयं हैं। हे मित्रो, यह सत्य है कि संसार अभी तक उन महापुरुष से परिचित नहीं हुआ। हम लोग इतिहास में शत शत महापुरुषों की जीवनी पढ़ते हैं। इस समय जिस रूप में हमें उनकी जीवनियाँ मिलती हैं उसमें शताब्दियों तक लगातार उनके शिष्यों-प्रशिष्यों के लेखनी-संचालन का ही परिचय मिलता है। हजारों वर्ष तक लगातार उन लोगों ने उन प्राचीन महापुरुषों के जीवन-चरितों को काट छाँटकर दुरुस्त बना लिया है। परन्तु इतने पर भी जो जीवन मैंने अपनी आँखों देखा है, जिसकी छाया में मैं रह चुका हूँ, जिनके पदप्रान्त में बैठकर मैंने सब सीखा है, उन श्रीरामकृष्ण परमहंस देव का जीवन जैसा उज्ज्वल और महिमान्वित है, वैसा मेरे मत में और किसी महापुरुष का नहीं।

भाइयो, तुम सभी गीता की वह प्रसिद्ध वाणी जानते हो —

"यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम्॥
परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृतां।
धर्मसंस्थापनार्थाय सम्भवामि युगे युगे॥" *

"जब जब धर्म की ग्लानि और अधर्म का अभ्युत्थान होता है, तब तब मैं शरीर धारण करता हूँ। साधुओं का परित्राण करने, असाधुओं का नाश करने और धर्म की स्थापना करने के लिए विभिन्न युगों में मैं आया करता हूँ।"

इसके साथ एक और बात आपको समझनी होगी; वह यह कि आज ऐसी ही वस्तु हमारे सामने मौजूद है। इस तरह की एक धर्म की बाढ़ के

महाशक्ति के आधार श्रीरामकृष्ण परमहंस देव।

प्रबल वेग से आने के पहले समाज में कुछ छोटी छोटी तरंगें उठती दीख पड़ती हैं। इनमें से एक तरंग — जिसका अस्तित्व शायद पहले किसी के ध्यान में भी नहीं आया, जिसे कोई भी अच्छी तरह नहीं जान पाया, जिसकी गूढ़ शक्ति के सम्बन्ध में किसी ने स्वप्न में भी नहीं सोचा — क्रमशः प्रबल होती रहती है, अन्यान्य छोटी छोटी तरङ्गों को निगलकर मानो वह अपने अंग में मिला लेती है। इस तरह अत्यन्त विपुलकाय और प्रबल होकर वह एक बहुत बड़ी बाढ़ के रूप में समाज पर इस वेग से गिरती है कि कोई उसकी गति को रोक नहीं सकता। इस समय भी वैसा ही हो रहा है। यदि तुम्हारी आँखें होंगी तो तुम उसे अवश्य देखोगे। यदि तुम्हारा हृदय-द्वार मुक्त होगा तो तुम उसका अवश्य ग्रहण करोगे, यदि तुममें सत्य की खोज होगी, तो तुम्हें उसका सन्धान अवश्य मिलेगा। अन्धा है, वह निरा अन्धा है, जो समय के चिह्न नहीं देख रहा है, नहीं समझ रहा है। क्या तुम नहीं

* गीता, ४। ७–८

देखते हो, वह दरिद्र ब्राह्मण बालक जो एक दूर गाँव में — जिसका नाम भी तुमने न सुना होगा — दरिद्र माता-पिता के घर पैदा हुआ था, इस समय सम्पूर्ण संसार में पूजा जा रहा है, और उसे वे पूजते हैं, जो शताब्दियों से मूर्तिपूजा के विरोध में आवाज उठाते आये हैं? यह किसकी शक्ति है? यह तुम्हारी शक्ति है या मेरी? नहीं, यह और किसी की शक्ति नहीं। जो शक्ति यहाँ श्रीरामकृष्ण परमहंस के रूप में आविर्भूत हुई थी, यह वही शक्ति है; और मैं, तुम, साधु, महापुरुष, यहाँ तक कि अवतार और सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड भी उसी शक्ति का विकास मात्र हैं; वह शक्ति कहीं कम और कहीं अधिक पुँजीकृत — घनीभूत है। इस समय हम लोग उस महाशक्ति की लीला का आरम्भ मात्र देख रहे हैं। वर्तमान युग का अन्त होने के पहले ही तुम लोग इसकी अधिकाधिक आश्चर्यमयी लीलाएँ देख पाओगे। भारतवर्ष के पुनरुत्थान के लिए इस शक्ति का विकास ठीक ही समय पर हुआ है। जो मूल जीवनी-शक्ति भारत को सदा संजीवित रखेगी उसकी बात कभी कभी हम लोग भूल जाते हैं।

प्रत्येक जाति के लिए उद्देश्य-साधन की अलग अलग कार्यप्रणालियाँ हैं। कोई राजनीति, कोई समाज-संस्कार और कोई किसी दूसरे विषय को अपना प्रधान आधार मानकर कार्य करता है। हमारे लिए, धर्म के भीतर से विना हुए, कार्य करने का दूसरा उपाय नहीं है। अंग्रेज राजनीति की सहायता से धर्म समझते हैं, अमेरिकन शायद समाज-संस्कार की सहायता से सहज में धर्म समझ सकते हैं, परन्तु हिन्दू राजनीति, समाज-संस्कार और दूसरा जो कुछ है, सबको धर्म के भीतर विना ले गये, नहीं समझ सकते। जातीय जीवन-संगीत का मानो यही प्रधान स्वर है, दूसरे मानो उसीके कुछ परिवर्तित किये हुये रूप हैं और उसीके नष्ट होने की शंका हो रही थी। हम लोग मानो अपने जातीय जीवन के इस मूल भाव को हटाकर उसकी जगह एक दूसरा भाव स्थापित करने जा रहे थे; हम लोग जिस मेरुदण्ड के बल से खड़े हुए हैं, मानो उसकी जगह दूसरा

स्थापित करने जा रहे थे, अपने जातीय जीवन के धर्मरूप मेरुदण्ड की जगह राजनीति का मेरुदण्ड स्थापित करने जा रहे थे। यदि इसमें हमें सफलता मिलती, तो इसका फल यह होता कि हम समूल ही विनष्ट हो जाते; परन्तु ऐसा होनेवाला नहीं था। यही कारण है कि इस महाशक्ति का प्रकाश हुआ। तुम चाहे जिस भाव से इस महापुरुष को स्वीकार करो, उस पर मैं ध्यान नहीं देता; उस पर तुम्हारी थोड़ी बहुत भक्ति हो या न हो, इससे कुछ नहीं आता जाता। मैं ज़ोर देकर तुमसे यही कहूँगा कि कई शताब्दियों तक भारत में ऐसी अद्भुत महाशक्ति का विकास नहीं हुआ। और जब कि तुम हिन्दू हो, तब इस शक्ति के द्वारा केवल भारत ही नहीं, किन्तु सम्पूर्ण मनुष्य-जाति की उन्नति और मंगल किस तरह साधित हो रहा है, इसे जानने के लिए तुम्हें इस शक्ति के सम्बन्ध में पूरी आलोचना करनी चाहिए। मैं तुमको विश्वास दिलाता हूँ कि संसार के किसी देश में सार्वभौमिक धर्म और विभिन्न सम्प्रदायों में भ्रातृभाव के प्रसंग के उत्थापित और आलोचित होने के बहुत पहले ही, इस नगर के पास एक ऐसे महापुरुष थे जिनका सम्पूर्ण जीवन एक आदर्श धर्म-महासभा का स्वरूप था।

एक सगुण आदर्श का प्रयोजन है।

भद्र महोदयगण, हमारे शास्त्रों में सबसे बड़ा आदर्श निर्गुण ब्रह्म है, और ईश्वर की इच्छा से यदि सभी निर्गुण ब्रह्म को प्राप्त कर सकते तब तो बात ही कुछ और थी, परन्तु चूँकि ऐसा नहीं होने का, इसलिए सगुण आदर्श का रहना मनुष्यजाति में अनेकों के लिए बहुत आवश्यक है। इस तरह के किसी महान् आदर्श-पुरुष पर हार्दिक अनुराग रखते हुए उनकी पताका के नीचे आश्रय लिये बिना कोई भी जाति नहीं उठ सकती, कोई भी जाति नहीं बढ़ सकती, यहाँ तक कि वह बिलकुल काम ही नहीं कर सकती। राजनैतिक, सामाजिक या वाणिज्य, किसी भी क्षेत्र के कोई भी आदर्श पुरुष सर्वसाधारण भारतवासियों के ऊपर कभी भी अपना प्रभाव विस्तारित नहीं कर सकते। हमें चाहिये आध्यात्मिक आदर्श। उन्नत अध्यात्मराज्य के पारदर्शी महापुरुषों के नाम पर हमें

सम्मिलित होना चाहिये—हमें मस्त हो जाना चाहिये। हमारे आदर्श-पुरुष धर्मवीर होने चाहिये। श्रीरामकृष्ण परमहंस देव में हमें एक ऐसा ही धर्मवीर—एक ऐसा ही आदर्श मिला है। यदि यह जाति उठना चाहती है, तो मैं निश्चयपूर्वक कहूँगा, इस नाम से सभी को प्रेमोन्मत्त हो जाना चाहिये। श्रीरामकृष्ण परमहंस देव का प्रचार हम, तुम या चाहे जो कोई करे, इससे कुछ होना जाना नहीं; तुम्हारे सामने मैं इस महान् आदर्श-पुरुष को रखता हूँ, लो, अब विचार का भार तुम पर है। इस महान् आदर्श-पुरुष को लेकर क्या करोगे, इसका निश्चय तुम्हें अपनी जाति के कल्याण के लिए अभी कर डालना चाहिए। एक बात हमें याद रखनी चाहिए, और मैं स्पष्ट रूप से कहता हूँ, तुम लोगों ने जितने महापुरुष देखे हैं, अथवा जितने महापुरुषों के जीवन-चरित पढ़े हैं, उनमें इनका जीवन सब से पवित्र है, और यह तो स्पष्ट ही है कि ऐसा अद्भुत आध्यात्मिक शक्ति का विकास तुम्हारे देखने की तो बात ही अलग, तुमने कभी पढ़ा भी न होगा। उनके तिरोभाव के दस वर्ष के भीतर ही इस शक्ति ने सम्पूर्ण संसार घेर लिया है, यह तुम प्रत्यक्ष कर रहे हो। अतएव कर्तव्य की प्रेरणा से अपनी जाति और धर्म की भलाई के लिए मैं यह महान् आध्यात्मिक आदर्श तुम्हारे सामने स्थापित करता हूँ। मुझे देखकर उसका विचार न करना। मैं एक बहुत ही क्षुद्र यन्त्र मात्र हूँ। उनके चरित का विचार मुझे देखकर न करना। वे इतने बड़े थे कि मैं, या उनके शिष्यों में कोई दूसरा, सैकड़ों जीवनों तक चेष्टा करते रहने पर भी उनके यथार्थ स्वरूप के एक करोड़वें अंश के बराबर भी न हो सकेंगे। तुम लोग स्वयं ही विचार करो। तुम्हारे हृदय के अन्तस्तल में 'सनातन साक्षी' वर्तमान हैं, और मैं हृदय से प्रार्थना करता हूँ, हमारी जाति के कल्याण के लिए, हमारे देश की उन्नति के लिए तथा समग्र मानव जाति के हित के लिए वही श्रीरामकृष्ण परमहंस देव तुम्हारा हृदय खोल दें; और हम कुछ करें या न करें, जो महायुगान्तर अवश्यम्भावी है, उसकी सहायता के लिए वे तुम्हें निष्कपट और दृढ़व्रत करें।

तुम्ह और हमें रुचे या न रुचे, इससे प्रभु का कार्य रुक नहीं सकता, अपने कार्य के लिए वे धूलि से भी हजारों कर्मी पैदा कर दे सकते हैं। उनकी अधीनता में कार्य करना तो हमारे परम सौभाग्य और गौरव की बात है।

तुम लोगों ने कहा है, हमें सम्पूर्ण संसार जीतना है। हाँ, यह हमें करना ही होगा। भारत को अवश्य ही संसार पर विजय प्राप्त करनी है। इसकी अपेक्षा किसी छोटे आदर्श से मुझे कदापि सन्तोष न होगा। यह आदर्श, सम्भव है बहुत बड़ा हो; और तुममें से अनेकों को यह सुनकर आश्चर्य होगा, किन्तु हमें इसे ही अपना आदर्श बनाना है। या तो हम सम्पूर्ण संसार पर विजय प्राप्त करेंगे या चिरकाल के लिए ही मिट जायेंगे। इसके सिवा और कोई रास्ता नहीं है। जीवन का चिह्न है विस्तार। हमें संकीर्ण सीमा के बाहर जाना होगा, हृदय का प्रसार करना होगा, और यह दिखाना होगा कि हम जीवित हैं, अन्यथा हमें इसी नीच दशा में सड़कर मरना होगा। और कोई उपाय नहीं है। इन दोनों में एक करो, बचो या मरो।

हमारा आदर्श है समग्र जगत्-विजय।

छोटी छोटी बातों को लेकर हमारे देश में जो द्वेष और कलह हुआ करता है, वह हम लोगों में सभी को मालूम है। परन्तु मेरी बात मानो, ऐसा सभी देशों में हुआ करता है। जिन सब जातियों के जातीय जीवन का मेरु-दण्ड राजनीति है वे सब जातियाँ आत्मरक्षा के लिए वैदेशिक नीति (Foreign Policy) का सहारा लिया करती हैं। जब उनके अपने देश में आपस का विवाद आरम्भ हो जाता है, तब वे किसी विदेशी जाति के साथ विवाद की सूचना फैलाते रहते हैं, इस तरह तत्काल घरेलू लड़ाई बन्द हो जाती है। हमारे भीतर भी गृह-विवाद है, परन्तु उसे रोकने के लिए कोई वैदेशिक नीति नहीं है। संसार की सम्पूर्ण जातियों में हमारे शास्त्रों का सत्य-प्रचार ही हमारी सनातन वैदेशिक नीति हो। यह हमें एक

हमारी वैदेशिक नीति (Foreign Policy)।

अखण्ड जाति के रूप में संगठित करेगी। क्या इसके लिए और भी प्रमाण देने की आवश्यकता है? तुममें से जिनका सम्बन्ध राजनीति से है, उन्हींसे मेरा प्रश्न है, क्या वे कोई और प्रमाण चाहते हैं? आज की इस सभा से ही मेरी बात का यथेष्ट प्रमाण मिल रहा है।

दूसरे, इन सब स्वार्थपूर्ण विचारों को छोड़ देने पर भी हमारे पीछे निःस्वार्थ, महान् और सजीव दृष्टान्त मौजूद पाये जाते हैं। भारत के पतन और दारिद्र्य-दुःख का प्रधान कारण यह है कि घोंघे की तरह अपना सर्वाङ्ग समेटकर उसने अपना कार्यक्षेत्र संकुचित कर लिया था तथा आर्येतर दूसरी जातियों के लिए, जिन्हें सत्य की तृष्णा थी, अपने जीवनप्रद सत्य-रत्नों का भाण्डार नहीं खोला था। हमारे पतन का एक और प्रधान कारण यह भी है कि हम लोगों ने बाहर जाकर दूसरी जातियों से अपनी तुलना नहीं की और तुम लोग जानते हो, जिस दिन से राजा राममोहन राय ने संकीर्णता की दीवारें तोड़ीं उसी दिन से आज भारत में सर्वत्र जो थोड़ी सी गतिशीलता — थोड़ा सा जीवन दिखाई दे रहा है, उसका उद्भव हुआ, उसी दिन से भारतवर्ष के इतिहास ने एक दूसरा मार्ग पकड़ा और इस समय भारत क्रमशः उन्नति के पथ पर अग्रसर हो रहा है। अतीत काल में यदि छोटी छोटी नदियाँ ही यहाँवालों ने देखी हों, तो समझना, अब बहुत बड़ी बाढ़ आ रही है, और कोई भी उसकी गति रोक न सकेगा। अतएव तुम्हें विदेश जाना होगा।

विदेश में धर्म-प्रचार द्वारा हमारी संकीर्णता दूर होगी।

और आदान-प्रदान ही अभ्युदय का मूल कारण है। क्या हम लोग सदा ही पाश्चात्यवासियों के पदप्रान्त में बैठकर ही सब बातें, यहाँ तक कि धर्म भी, सीखेंगे? हाँ, हम उन लोगों से कल-कारखाने के काम सीख सकते हैं और भी दूसरी बहुत सी बातें उनसे सीख सकते हैं, परन्तु हमें भी उन्हें कुछ सिखाना चाहिए। हम उन्हें अपना धर्म, अपनी

पाश्चात्य जाति से केवल सीखने से ही नहीं होगा, कुछ सिखाना भी होगा।

गम्भीर आध्यात्मिकता सिखायेंगे। संसार सर्वाङ्गीण सभ्यता की अपेक्षा कर रहा है। उत्तराधिकार के सूत्र से भारत को उसके पूर्वजों से धर्मरूपी जो अमोल रत्न मिले हैं, उनकी ओर संसार सतृष्ण नेत्रों से हेर रहा है। शत शत शताब्दियों की अवनति, दुःख और दुर्भाग्य के आवर्त में पड़कर भी हिन्दू जाति यत्नपूर्वक जिन्हें हृदय से लगाये हुए हैं, उन्हीं रत्नों की आशा से संसार उसकी ओर आग्रह की दृष्टि से निहार रहा है।

तुम्हारे पूर्वजों के उन्हीं अपूर्व रत्नों के लिए भारत से बाहर के मनुष्य किस तरह उद्ग्रीव हो रहे हैं, यह मैं तुम्हें कैसे समझाऊँ? यहाँ हम अनर्गल बकवास किया करते हैं, आपस में झगड़ते रहते हैं, जितने सब गम्भीर श्रद्धा के विषय हैं, उन्हें हँसकर उड़ा देते हैं — इस समय यह हँसकर उड़ा देना एक जातीय पाप हो गया है। अस्तु, इसी भारत में हमारे पूर्वज जो संजीवक अमृत रख गये हैं, उसका एक कण पाने के लिए भी भारत से बाहर के लाखों मनुष्य कितने आग्रह के साथ हाथ फैलाये हुए हैं, — वह कितना आग्रह है, यह कैसे हमारी समझ में आ सकता है? अस्तु, इसलिए हमें भारत के बाहर जाना ही होगा। हमारी आध्यात्मिकता के बदले में वे जो कुछ दें, वही हमें लेना होगा। चैतन्यराज्य के अपूर्व तत्वसमूहों के बदले हम जड़-राज्य के अद्भुत तत्वों की शिक्षा प्राप्त करेंगे। चिर काल तक शिष्य रहने से हमारा काम न होगा, हमें आचार्य भी होना होगा। समभाव के न रहने से कभी मित्रता नहीं होती। और जब मनुष्यों का एक दल सदा ही आचार्य का आसन पाता रहता है और दूसरा दल सदा ही उसके पदप्रान्त में बैठकर शिक्षा-ग्रहण किया करता है, तब दोनों में कभी समभाव की स्थापना नहीं हो सकती। यदि अंग्रेज और अमेरिकन जाति से समभाव रखने की तुम्हारी इच्छा हो, तो जिस तरह तुम्हें उनसे शिक्षा प्राप्त करनी है, उसी तरह उन्हें शिक्षा

भारत का धर्म ग्रहण करने के लिए भारतेतर देश अतिशय आग्रहवान हैं।

देनी भी होगी, और अब भी शत शत शताब्दियों तक संसार को शिक्षा देने के विषय तुम्हारे पास यथेष्ट हैं। इस समय यही करना होगा।

'भावुक' बंगाली जाति ही समग्र जगत् में धर्म-प्रचार-कार्य के लिए उपयुक्त है।

उत्साह की आग हमारे हृदय में जलनी चाहिए। हम बङ्गालियों को कल्पना-शक्ति के लिए प्रसिद्धि मिल चुकी है और मुझे विश्वास है कि यह शक्ति हममें है भी। कल्पनाप्रिय भावुक जाति कहकर हमारा उपहास भी किया जाता है। परन्तु, मित्रो! मैं तुमसे कहूँगा कि यह उपहास का विषय नहीं है, क्योंकि हृदय के प्रबल उच्छ्वास से ही हृदय में तत्त्वालोक का स्फुरण होता है। बुद्धि का आसन ऊँचा है, इसमें सन्देह नहीं; परन्तु यह अपनी परिमित सीमा के बाहर नहीं बढ़ सकती। हृदय—केवल हृदय के भीतर से ही दैवी प्रेरणा का स्फुरण होता है, और उसकी अनुभव-शक्ति से ही उच्चतम जटिल रहस्यों की मीमांसा होती है, इसीलिए 'भावुक' बंगालियों को ही यह काम करना होगा।

कलकत्तानिवासी युवकगण, उठो।

"उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान्निबोधत"—"उठो, जागो, जब तक अभीप्सित वस्तु को प्राप्त नहीं कर लेते, तब तक बराबर उसकी ओर बढ़ते जाओ।" ऐ कलकत्तानिवासी युवकवृन्द! उठो, जागो, शुभ मुहूर्त आ गया है। अब हमारे लिए सब बातों का सुभीता हो गया है। हिम्मत करो और डरो मत। केवल हमारे ही शास्त्रों में ईश्वर के लिए 'अभीः' विशेषण का प्रयोग किया गया है। हमें 'अभीः,' निर्भय होना होगा, तभी हम अपने कार्य में सिद्धि प्राप्त करेंगे। उठो, जागो, तुम्हारी मातृभूमि इस महाबलि की प्रार्थना कर रही है। इस कार्य की सिद्धि युवकों से ही हो सकेगी। "युवा, आशिष्ठ, द्रढ़िष्ठ, बलिष्ठ, मेधावी"—उन्हींके लिए यह कार्य है। और ऐसे सैकड़ों—

* कठोपनिषद्, १—३—१४

हजारों युवा कलकत्ते में हैं। अगर, जिस तरह कि तुम लोगों ने कहा है, मैंने कुछ किया है, तो याद रखना, मैं वही एक नगण्य बालक हूँ जो एक समय कलकत्ते की सड़कों पर खेला करता था। अगर मैंने इतना किया, तो इससे कितना अधिक तुम कर सकोगे! उठो — जागो, संसार तुम्हें पुकार रहा है। भारत के अन्यान्य प्रान्तों में बुद्धि भी है और धन भी है, परन्तु उत्साह की आग हमारी ही मातृभूमि में है, उसे निकलना ही चाहिए, और,ऐ कलकत्ते के युवको, इसलिए अपने ख़ून के एक एक कतरे में उत्साह और जोश भर दो — जागो।

दारिद्र्यादि सत्कार्य के प्रतिबन्धक नहीं हैं; विश्वास, उत्साह और निर्भीकता से असाध्य साध्य होता है — कठोपनिषद् का यम-नचिकेता-संवाद देखो।

मत सोचो कि तुम गरीब हो, मत सोचो कि तुम्हारे मित्र नहीं हैं। अरे, क्या तुमने कभी ऐसा भी देखा है कि अर्थ मनुष्य पैदा करता है — नहीं, मनुष्य ही अर्थ पैदा करता है। यह सम्पूर्ण संसार मनुष्य की शक्ति से, उत्साह की शक्ति से, विश्वास की शक्ति से उन्नत हुआ है। तुममें से जिन लोगों ने सब उपनिषदों में बहुत ही सुन्दर कठोपनिषद का अध्ययन किया है, उन्हें स्मरण होगा, किस तरह वे राजा एक महायज्ञ का अनुष्ठान करने चले थे, और दक्षिणा में अच्छी अच्छी चीज़ें न देकर बूढ़ी गायें आदि दे रहे थे जो काम के लायक न रह गई थीं। उसी समय उनके पुत्र नचिकेता के हृदय में श्रद्धा का प्रवेश हुआ। मैं तुम्हारे पास इस 'श्रद्धा' शब्द का अंग्रेजी अनुवाद न करूँगा, क्योंकि यह भूल होगी। समझने के लिए यह एक कठिन शब्द है; श्रद्धा का प्रभाव और उसकी कार्यकारिता बहुत ही प्रबल है। हम देखेंगे, यह किस तरह शीघ्र ही फल देनेवाली है। श्रद्धा के आते ही हम नचिकेता को आप ही आप इस तरह बातचीत करते हुए देखते हैं: — "मैं बहुतों से श्रेष्ठ हूँ, कुछ लोगों से छोटा भी हूँ, परन्तु कहीं भी मैं ऐसा नहीं हूँ कि सबसे

श्रद्धा।

छोटा होऊँ, अतएव मैं भी कुछ कर सकता हूँ।" उसका वह आत्मविश्वास और साहस बढ़ता गया और जो समस्या उसके मन में थी, उस बालक ने उसे हल करना चाहा,—वह समस्या मृत्यु की समस्या थी। इसकी मीमांसा मृत्यु के घर जाने पर ही हो सकती थी, अतएव वह बालक वहीं गया। निर्भीक बालक नचिकेता मृत्यु के घर जाकर तीन दिन तक प्रतीक्षा करता रहा, और तुम जानते हो, किस तरह उसने अपनी अभीप्सित वस्तुएँ प्राप्त कीं। हमें जो कुछ चाहिए वह यह श्रद्धा ही है। दुर्भाग्यवश भारत से इसका प्रायः लोप ही हो गया है, और हमारी वर्तमान दुर्दशा का कारण भी यही है। एकमात्र इस श्रद्धा के भेद से ही मनुष्य-मनुष्य में अन्तर पाया जाता है। इसका और दूसरा कारण नहीं। यह श्रद्धा ही है, जो एक मनुष्य को बड़ा और दूसरे को छोटा बना देती है। हमारे गुरुदेव कहा करते थे, जो अपने को दुर्बल सोचता है वह दुर्बल ही हो जाता है; और यह बिल्कुल ठीक है। इस श्रद्धा को तुम सब प्राप्त कर लो। पश्चिमी जातियों द्वारा प्राप्त की हुई जो जड़ शक्ति तुम देख रहे हो वह इस श्रद्धा का ही फल है, क्योंकि वे अपने दैहिक बल के विश्वासी हैं, और यदि तुम अपनी आत्मा पर विश्वास करो तो वह और कितना अधिक कार्यकर होगा! उस अनन्त आत्मा, उस अनन्त शक्ति पर विश्वास करो; तुम्हारे शास्त्र और तुम्हारे ऋषि समस्वर से एकमत होकर उसका प्रचार कर रहे हैं। वह आत्मा अनन्त शक्ति का आधार है; कोई उसका नाश नहीं कर सकता; उसकी वह अनन्त शक्ति केवल प्रकट होने की प्रतीक्षा कर रही है। यहाँ दूसरे दर्शनों और भारत के दर्शनों में महान् अन्तर पाया जाता है। द्वैतवादी हो चाहे विशिष्टाद्वैतवादी या अद्वैतवादी हो, सभी को यह दृढ़ विश्वास है कि आत्मा में सम्पूर्ण शक्ति अवस्थित है; केवल उसे व्यक्त करना चाहिए। इसके लिए हमें श्रद्धा की ही जरूरत है; हमें, यहाँ जितने मनुष्य हैं; सभी को इसकी आवश्यकता है। इसी श्रद्धा के प्राप्त करने का महान् कार्य तुम्हारे सामने पड़ा हुआ है। हमारे जातीय शोणित में एक प्रकार के भयानक

रोग का बीज समा रहा है, और वह है प्रत्येक विषय को हँसकर उड़ा देना — गाम्भीर्य का अभाव। इस दोष का सम्पूर्ण रूप से त्याग करो। वीर होओ, श्रद्धा-सम्पन्न होओ, दूसरी बातें उनके पीछे आप आयेंगी — उन्हें उनका अनुसरण करना ही होगा।

अब तक मैंने कुछ भी नहीं किया; यह कार्य तुम्हें करना होगा। अगर कल मैं मर जाऊँ तो मेरे साथ इस कार्य का लोप न होगा। मुझे दृढ़ विश्वास है, सर्वसाधारण जनता के भीतर से हजारों मनुष्य आकर इस व्रत को ग्रहण करेंगे और इस कार्य की इतनी उन्नति तथा विस्तार करेंगे जिसकी आशा मैंने कभी कल्पना में भी न की होगी। मुझे अपने देश पर विश्वास है — विशेषतः अपने देश के युवकों पर। बंगाल के युवकों पर बहुत गुरु भार समर्पित है। इतना बड़ा भार किसी दूसरे देश के युवकों पर कभी नहीं आया। पिछले दस वर्षों तक मैंने सम्पूर्ण भारत का भ्रमण किया। इससे मेरी दृढ़ धारणा हो गई है कि बंगाल के युवकों के भीतर से ही उस शक्ति का प्रकाश होगा जो भारत को उसके आध्यात्मिक अधिकार पर फिर से प्रतिष्ठित करेगी। मैं निश्चयपूर्वक कहता हूँ, इन हृदयवान उत्साही बंगीय युवकों के भीतर से ही सैकड़ों वीर उठेंगे जो हमारे पूर्वजों द्वारा प्रचारित सनातन आध्यात्मिक सत्यसमूहों का प्रचार कर और शिक्षा देकर, संसार के एक प्रान्त से दूसरे प्रान्त तक — एक मेरु से दूसरे मेरु तक — भ्रमण करेंगे। तुम्हारे सामने यह महान् कर्तव्य है। अतएव एक बार और तुम्हें उस "उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान्निबोधत" रूपी महान् आदर्श-वाक्य का स्मरण दिलाकर मैं अपना वक्तव्य समाप्त करता हूँ। डरना नहीं, क्योंकि मनुष्य-जाति के इतिहास में देखा जाता है कि जितनी शक्तियों का विकास हुआ है, सभी

मैंने जिस कार्य की केवल सूचना की है, बंगाली युवकों को उसे सम्पन्न करना होगा।

जनसाधारण में से ही महापुरुष उत्पन्न होते हैं।

साधारण मनुष्यों के भीतर से ही हुआ है। संसार में बड़े बड़े जितने प्रतिभाशाली मनुष्य हुए हैं, सभी साधारण मनुष्यों के भीतर से ही हुए हैं, और इतिहास में एक बार जो घटना हुई है वह फिर भी घटेगी। किसी बात से मत डरना। तुम अद्भुत कार्य करोगे। जिस क्षण तुम डर जाओगे उसी क्षण तुम बिल्कुल शक्तिहीन हो जाओगे। संसार में दुःख का मुख्य कारण भय ही है, यही सबसे बड़ा कुसंस्कार है, और वह निर्भीकता ही है जो क्षण भर में स्वर्ग को भी ला देती है। अतएव, "उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान्निबोधत।"

भद्र महोदयगण, मेरे प्रति आप लोगों ने जो अनुग्रह प्रकट किया है, उसके लिए आप लोगों को मैं फिर से धन्यवाद देता हूँ। मैं आप लोगों से इतना ही कह सकता हूँ कि मेरी इच्छा — मेरी प्रबल और आन्तरिक इच्छा — यह है कि मैं संसार की, और सर्वोपरि अपने देश और देशवासियों की, थोड़ी सी भी सेवा कर सकूँ।

---

१८. सर्वाङ्ग वेदान्त

(स्टार थिएटर, कलकत्ता में दिया हुआ भाषण ।)

बहुत दूर — जहाँ न तो लिपिबद्ध इतिहास और न किंवदन्तियों का मन्द प्रकाश ही प्रवेश कर सकता है, अनन्त काल से वह स्थिर उजाला हो रहा है जो बाहरी प्रकृति की चालों से कभी तो कुछ धीमा पड़ जाता है और कभी अत्यन्त उज्ज्वल,— किन्तु सदा अमर और स्थिर रहकर अपना पवित्र प्रकाश केवल भारत में ही नहीं बल्कि सम्पूर्ण चिन्ताजगत् में अपनी नीरव अननुभाव्य, शान्त तथापि सब कुछ करनेवाली शक्ति से उसी प्रकार भरता है जिस प्रकार प्रातःकाल के शिशिरकण लोगों की दृष्टि बचाकर चुपचाप गुलाब की सुन्दर कलियों को खिला देते हैं — यह प्रकाश उपनिषदों के तत्वों का — वेदान्त-दर्शन का है। कोई नहीं जानता, इसका पहले पहल भारतभूमि में कब उद्भव हुआ। इसका निर्णय अनुमान के बल से कभी नहीं हो सका। विशेषतः, इस विषय के पश्चिमी लेखकों के अनुमान एक दूसरे के इतने विरोधी हैं कि उनकी सहायता से उन तत्वों के समय का निश्चय नहीं किया जा सकता। हम हिन्दू आध्यात्मिक दृष्टि से उनकी उत्पत्ति नहीं स्वीकार करते। मैं बिना किसी संकोच के कहता हूँ कि यह वेदान्त-दर्शन अध्यात्म-राज्य का प्रथम और शेष विचार है। इस वेदान्तरूपी महासमुद्र से ज्ञान की तरंगें उठ-उठकर समय समय पर पश्चिम और पूर्व की ओर बह गई हैं। पुरा काल में वे पश्चिम में प्रवाहित हुई और एथेन्स, अलेकज़न्द्रिया और एन्टियॉक जाकर उन्होंने ग्रीसवालों के विचारों का नियमन किया।

वेदान्त का नीरव प्रभाव।

इसमें कोई सन्देह नहीं कि प्राचीन ग्रीसवालों पर सांख्यदर्शन की विशेष छाप पड़ी थी। और सांख्य तथा भारत के अन्यान्य सब धर्म या दार्शनिक

वेदान्त ही हिन्दू धर्मान्तर्गत सभी सम्प्रदायों की भित्ति है।

मत, उपनिषद या वेदान्त पर ही प्रतिष्ठित हैं। भारत में भी प्राचीन या वर्तमान समय में कितने ही विरोधी सम्प्रदाय रहने पर भी सब उपनिषद या वेदान्तरूप एक-मात्र प्रमाण पर ही अधिष्ठित हैं। तुम द्वैतवादी हो चाहे विशिष्टाद्वैतवादी, शुद्धाद्वैतवादी हो चाहे अद्वैतवादी अथवा चाहे और जिस प्रकार के अद्वैतवादी या द्वैतवादी हो, या तुम अपने को चाहे जिस नाम से पुकारो, तुम्हें अपने शास्त्र, उपनिषदों का प्रामाण्य स्वीकार करना ही होगा। यदि भारत का कोई सम्प्रदाय उपनिषदों का प्रामाण्य न माने तो वह 'सनातन' मत का अनुयायी नहीं कहा जा सकता। और, जैनों-बौद्धों के मत भी, उपनिषदों का प्रामाण्य न स्वीकार करने के कारण, भारतभूमि से हटा दिये गये थे। अतएव चाहे हम जानें या न जानें, वेदान्त भारत के सब सम्प्रदायों में प्रविष्ट है। और हम जिसे हिन्दूधर्म कहते हैं— यह अनगिनती शाखाओं वाला महान् बरगद का पेड़ जैसा हिन्दूधर्म — वेदान्त ही के प्रभाव से खड़ा है। चाहे हम जानें, चाहे न जानें परन्तु हम वेदान्त का ही विचार करते हैं, वेदान्त ही हमारा जीवन है, वेदान्त ही हमारी साँस है, मृत्यु तक हम वेदान्त ही के उपासक हैं; और हर एक हिन्दू का यही हाल है।

अतः भारतभूमि में भारतीय श्रोताओं के सामने वेदान्त का प्रचार करना मानो असंगत है, परन्तु यदि कुछ प्रचार करना है तो वह यही वेदान्त है। विशेषतः इस युग में इसका प्रचार अत्यन्त आवश्यक हो गया है, क्योंकि हमने

भारत में वेदान्त-प्रचार द्वारा ही सब सम्प्रदायों का समन्वय होगा।

तुमसे अभी अभी कहा है कि भारत के सब सम्प्रदायों को उपनिषदों का प्रामाण्य मानकर चलना चाहिए, परन्तु इन सब सम्प्रदायों में हमें ऊपर ऊपर नाना विरोध देखने को मिलते हैं। अनेक समय प्राचीन बड़े बड़े ऋषि भी उपनिषदों के भीतर का अपूर्व समन्वय नहीं समझ सके। बहुधा मुनियों ने भी आपस के मतभेद के कारण

विवाद किया है। यह मतविरोध किसी समय इतना बढ़ गया था कि यह एक कहावत हो गई थी कि जिसका मत दूसरे से भिन्न न हो, वह मुनि ही नहीं —'नासौ मुनिर्यस्य मतं न भिन्नम्'। परन्तु अब ऐसा विरोध नहीं चल सकता। अब उपनिषदों के मंत्रों में गूढ़ रूप से जो समन्वय — सामञ्जस्य — छिपा है उसकी विशद व्याख्या और प्रचार की आवश्यकता हो पड़ी है। द्वैतवादी, विशिष्टाद्वैतवादी, अद्वैतवादी आदि सब सम्प्रदायों में समन्वय है, उसे संसार के सामने स्पष्ट रूप से रखना चाहिए। सिर्फ भारत ही के नहीं, सारे संसार के सब सम्प्रदायों में जो सामञ्जस्य विद्यमान है, उसे दिखाना चाहिए।

मेरे गुरुदेव समन्वयाचार्य श्रीरामकृष्ण देव।

और मुझे ईश्वर की कृपा से इस प्रकार के एक महापुरुष के पैरों तले बैठकर शिक्षा ग्रहण करने का महासौभाग्य मिला था, जिनका सम्पूर्ण जीवन ही उपनिषदों का महासमन्वय-स्वरूप था — जिनका जीवन उनके उपदेशों की अपेक्षा हजार गुना बढ़कर उपनिषदों का जीवन्त भाष्यस्वरूप था। उन्हें देखने पर मालूम होता था, मानो उपनिषद के भाव वास्तव में मानवरूप धारण करके प्रकट हुए हों। उस समन्वय का कुछ अंश शायद मुझे भी मिला है। मैं नहीं जानता कि इसको प्रकट करने में मैं समर्थ हो सकूँगा या नहीं। परन्तु मेरा प्रयत्न यही है। अपने जीवन में मैं यह दिखाने की कोशिश करूँगा कि वैदान्तिक सम्प्रदाय एक दूसरे के विरोधी नहीं — वे एक दूसरे के अवश्यम्भावी परिणाम हैं — एक दूसरे के पूरक हैं — वे एक से दूसरे पर चढ़ने के सोपान हैं, जब तक वह अद्वैत — तत्त्वमसि — लक्ष्य प्राप्त न हो जाय।

भारत में एक वह समय था जब कर्मकाण्ड का प्रताप प्रबल था। वेदों के इस अंश में अनेक ऊँचे आदर्श थे, इसमें कोई सन्देह नहीं। हमारी वर्तमान पूजाओं में से कुछ अभी भी वैदिक कर्मकाण्ड के अनुसार ही की जाती हैं; किन्तु तथापि भारत में वैदिक कर्मकाण्ड का प्रायः लोप हो गया

वैदिक की अपेक्षा वेदान्तिक नाम ही हिन्दुओं के लिए अधिक उपयुक्त है।

है। अब हमारा जीवन वेदों के कर्मकाण्ड के अनुसार बहुत ही कम नियमित होता है। अपने दैनिक जीवन में हम प्रायः पौराणिक अथवा तांत्रिक हैं, यहाँ तक कि जहाँ कहीं भारत के ब्राह्मण वैदिक मन्त्रों को काम में लाते हैं, वहाँ अधिकांशतः उनका विचार वेदों के अनुसार नहीं किन्तु तन्त्रों या पुराणों के अनुसार होता है। अतएव वेदों के कर्मकाण्ड के विचार से अपने को वैदिक बताना हमारी समझ में युक्तिपूर्ण नहीं जँचता, परन्तु यह सन्देहरहित है कि हम सभी वैदान्तिक हैं। जो लोग अपने को हिन्दू कहते हैं, अच्छा होता यदि वे अपने को वैदान्तिक कहते। और जैसा कि हमने तुम्हें पहले ही दिखलाया है कि उसी वैदान्तिक नाम के भीतर सब सम्प्रदाय — द्वैतवादी हों चाहे अद्वैतवादी — आ जाते हैं।

वर्तमान समय में भारत में जितने सम्प्रदाय हैं, उनके मुख्यतः दो भाग किए जा सकते हैं — द्वैत और अद्वैत। इनमें से कुछ सम्प्रदाय जिन छोटे छोटे मतभेदों पर ज्यादा झुकते हैं और जिनकी सहायता से वे विशुद्धाद्वैत और विशिष्टाद्वैत आदि नए नए नाम लेना चाहते हैं, उनसे विशेष कुछ बनता-बिगड़ता नहीं। उन्हें या तो द्वैतवादियों की श्रेणी में शामिल कीजिए अथवा अद्वैतवादियों की श्रेणी में। और जो सम्प्रदाय वर्तमान समय के हैं उनमें से कुछ तो बिल्कुल नए हैं और दूसरे पुराने सम्प्रदायों के नवीन संस्करण जान पड़ते हैं। पहली श्रेणी का प्रतिनिधि-स्वरूप हम रामानुजाचार्य का जीवन और दर्शन समझ सकते हैं और दूसरी का प्रतिनिधि शंकराचार्य का जीवन और दर्शन। रामानुज अनतिप्राचीन भारत के प्रधान द्वैतवादी दार्शनिक हैं। अन्य द्वैतवादियों ने सीधे तौर पर या बिना

भारत के सभी सम्प्रदायों के दो साधारण विभाग — द्वैतवादी और अद्वैतवादी।

जाने उन्हीं का अनुसरण किया है, यहाँ तक कि छोटे छोटे नियमों तक का ग्रहण किया है। रामानुज और उनके प्रचारकार्य के साथ भारत के दूसरे द्वैतवादी वैष्णव सम्प्रदायों की तुलना कीजिए तो आश्चर्य होगा, क्योंकि उनके आपस के उपदेशों, साधना-प्रणालियों और साम्प्रदायिक नियमों में बहुत ही बड़ा सादृश्य है। अन्यान्य वैष्णवाचार्यों में दाक्षिणात्य के आचार्यवर मध्व मुनि और उनके अनुयायी हमारे बंगदेश के महाप्रभु श्रीचैतन्य का नाम उल्लेख-योग्य है। चैतन्यदेव ने मध्वाचार्य ही की तरह बंगाल में प्रचार किया था। दक्षिण में कई सम्प्रदाय और हैं—जैसे विशिष्टाद्वैतवादी शैव। शैव प्रायः अद्वैत-वादी होते हैं। सिंहल और दक्षिण के कुछ स्थानों को छोड़कर भारत में सर्वत्र यही अद्वैतवादी शैव सम्प्रदाय विद्यमान है। विशिष्टाद्वैतवादी शैवों ने 'विष्णु' नाम की जगह सिर्फ 'शिव' नाम बैठाया है और जीवात्मा के परिणाम-विषयक-मतवाद को छोड़ अन्यान्य सब विषयों में रामानुज के ही मत का ग्रहण किया है। रामानुज के अनुयायी आत्मा को अणु अर्थात् अत्यन्त छोटा कहते हैं, परन्तु शंकराचार्य के मतपोषक उसे विभु अर्थात् सर्वव्यापी स्वीकार करते हैं। अद्वैतमत के सम्प्रदाय प्राचीन काल में कई थे। प्राचीन समय में ऐसे अनेक सम्प्रदाय थे जिन्हें शंकराचार्य के सम्प्रदाय ने पूर्णतया निगलकर अपनी देह में मिला लिया था—इस विचार के कई कारण हैं। वेदान्त के किसी किसी भाष्य में, विशेषतः, विज्ञानभिक्षुकृत भाष्य में शंकर पर ही बीच-बीच हाथ साफ करते देखा जाता है। यहाँ यह कह देना आवश्यक है कि विज्ञानभिक्षु यद्यपि अद्वैतवादी थे तथापि उन्होंने शंकर के मायावाद को उड़ा देने की कोशिश की थी। अतः साफ जान पड़ता है कि ऐसे अनेक सम्प्रदाय थे जिनका मायावाद पर विश्वास न था, यहाँ तक कि उन्होंने शंकर को 'प्रच्छन्न बौद्ध' कहते भी संकोच नहीं किया। उनकी यह धारणा थी कि मायावाद को बौद्धों से लेकर शंकर ने वेदान्त के भीतर घुसेड़ा है। कुछ भी हो, वर्तमान समय में सभी अद्वैतवादी शंकराचार्य के

अनुगामी हैं; और शंकराचार्य तथा उनके शिष्यों ने उत्तर भारत और दक्षिण भारत दोनों जगह अद्वैतवाद का विशेष प्रचार किया था। शंकराचार्य का प्रभाव हमारे बंगाल में और पञ्जाब तथा काश्मीर में ज्यादा नहीं फैला; परन्तु दक्षिण के सभी स्मार्त शंकराचार्य के अनुयायी हैं और वाराणसी अद्वैतवाद का एक केन्द्र होने के कारण उत्तर भारत के अनेक स्थानों में इसका प्रभाव कम नहीं।

शंकर या रामानुज —कोई भी नूतन तत्वों के आविष्कारक नहीं हैं।

परन्तु मौलिक तत्व के आविष्कार करने का दावा न शंकराचार्य ने किया है और न रामानुज ने। रामानुज ने तो साफ कहा है कि हमने बोधायन के भाष्य का अनुसरण करके तदनुसार ही वेदान्त-सूत्रों की व्याख्या की है। "भगवद्बोधायनकृतां विस्तीर्णां ब्रह्मसूत्रवृत्तिं पूर्वाचार्याः संचिक्षिपुः तन्मतानुसारेण सूत्राक्षराणि व्याख्यास्यन्ते"—आदि बातें उनके भाष्य के आरम्भ ही में हमें देखने को मिलती हैं। बोधायन भाष्य देखने का अवसर मुझे नहीं मिला। मैंने भारत भर में उसकी खोज की परन्तु मेरे भाग्य में उक्त भाष्य के दर्शन बदे नहीं थे। परलोकगत स्वामी दयानन्द सरस्वती व्याससूत्रों के बोधायन भाष्य के सिवा अन्य कोई भाष्य न मानते थे, और यद्यपि वे सुयोग मिलने पर रामानुज के ऊपर कटाक्ष किये बिना न रहते थे तथापि वे भी कभी बोधायन भाष्य को सर्वसाधारण के सामने नहीं रख सके, परन्तु रामानुज ने मुक्त कण्ठ से कहा है कि बोधायन के भाव और कहीं कहीं तो भाषा तक लेकर हमने अपने वेदान्तभाष्य की रचना की है। यह अनुमान किया जा सकता है कि शंकराचार्य ने भी प्राचीन भाष्यकारों के ग्रंथों का अवलम्बन कर अपने भाष्य का प्रणयन किया है। उनके भाष्य में कई जगह प्राचीन भाष्यों के नाम आये हैं। और जब कि उनके गुरु और गुरु के गुरु एक ही अद्वैतमत के प्रवर्तक और वैदान्तिक थे जैसे कि वे स्वयं,—और कभी-कभी किसी विषय में वे शंकर की अपेक्षा अद्वैत तत्व के प्रकाशन में

अधिक अग्रसर एवं साहसी थे — तब यह साफ समझ में आ जाता है कि शंकर ने भी किसी नये भाव का प्रचार नहीं किया। रामानुज ने जिस प्रकार बोधायन भाष्य के सहारे अपना भाष्य लिखा था, अपनी भाष्यरचना में शंकर ने भी वैसा ही किया। परन्तु अब यह निर्णय नहीं किया जा सकता कि शंकर ने किस भाष्य को आधार मानकर अपना भाष्य लिखा।

जिन दर्शनों को तुमने पढ़ा है या जिनके नाम सुने हैं, वे सब-के-सब उपनिषद के आधार पर लिखे गये हैं। जभी उन्होंने श्रुति की दुहाई दी है तभी उपनिषदों को लक्ष्य किया है। भारत के अन्यान्य दर्शनों का जन्म उपनिषद ही से हुआ है सही, परन्तु व्यास द्वारा लिखे गये वेदान्तदर्शन की तरह किसी दूसरे दर्शन की प्रतिष्ठा भारत में नहीं हो सकी। पर वेदान्तदर्शन भी प्राचीन सांख्यदर्शन की चरम परिणति ही है। और सारे भारत के, यहाँ तक कि सारे संसार के सभी दर्शन और सभी मत कपिल के विशेष रूप से ऋणी हैं। मनस्तत्व और दार्शनिक विषयों का कपिल जैसा महान् व्याख्याता भारत के इतिहास में शायद ही दूसरा हुआ हो। संसार में सर्वत्र ही कपिल का प्रभाव दीख पड़ता है। जहाँ कोई सुपरिचित दार्शनिक मत विद्यमान है वहीं उनका प्रभाव दीख पड़ेगा। वह हजार वर्ष का प्राचीन चाहे भले ही हो, किन्तु वहाँ वे ही कपिल — वे ही तेजस्वी, गौरवयुक्त, अपूर्व प्रतिभाशाली कपिल दृष्टिगोचर होते हैं। उनके मनोविज्ञान और दर्शन के अधिकांश को थोड़ा सा फेरफार करके, भारत के भिन्न भिन्न सभी सम्प्रदायों ने ग्रहण किया है। हमारी जन्मभूमि बंगाल के नैयायिक भारत के दार्शनिक-क्षेत्र पर विशेष प्रभाव फैलाने में समर्थ नहीं हो सके। वे सामान्य, विशेष, जाति, द्रव्य, गुण आदि गुरुतर पारिभाषिक क्षुद्र क्षुद्र शब्दों में उलझ गये जिन्हें कोई अच्छी तरह समझना चाहे तो सारी उम्र बीत जाय। वे दर्शनालोचन का भार वेदान्तिकों पर छोड़कर स्वयं 'न्याय' लेकर बैठे। परन्तु आजकल

उपनिषद भारतीय दर्शन-समूह की भित्ति हैं।

भारत के सभी दार्शनिक सम्प्रदाय बंगदेश के नैयायिकों की विचारप्रणाली सम्बन्धी परिभाषा ग्रहण करते हैं। जगदीश, गदाधर और शिरोमणि के नाम मलाबार देश में कहीं कहीं उसी प्रकार प्रसिद्ध हैं जिस प्रकार नदिया में। यह हुई दूसरे दर्शनों की बात। व्यास-प्रणीत वेदान्त-दर्शन भारत में सब जगह दृढ़प्रतिष्ठ है और उसका यह उद्देश्य कि प्राचीन सत्यों को दार्शनिक ढङ्ग से जन-समाज में व्यक्त करना चाहिए, पूर्ण हो गया। इस वेदान्तदर्शन में युक्ति को पूर्णतया श्रुति के अधीन रखा गया है। शंकराचार्य ने भी एक जगह लिखा है कि व्यास ने युक्ति-विचार का यत्न नहीं किया। उनके सूत्र-प्रणयन का एकमात्र उद्देश्य यह था कि वेदान्तमन्त्र-रूपी पुष्पों को एक ही सूत्र में गूँथकर एक माला तैयार करें। उनके सूत्र वहीं तक मान्य हैं, जहाँ तक वे उपनिषदों के अधीन हैं, इसके आगे नहीं।

व्यासमूत्र।

इस समय भारत के सभी सम्प्रदाय व्यासमूत्रों को प्रामाणिक ग्रन्थों में श्रेष्ठ स्वीकार करते हैं। और जब यहाँ कोई नवीन सम्प्रदाय उत्पन्न होता है तो वह व्यासमूत्रों पर अपने ज्ञानानुकूल नया भाष्य लिखकर अपनी जड़ जमाता है। कभी कभी इन भाष्यकारों के मत में फर्क आता दीख पड़ता है। कभी कभी तो मूल सूत्रों की अर्थ-विकृति देखकर जी ऊब जाता है। अस्तु। व्यासमूत्रों को इस समय भारत में सबसे अच्छे प्रमाण-ग्रन्थ का आसन मिल गया है और व्यासमूत्रों पर एक नया भाष्य बिना लिखे भारत में कोई सम्प्रदाय-संस्थापन की आशा नहीं कर सकता।

गीता।

व्यासमूत्रों के बाद ही विश्व-प्रसिद्ध गीता का प्रामाण्य है। शंकराचार्य का गौरव गीता के प्रचार से ही बढ़ा। इन महापुरुष ने अपने महान् जीवन में जो बड़े बड़े कर्म किये, गीता का प्रचार और उसकी एक सुन्दर भाष्यरचना भी उन्हीं में है। और भारत के सनातनमार्गियों में से हरएक ने उनका अनुगमन किया और तदनुसार गीता पर एक एक भाष्य की रचना की।

उपनिषद अनेक हैं। कोई कोई यह कहते हैं कि उनकी संख्या एक सौ आठ है और कोई कोई और भी अधिक कहते हैं। उनमें से कुछ, स्पष्ट ही आधुनिक हैं। यथा अल्लोपनिषद। उसमें अल्लाह की स्तुति है और मुहम्मद को रसूलल्ला कहा गया है। मैंने सुना है कि यह अकबर के राज्यकाल में हिन्दू और मुसलमानों में मेल कराने के लिए रचा गया था। संहिता-विभाग में 'अल्ला' या 'इल्ला' ऐसा कोई शब्द मिलने पर उसीके आधार से यह उपनिषदों का समूह विरचित हुआ। इस प्रकार इस अल्लोपनिषद में मुहम्मद रसूलल्ला हुए। इसका तात्पर्य चाहे जो कुछ हो, किन्तु इस प्रकार के और भी अनेक साम्प्रदायिक उपनिषद हैं। यह स्पष्ट समझ में आ जाता है कि वे विलकुल आधुनिक हैं और उपनिषदों की ऐसी रचना बहुत कठिन भी नहीं थी, क्योंकि वेदों के संहिताभाग की भाषा इतनी पुरानी है कि उसमें व्याकरण के नियम नहीं माने गए। कई साल हुए, वैदिक व्याकरण पढ़ने की मेरी इच्छा हुई और मैंने बड़े आग्रह से पाणिनि और महाभाष्य पढ़ना आरम्भ किया। परन्तु मुझे बड़ा आश्चर्य हुआ जब मैंने देखा कि वैदिक व्याकरण का प्रधान भाग केवल साधारण नियमों का व्यतिक्रम ही है। व्याकरण में एक साधारण विधान माना गया, परन्तु इसके बाद ही यह बतलाया गया कि वेदों में इस नियम का व्यतिक्रम होगा। अतएव हम देखते हैं कि कोई भी मनुष्य चाहे जो कुछ लिखकर बड़ी आसानी से उसे वेद कहकर प्रचार कर सकता है। सिर्फ यास्क के निरुक्त के कारण बहुत कुछ रक्षा है। परन्तु इसमें केवल कई समानार्थक शब्द रखे गए हैं। जहाँ इतने सुभीते हैं वहाँ तुम जितना चाहो, उपनिषद लिख सकते हो। यदि संस्कृत का कुछ ज्ञान हो तो प्राचीन वैदिक शब्दों की तरह कुछ शब्द गढ़ लेने ही से काम हो जायेगा, व्याकरण का तो कुछ भय रहा ही नहीं। फिर तो रसूलल्ला हो चाहे

उपनिषदों की संख्या — प्रामाणिक तथा अप्रामाणिक उपनिषद।

जो सुल्हा हो, उसे अपने ग्रन्थ में तुम अनायास घुसेड़ सकते हो। इस प्रकार अनेक उपनिषदों की रचना हो गई है और सुनते हैं कि अब भी होती है। मैं अच्छी तरह जानता हूँ कि भारत के कुछ देशों में भिन्न भिन्न सम्प्रदायों के लोग अब भी ऐसे उपनिषदों का प्रणयन करते हैं, परन्तु कुछ उपनिषद ऐसे भी हैं जो महत्त्व की गवाही देते हैं। इन्हीं के आधार पर शंकर, रामानुज और दूसरे बड़े बड़े भाष्यकारों ने भाष्यों की रचना की है।

उपनिषदों के और भी दो-एक तत्वों की ओर मैं तुम्हारा ध्यान आकर्षित करता हूँ; क्योंकि ये उपनिषद ज्ञानसमुद्र हैं और मुझ जैसा अयोग्य मनुष्य यदि उनके सम्पूर्ण तत्वों की व्याख्या करना चाहे तो वर्षों बीत जायेंगे, एक व्याख्यान में कुछ न होगा। अतएव उपनिषदों की आलोचना करते हुए मेरे मन में जो विषय आये हैं उनमें से कुछ तुम्हें सुनाता हूँ। पहले तो संसार में इनकी तरह अपूर्व काव्य और नहीं हैं। वेदों के संहिताभाग की आलोचना करने से उसमें भी जगह जगह अपूर्व काव्य-सौन्दर्य का परिचय मिलता है। उदाहरण के लिए ऋग्वेद संहिता के नासदीय सूक्तों की आलोचना करो। उसमें प्रलय के गम्भीर अन्धकार के वर्णन में है — "तम आसीत् तमसा गूढ़मग्रे" इत्यादि। "जब अन्धकार से अन्धकार ढँका हुआ था" — इसके पाठ ही से यह जान पड़ता है कि कवित्व का अपूर्व गाम्भीर्य इसमें भरा है। तुमने क्या इस ओर दृष्टि डाली है कि भारत के बाहरी देशों में तथा भारत में भी गम्भीर भावों के चित्र खींचने के अनेक प्रयत्न किये गये हैं? भारत के बाहरी देशों में यह प्रयत्न सदा जड़ प्रकृति के अनन्त भावों के वर्णन में ही हुआ है — केवल अनन्त बहिःप्रकृति, अनन्त जड़, अनन्त देश का वर्णन हुआ है। जभी मिल्टन या दान्ते या किसी दूसरे प्राचीन अथवा आधुनिक यूरोपीय बड़े कवि ने अनन्त के चित्र खींचने की कोशिश की है तभी उन्होंने कवित्व-पंखों के सहारे अपने बाहर दूर आकाश में विचरते हुए, बाह्य अनन्त प्रकृति का कुछ कुछ आभास देने

उपनिषद् अपूर्व काव्यस्वरूप हैं।

की चेष्टा की है। यह चेष्टा यहाँ भी हुई है। बहिःप्रकृति का अनन्त विस्तार जिस प्रकार वेद-संहिता में चित्रित होकर पाठकों के सामने रखा गया है वैसा और कहीं भी देखने को नहीं मिलता। संहिता के इस 'तम आसीत् तमसा गूढ़म्' वाक्य को याद रखकर तीन भिन्न भिन्न कवियों के अन्धकार-वर्णन में एक दूसरे से तुलना करके देखो। हमारे कालिदास ने कहा है—'सूचीवेध्य अन्धकार'; उधर मिल्टन कहते हैं—'उजेला नहीं है, दृश्यमान अन्धकार है'; परन्तु ऋग्वेद संहिता में है—'अन्धकार से अन्धकार ढँका हुआ है, अन्धकार के भीतर अन्धकार छिपा हुआ है।' इस गर्म देश के रहनेवाले सहज ही में समझ सकते हैं कि जब सहसा नवीन वर्षागम होता है तब सम्पूर्ण दिग्मण्डल अन्धकाराच्छन्न हो जाता है और उमड़ती हुई काली घटाएँ दूसरे बादलों को घेर लेती हैं।| परन्तु संहिता का यह अंश अपूर्व है, किन्तु उसमें भी बाहरी प्रकृति का वर्णन किया गया है। बाहरी प्रकृति का विश्लेषण करके मानव-जीवन की महान् समस्याएँ अन्यत्र जैसे हल की गई हैं वैसे ही यहाँ भी। जिस प्रकार प्राचीन ग्रीस अथवा आधुनिक यूरोप जीवन-समस्या को हल करने के लिए तथा जगत्कारण सम्बन्धी पारमार्थिक तत्वों की खोज के लिए बहिःप्रकृति की ओर दौड़े उसी प्रकार हमारे पूर्वजों ने भी किया, और पाश्चात्यों के समान वे भी विफलमनोरथ हुए। परन्तु पश्चिमी जातियों ने इस विषय में और कोई प्रयत्न नहीं किया; जहाँ वे थीं वहीं पड़ी रहीं। बहिर्जगत् में जीवन और मृत्यु की महान् समस्याओं की सिद्धान्त-प्राप्ति में व्यर्थप्रयास होने पर वे आगे नहीं बढ़ीं, हमारे पूर्वजों ने भी इसे असम्भव समझा था परन्तु उन्होंने इस समाधान की प्राप्ति में इन्द्रियों की पूरी अक्षमता संसार के सामने निर्भय होकर घोषित की। यही उत्तर उपनिषद निर्भीक भाव से देती है:—

"यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह।" *

"मन के साथ वाणी जिसे न पाकर जहाँ से लौट आती है।"

---

* तैत्तिरीय उपनिषद, २–९

"न तत्र चक्षुर्गच्छति न वाग्गच्छति" *

"वहाँ न आँखों की पहुँच है, न वाक्यों की।"

ऐसे अनेक वाक्य हैं जिन्होंने इन्द्रियों को इस-महासमस्या के समाधान के लिए सर्वथा अक्षम बताया है, किन्तु वे पूर्वज इतना ही कहकर रुक नहीं गए। बहिःप्रकृति से लौटकर उन्होंने मनुष्यों की अन्तःप्रकृति का मुकाबला किया। इस प्रश्न का उत्तर पाने के लिए वे स्वयं की आत्मा के निकट गए, वे अन्तर्मुख हुए। वे समझ गये थे कि प्राणहीन जड़ से कभी सत्य की प्राप्ति न होगी। उन्होंने देखा कि बहिःप्रकृति से प्रश्न करने पर कोई उत्तर नहीं मिलता, न उससे कोई आशा की जा सकती है; अतएव बाहर सत्य के खोज की चेष्टा वृथा जानकर बहिःप्रकृति का त्याग करके वे उसी ज्योतिर्मय जीवात्मा की ओर मुड़े और वहाँ उन्हें उत्तर भी मिला।

"तमेवैकं जानथ आत्मानं अन्या वाचो विमुञ्चथ।" †

"एक मात्र उसी आत्मा का ज्ञान प्राप्त करो और दूसरे वृथा वाक्य छोड़ो।"

उन्होंने आत्मा में ही सारी समस्याओं का समाधान पाया। वहीं उन्होंने विश्वेश्वर परमात्मा को जाना और जीवात्मा के साथ उसका सम्बन्ध, उसके प्रति हमारा कर्तव्य और उसके आधार पर हमारा पारस्परिक सम्बन्ध — आदि ज्ञान प्राप्त किया। और इस आत्मतत्व के वर्णन के सदृश संसार में गाम्भीर्य-पूर्ण और दूसरी कविता नहीं है। जड़ की भाषा में इस आत्मा को चित्रित करने की चेष्टा न रही, यहाँ तक कि आत्मा के वर्णन में उन्होंने गुणों का निर्देश करना बिल्कुल छोड़ दिया। तब अनन्त

उपनिषदों में जगत्-समस्या का समाधान बहिःप्रकृति द्वारा नहीं है, अन्तर्जगत् के विश्लेषण द्वारा — 'नेति नेति' विचार द्वारा है।

* केनोपनिषद्, १-३

† मुण्डकोपनिषद्, २-२-५

की धारणा करने के लिए इन्द्रियों की सहायता की आवश्यकता न रह गई। बाह्य-इन्द्रिय-ग्राह्य, अचेतन, मृत, जड़स्वभाव, अवकाशरूपी अनन्त का वर्णन लुप्त हो गया। उसकी जगह आत्मतत्व एक ऐसी भाषा में वर्णित होने लगा कि उपनिषद के उन शब्दों का उच्चारण करने से ही हम मानो एक सूक्ष्म अतीन्द्रिय राज्य की ओर बढ़ जाते हैं। दृष्टान्त के रूप में यह अपूर्व श्लोक देखो :—

"न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकं
नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निः।
तमेव भान्तमनुभाति सर्वं
तस्य भासा सर्वमिदं विभाति॥" *

संसार में और कौनसी कविता इसकी अपेक्षा अधिक गम्भीर भावोद्दीपक है? "वहाँ न सूर्य का प्रकाश है, न चन्द्रतारकाओं का; यह बिजली उसे प्रकाशित नहीं कर सकती, तो मृत्युलोक की इस अग्नि की बात ही क्या? उसीके प्रकाश से सब कुछ प्रकाशित होता है।"

ऐसी कविता तुम और कहीं न पाओगे। उस अपूर्व कठोपनिषद को लो। इस काव्य का रचना-चमत्कार कैसा सर्वाङ्ग-सुन्दर है! किस मनोहर रीति से यह आरम्भ किया गया है! उस छोटे से बालक नचिकेता के हृदय में श्रद्धा का आविर्भाव, उसकी यमदर्शन की अभिलाषा और सबसे बड़े 'आश्चर्य' की बात तो यह है कि यम स्वयं उसे जीवन और मृत्यु का महान् पाठ पढ़ा रहे हैं। और वह बालक उनसे क्या जानना चाहता है?— मृत्यु-रहस्य।

उपनिषदों के उपदेश व्यक्ति-विशेषों के जीवन पर निर्भर नहीं हैं।

उपनिषदों के सम्बन्ध की जिस दूसरी बात पर तुम्हें ध्यान देना चाहिए वह है उनका अपौरुषेयत्व — उनका किसी व्यक्ति-विशेष की शिक्षा न होना। यद्यपि उनमें हमें अनेक आचार्यों और वक्ताओं के नाम मिलते हैं, तथापि उनमें से एक भी, उपनिषदों के प्रमाण-स्वरूप

* मुण्डकोपनिषद, २-२-१०

नहीं गिने जाते। उपनिषदों का एक भी मन्त्र उनमें से किसी के जीवन के ऊपर निर्भर नहीं है। ये सब आचार्य और वक्ता मानो छायामूर्ति की भाँति रंगमंच के पीछे अवस्थित हैं। उन्हें मानो कोई स्पष्टतया नहीं देख पाता, उनकी सत्ता मानो साफ समझ में नहीं आती, किन्तु यथार्थ शक्ति है उपनिषदों के उन अपूर्व महिमामय, ज्योतिर्मय, तेजोमय मन्त्रों के भीतर, जिनका व्यक्तिविशेष के साथ मानो कोई सम्पर्क नहीं। बीसियों याज्ञवल्क्य आएँ, रहें और चले जायँ इससे कोई हानि नहीं, मन्त्र तो बने ही रहेंगे, किन्तु फिर भी वे किसी व्यक्तिविशेष के विरोधी नहीं हैं। वे इतने विशाल और उदार हैं कि संसार में अब तक जितने महापुरुष या आचार्य पैदा हुये और भविष्य में जितने आवेंगे उन सबको वे हृदय से लगाते हैं। उपनिषद अवतारों या महापुरुषों की उपासना के विरोधी नहीं हैं, बल्कि उसका समर्थन करते हैं, और साथ ही वे सम्पूर्ण रूप से व्यक्तिनिरपेक्ष हैं। उपनिषद का ईश्वर जिस प्रकार निर्गुण अर्थात् व्यक्तिविशेष ईश्वर के अतीत तत्त्वमात्र का विशेष रूप से समर्थक है, उसी प्रकार समग्र उपनिषद व्यक्तिनिरपेक्षता-रूप अपूर्व तत्व के ऊपर प्रतिष्ठित हैं। ज्ञानी, चिन्ताशील, दार्शनिक तथा युक्तिवादी उनमें व्यक्तिनिरपेक्ष तत्व पाते हैं जो कि सभी आधुनिक विज्ञानवेत्ता चाहते हैं।

और ये ही हमारे शास्त्र हैं। तुम्हें याद रखना चाहिए कि ईसाइयों के लिए जैसे बाइबिल है, मुसल्मानों के लिए कुरान, बौद्धों के लिए त्रिपिटक, पारसियों के लिए जेन्द-अवस्ता, वैसे ही हमारे लिए उपनिषद हैं। ये ही हमारे शास्त्र हैं, दूसरे नहीं। पुराण, तन्त्र और अन्यान्य ग्रन्थ-समूह — यहाँ तक कि व्याससूत्र भी — गौण हैं; हमारे मुख्य प्रमाण हैं वेद। मन्वादि स्मृतियों और पुराणों का जितना अंश उपनिषदों से मेल खाता है, उतना ही ग्रहणयोग्य है; यदि वे बखेड़ा खड़ा करें तो उन्हें निर्दयतापूर्वक छोड़ देना चाहिए। हमें यह सदा स्मरण रखना होगा परन्तु भारत के दुर्भाग्य के कारण वर्तमान समय में हम यह बिल्कुल भूल गये हैं। इस समय छोटे छोटे ग्राम्य आचारों को

उपनिषद् ही हमारे प्रमाण शास्त्रग्रंथ हैं, अन्यान्य शास्त्रों का प्रामाण्य उपनिषद्-प्रमाण के अधीन है।

उपनिषदों के उपदेश का आसन मिल गया है। बङ्गाल के सुदूर देहातों में अब जो आचार प्रचलित हैं वे ही मानो वेद-वाक्य हैं, इतना ही नहीं, उनसे भी कहीं बढ़कर हैं। और 'सनातन-मतावलम्बी' इस शब्द का प्रभाव भी कितना विचित्र है! एक देहाती के निकट, कर्मकाण्ड की हर एक छोटी छोटी बात का जो पालन करता है वही सच्चा हिन्दू है और जो नहीं करता वह हिन्दू है ही नहीं। बड़े दुःख की बात है कि हमारी मातृभूमि में ऐसे अनेक लोग हैं जो किसी तंत्रविशेष का अवलम्बन कर सर्वसाधारण जनता को उसी तंत्र-मत का अनुसरण करने का उपदेश देते हैं। जो वैसा नहीं करते वे उनके मत में सच्चे हिन्दू नहीं हैं। अतएव हमारे लिए यह स्मरण रखना अत्यन्त आवश्यक है कि उपनिषद ही मुख्य प्रमाण हैं। गृह्य और श्रौत सूत्र भी वेदों के प्रमाणाधीन हैं। यही उपनिषद हमारे पूर्वपुरुष ऋषियों के वाक्य हैं और यदि तुम हिन्दू होना चाहो, तो तुम्हें यह विश्वास करना ही होगा। तुम ईश्वर के बारे में जैसा चाहो विश्वास कर सकते हो, परन्तु वेदों का प्रामाण्य यदि न मानो तो तुम घोर नास्तिक हो। ईसाई, बौद्ध या अन्यान्य शास्त्रों तथा हमारे शास्त्रों में यही अन्तर है। उन्हें शास्त्र न कहकर पुराण कहना चाहिए, क्योंकि उनमें बाढ़ का इतिहास, राजाओं और राजवंशधरों का इतिहास, महापुरुषों के जीवन-चरित आदि विषय लेखबद्ध हैं। ये सब पुराणों के लक्षण हैं, अतः इनका जितना अंश वेदों से मेल खाता हो उतना ही ग्रहणीय है, परन्तु जो अंश नहीं मेल खाता उसके मानने की आवश्यकता नहीं। कुरान के सम्बन्ध में भी यही बात है। इन ग्रन्थों में अनेक नीति-उपदेश हैं, अतएव वेदों के साथ उनका जहाँ तक ऐक्य हो वहीं तक, पुराणों के समान, उनका प्रामाण्य है, बस, इससे अधिक कुछ नहीं।

वेदों के सम्बन्ध में मेरा यह विश्वास है कि वेद कभी लिखे नहीं

गये,—वेदों की उत्पत्ति नहीं हुई। एक ईसाई मिशनरी ने मुझसे किसी समय कहा था, "हमारा बाइबिल ऐतिहासिक नींव पर स्थापित है और इसीलिए सत्य है।" इस पर मैंने जवाब दिया था, "हमारे शास्त्र इसलिए सत्य हैं कि उनकी कोई ऐतिहासिक भित्ति नहीं है; तुम्हारे शास्त्र जब कि ऐतिहासिक हैं तब अवश्य ही वे कुछ दिन पहले किसी मनुष्य द्वारा रचे गये थे; तुम्हारे शास्त्र मनुष्यप्रणीत हैं, हमारे नहीं। हमारे शास्त्रों की अनैतिहासिकता ही उनकी सत्यता का प्रमाण है।" वेदों के साथ आजकल के अन्यान्य शास्त्रों का यही सम्बन्ध है।

वेदों का अनैतिहासिकत्व ही उनकी सत्यता का प्रमाण है।

अब हम जिन विषयों की शिक्षा उपनिषदों में दी गई है, उनकी आलोचना करेंगे। उनमें अनेक भावों के श्लोक हैं। कोई कोई सम्पूर्ण द्वैतभावात्मक हैं। द्वैतभावात्मक शब्द से मेरा क्या मतलब है? कई बातों में भारत के सभी सम्प्रदाय एकमत हैं। पहले पहल तो सभी सम्प्रदाय संसारवाद या पुनर्जन्मवाद स्वीकार करते हैं। दूसरे, सब सम्प्रदायों का मनोविज्ञान भी एक ही प्रकार का है। पहले यह स्थूल शरीर, इसके पीछे सूक्ष्म शरीर या मन है। जीवात्मा उस मन से भी परे है। पाश्चिमी और भारतीय मनोविज्ञान में यह विशेष भेद है कि पश्चिमी मनोविज्ञान में मन और आत्मा में कोई अन्तर नहीं रखा गया, परन्तु यहाँ ऐसा नहीं। भारतीय मनोविज्ञान के अनुसार मन अथवा अन्तःकरण मानो जीवात्मा के हाथों का यन्त्र है। इसीकी सहायता से वह शरीर अथवा बाहरी संसार में काम करता है। इस विषय में सभी का मत एक है। और सभी सम्प्रदाय एक स्वर से यह स्वीकार करते हैं कि जीवात्मा अनादि और अनन्त है। जब तक उसे सम्पूर्ण मुक्ति नहीं मिलती, तब तक उसे बार बार जन्म लेना होगा। एक और मुख्य विषय में सबकी एक राय है, और

उपनिषदों का मुख्य मतवाद-समूह।

यही भारतीय और पश्चिमी चिन्ता-प्रणाली का मौलिक भेद है, यहाँवाले जीवात्मा में पहले ही से सब शक्तियों का रहना स्वीकार करते हैं। 'इन्स्पिरेशन' (Inspiration) शब्द द्वारा अंग्रेजी में जिस भाव का प्रकाशन होता है उससे यह अर्थ निकलता है मानो बाहर से कुछ आ रहा है; परन्तु हमारे शास्त्रों के अनुसार सब शक्तियाँ, सब प्रकार की महत्ता और पवित्रता, आत्मा में ही विद्यमान हैं। योगी तुम्हें कहेंगे — अणिमा, लघिमा आदि सिद्धियाँ, जिन्हें वे प्राप्त करना चाहते हैं, वास्तव में प्राप्त करने की नहीं, वे पहले ही से आत्मा में मौजूद हैं, सिर्फ उन्हें व्यक्त करना होगा। पतञ्जलि के मत में तुम्हारे पैरों तले चलनेवाले छोटे से छोटे कीड़ों तक में अष्ट सिद्धियाँ वर्तमान हैं; केवल उनके देहरूपी आधार की अनुपयुक्तता के कारण ही वे प्रकाशित नहीं हो पातीं। जभी उन्हें उत्कृष्टतर शरीर प्राप्त होगा तभी वे शक्तियाँ विकसित हो जायँगी, परन्तु थीं वे पहले ही से विद्यमान। उन्होंने अपने सूत्रों में एक जगह कहा है, "निमित्तमप्रयोजकं प्रकृतीनां वरणभेदस्तु ततः क्षेत्रिकवत्।" * जैसे किसान को यदि अपने खेत में पानी लाना है, तो सिर्फ खेत की मेंड़ काटकर पासवाले भरे तालाब से जल का योग कर देना होता है, तो फिर जिस प्रकार पानी अपने स्वाभाविक प्रवाह से आकर खेत को भर देता है उसी प्रकार जीवात्मा में सारी शक्ति, पूर्णता और पवित्रता पहले ही से भरी हैं, केवल माया का पर्दा पड़ा हुआ है जिससे वे प्रकट नहीं होने पातीं। एक बार इस आवरण को हटा देने से आत्मा अपनी स्वाभाविक पवित्रता प्राप्त करती है — उसकी सारी शक्ति जग जाती है। तुम्हें याद रखना चाहिए कि प्राच्य और पाश्चात्य चिन्ताप्रणाली में इतना ही भेद है। पश्चिमवाले यह भीषण मत सिखाते हैं कि हम जन्म से ही महापापी हैं और जो लोग यह भयावह मत नहीं मानते, उनसे बड़ा ही द्वेषभाव रखते हैं। वे यह

आत्मा में पहले से ही सब शक्तियाँ अवस्थित हैं।

---

* पातञ्जल योगसूत्र, ४-३

पाश्चात्य मत इससे सम्पूर्ण विपरीत है—'हम जन्म-पापी'।

कभी नहीं सोचते कि अगर हम स्वभाव से ही बुरे हों तो हमारे भले होने की आशा नहीं, क्योंकि प्रकृति कभी बदल नहीं सकती। 'प्रकृति का परिवर्तन'—यह वाक्य स्व-विरोधी है। जिसका परिवर्तन होता है उसे प्रकृति नहीं कहना चाहिए। यह विषय हमें स्मरण रखना चाहिए। इस पर भारत के द्वैतवादी, अद्वैतवादी और सभी सम्प्रदाय एकमत हैं।

भारत के सब आधुनिक सम्प्रदाय और एक विषय पर एकमत हैं, वह है ईश्वर का अस्तित्व। इसमें सन्देह नहीं कि ईश्वर के बारे में सभी सम्प्रदायों की धारणा भिन्न भिन्न है। द्वैतवादी सगुण—केवल सगुण ईश्वर पर ही विश्वास करते हैं। मैं यह सगुण शब्द तुम्हें और भी कुछ अच्छी तरह समझाना चाहता हूँ। इस सगुण के अर्थ से देहधारी—सिंहासन पर बैठे हुए, संसार का शासन करनेवाले किसी पुरुषविशेष से मतलब नहीं। सगुण अर्थ से गुणयुक्त समझना चाहिए। इस सगुण ईश्वर का वर्णन शास्त्रों में अनेक स्थलों में देखने को मिलता है, और सभी सम्प्रदाय इस संसार का शासक, स्रष्टा, संरक्षक और संहर्ता *सगुण* ईश्वर मानते हैं। अद्वैतवादी इस सगुण ईश्वर के सम्बन्ध में और भी कुछ ज्यादा मानते हैं। वे इस सगुण ईश्वर की एक उच्चतर अवस्था के विश्वासी हैं, जिसे सगुण-निर्गुण नाम दिया जा सकता है। जिसके कोई गुण नहीं हैं, उसका किसी विशेषण द्वारा वर्णन करना असम्भव है। और अद्वैतवादी उसे 'सत्-चित्-आनन्द' के सिवा कोई और विशेषण नहीं देना चाहते। शंकर ने ईश्वर को सच्चिदानन्द विशेषण से पुकारा है, परन्तु उपनिषदों में ऋषियों ने और भी बढ़कर कहा है, 'नेति नेति' अर्थात् 'यह नहीं', 'यह नहीं'; इतने पर भी सभी सम्प्रदाय ईश्वर के अस्तित्व के बारे में एक ही मत के पोषक हैं।

भारतीय सभी सम्प्रदायों की ईश्वर-धारणा विभिन्न होने पर भी सभी ईश्वर में विश्वासी हैं।

अब हम द्वैतवादियों के मत की ज़रा आलोचना करेंगे। जैसा कि मैंने कहा है, रामानुज को मैं भारत का प्रसिद्ध द्वैतवादी तथा वर्तमान समय के द्वैतवादी सम्प्रदायों का सबसे बड़ा प्रतिनिधि मानता हूँ। खेद की बात है कि हमारे बङ्गाल के लोग भारत के उन बड़े बड़े धर्माचार्यों के विषय का, जिनका जन्म दूसरे प्रान्तों में हुआ था, बहुत ही थोड़ा ज्ञान रखते हैं। मुसलमानों के राज्य-काल में एक चैतन्य को छोड़कर बड़े बड़े और सभी धार्मिक नेता दाक्षिणात्य में पैदा हुए थे, और इस समय दाक्षिणात्यवासियों का ही मस्तिष्क वास्तव में भारत भर का शासन कर रहा है, यहाँ तक कि चैतन्य भी इन्हीं सम्प्रदायों में से एक के (मध्वाचार्य के सम्प्रदाय के) अनुयायी थे। अस्तु, रामानुज के मतानुसार नित्य पदार्थ तीन हैं—ईश्वर, जीवात्मा और जड़-प्रपंच। सभी जीवात्माएँ नित्य हैं, परमात्मा के साथ उनका भेद सदैव बना रहेगा, और उनकी स्वतन्त्रता का कभी लोप न होगा। रामानुज कहते हैं, तुम्हारी आत्मा हमारी आत्मा से अनन्त काल के लिए पृथक् रहेगी और यह जड़-प्रपंच, यह प्रकृति भी चिरकाल पृथक् रूप से विद्यमान रहेगी। उनके मतानुसार जड़-प्रपंच वैसा ही सत्य है जैसे कि जीवात्मा और ईश्वर। ईश्वर सबके अन्तर्यामी हैं; और इसी अर्थ को लेकर रामानुज कहीं कहीं परमात्मा को जीवात्मा से अभिन्न—जीवात्मा का सारभूत पदार्थ बताते हैं, और ये जीवात्माएँ प्रलय के समय, जब कि उनके मतानुसार सारी प्रकृति संकुचित अवस्था को प्राप्त होती है, संकुचित हो जाती और कुछ काल उसी अवस्था में रहती हैं और दूसरे कल्प के आरम्भ में वे अपने पिछले कर्मों के अनुसार फिर विकास पाती और अपना कर्मफल भोगती रहती हैं। रामानुज का मत है कि जिस कर्म से आत्मा की स्वाभाविक पवित्रता और पूर्णता का संकोच हो वही असत्कर्म है, और जिससे उसका विकास हो वह सत्कर्म। जो कुछ आत्मा के विकास में सहायता पहुँचाए वह अच्छा है और जो कुछ उसे संकुचित करे वह बुरा। और इसी तरह आत्मा की प्रगति हो रही है, कभी तो

रामानुज का मत।

वह संकुचित हो रही है और कभी विकसित। अन्त में ईश्वर की कृपा से उसे मुक्ति मिलती है। रामानुज कहते हैं, जो शुद्धस्वभाव हैं और भगवत्कृपाः प्राप्ति के प्रयत्न में लगे हैं वे ही उसे पाते हैं।

श्रुति में एक प्रसिद्ध वाक्य है, "आहारशुद्धौ सत्त्वशुद्धिः सत्त्वशुद्धौ ध्रुवा स्मृतिः।" "जब आहार शुद्ध होता है तब सत्त्व भी शुद्ध हो जाता है, और सत्त्व शुद्ध होने पर स्मृति अर्थात् ईश्वर-स्मरण (अद्वैतवादियों के लिए स्वकीय पूर्णता की स्मृति) ध्रुव, अचल और स्थायी हो जाता है।" इस वाक्य को लेकर भाष्यकारों में घनघोर विवाद हुआ है। पहली बात तो यह है कि इस 'सत्त्व' शब्द का क्या अर्थ है। हम लोग जानते हैं, सांख्य के अनुसार—और इस विषय को हमारे सभी दर्शन-सम्प्रदायों ने स्वीकार किया है कि—इस देह का निर्माण तीन प्रकार के उपादानों से हुआ है,—सत्त्व, रज और तम। साधारण मनुष्यों की यह धारणा है कि वे तीनों गुण हैं, परन्तु वास्तव में वे गुण नहीं, वे संसार के उपादान-कारण-स्वरूप हैं। और आहार शुद्ध होने पर यह सत्त्व-पदार्थ निर्मल हो जाता है। शुद्ध सत्त्व को प्राप्त करना ही वेदान्त का एकमात्र उपदेश है। मैंने तुमसे पहले भी कहा है कि जीवात्मा स्वभावतः पूर्ण और शुद्धस्वरूप है और वेदान्त के मत में वह रज और तम दो पदार्थों से घिरा हुआ है। सत्त्व पदार्थ अत्यन्त प्रकाशस्वभाव है और उसके भीतर से आत्मा की ज्योति जगमगाती हुई स्वच्छन्दतापूर्वक उसी प्रकार निकलती है जिस प्रकार शीशे के भीतर से आलोक। अतएव यदि रज और तम पदार्थ दूर हो जायँ और केवल सत्त्व रह जाय, तो आत्मा की शक्ति और पवित्रता प्रकाशित हो जायेगी, और वह अपने को पहले से अधिक व्यक्त कर सकेगी। अतएव यह सत्त्वप्राप्ति अत्यन्त आवश्यक है और श्रुति कहती है, "आहार शुद्ध होने पर सत्त्व शुद्ध होता है।" रामानुज ने 'आहार' शब्द को भोज्य पदार्थ के अर्थ में ग्रहण किया है और उन्होंने

रामानुज और आहार-शुद्धि।

इसे अपने दर्शन के अंगों में से एक मुख्य अंग माना है। इतना ही नहीं, इसका प्रभाव सम्पूर्ण भारत पर और भिन्न भिन्न सभी सम्प्रदायों पर पड़ा है। अतएव हमारे लिए इसका अर्थ समझ लेना अत्यावश्यक है, क्योंकि रामानुज के मत से यह आहार-शुद्धि हमारे जीवन का एक मुख्य अवलम्ब है। रामानुज का कथन है कि तीन प्रकार के दोषों से खाद्य पदार्थ दूषित हो जाता है। प्रथम है जाति-दोष अर्थात् भोज्य पदार्थों की जाति में प्रकृतिगत दोष जैसे कि लहसुन, प्याज और इसी प्रकार के अन्यान्य पदार्थ। दूसरा है आश्रयदोष अर्थात् जिस पदार्थ को कोई दूसरा छू लेता है अर्थात् जो पदार्थ किसी दूसरे के हाथ से मिलता है वह छूनेवाले के दोषों से दूषित हो जाता है; दुष्ट मनुष्य के हाथ का भोजन तुम्हें भी दुष्ट कर देगा। मैंने स्वयं भारत के बड़े बड़े अनेक महात्माओं को उनके जीवन-काल में दृढ़तापूर्वक इस नियम का पालन करते हुए देखा है। और हाँ, भोजन देनेवाले के — यहाँ तक कि यदि किसी ने कभी भोजन छुआ हो, तो उसके भी गुणदोषों के समझ लेने की उनमें यथेष्ट शक्ति थी, और यह मैंने अपने जीवन में एक बार नहीं, सैकड़ों बार प्रत्यक्ष किया है। तीसरा है निमित्तदोष; भोज्य पदार्थों में बाल, कीड़े या धूल पड़ जाने से निमित्तदोष होता है। हमें इस समय इस शेषोक्त दोष से बचने की विशेष चेष्टा करनी चाहिए। भारत पर इसका अत्यन्त प्रभाव है। यदि वह भोजन खाया जाय जो इन तीनों प्रकार के दोषों से मुक्त है, तो अवश्य ही सत्त्वशुद्धि होगी।

अगर ऐसा ही है तो धर्म तो बायें हाथ का खेल हो गया! फिर तो हर-एक मनुष्य धर्मात्मा बन सकता है अगर पाकसाफ भोजन ही से धर्म होता हो।

शंकर और आहार शुद्धि।

जहाँ तक मेरा ख़याल है, इस संसार में ऐसा कमज़ोर या कमहिम्मत कोई भी न होगा जो अपने को इन बुराइयों से न बचा सके। अस्तु। शंकराचार्य कहते हैं, 'आहार' शब्द का अर्थ है इन्द्रियों द्वारा मन में चिन्ताओं का

समावेश, आहरण होना या आना; जब मन निर्मल होता है, तब सत्त्व भी निर्मल हो जाता है, किन्तु इसके पहले नहीं। तुम्हें जो रुचे, वही भोजन कर सकते हो। अगर केवल खाद्य पदार्थ ही सत्त्व को मलमुक्त करता है तो खिलाओ बन्दर को जिन्दगी भर दूध-भात, देखें तो वह एक बड़ा योगी होता है या नहीं! अगर ऐसा ही होता तो गायें और हिरन आदि परम योगी हो गए होते!

यह उक्ति प्रसिद्ध है कि—

"नित नहाने से हरि मिले तो जल जन्तु होई
फल मूल खाके हरि मिले तो बाँदुड़ बाँदराई
तिरन भखन से हरि मिले तो बहुत मृगी अजा"—इत्यादि।

परन्तु इस समस्या की मीमांसा क्या है? आवश्यक दोनों ही हैं। इसमें सन्देह नहीं कि आहार के सम्बन्ध में शंकराचार्य का सिद्धान्त मुख्य है; परन्तु यह भी सत्य है कि शुद्ध भोजन से चिन्ताओं को सहायता मिलती है। दोनों

सामञ्जस्य।

का एक दूसरे से घनिष्ठ सम्बन्ध है। दोनों आवश्यक हैं, परन्तु त्रुटि यही है कि आजकल हम भारतवासी शंकराचार्य का उपदेश भूल गये हैं। हमलोगों ने आहार का अर्थ शुद्ध भोजन मान लिया है। यही कारण है कि जब लोग मुझे यह कहते हुए सुनते हैं कि धर्म अब रसोई में घुस गया है तब वे स्थान से बाहर हो जाते हैं, परन्तु यदि मेरे साथ तुम मद्रास चलते, तो मेरे वाक्यों को स्वीकार कर लेते। बंगाली उनसे बहुत अच्छे हैं। मद्रास में किसी उच्च वर्ण के मनुष्य के भोजन पर यदि किसी नीच जाति की दृष्टि पड़ गई तो वह भोजन फेंक दिया जाता है। परन्तु इतने पर भी, मैंने न देखा कि वहाँ के लोग खाद्याखाद्य-विचार के कारण बहुत कुछ उन्नत हो गए। यदि केवल इस प्रकार या उस प्रकार का भोजन करने ही से और उसे इसकी उसकी दृष्टि से बचाने ही से लोग सिद्ध हो जाते तो तुम देखते कि सभी मद्रासी सिद्ध महात्मा हो गए होते, परन्तु वे वैसे नहीं हैं।

इस प्रकार, यद्यपि दोनों मत एकत्र करके एक सम्पूर्ण सिद्धान्त बनाया गया, किन्तु फिर भी कुछ का कुछ न समझ लेना,—घोड़े के आगे गाड़ी न जोतना। आजकल भोजन और वर्णाश्रम धर्म के सम्बन्ध में बड़ा शोरगुल उठ रहा है और बंगाली तो इन्हें लेकर और भी गला फाड़ रहे हैं। तुममें से हरएक से मेरा प्रश्न है कि तुम वर्णाश्रम के सम्बन्ध में क्या जानते हो? इस समय इस देश में चातुर्वर्ण्य विभाग कहाँ है? मेरे प्रश्नों का उत्तर भी दो। मैं तो वर्णचतुष्टय नहीं देखता। जिस प्रकार हमारे बंगालियों की कहावत है कि बिना सिर के सिरदर्द होता है, उसी प्रकार यहाँ तुम वर्णाश्रम विभाग की रचना करते हो। यहाँ अब चार जातियों का वास नहीं है। मैं केवल ब्राह्मण और शूद्र देखता हूँ। यदि क्षत्रिय और वैश्य हैं, तो वे कहाँ हैं? और ऐ ब्राह्मणो, क्यों तुम उन्हें हिन्दू धर्म के नियमानुसार यज्ञोपवीत धारण करने की आज्ञा नहीं देते?—क्यों तुम उन्हें वेद नहीं पढ़ाते, जो हरएक हिन्दू को पढ़ना चाहिए?—और यदि वैश्य और क्षत्रिय न रहें किन्तु केवल ब्राह्मण और शूद्र ही रहें तो शास्त्रानुसार ब्राह्मणों को उस देश में कदापि न रहना चाहिए जहाँ केवल शूद्र हों; अतएव अपना बोरिया-बधना लेकर यहाँ से कूच कर जाओ। क्या तुम जानते हो, जो लोग म्लेच्छ-भोजन खाते हैं और म्लेच्छों के राज्य में बसते हैं जैसे कि तुम गत हजार वर्षों से बस रहे हो, उनके लिए शास्त्रों में क्या आज्ञा है? क्या उसका प्रायश्चित्त तुम्हें मालूम है? प्रायश्चित्त है तुषानल—अपने ही हाथों अपनी देह जला देना। तुम आचार्य के आसन पर बैठना चाहते हो, परन्तु कपटाचरण नहीं छोड़ते। यदि तुम्हें अपने शास्त्रों पर विश्वास है तो अपने को उसी प्रकार जला दो जिस प्रकार उन एक ख्यातनामा ब्राह्मण ने, जो महावीर अलेक्जन्दर के साथ ग्रीस गये थे, म्लेच्छ का भोजन खा लेने के विचार से तुषानल में अपना शरीर जला दिया था। यदि तुम ऐसा कर सके तो देखोगे, सारी जाति तुम्हारे अधीन हो जाएगी। स्वयं तो तुम अपने शास्त्रों पर

वर्णाश्रम धर्म।

विश्वास नहीं करते और दूसरों का उन पर विश्वास कराना चाहते हो। अगर तुम समझते हो कि इस जमाने में वैसा कठोर प्रायश्चित्त तुम नहीं कर सकते, तो अपनी दुर्बलता स्वीकार करके दूसरों की भी दुर्बलता क्षमा करो, दूसरी जातियों को उन्नत करो, उनकी सहायता करो; उन्हें वेद पढ़ाओ और ऐ बंगाल के ब्राह्मणो, संसार की सभ्य अन्यान्य आर्य-जातियों की तरह तुम भी सदाशय आर्य बनो।

वामाचार।

यह घृण्य वामाचार छोड़ो जो देश का नाश कर रहा है। तुमने भारत के अन्यान्य भाग नहीं देखे। जब मैं देखता हूँ कि हमारे समाज में कितना वामाचार फैला हुआ है, तब उन्नति का इसे बड़ा गर्व रहने पर भी मेरी नज़रों में यह अत्यन्त गिरा हुआ मालूम होता है। इन वामाचार सम्प्रदायों ने मधु-मक्खियों की तरह हमारे बंगाल के समाज को छा लिया है। वे ही जो दिन को गरजते हुए आचार के सम्बन्ध में प्रचार करते हैं, रात को घोर पैशाचिक कृत्य करने से बाज नहीं आते, और अति भयानक ग्रन्थसमूह उनके कर्म के समर्थक हैं। इन्हीं शास्त्रों की आज्ञा मानकर वे उन घोर दुष्कर्मों में हाथ देते हैं। तुम बंगालियों को यह विदित है। बंगालियों के शास्त्र वामाचार-तन्त्र हैं। ये ग्रन्थ ढेरों प्रकाशित होते हैं, जिन्हें लेकर तुम अपनी सन्तानों के मन को विषाक्त करते हो किन्तु उन्हें श्रुतियों की शिक्षा नहीं देते। ऐ कलकत्तावासियो, क्या तुम्हें लज्जा नहीं आती कि अनुवादसहित वामाचार-तंत्रों का यह वीभत्स संग्रह तुम्हारे बालकों और बालिकाओं के हाथ रखा जाय, उनका चित्त विषविह्वल हो और वे जन्म से यही धारणा लेकर पलें कि हिन्दुओं के शास्त्र ये वामाचार ग्रन्थ हैं? यदि तुम लज्जित हो तो अपने बच्चों से उन्हें अलग करो, और उन्हें यथार्थ शास्त्र— वेद, गीता, उपनिषद— पढ़ने दो।

भारत के द्वैतवादी सम्प्रदायों के अनुसार सभी जीवात्माएँ चिरकाल के लिए जीवात्मा ही रहेंगी। ईश्वर जगत् का निमित्त कारण है और उन्होंने पहले ही से

अवस्थित उपादान-कारण से संसार की सृष्टि की। उधर अद्वैतवादियों के मत से ईश्वर संसार के निमित्त और उपादान दोनों कारण हैं। वे केवल संसार के स्रष्टा ही नहीं, किन्तु उन्होंने उपादानभूत अपने ही से संसार प्रसव किया। यही अद्वैतवादियों का सिद्धान्त है। कुछ अजब तरह के

द्वैत और अद्वैत मतानुसार सृष्टितत्व।

द्वैतवादी सम्प्रदाय हैं जिनका यह विश्वास है कि ईश्वर ने अपने ही भीतर से संसार की सृष्टि की। साथ ही वे विश्व से पृथक् भी हैं, और हरएक वस्तु चिरकाल के लिए उस जगन्नियन्ता के सम्पूर्ण अधीन है। ऐसे भी सम्प्रदाय हैं, जो यह मानते हैं कि ईश्वर ने अपने को उपादान बनाकर इस जगत् का उत्पादन किया, और जीव अन्त में सान्तभाव छोड़कर अनन्त होते हुए निर्वाण प्राप्त करेंगे; परन्तु ये सम्प्रदाय लुप्त हो चुके। अद्वैतवादियों का एक वह सम्प्रदाय जिसे कि तुम वर्तमान भारत में देखते हो, शंकर का अनुगामी है। शंकर का मत यह है कि माया के भीतर से देखने के कारण ही ईश्वर संसार का निमित्त और उपादान — दोनों कारण है, किन्तु वास्तव में नहीं। ईश्वर यह विश्वसंसार नहीं बना, बल्कि यह विश्वसंसार है ही नहीं, केवल ईश्वर ही है। अद्वैत वेदान्त का यह मायावाद समझना अत्यन्त कठिन है। हमारे दार्शनिक विषय का यह बहुत ही कठिन अंश है, इसकी आलोचना करने के लिए अब समय नहीं है। तुममें से जो पश्चिमी दर्शनों से परिचित हैं वे जानते हैं, इसका कुछ कुछ अंश कान्ट के दर्शन से मेल खाता है; परन्तु जिन्होंने कान्ट पर लिखे हुए अध्यापक मैक्समूलर के प्रबन्ध पढ़े हैं उन्हें मैं सावधान करता हूँ कि उनके प्रबन्धों में एक बड़ी भारी भूल है। अध्यापक महोदय के मत में जो देश, काल और निमित्त हमारे ज्ञान के प्रतिबन्धक हैं उन्हें पहले कान्ट ने आविष्कृत किया; परन्तु वास्तव में उनके प्रथम आविष्कर्ता शंकर हैं। उन्होने देश, काल और निमित्त को माया के साथ अभिन्न

मायावाद एवं कान्ट के देश-काल-निमित्त (Time-Space-Causality)

रखकर उनका वर्णन किया है। सौभाग्य से शंकर के भाष्यों में वैसे दो एक स्थल मुझे मिल गये। उन्हें मैंने अपने मित्र अध्यापक महोदय के पास भेज दिया। अतः देखो कि कान्ट के पहले भी यह तत्त्व भारत में अज्ञात नहीं था। अस्तु, अद्वैत-वेदान्तियों का यह मायावाद विचित्र ढंग का है। उनके मत में सत्ता केवल ब्रह्म की ही है, यह जो भेद दृष्टिगोचर हो रहा है वह केवल माया के कारण।

यह एकत्व, यह एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म ही हमारा चरम लक्ष्य है और यही भारतीय और पाश्चात्य विचारों का चिर द्वन्द्व भी है। हजारों वर्षों से भारत ने संसार में मायावाद की घोषणा करते हुए उसे खण्डन करने के लिए ताल ठोंककर संसार को ललकारा। संसार की विभिन्न जातियों ने यह चुनौती स्वीकार कर ली। फल यह हुआ कि वे मरीं और तुम जीते हो। भारत की घोषणा यह है कि संसार भ्रम है, इन्द्रजाल है, माया है; अर्थात् चाहे तुम मिट्टी से एक एक दाना बीनकर भोजन करो या चाहे तुम्हारे लिए सोने की थाली में भोजन परोसा जाय, चाहे तुम भव्यभवनवासी हो, चाहे महाशक्तिशाली महाराजाधिराज, अथवा चाहे द्वार-द्वार के भिक्षुक, किन्तु परिणाम सभी का एक है और वह है मृत्यु। गति सभी की एक है, सभी माया है। यही भारत की प्राचीन सूक्ति है। बारम्बार भिन्न भिन्न जातियाँ सिर उठाती और इसके खण्डन करने की चेष्टा करती हैं; वे बढ़ीं, भोगसाधन को उन्होंने अपना ध्येय बनाया, उनके हाथ शक्ति आई, पूर्णतया शक्ति का उन्होंने प्रयोग किया, भोग की चरम सीमा को पहुँचीं और दूसरे ही मुहूर्त में उनकी मृत्यु हुई। हम चिरकाल से खड़े हैं, क्योंकि हम देखते हैं कि हरएक वस्तु माया है। महामाया के बच्चे सदा बचे रहते हैं, परन्तु अविद्या के लाड़ले देखते ही देखते कूच कर जाते हैं।

सब ही माया — त्याग या वैराग्य।

यहाँ एक दूसरे विषय में भी प्राच्य और पाश्चात्य चिन्ताप्रणाली में

भेद है। जिस तरह तुम जर्मन दार्शनिक हेगेल और शोपेनहवर के मत देखते हो, उसी तरह के विचार प्राचीन भारत में भी हुए दीख पड़ते हैं। परन्तु हमारे शुभ भाग्य थे कि हेगेलीय मतवाद का मूलोन्मूलन उसकी अंकुरदशा में ही हो गया था, हमारी जन्मभूमि में उसे बढ़ने और उसकी विषाक्त शाखा-प्रशाखाओं को फैलने नहीं दिया गया। हेगेल की मूल तत्व-कथा यह है कि वह जो एकमात्र निरपेक्ष सत्ता है, अन्धकारमय और विशृंखल है; और साकार व्यष्टि उसकी अपेक्षा श्रेष्ठ है। अर्थात् अ-जगत् से (जगत् नहीं है, इस भाव से) जगत् (जगत् है यह भाव) श्रेष्ठ है, मुक्ति से संसार श्रेष्ठ है। हेगेल का यही मूल भाव है, अतएव उनके मत में तुम संसार में जितना ही कूदोगे, जितनी ही तुम्हारी आत्मा जीवन के कर्मजालों से आवृत होगी उतना ही तुम उन्नत होगे। पश्चिमवाले कहते हैं — क्या तुम देखते नहीं, हम कैसी बड़ी बड़ी इमारतें उठाते हैं, सड़कें साफ रखते हैं, हर तरह के सुख भोगते हैं! इसके पीछे — प्रत्येक इन्द्रिय-भोग के पीछे — दुःख, वेदना, पैशाचिकता और घृणा-विद्वेष चाहे भले ही छिपे हों, किन्तु उससे कोई हानि नहीं!

वेदान्त और हेगेल-दर्शन का मूल पार्थक्य — वेदान्त वैराग्यवादी और हेगेल भोगवादी हैं।

दूसरी ओर हमारे देश के दार्शनिक पहले ही से यह घोषणा कर रहे हैं कि हरएक अभिव्यक्ति, जिसे तुम क्रमविकास कहते हो, उस अव्यक्त की अपने को व्यक्त करने की वृथा चेष्टा मात्र है। हे संसार के सर्वशक्तिशाली कारणस्वरूप! तुम छोटी छोटी गड़हियों में अपना स्वरूप देखने का वृथा प्रयत्न करते हो। कुछ दिनों के लिए यह प्रयत्न करके तुम समझोगे कि यह व्यर्थ था, और जहाँ से तुम आए हो वहीं लौट चलने की ठानोगे। यही वैराग्य है, और यही धर्म की प्रारम्भिक दशा है। बिना त्याग या वैराग्य के धर्म या नीति का उदय कैसे

वैराग्य-तत्व।

हो सकता है? त्याग ही से धर्म का आरम्भ होता है और त्याग ही में उसकी परिसमाप्ति। वेद कहते हैं, "त्याग करो, त्याग करो — इसके सिवा और दूसरा पथ नहीं है।"

"न प्रजया धनेन न चेज्यया
त्यागेनैकेन अमृतत्वमानशुः।"

"मुक्ति न सन्तानों से होती है, न धन से, न यज्ञ से; वह अमृतत्व केवल त्याग से मिलता है।"

यही भारत के सब शास्त्रों का आदेश है। यह सच है कि कितने ही राजा-महाराजों ने सिंहासन पर बैठे हुए भी संसार के बड़े से बड़े त्यागियों के सदृश जीवननिर्वाह किया है, परन्तु जनक जैसे श्रेष्ठ त्यागी को भी कुछ काल के लिए संसार से सम्बन्ध छोड़ना पड़ा था। उनसे बड़ा त्यागी क्या और कोई था? परन्तु इस समय हम सभी जनक कहलाना चाहते हैं। हाँ, वे जनक हैं,— नंगे, भूखे, अभागे बालकों के जनक! जनक शब्द उनके लिए केवल इसी अर्थ में आ सकता है। पूर्वकालीन जनक के समान उनमें ब्रह्मनिष्ठा नहीं है। ये हमारे आजकल के जनक हैं! इस जनकत्व की मात्रा ज़रा कम करके सीधे रास्ते पर आओ। यदि तुम त्याग कर सको तो तुम्हें धर्म मिल सकता है। यदि तुम त्याग नहीं कर सकते, तो तुम पूर्व से लेकर पश्चिम देश तक, सारे संसार में जितनी पुस्तकें हैं, उन्हें पढ़कर धुरन्धर पण्डित हो सकते हो, परन्तु यदि तुम केवल उसी कर्मकाण्ड में लगे रहे तो तुमने कुछ न किया — तुम्हारे भीतर धर्म का लेशमात्र विकास नहीं हुआ।

कलियुग के जनक।

केवल त्याग के द्वारा ही इस अमृतत्व की प्राप्ति होती है। त्याग ही महाशक्ति है। जिसके भीतर इस महाशक्ति का आविर्भाव होता है वह और की तो बात ही क्या, संसार की ओर भी नज़र उठाकर नहीं देखता। तभी सारा

त्याग को ही आदर्श समझना होगा।

संसार उसके निकट गोष्पद-सा नज़र आता है—'ब्रह्माण्डं गोष्पदायते'। त्याग ही भारत की सनातन पताका है। यह पताका समग्र जगत् में फहराकर, मरती हुई सब जातियों को भारत सावधान कर रहा है—सब प्रकार के अत्याचारों एवं असाधुता का तीव्र प्रतिवाद कर रहा है; वह मानो ललकार कर उन्हें कह रहा है, "सावधान, त्याग के पथ का, शान्ति के पथ का अवलम्बन करो, नहीं तो मर जाओगे।" ऐ हिन्दुओ, इस त्याग की पताका को न छोड़ना—इसको और ऊँचा उठाओ। चाहे तुम दुर्बल भले ही हो और त्याग चाहे भले ही न कर सको, परन्तु आदर्श को छोटा मत करो। कहो, 'हम दुर्बल हैं—हम संसार का त्याग नहीं कर सकते,' परन्तु ढोंग रचने के इरादे में मत रहो, शास्त्रों का गला घोटकर धोखे की युक्तियाँ बघारते हुए लोगों की आँखों में धूल मत झोंको। जो लोग इस प्रकार की युक्तियों द्वारा मुग्ध हो जाते हैं, उनके लिए यह उचित है कि वे अवश्य ही अपने अपने शास्त्रों का प्रकृत तत्व समझने की चेष्टा करें। जो हो, कपटता को छोड़ो और मान लो कि हम दुर्बल हैं। कारण, वह त्याग का आदर्श अत्यन्त महान् है। क्या हानि है यदि लड़ाई में लाखों गिर जायँ, यदि दस सिपाही या केवल दो-एक ही वीर विजयी होकर लौटें!

युद्ध में जिन लाखों लोगों का पतन होता है वे सचमुच धन्य हैं!—क्योंकि मानो उनके शोणितरूपी मूल्य से ही संग्राम-विजय खरीदी जाती है। एक को छोड़कर सारे वैदिक सम्प्रदायों ने इस त्याग ही को अपना एकमात्र आदर्श बनाया है। केवल बम्बई प्रान्त के वल्लभाचार्य सम्प्रदाय ने वैसा नहीं किया, और तुममें से अनेकों को विदित है कि जहाँ त्याग नहीं वहाँ अन्त में क्या दशा होती है। इस त्याग के आदर्श की रक्षा के लिए यदि हमें कट्टरता और निरी कट्टरता स्वीकार करनी पड़े, भस्म-मण्डित ऊर्ध्वबाहु जटा-जूटधारियों को स्थान देना पड़े तो वह भी अच्छा है। कारण, यद्यपि वे अस्वाभाविक हैं तथापि मनुष्यत्व का लोप करनेवाली जो विलासिता भारत में

त्यागरूप श्रेष्ठ आदर्श को जातीय जीवन में प्रतिष्ठित करने के लिए झूठे संन्यासी को भी मानना होगा।

घुसकर हमारा खून पी रही है, सारी जाति को कपटाचरण की शिक्षा दे रही है, उस विलासिता के स्थान में त्याग का आदर्श रखकर समग्र जाति को सावधान करने के लिए उनकी अत्यन्त आवश्यकता है। अतएव हमें त्याग का अवलम्बन करना ही पड़ेगा। प्राचीन काल में भारत में त्याग ही की विजय थी, अब भी यह भारत में विजय प्राप्त करेगा। यह त्याग भारत के आदर्शों में अब भी श्रेष्ठ और गरिष्ठ है। यह बुद्ध की भूमि, रामानुज की भूमि, रामकृष्ण परमहंस की भूमि, त्याग की भूमि, वह भूमि जहाँ प्राचीन काल से कर्मकाण्ड के विरुद्ध प्रतिवाद किया गया और जहाँ आज भी ऐसे सैकड़ों महापुरुष हैं जिन्होंने सब विषयों का त्याग कर दिया और जीवन्मुक्त बने बैठे हैं, क्या वह भूमि अपने आदर्श को छोड़ देगी? कदापि नहीं। यहाँ ऐसे मनुष्य रह सकते हैं जिनका मस्तिष्क पाश्चिमी विलासिता के आदर्श से विकृत हो गया है, यहाँ ऐसे हजारों नहीं लाखों मनुष्य रह सकते हैं जो विलास मद में चूर हो रहे हैं—जो पश्चिम के शाप में—इन्द्रियपरतन्त्रता में—संसार के शाप में डूबे हुए हैं, किन्तु इतने पर भी हमारी मातृभूमि में हजारों ऐसे भी होंगे, धर्म जिनके निकट सत्य है—बकवास नहीं, जो जरूरत पड़ने पर फलाफल का विचार बिना किये ही सब कुछ त्याग देने के लिए सदा तैयार हो जायेंगे।

हमारे इन सब सम्प्रदायों में एक और साधारण आदर्श है। उसका भी जिक्र मैं यहाँ करता हूँ। यह भी एक महत्त्वपूर्ण विषय है। यह सर्वसम्मत विचार केवल भारत ही में विशेष रूप से पाया जाता है कि धर्म को प्रत्यक्ष करना चाहिए।

"नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो
न मेधया न बहुना श्रुतेन।"

"इस आत्मा को न तो कोई वाक्यबल से प्राप्त कर सकता है, न बुद्धिकौशल से और न अधिक शास्त्राध्ययन से।" इतना ही नहीं, संसार में केवल हमारे ही शास्त्र ऐसे हैं जो घोषणा करते हैं कि आत्मा को कोई न तो शास्त्रों का पाठ करके प्राप्त कर सकता है, न वाक्यों से और न वक्तृता ही की बदौलत, किन्तु इसके लिए प्रत्यक्ष अनुभव होना चाहिए। यह गुरु से शिष्य को मिलता है। जब शिष्य में अन्तर्दृष्टि होती है, तब उसके निकट हरएक अर्थ का स्पष्टीकरण हो जाता है और इस तरह वह प्रत्यक्ष अनुभव करता है।

प्रत्यक्षानुभूति ही धर्म है।

एक बात और है। बंगाल में एक अद्भुत रीति का प्रचलन है। वह है कुलगुरुप्रथा। वह यह कि मेरा बाप तुम्हारे बाप का गुरु था, इसलिए मैं तुम्हारा गुरु हूँ! गुरु किसको कहना चाहिए इस सम्बन्ध में श्रुतिसम्मत अर्थ यह है—गुरु वे हैं जो वेदों का रहस्य समझते हैं, कोई ग्रन्थकीट नहीं, वैयाकरण नहीं, बड़ा पण्डित नहीं किन्तु वे हैं जिन्हें वेदों के यथार्थ तात्पर्य का ज्ञान है।

कुलगुरु-प्रथा।

पण्डितों की अवस्था तो इस प्रकार है—

"यथा खरश्चन्दनभारवाही
भारस्य वेत्ता न तु चन्दनस्य।"

अर्थात् "जिस प्रकार चन्दन का भार ढोनेवाला गधा केवल चन्दन के भार को ही जानता है, परन्तु उसके गुणों को नहीं।" ऐसे मनुष्यों की हमें आवश्यकता नहीं। यदि उन्होंने स्वयं धर्मोपलब्धि नहीं की, तो वे हमें कौन बड़ी शिक्षा दे सकते हैं? जब मैं इस कलकत्ता शहर का एक बालक था तब धर्म की शिक्षा के लिए जहाँ-तहाँ जाया करता था, और एक लम्बा व्याख्यान सुनकर वक्ता महोदय से पूछता था, क्या आपने परमात्मा को देखा है? ईश्वरदर्शन के नाम ही से उसके आश्चर्य का ठिकाना न रहता, और एकमात्र श्रीरामकृष्ण परमहंस ही थे जिन्होंने मुझसे कहा कि हाँ, हमने ईश्वर को देखा है। उन्होंने केवल इतना

ही नहीं कहा किन्तु यह भी कहा कि हम तुम्हें भी उस मार्ग पर ला सकते हैं जिससे चलकर तुम ईश्वरदर्शन कर सकते हो। शास्त्रों का यथेच्छ अर्थ कर लेने ही से कोई गुरु नहीं हो जाता।

"वाग्वैखरी शब्दझरी शास्त्रव्याख्यानकौशलम्
वैदुष्यं विदुषां तद्वत् भुक्तये न तु मुक्तये।*

"हर तरह से शास्त्रों की व्याख्या कर लेने का कौशल केवल पण्डितों के मनोरंजन के लिए है, मुक्ति के लिए नहीं।"

जो 'श्रोत्रिय' हैं—वेदों का रहस्य समझते हैं, और जो 'अवृजिन' हैं—निष्पाप हैं, जो 'अकामहत' हैं—जिन्हें काम छू भी नहीं गया है—

सच्चा गुरु कौन है?

जो तुम्हें शिक्षा देकर तुमसे अर्थप्राप्ति की आशा नहीं रखते, वे ही सन्त हैं, वे ही साधु हैं। जिस प्रकार वसन्त-काल हरएक पेड़-पौधे को पत्तियों और कलियों से हराभरा कर देता है, परन्तु पौधे से प्रतिदान की प्रार्थना नहीं करता—क्योंकि भलाई करना उसका स्वाभाविक धर्म है—प्रकृत गुरु ठीक इसी प्रकार के हैं।

"तीर्णाः स्वयं भीमभवार्णवं जनाः अहेतुनान्यानपि तारयन्तः।"

"वे इस भीषण भवसागर के उस पार स्वयं भी चले गये हैं और बिना किसी लाभ की आशा किये दूसरों को भी पार करते हैं।"

ऐसे ही मनुष्य गुरु हैं, दूसरा कोई गुरुपदवाच्य नहीं कहा जा सकता। क्योंकि—

"अविद्यायामन्तरे वर्तमानाः स्वयं धीराः पण्डितम्मन्यमानाः।
जङ्घन्यमानाः परियन्ति मूढा अन्धेनैव नीयमाना यथान्धाः॥"‡

"अविद्या के अन्धकार में डूबे हुए भी अपने को अहंकारवश सुधी और महापण्डित समझनेवाले ये मूर्ख दूसरों की सहायता करना चाहते हैं,

---

* विवेकचूडामणि, ५८

‡ कठोपनिषद्, २–५

परन्तु ये कुटिल मार्ग में ही भ्रमण किया करते हैं। अन्धे का हाथ पकड़कर चलनेवाले अन्धे की तरह ये गुरु और शिष्य दोनों ही गड्ढे में गिरते हैं।"

यही वेदों की उक्ति है। इस उक्ति को अपनी वर्तमान प्रथा से मिलाओ। तुम वैदान्तिक हो, तुम सच्चे हिन्दू हो, तुम सनातन धर्म के माननेवाले हो। मैं तुम्हें और भी सच्चे सनातनधर्मी बनाना चाहता हूँ। तुम सनातन मार्ग का जितना ही पक्ष लोगे, उतना ही बुद्धिमानों का काम करोगे; और जितना ही तुम आजकल की कट्टरता के पीछे पड़ोगे, उतना ही तुमसे मूर्खों का काम होगा। तुम अपने उसी अति प्राचीन सनातन पथ से चलो, क्योंकि उस समय के शास्त्रों के हरएक शब्द में वीर्यवान, स्थिर और निष्कपट हृदय की छाप लगी हुई है; उसका हर एक स्वर अमोघ है। इसके बाद जातीय पतन शुरू हुआ—शिल्प में, विज्ञान में, धर्म में, हर एक विषय में जातीय अवनति का आरम्भ हो गया। उसके कारणों पर विचार करने का अब अवकाश नहीं है; परन्तु अवनति के बाद जो पुस्तकें लिखी गई हैं, उन सबमें यही जातीय व्याधि और जातीय पतन ही के प्रमाण मिलते हैं,—जातीय वीर्य के बदले उनसे केवल रोने की आवाज सुनाई पड़ती है। जाओ, जाओ—उस प्राचीन समय के भाव लाओ जब जातीय शरीर में वीर्य और जीवन था। तुम फिर वीर्यवान बनो, उसी प्राचीन झरने का पानी पीओ—भारत को पुनर्जीवित करने का एकमात्र उपाय अब यही है।

मैं तुम्हें सनातन मार्ग के अधिकार का पक्षपाती बनाना चाहता हूँ।

अद्वैतवादियों के मत में हमलोगों का व्यक्तित्व, जो इस समय विद्यमान है, भ्रम मात्र है। समग्र संसार के लिए इस बात की धारणा करना बहुत ही कठिन है। जभी तुम किसी से कहो कि वह 'व्यक्ति' नहीं है, वह इतना डर जाता है कि वह सोचता है, उसका अहंत्व (व्यक्तित्व), चाहे वह कैसा ही क्यों न

'मैंपन' के लोप का तात्पर्य।

हो, मानो छिन जायेगा। परन्तु अद्वैतवादी कहते हैं, वास्तव में अहंत्व जैसी कोई वस्तु तुममें है ही नहीं। तुम्हारे जीवन के प्रति मुहूर्त में तुम्हारा परिवर्तन हो रहा है। कभी तुम बालक थे, तब तुम एक तरह विचार करते थे, इस समय तुम युवक हो, अब दूसरी तरह के विचार करते हो; और जब तुम वृद्ध हो जाओगे, तब दूसरी ही तरह सोचोगे। सभी वस्तुओं का परिणाम हो रहा है। यदि यह सच है, तो तुम्हारा 'मैं-पन' कहाँ रह गया? यह 'मैं-पन' या व्यक्तित्व न शरीर के सम्बन्ध में रह जाता है, न मन के सम्बन्ध में और न विचारों के सम्बन्ध में। अतः जो है वह आत्मा ही है। और अद्वैतवादी कहते हैं, यह आत्मा स्वयं ब्रह्म है। दो अनन्त कदापि रह नहीं सकते। केवल एक ही व्यक्ति है जो अनन्तस्वरूप है।

सच तो यह है कि हम विचारशील प्राणी हैं, अतएव हमें विचार करने की जरूरत है। अच्छा, तो विचार या युक्ति है क्या चीज? वह है श्रेणी-विभाजीकरण; पदार्थों को क्रमशः ऊँची से ऊँची श्रेणी में अन्तर्भुक्त कर अन्त में किसी ऐसी जगह पर पहुँचाना जिसके ऊपर फिर उनकी गति न हो। किसी ससीम वस्तु को चिर विश्राम तभी मिल सकता है जब वह असीम की श्रेणी तक पहुँचाई जायेगी। किसी ससीम वस्तु को लेकर तुम उसके कारणों की खोज करते रहो, परन्तु जब तक तुम उसे अनन्त तक नहीं पहुँचाते तब तक तुम्हें शान्ति नहीं मिल सकती, और अद्वैतवादी कहते हैं, अस्तित्व केवल इसी अनन्त का है, और सब माया है, और किसी की कोई सत्ता नहीं। कोई भी जड़ वस्तु क्यों न हो, उसका यथार्थ स्वरूप यही ब्रह्म है। हम यही ब्रह्म हैं, और नामरूप आदि जितने हैं सब माया है। नाम और रूप हटा दो तो तुम और हम एक हो जायेंगे। तुम्हें इस 'हम' शब्द को अच्छी तरह समझना चाहिए। प्रायः लोग कहते हैं, 'यदि हम ब्रह्म हैं तो जो हमारे जी में आया उसे हम क्यों

'सच्चा विचार' क्या है और उसका परिणाम।

नहीं कर सकते?' यहाँ यह 'हम' शब्द का व्यवहार दूसरे ही अर्थ में हो रहा है। जब तुम अपने को बद्ध समझ रहे हो तब तुम आत्मस्वरूप ब्रह्म—जिन्हें कोई अभाव नहीं—जो अन्तर्ज्योति हैं, नहीं रह गए। वे अन्तराराम हैं, आत्मतृप्त हैं, वे कुछ भी नहीं चाहते, उनमें कोई कामना नहीं है, वे सम्पूर्ण निर्भय और सम्पूर्ण स्वाधीन हैं। वे ही ब्रह्म हैं। उसी ब्रह्मस्वरूप में हम सभी एक हैं।

द्वैत और अद्वैत मत में पार्थक्य—श्रीरामकृष्ण के जीवन में दोनों मतों का समन्वय।

अब यह समझ में आ गया कि द्वैतवादियों और अद्वैतवादियों में बड़ा अन्तर है। तुम देखोगे, शंकराचार्य जैसे बड़े बड़े भाष्यकारों ने भी अपने मत की पुष्टि के लिए, जगह जगह पर, शास्त्रों का ऐसा अर्थ किया है जो मेरी समझ में समीचीन नहीं। रामानुज ने भी शास्त्रों का ऐसे ढंग से अर्थ किया है कि वह साफ समझ में नहीं आता। हमारे पण्डितों की यह धारणा है कि इन इतने सम्प्रदायों में से एक ही सम्प्रदाय सत्य है, बाकी सब झूठे हैं, यद्यपि उन्होंने श्रुतियों में देखा है—'एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति'—सत्ता एक ही की है परन्तु मुनियों ने भिन्न भिन्न नामों से उसका वर्णन किया है। हमारे जातीय जीवन का मूलमन्त्र यही है, और इसको काम में लाना ही हमारी जाति की समग्र जीवन-समस्या है। भारत के कुछ थोड़े से पण्डितों को छोड़कर—मैं 'पण्डित' शब्द से यथार्थ धार्मिक एवं ज्ञानी व्यक्ति को लक्ष्य कर रहा हूँ—हम सब सर्वदा ही इस तत्व को भूल जाते हैं। हम इस महान् तत्व को सदा भूल जाते हैं और तुम देखोगे, अधिकांश पण्डित—लगभग ९८ फी सदी—इस मत के पोषक हैं कि या तो अद्वैतवाद सत्य है, अथवा विशिष्टाद्वैतवाद अथवा द्वैतवाद; और यदि तुम पाँच मिनट के लिए वाराणसी धाम के किसी घाट में चलकर बैठो, तो तुम्हें मेरी बात का प्रमाण मिल जायेगा। तुम देखोगे कि इन भिन्न भिन्न सम्प्रदायों का मत लेकर लोग खूब

लड़-झगड़ रहे हैं। हमारे समाज और पण्डितों की ऐसी ही दशा है। इस द्वन्द्व और कलह के भीतर एक ऐसे मनुष्य का उदय हुआ, जिन्होंने भारत के विभिन्न सम्प्रदायों के भीतर जो सामञ्जस्य है, उसे अपने जीवन में परिणत कर दिखाया। यह बात मैं परमहंस श्रीरामकृष्ण देव को लक्ष्य करके कह रहा हूँ। उनके जीवन की आलोचना करने ही से उभय मतों की आवश्यकता समझ में आ जाती है। वे गणितज्योतिष के भूकेन्द्रिक (Geocentric) और सूर्य-केन्द्रिक (Heliocentric) मतों की तरह हैं। जब पहले पहल बालक को ज्योतिष की शिक्षा दी जाती है, तब उसे भूकेन्द्रिक मत ही पहले सिखलाया जाता है, परन्तु जब वह ज्योतिष के सूक्ष्मातिसूक्ष्म तत्वों का अध्ययन करता है, तब सूर्यकेन्द्रिक मत की शिक्षा उसके लिए आवश्यक हो जाती है। तब वह ज्योतिष के तत्व पहले से और अच्छा समझता है। पंचेन्द्रियों में फँसा हुआ जीव स्वभावतः द्वैतवादी होता है। जब तक हम पंचेन्द्रियों में पड़े हैं, तब तक हम सगुण ईश्वर ही देख सकते हैं—सगुण ईश्वर के सिवा और दूसरा भाव हम नहीं देख सकते। हम संसार को ठीक इसी रूप में देखेंगे। रामानुज कहते हैं, "जब तक तुम अपने को देह, मन या जीव सोचोगे तब तक तुम्हारे ज्ञान की हरएक क्रिया में जीव, जगत् और इन दोनों के कारण-स्वरूप वस्तुविशेष का ज्ञान रहेगा।" परन्तु मनुष्य के जीवन में कभी कभी ऐसा भी समय आता है, जब शरीर-ज्ञान बिलकुल चला जाता है, जब मन भी क्रमशः सूक्ष्मानुसूक्ष्म होता हुआ प्रायः अन्तर्हित हो जाता है, जब देहबुद्धि में डाल देनेवाली भीति और दुर्बलता के सभी भाव मिट जाते हैं। तभी —केवल तभी उस प्राचीन महान् उपदेश की सत्यता समझ में आती है। वह उपदेश है—

"इहैव तैर्जितः सर्गो येषां साम्ये स्थितं मनः।
निर्दोषं हि समं ब्रह्म तस्माद् ब्रह्मणि ते स्थिताः॥" *

* गीता, ५–१९

"जिनका मन साम्यभाव में अवस्थित है उन्होंने यहीं संसार को जीत लिया है। ब्रह्म निर्दोष और सर्वत्र सम है, अतएव वे ब्रह्म ही में अवस्थित हैं।"

"समं पश्यन् हि सर्वत्र समवस्थितमीश्वरम्।
न हिनस्त्यात्मनात्मानं ततो याति परां गतिम्॥ †

"सर्वत्र ईश्वर को सम भाव से सर्वत्र अवस्थित देखकर वे आत्मा द्वारा आत्मा की हिंसा नहीं करते,—अतएव परम गति को प्राप्त होते हैं।"

---

† गीता, १३–२८

१९. गीता-तत्व

(कलकत्ते के निवास-काल में स्वामीजी अपना अधिकांश समय तत्कालीन आलमबाजार मठ में व्यतीत करते थे। इसी समय कलकत्तावासी कुछ युवक जो पहले ही से तैयार थे, स्वामीजी के द्वारा ब्रह्मचर्य तथा संन्यास व्रत में दीक्षित हुए। स्वामीजी इन्हें ध्यान-धारणा एवं गीता-वेदान्त आदि की शिक्षा देकर भावी कर्म के लिए उपयुक्त बनाने लगे। एक दिन गीता-व्याख्या के समय उन्होंने जो उपदेश दिया था उसका सारांश एक ब्रह्मचारी द्वारा लिपिबद्ध हो सुरक्षित था। वही यहाँ 'गीता-तत्व' के नाम से उध्दृत किया गया है।)

गीता महाभारत का एक विशिष्ट अंश है। गीता का मर्म समझने की चेष्टा करने के पूर्व अन्य कई विषयों को जान लेना आवश्यक है। पहिली

क्या गीता ऐतिहासिक है?

बात विचारने की यह है कि गीता महाभारत में प्रक्षिप्त है अथवा महाभारत का ही अंशविशेष है अर्थात् गीता वेदव्यासप्रणीत है या नहीं? दूसरी बात, कृष्ण नामक कोई व्यक्ति थे या नहीं? तीसरी बात, जिस युद्ध का वर्णन गीता में है वह वास्तव में हुआ था या नहीं? चौथी बात—अर्जुन आदि यथार्थ ऐतिहासिक व्यक्ति हैं या नहीं? पहिले यह विचारना होगा कि इस प्रकार की शंकाओं का कारण क्या है।

पहिली बात—वेदव्यास नाम के अनेक व्यक्ति थे—उनमें बाद-

वेदव्यास।

रायण व्यास या द्वैपायन व्यास, कौन इसके प्रणेता हैं? व्यास तो केवल एक उपाधि है। जिस किसी ने किसी पुराण या शास्त्र की रचना की है वही व्यास नाम से पुकारा जाने लगा। इतिहास में व्यास के समान ही विक्रमादित्य एक सामान्य नाम है। और शंकराचार्य के भाष्य के पूर्व सर्वसाधारण में गीता का इतना प्रचार नहीं था।

इस भाष्य के पश्चात् ही गीता का इतना प्रचार सर्वसाधारण में हुआ। कुछ लोगों का कहना है कि पहिले गीता का बोधायन भाष्य प्रचलित था। इस कथन के प्रमाणित होने पर गीता का प्राचीनत्व और व्यास-कर्तृत्व आदि कई विषय सिद्ध अवश्य हो जायेंगे, किन्तु वेदान्त-दर्शन के जिस बोधायन भाष्य की कथा सुनी जाती है, जिसके आधार पर रामानुज ने श्रीभाष्य बनाया, शंकर के भाष्य में उध्दृत अंशविशेष जिस बोधायनकृत भाष्य का अंश समझा जाता है, जिसकी बात लेकर स्वामी दयानन्द इतनी उछल-कूद करते थे, उसे समस्त भारत को छान डालने पर भी मैं आज तक न पा सका। सुनता हूँ कि रामानुज ने भी किसी की दीमक-खाई पुस्तक से अपने भाष्य की रचना की थी। जब वेदान्त के बोधायन भाष्य की यह अन्धकारपूर्ण अनिश्चित दशा है तो गीता के सम्बन्ध में उनके बनाये भाष्य के आधार पर कोई सिद्धान्त निश्चित करना वृथा प्रयास मात्र होगा। अनेक लोगों की यह भी धारणा है कि गीता शंकराचार्य प्रणीत है। उन लोगों का यह भी कहना है कि शंकराचार्य ने गीता की रचना करके उसे महाभारत में समाविष्ट कर दिया।

कृष्ण।

दूसरी बात—कृष्ण के सम्बन्ध में यह सन्देह है:—छान्दोग्य उपनिषद में एक स्थान पर लिखा है कि देवकी-पुत्र कृष्ण ने घोर नामक किसी ऋषि से उपदेश ग्रहण किया। महाभारत में कृष्ण द्वारिका के राजा कहे गये हैं, और विष्णुपुराण में गोपियों के साथ कृष्ण के विहार की कथायें वर्णित हैं, और भागवत में कृष्ण की रासलीला का विस्तारपूर्वक वर्णन है। अति प्राचीन समय में हमारे देश में मदनोत्सव नामक एक त्योहार प्रचलित था। कृष्ण के नाम पर इसी उत्सव को लोग अब होली के रूप में मनाते हैं। कौन कह सकता है कि रासलीलादि की भी यही दशा नहीं हुई है? पहिले हमारे देश में ऐतिहासिक सत्यानुसंधान की प्रवृत्ति बहुत ही कम थी। अतः जिनकी समझ में जो आया वे वही कह गये और पहिले जमाने में लोगों में नाम तथा यश की आकांक्षा बहुत ही कम

थी। ऐसा अनेक बार हुआ है कि लोगों ने ग्रन्थों की रचना करके उसे अपने गुरु या किसी अन्य व्यक्ति के नाम से प्रसिद्ध कर दिया। ऐसे स्थानों पर ऐतिहासिक अनुसन्धान करनेवालों को बड़ी विपत्ति का सामना करना पड़ता है। पहिले भूगोल का भी कुछ ज्ञान नहीं था — इसीलिए तो मधु-सागर और दधि-सागर की रचना हुई! पुराणों में किसी की आयु अयुत वर्ष, तो किसी की लाख वर्ष की लिखी है, किन्तु वेद में लिखा है कि 'शतायुर्वै पुरुषः'। अब हम किसकी बात मानें? अस्तु, कृष्ण के सम्बन्ध में कोई निश्चित सिद्धान्त करना एक प्रकार से असम्भव है। लोगों का एक स्वभाव-सा हो गया है कि वे किसी महापुरुष के मूल चरित्र में नाना प्रकार की अस्वाभाविक कल्पनायें जोड़ देते हैं। कृष्ण के सम्बन्ध में सब से ठीक यही कल्पना जँचती है कि वे एक राजा थे। यही बात अधिक सम्भव है। प्राचीन समय में हमारे देश में राजा लोग ब्रह्मज्ञान के प्रचार में अधिक उत्साह दिखाते थे। एक बात और भी ध्यान में रखना आवश्यक है कि गीताकार चाहे जो हों किन्तु गीता में जो शिक्षा दी गई है वही शिक्षा समग्र महाभारत में दी गई है। इससे जान पड़ता है कि उसी समय किसी महापुरुष ने नये ढंग से समाज में इस प्रकार ब्रह्मज्ञान का प्रचार किया और देखा जाता है कि प्राचीन काल में विभिन्न सम्प्रदाय उत्पन्न हुए — और उनमें से हरएक के लिए एक एक शास्त्र की भी रचना हो गई। कुछ दिन के बाद सम्प्रदाय और शास्त्र दोनों ही का लोप हो गया अथवा सम्प्रदाय तो लुप्त हो गया, केवल शास्त्र ही शेष रह गया। अस्तु, यह भी अनुमान होता है कि गीता सम्भवतः इसी प्रकार किसी सम्प्रदायविशेष का शास्त्र रहा होगा जो सम्प्रदाय इस समय लुप्त हो गया है, किन्तु उसके उच्च विचार अभी तक पाये जाते हैं।

तीसरी बात — यद्यपि कुरुक्षेत्र के युद्ध का कोई विशिष्ट प्रमाण नहीं है, तथापि कुरु-पाञ्चाल युद्ध के होने में कोई सन्देह नहीं है। दूसरी बात **कुरुक्षेत्र का युद्ध।** यह भी है कि युद्ध के समय इतने ज्ञान, भक्ति और

योग की बातें कैसे हो सकीं? और क्या उस समय कोई सांकेतिक-लिपि-कुशल वहाँ उपस्थित था जो समस्त वार्तालाप उसी समय लिखता गया? कोई कोई कहते हैं कि कुरुक्षेत्र का युद्ध रूपक-मात्र है; इसका आध्यात्मिक तात्पर्य सत्-असत् प्रकृति का संग्राम है — यह अर्थ भी असंगत नहीं जँचता।

अर्जुनादि पाण्डवगण।

चौथी बात — अर्जुनादि की ऐतिहासिकता के विषय में सन्देह है। 'शतपथ ब्राह्मण' अति प्राचीन ग्रन्थ है। उसमें एक स्थान पर सब अश्वमेध यज्ञ करनेवालों का नाम दिया हुआ है। उस स्थान पर अर्जुनादि के नाम का कहीं पता भी नहीं है, किन्तु परीक्षित और जनमेजय का नाम दिया हुआ है। महाभारत में लिखा है, युधिष्ठिर अर्जुनादि ने अश्वमेध यज्ञ किया था।

ऐतिहासिक गवेषणा की प्रयोजनीयता।

इस स्थान पर एक बात विशेष रूप से स्मरण रखनी होगी कि इन सब ऐतिहासिक तत्वों के अनुसन्धान से हमारे प्रकृत उद्देश्य अर्थात् धर्म-साधना की शिक्षा का कोई सम्बन्ध नहीं है। यदि ये आज ही झूठ सिद्ध हो जायँ तो भी हमारी कोई हानि न होगी। तब इतनी ऐतिहासिक खोज की क्या आवश्यकता है? आवश्यकता यह है कि हमें सत्य का ज्ञान प्राप्त करना ही होगा, कुसंस्कार में आबद्ध रहने से काम नहीं चलेगा। इस देश में इस विषय में बड़ी सामान्य धारणा है। अनेक सम्प्रदायों का यह भी विश्वास है कि किसी अच्छे विषय के प्रचार के लिए दो-एक झूठ भी बोलना पड़े तो उसमें कुछ हर्ज़ नहीं है, अर्थात् the end justifies the means. इसीलिए अनेक तंत्रों में "पार्वतीं प्रति महादेव उवाच" लिखा मिलता है। किन्तु सत्य की धारणा करना, सत्य पर विश्वास करना, यही हमारे लिए उचित है। कुसंस्कार यहाँ तक मनुष्य को आबद्ध कर लेता है कि ईसू और मुहम्मद आदि महापुरुष भी अनेक कुसंस्कारों में विश्वास करते थे। तुम्हें सत्य की ओर लक्ष्य रखना होगा, कुसंस्कार का सम्पूर्ण रूप से त्याग करना होगा।

इस समय विचार यह करना है कि गीता में है क्या? उपनिषदों की आलोचना करने से पता चलेगा कि उनमें अनेक अप्रासंगिक कथाओं के चलते चलते सहसा एक महासत्य की अवतारणा होती है, जिस भाँति जंगल में अपूर्व सुन्दर गुलाब—उसकी जड़, पत्ता, काँटा सभी कुछ हो। गीता में और क्या है? ये ही सत्य गीता में भलीभाँति सजाये गये हैं—जैसे फूल की कोई माला या गुच्छा सजाया गया हो। उपनिषद में श्रद्धा की तो अनेक कथाएँ हैं, किन्तु भक्ति सम्बन्धी इस प्रकार का विशद वर्णन नहीं है, ऐसा कहने में भी कोई हानि नहीं। गीता में बार-बार इसी भक्ति का उल्लेख है और इसी भक्ति के भाव परिस्फुट हैं।

गीता और उपनिषदों का सम्बन्ध।

आइए, अब हम गीता के कुछ प्रधान विषयों की आलोचना करें। पहले के धर्मशास्त्रों की अपेक्षा गीता में नवीनता क्या है? नवीनता यही है कि पहिले योग, ज्ञान, भक्ति आदि प्रचलित तो थे, किन्तु सभी में परस्पर विवाद था, उनमें समन्वय लाने की किसी ने चेष्टा ही नहीं की। गीताकार ने यह समन्वय लाने की विशेष चेष्टा की है। उन्होंने उस समय के सभी सम्प्रदायों में जो कुछ अच्छा था सभी को ग्रहण किया है। किन्तु वे भी उस समन्वय का भाव प्रदर्शित न कर सके जिसे उन्नीसवीं शताब्दी में श्रीरामकृष्ण परमहंस देव ने व्यक्त किया है। दूसरी बात निष्काम कर्म है। आजकल निष्काम कर्म के अनेक अर्थ लगाये जाते हैं। कोई कोई कहते हैं कि निष्काम होने का अर्थ उद्देश्यहीन होना है। यदि निष्काम कर्म का वास्तविक यही अर्थ है तो हृदयशून्य पशु अथवा दीवाल प्रभृति भी तो निष्काम कर्मी हो जायेंगे। अनेक लोग जनक का उदाहरण देकर अपने को निष्काम कर्मी सिद्ध करते हैं। मज़ा तो यह है कि जनक ने कोई सन्तान पैदा नहीं की थी, किन्तु पुत्रोत्पत्ति करके ही ये जनक बनना चाहते हैं! प्रकृत निष्काम कर्मी पशुवत् जड़प्रकृति या

गीता में प्रचारित नूतन भावसमूह।

हृदयशून्य नहीं हैं। उनके हृदय में इतना प्रेम और सहानुभूति होती है कि वे समस्त संसार को प्रेम से गले लगाते हैं। इस प्रकार के प्रेम और सहानुभूति को लोग सदा समझ नहीं सकते। यही समन्वय-भाव और निष्काम कर्म गीता की दो विशेषताएँ हैं।

गीता के द्वितीय अध्याय के कतिपय श्लोकों की ओर ध्यान दीजिये— "तं तथा कृपयाविष्टं" इत्यादि श्लोक में किस सुन्दरता से अर्जुन की दशा का वर्णन है। इसके बाद श्रीकृष्ण अर्जुन को उपदेश देते हैं—"क्लैब्यं मास्म गमः पार्थ" इत्यादि। इस स्थान पर भगवान अर्जुन को युद्ध के लिए प्रवृत्त कर रहे हैं,

'क्लैब्यं मास्म गमः पार्थ।'

यह क्यों? अर्जुन को यथार्थ सत्व गुण के बेहद बढ़ जाने से युद्ध में अप्रवृत्ति हुई ऐसा नहीं, तमोगुण के उद्रेक से ही युद्ध के लिए अनिच्छा हो गई। सत्वगुणी व्यक्ति का यह स्वभाव है कि वे जिस भाँति दूसरे समय शान्त रहते हैं उसी प्रकार विपत्ति के समय धीर रहते हैं। अर्जुन को भय उत्पन्न हो गया था। उनके हृदय में युद्धप्रवृत्ति का होना तो उनके युद्धक्षेत्र में आने से ही सिद्ध हो जाता है। हम लोगों के जीवन में भी इस प्रकार की अवस्थाएँ होती हैं। बहुत से लोग अपने को सत्वगुणी समझते हैं, किन्तु वे वस्तुतः तमोगुणी होते हैं। बहुत से लोग अपवित्रता से रहते हुए भी अपने को परमहंस समझते हैं। शास्त्र में लिखा है कि परमहंस जड़ोन्मत्त पिशाचवत् होते हैं। परमहंस की तुलना बालक से की गई है, किन्तु ध्यान रखना होगा कि यह तुलना एकदेशीय है। परमहंस और बालक कभी भी समान नहीं हैं। एक ज्ञान की अतीत अवस्था में पहुँच चुका है, दूसरे में अभी ज्ञानोन्मेष भी नहीं हुआ है। प्रकाश के अति तीव्र और अति मृदु दोनों ही स्पन्दन दृग्गोचर नहीं होते हैं, किन्तु एक में तीव्र उत्ताप है और दूसरे में उसका अत्यन्ताभाव है। सत्व और तमोगुण में कितनी ही समानता दिखने पर भी दोनों में अनेक भेद हैं। तमोगुण सत्वगुण का आवरण धारण करने की अत्यन्त इच्छा रखता है। अर्जुन के हृदय में

उसने दया का आवरण धारण किया था। अर्जुन के इस मोह को हटाने के लिए भगवान ने क्या कहा? मैं सदा यही कहा करता हूँ कि लोगों को पापी न कहकर उनके भीतर जो महाशक्ति है, उसी की ओर उनकी दृष्टि आकर्षित कर दो। भगवान ने भी ठीक यही बात कही थी—'नैतत्त्वय्युपपद्यते'—तुम्हारे लिए यह शोभा नहीं देता। तुम वही आत्मा हो, स्वयं को भूलकर तुम अपने को पापी रोगी आदि समझते हो, यह तुम्हारे योग्य नहीं है। इसीलिए भगवान कहते हैं—"क्लैब्यं मास्म गमः पार्थ।" संसार में पाप, ताप, रोग, शोक कुछ भी नहीं है; यदि कुछ पाप है तो वह यह 'भय' ही है। जो कार्य हमारे भीतर शक्ति का उद्रेक कर देता है वही पुण्य है, और जो हमारे शरीर और मन को दुर्बल कर देता है वही पाप है। यह दुर्बलता छोड़नी चाहिये। यदि तुम संसार को "क्लैब्यं मास्म गमः पार्थ नैतत्त्वय्युपपद्यते" का सन्देश सुना सको तो तीन दिन में समस्त रोग, शोक, पाप, ताप न जाने कहाँ गायब हो जायेंगे। इस समय की हवा में भय का कम्पन हो रहा है। इस कम्पन को उलट दो। तुम सर्व-शक्तिमान हो, आओ, तोप के सामने खड़े हो जाओ, देखना, जरा भी न डरना। महापापी से भी घृणा मत करना, उसके बाहरी आवरण की ओर ध्यान न देना। आभ्यन्तर में जो परमात्मा बैठे हैं उन्हीं को देखो, समस्त संसार से कह दो कि तुममें पाप-ताप कुछ भी नहीं है। तुम महाशक्ति के आधार हो।

इस एक श्लोक के पाठ से समग्र गीता-पाठ का फल मिलेगा, कारण इसी में गीता का समग्र भाव निहित है।

---

२०. अल्मोड़ा-अभिनन्दन

स्वामीजी के अल्मोड़ा पहुँचने पर वहाँ की जनता ने उन्हें निम्नलिखित स्वागत-पत्र भेंट किया।

महात्मन्,

जिस समय से हम अल्मोड़ानिवासियों ने यह सुना कि पाश्चात्य देशों में आध्यात्मिक दिग्विजय के पश्चात् आप इंग्लैण्ड से अपनी मातृभूमि भारत को फिर वापस आ रहे हैं उस समय से हम सब आपके दर्शन करने को स्वाभाविकतः बड़े लालायित थे; और सर्वशक्तिमान परमेश्वर की कृपा से आज वह शुभ घड़ी आ गई। भक्तशिरोमणि कविसम्राट तुलसीदासजी ने कहा भी है:

'जापर जाकर सत्य सनेहू, सो तेहि मिलहि न कछु सन्देहू', और वही आज चरितार्थ भी हो गया। आज हम सब परम श्रद्धा तथा भक्ति से आपका स्वागत करने को यहाँ एकत्रित हुए हैं और हमें हर्ष है कि इस नगर में अनेक कष्ट उठाकर एक बार* फिर पधारकर आपने हम सभों पर बड़ी कृपा की है। आपकी इस कृपा के लिए धन्यवाद देने को हमारे पास शब्द भी नहीं हैं। महाराज, आप धन्य हैं और आपके वे पूज्य गुरुदेव भी धन्य हैं, जिन्होंने आपको योगमार्ग की दीक्षा दी। यह भारतभूमि धन्य है जहाँ इस भयावह कलियुग में भी आप जैसे आर्यवंशियों के नेता विद्यमान हैं। आपने अति अल्प अवस्था में ही अपनी सरलता, अकपटता, महत्चरित्र, सर्वभूतानुकम्पा, कठोर साधना, अमायिक व्यवहार और ज्ञानविस्तार की चेष्टा द्वारा समस्त संसार में अक्षय यश लाभ किया है और उस पर हमें गर्व है।

यदि सच पूछा जाय तो आपने वह कठिन कार्य कर दिखाया है

---

* पाश्चात्य देशों में जाने से अनेक वर्ष पहले हिमालय-भ्रमणकाल में स्वामीजी यहाँ पधारे थे।

जिसका बीड़ा इस देश में श्री शंकराचार्य के समय से फिर किसी ने नहीं उठाया। हममें से किसी ने कभी यह स्वप्न में भी आशा नहीं की थी कि प्राचीन भारतीय आर्य की एक सन्तान केवल अपनी तपस्या के बल पर इंग्लैण्ड तथा अमेरिका के विद्वान् लोगों को यह सिद्ध कर दिखाएगी कि प्राचीन हिन्दू धर्म अन्य सब धर्मों की अपेक्षा श्रेष्ठ है। शिकागो के सर्वधर्मपरिषद में संसार के विभिन्न धर्म-प्रतिनिधियों के सम्मुख, जो वहाँ एकत्रित थे, आपने भारतीय सनातन धर्म की श्रेष्ठता इस योग्यता से सिद्ध कर दिखाई कि उन सभों की आँखें खुल गईं। उस महती सभा में धुरंधर विद्वानों ने अपने अपने धर्म की श्रेष्ठता अपने अपने ढंग से खूब समझाई; परन्तु आप उन सभों से ऊपर ही रहे। आपने यह पूर्ण रूप से दिखा दिया कि वैदिक धर्म का मुकाबला संसार का कोई भी धर्म नहीं कर सकता। और इतना ही नहीं, वरन् ऊपर कहे हुए देशों में भिन्न भिन्न स्थानों पर वैदिक ज्ञान का प्रचार करके आपने वहाँ के बहुत से विद्वानों का ध्यान प्राचीन आर्य धर्म तथा दर्शन की ओर आकर्षित कर दिया। इंग्लैण्ड में भी आपने प्राचीन हिन्दू धर्म का झण्डा गाड़ दिया है जिसका अब वहाँ से हटना असम्भव है।

आज तक यूरोप तथा अमेरिका के आधुनिक सभ्य राष्ट्र हमारे धर्म के असली स्वरूप से नितान्त अनभिज्ञ थे, परन्तु आपने अपनी आध्यात्मिक शिक्षाओं द्वारा उनकी आँखें खोल दीं और उन्हें आज यह मालूम हो गया है कि हमारा प्राचीन धर्म जिसे वे अज्ञानवश 'पाखण्डियों की रूढ़ियों का धर्म अथवा केवल मूर्खों के लिए पोथों का ढेर' ही समझा करते थे, असल हीरों की खान है। सचमुच—

"वरमेको गुणी पुत्रो न च मूर्खशतान्यपि।
एकश्चन्द्रस्तमो हन्ति न च तारागणोऽपि च॥"

"सौ मूर्ख पुत्रों की अपेक्षा एक ही गुणी पुत्र अच्छा है; एक ही चन्द्रमा अंधकार का विनाश करता है, तारागण नहीं।"

असल में आप जैसे साधु तथा धार्मिक पुत्र का जीवन ही संसार के लिए कल्याणकर है और भारतमाता को उसकी इस गिरी हुई दशा में आप जैसे पुण्यात्मा सन्तानों से ही सान्त्वना मिल रही है। वैसे तो आज तक कितने ही लोग समुद्र के इस पार से उस पार भटके हैं, परन्तु केवल आपने ही अपनी पूर्व सुकृति के बल से हमारे इस प्राचीन हिन्दू धर्म का महत्त्व समुद्र के पार अन्य देशों में सिद्ध कर दिखाया। मनसा, वाचा, कर्मणा आपने मानव जाति को आध्यात्मिकता का ज्ञान कराना ही अपने जीवन का ध्येय मान लिया है और हम जानते हैं कि धार्मिक ज्ञान का उपदेश देने को आप सदैव ही प्रस्तुत हैं।

हमने सुना है कि यहाँ हिमालय की गोद में आपका विचार एक मठ स्थापित करने का है और हम ईश्वर से प्रार्थना करते हैं कि वह आपका यह उद्देश्य सफल करें। हमें यहाँ पर शंकराचार्य का स्मरण हो आता है। उन्होंने भी आध्यात्मिक दिग्विजय के पश्चात् भारत के प्राचीन हिन्दू धर्म के रक्षणार्थ हिमालय की गोद में बद्रिकाश्रम में एक मठ स्थापित किया था। इसी प्रकार यदि आपकी भी इच्छा पूर्ण हो जाय तो उससे भारतवर्ष का बड़ा हित होगा। इस मठ के स्थापित हो जाने से हम कुमायूँ-निवासियों को बड़ा आध्यात्मिक लाभ होगा और फिर हम इस बात का पूरा यत्न करेंगे कि हमारा प्राचीन धर्म हमारे बीच में से धीरे धीरे नष्ट न होने पाये।

आदि काल से भारतवर्ष का यह प्रदेश तपस्या की भूमि रहा है। भारतवर्ष के बड़े बड़े ऋषियों ने अपना समय इसी स्थान पर तपस्या तथा साधना में बिताया है, परन्तु वह तो अब पुरानी बात हो गई है और हमें पूर्ण विश्वास है कि यहाँ मठ की स्थापना करके कृपया आप हमें उस बात का पूर्ण स्मरण करा देंगे। यही वह पुण्यभूमि है जो भारतवर्ष भर में सबसे पवित्र मानी जाती थी तथा यही सच्चे धर्म, कर्म, साधना तथा सत्य का क्षेत्र था, यद्यपि आज समय के प्रभाव से वे सब बातें नष्ट होती जा रही हैं। और हमें

विश्वास है कि आपके शुभ प्रयत्नों द्वारा यह प्रदेश फिर अपने प्राचीन धर्म-गौरव को प्राप्त हो जायेगा।

महाराज, हम शब्दों द्वारा प्रकट नहीं कर सकते कि आपके यहाँ पधारने से हम सभों को कितना हर्ष हुआ है। ईश्वर आपको चिरंजीवी करें, आपको पूर्ण स्वास्थ्य प्रदान करें तथा आपका जीवन परोपकारी हो। आपकी आध्यात्मिक शक्तियों की उत्तरोत्तर उन्नति हो जिससे कि आपके प्रयत्नों द्वारा भारतवर्ष की इस दुरवस्था का शीघ्र ही अन्त हो जाय।

लाला बदरीशा की ओर से पण्डित हरिनाम पांडे ने और एक अभिनन्दन-पत्र पढ़ा। एक और पण्डितजी ने भी इस अवसर पर एक संस्कृत अभिनन्दन-पत्र पढ़ा। जितने दिन स्वामीजी अल्मोड़ा में थे, उतने दिन वे शाजी के यहाँ अतिथि के रूप में रहे थे।

अल्मोड़ा-अभिनन्दन का उत्तर

यह स्थान हमारे पूर्वजों के स्वप्न का देश है जिसमें भारतजननी श्री पार्वतीजी ने जन्म लिया था। यह वही पवित्र स्थान है जहाँ भारतवर्ष का प्रत्येक यथार्थ सत्य-पिपासु व्यक्ति अपने जीवन-काल के अन्तिम दिन व्यतीत करना चाहता है। इसी दिव्य स्थान के पहाड़ों की चोटियों पर, इसकी गुफाओं के भीतर तथा इसके कल कल बहनेवाले झरनों के तट पर महर्षियों ने अनेकानेक गूढ़ भावों तथा विचारों को सोच निकाला है, उनका मनन किया है। और आज हम देखते हैं कि उन विचारों का केवल एक अंश ही इतना महान् है कि उस पर विदेशी तक मुग्ध हैं तथा संसार के धुरंधर विद्वानों एवं मनीषियों ने उसे अतुलनीय कहा है। यह वही स्थान है जहाँ मैं बचपन से ही अपना जीवन व्यतीत करने की सोच रहा हूँ और जैसा आप सब जानते हैं मैंने कितने ही बार इस बात की चेष्टा की है कि मैं यहाँ रह सकूँ। परन्तु समय के न आने से तथा मेरे सम्मुख बहुत सा कार्य होने के कारण मैं इस पवित्र स्थान से वंचित रहा। लेकिन मेरी अब यही इच्छा है

कि मैं अपने जीवन के शेष दिन इसी गिरिराज में कहीं पर व्यतीत कर दूँ, जहाँ अनेकों ऋषि रह चुके हैं, जहाँ दर्शनशास्त्र का जन्म हुआ था। परन्तु मित्रो, सम्भव है मैं यह सब उस ढंग से अब न कर सकूँ जिस ढंग से मैंने पहले विचार कर रखा था — मेरी कितनी इच्छा है कि मैं पूर्ण शान्ति में तथा बिना किसी के जाने हुए यहाँ रहूँ — लेकिन हाँ, इतनी आशा ज़रूर है तथा मैं प्रार्थना करता हूँ और विश्वास भी करता हूँ कि संसार के अन्य सब स्थानों को छोड़ मेरे जीवन के अन्तिम दिन यहीं व्यतीत होंगे। इस पवित्र प्रदेश के निवासी बन्धुओ, आपने मेरे पाश्चात्य देशों में किए हुए छोटे से काम के लिए जो सुन्दर शब्द कहे हैं उसके लिए मैं आपको अनेकानेक धन्यवाद देता हूँ। परन्तु इस समय मेरा मन प्राच्य या पाश्चात्य किसी देश के कार्य के सम्बन्ध में कुछ भी कहना नहीं चाहता। यहाँ आते समय जैसे जैसे गिरिराज की एक चोटी के बाद दूसरी चोटी मेरी दृष्टि के सामने आती गई तैसे तैसे मेरी कार्य करने की समस्त इच्छाएं तथा भाव, जो मेरे मस्तिष्क में वर्षों से भरे हुए थे, धीरे धीरे शान्त-से होने लगे और इस विषय पर बातचीत करने के बजाय कि क्या कार्य हुआ है तथा भविष्य में क्या कार्य होगा, मेरा मन एकदम उसी अनन्त भाव की ओर खिंच गया जिसकी शिक्षा हमें गिरिराज हिमालय सदैव से देते रहे हैं, जो इस स्थान की वायु तक में भरा हुआ है तथा जिसका निनाद मैं आज भी यहाँ के कलकल बहनेवाले झरनों में सुनता हूँ, और वह भाव है — त्याग।

वैराग्यभूमि हिमालय।

"सर्व वस्तु भयान्वितं भुवि नृणां वैराग्यमेवाभयम्"

"अर्थात् इस संसार में प्रत्येक वस्तु में भय भरा है, यह भय केवल वैराग्य से ही दूर हो सकता है, इसीसे मनुष्य निर्भय हो सकता है।"

सचमुच, यह वैराग्य का ही स्थान है। मित्रो, अब आज समय भी कम है तथा परिस्थिति भी ऐसी नहीं है कि मैं आप सभों से विस्तारपूर्वक

बोल सकूँ। अतएव मैं यही कहकर अपना भाषण समाप्त करता हूँ कि गिरिराज हिमालय वैराग्य एवं त्याग के सूचक हैं तथा वह सर्वोच्च शिक्षा, जो हम विश्व को सदैव देते रहेंगे, त्याग ही है। जिस प्रकार हमारे पूर्वज अपने जीवन के अन्त काल में इस हिमालय पर खिंचे हुए चले आते थे उसी प्रकार भविष्य में पृथ्वी भर की शक्तिशाली आत्माएँ इस गिरिराज की ओर आकर्षित होकर चली आएँगी। यह उस समय होगा जब कि भिन्न भिन्न सम्प्रदायों के आपस के झगड़े नष्ट हो जायेंगे, जब रूढ़ियों के सम्बन्ध का वैमनस्य नष्ट हो जायेगा, जब हमारे और तुम्हारे धर्म सम्बन्धी झगड़े बिल्कुल दूर हो जायेंगे तथा जब मनुष्यमात्र यह समझ लेगा कि केवल एक ही चिरन्तन धर्म है और वह है स्वयं में परमेश्वर की अनुभूति, और शेष जो कुछ है वह सब व्यर्थ है। यह जानकर कि यह संसार एक धोखे की टट्टी है, यहाँ सब कुछ मिथ्या है और यदि कुछ सत्य है तो वह है ईश्वर की उपासना — केवल ईश्वर की उपासना, अनेकों महात्मा यहाँ आएँगे।

मित्रो, यह आपकी कृपा है कि आपने मेरे एक विचार का जिक्र किया है और मेरा वह विचार इस स्थान पर एक आश्रम स्थापित करने का है। मैंने शायद आप लोगों को यह बात काफी स्पष्ट रूप से समझा दी है कि यहाँ पर आश्रम की स्थापना क्यों की जाय तथा संसार में अन्य सब स्थानों को छोड़कर मैंने इसी स्थान को क्यों चुना है, जहाँ से कि इस विश्वधर्म की शिक्षा का प्रसार हो सके। कारण स्पष्ट ही है कि इन पर्वतश्रेणियों के साथ हमारी हिन्दू जाति के सुन्दर संस्मरण सम्बन्धित हैं। यदि यह हिमालय धार्मिक भारत के इतिहास से पृथक् कर दिया जाय तो शेष बहुत कम रह जायेगा। अतएव यहीं पर एक केन्द्र होना चाहिए — जो कर्मप्रधान न हो, वरन् शान्ति का हो, ध्यान-धारणा का हो, लययोग का हो। और मुझे पूर्ण आशा है कि एक न एक दिन ऐसा अवश्य होगा। मैं यह भी आशा

हिमालय में मठ स्थापित करने का उद्देश्य।

करता हूँ कि आप लोगों से फिर कभी और मिलूँगा जब आप और हम आपस में मिलकर अधिक बातें कर सकेंगे। अभी मैं इतना ही कहता हूँ कि आपने मेरे प्रति जो प्रेम-भाव दिखलाया है उसके लिए मैं बड़ा कृतज्ञ हूँ और मैं यह तो मानता हूँ कि आपने यह प्रेम तथा कृपा मुझ व्यक्ति के प्रति नहीं दिखाई है वरन् एक ऐसे के प्रति दिखाई है जो हमारे प्राचीन हिन्दू धर्म का प्रतिनिधि है। हमारे इस धर्म की भावना हमारे हृदयों में सदैव बनी रहे। ईश्वर करे, हम सब सदैव ऐसे ही शुद्ध बने रहें जैसे हम इस समय हैं तथा हमारे हृदयों में आध्यात्मिकता के लिए उत्साह भी सदैव इतना ही तीव्र रहे।

अल्मोड़ा में दिये हुए अन्यान्य भाषण।

जब स्वामीजी के अल्मोड़ा में ठहरने की अवधि समाप्त हो रही थी, उस समय उनके वहाँ के मित्रों ने उनसे प्रार्थना की कि आप कृपया एक भाषण हिन्दी में दें। स्वामीजी ने उनकी प्रार्थना पर विचार कर उन्हें अपनी स्वीकृति दे दी। हिन्दी भाषा में व्याख्यान देने का उनका वह पहला ही अवसर था। स्वामीजी ने पहले धीरे धीरे बोलना शुरू किया परन्तु शीघ्र ही अपने विषय पर आ गए और थोड़ी ही देर में उन्होंने यह अनुभव किया कि जैसे जैसे वे बोलते जाते थे वैसे वैसे उनके मुँह से उपयुक्त शब्द तथा वाक्य निकलते जाते थे। वहाँ पर कुछ उपस्थित लोग, जो शायद यह अनुमान करते थे कि हिन्दी भाषा में व्याख्यान देने में शब्दों की बड़ी कठिनाई पड़ती है, कहने लगे कि इस व्याख्यान में स्वामीजी की पूर्ण विजय रही तथा उन्होंने अपने अधिकारपूर्ण भाषा के प्रयोग द्वारा यह सिद्ध कर दिखाया कि हिन्दी भाषा में व्याख्यान देने के लिए शब्दों तथा मुहावरों का इतना अपूर्व कोष है जितना कभी सोचा भी नहीं जा सकता था। इस भाषण का विषय था 'वैदिक उपदेश—तात्विक और व्यावहारिक'।

उसके उपरान्त स्वामीजी ने एक भाषण इंग्लिश क्लब में अंग्रेजी में भी

दिया था। उस सभा के अध्यक्ष थे गुरखा रेजिमेन्ट के कर्नल पुली। उस भाषण का सारांश इस प्रकार है:—

पहले स्वामीजी ने इस बात का ऐतिहासिक वर्णन किया कि किसी जंगली जाति में उसके ईश्वर की उपासना किस प्रकार बढ़ी तथा वह जाति ज्यों ज्यों अन्य जातियों को जीतती गई त्यों त्यों उस ईश्वर की उपासना भी फैलती गई। इसके बाद उन्होंने वेदों के रूप, विशेषताओं तथा उनकी शिक्षाओं का संक्षेप में वर्णन किया और फिर आत्मा के विषय पर कुछ प्रकाश डाला। इसी सिलसिले में उन्होंने पाश्चात्य ढंग की तुलना प्राच्य ढंग से की और यह बतलाया कि पाश्चात्य प्रणाली धार्मिक तथा जीवन सम्बन्धी रहस्यों का उत्तर बाह्य जगत् में ढूँढ़ने की चेष्टा करती है, जब कि प्राच्य प्रणाली इन सब बातों का समाधान बाह्य प्रकृति में न पाकर उसे अपनी अन्तरात्मा में ही ढूँढ़ निकालने की चेष्टा करती है। उन्होंने इस बात का ठीक ही दावा किया कि हिन्दू जाति को ही इस बात का गौरव है कि केवल उसी ने आभ्यन्तर अनुसन्धान-प्रणाली (Introspective Method) को खोज निकाला और यह उपाय उस जाति की एक अपनी चीज़ तथा विशेषता है। उसी जाति ने मानव-समाज को आध्यात्मिकता की अमूल्य निधि भी दी है और यह सब उसी प्रणाली का फल है।

स्वभावतः इस विषय के बाद, जो किसी भी हिन्दू को अत्यन्त प्रिय है, स्वामीजी आध्यात्मिक गुरु होने के नाते उस समय मानो आध्यात्मिकता के शिखर पर ही पहुँच गए जब वे आत्मा तथा ईश्वर के सम्बन्ध की चर्चा करने लगे, जब यह दर्शाने लगे कि आत्मा ईश्वर से एकरूप हो जाने के लिए कितनी लालायित रहती है तथा अन्त में किस प्रकार ईश्वर के साथ एकरूप हो जाती है। और आश्चर्य की बात तो यह है कि कुछ समय के लिए सचमुच ऐसा ही भास हुआ कि वक्ता, उनके शब्द तथा श्रोतागण मानो सभी एकरूप हो गए हों। ऐसा कुछ ध्यान ही नहीं रह गया कि 'मैं' या 'तू' अथवा

'मेरा' या 'तेरा' कोई चीज़ है। छोटी छोटी टोलियाँ जो उस समय वहाँ एकत्रित हुई थीं कुछ समय के लिए अपने अलग अलग अस्तित्व को भूल गईं तथा उस महान् आचार्य के श्रीमुख से निकले हुए शब्दों द्वारा प्रचण्ड आध्यात्मिक तेज में एकरूप हो गईं; वे सब मानो चित्रलिखित-से रह गए।

जिन लोगों को स्वामीजी के भाषण सुनने का बहुधा अवसर प्राप्त हुआ है उन्हें इस प्रकार के अन्य कई अवसरों का भी स्मरण हो आएगा जब कि स्वामी विवेकानन्द वास्तव में जिज्ञासु तथा ध्यानमग्न श्रोताओं के सम्मुख भाषण देते समय स्वयं विवेकानन्द नहीं रह जाते थे, श्रोताओं के सब प्रकार के भेद-भाव तथा व्यक्तित्व मानसपट से विलीन हो जाते थे, नाम और रूप नष्ट हो जाते थे तथा केवल वह सर्वव्यापी प्रबल भाव रह जाता था जिसमें श्रोता, वक्ता तथा उच्चारित शब्द सब एकरूप होकर रह जाते थे।

---

२१. भक्ति

(सियालकोट में दिया हुआ भाषण।)

संसार में जितने धर्म हैं उनकी उपासना-प्रणाली में विभिन्नता होते हुए भी उनका प्रकृत रूप एक ही है। किसी किसी स्थान पर लोग मन्दिरों का निर्माण कर उन्हीं में उपासना करते हैं, कुछ लोग अग्नि की उपासना करते हैं; किसी किसी स्थान में लोग मूर्ति-पूजा करते हैं तथा कितने ही आदमी ईश्वर के अस्तित्व में ही विश्वास नहीं करते। यह सब कुछ ठीक है, इन सब में प्रबल विभिन्नता विद्यमान है, किन्तु यदि प्रत्येक दल में व्यवहृत सच्ची कथाओं, उनके मूल तथ्य, उनके वास्तविक सत्य के ऊपर विचार कर देखें, तो वे सर्वथा अभिन्न हैं। इस प्रकार के भी धर्म हैं जो ईश्वरोपासना की आवश्यकता ही नहीं स्वीकार करते। यही क्या, वे ईश्वर का अस्तित्व भी नहीं मानते। किन्तु आप देखेंगे, ये सभी धर्मावलम्बी साधु-महात्माओं की ईश्वर की भाँति उपासना करते हैं। बौद्ध धर्म ही इस बात का प्रसिद्ध उदाहरण है। भक्ति सभी धर्मों में है, कहीं ईश्वर-भक्ति है तो कहीं महात्माओं के प्रति भक्ति का आदेश है। सभी जगह इस भक्ति-रूप उपासना का प्रभाव देखा जाता है। ज्ञान-लाभ की अपेक्षा भक्ति-लाभ करना सहज है। ज्ञान-लाभ करने में दृढ़ अभ्यास, अनुकूल अवस्था आदि अनेक विषयों की आवश्यकता होती है। शरीर सर्वथा स्वस्थ एवं रोगशून्य न होने से तथा मन सर्वथा विषयानुरागरहित न होने से योग का अभ्यास नहीं किया जा सकता, किन्तु सभी अवस्थाओं के लोग बड़ी सरलता से भक्ति-साधना कर सकते हैं। भक्तिमार्ग के आचार्य शांडिल्य ऋषि ने कहा है कि ईश्वर के प्रति अतिशय

सभी धर्म भक्ति को स्वीकार करते हैं।

अनुराग को भक्ति कहते हैं। प्रह्लाद ने भी यही बात कही है। यदि किसी व्यक्ति को एक दिन भोजन न मिले तो उसे महा कष्ट होगा। सन्तान की मृत्यु होने पर लोगों को कैसी यन्त्रणा होती है! जो भगवान के प्रकृत भक्त हैं, उनके भी प्राण भगवान के विरह में इसी प्रकार छटपटाते हैं। भक्ति में यह बड़ा गुण है कि उसके द्वारा चित्त शुद्ध हो जाता है और परमेश्वर के प्रति दृढ़ भक्ति होने से केवल उसी के द्वारा चित्त शुद्ध हो जाता है।

भक्ति अन्यान्य साधन-प्रणालियों की अपेक्षा सुलभ है।

'नाम्नामकारि बहुधा निजसर्वशक्तिः'* इत्यादि।

'हे भगवन्! आपके अनन्त नाम हैं और आपके प्रत्येक नाम में आपकी अनन्त शक्ति वर्तमान है। प्रत्येक नाम का ही गम्भीर अर्थ है। आपके नाम उच्चारण करने के लिए स्थान, काल आदि किसी भी चीज़ का विचार करना आवश्यक नहीं।' जब मृत्यु, बिना स्थान और काल का विचार किए ही मनुष्य पर आक्रमण करती है, तो फिर ईश्वर के नाम का उच्चारण करने के लिए क्यों स्थान-काल के विचार की आवश्यकता होगी?

ईश्वर विभिन्न साधकों के द्वारा विभिन्न नामों से उपासित होते हैं किन्तु यह भेद केवल दृष्टिभ्रम का है, वास्तव में कोई भेद नहीं है। कुछ लोगों का विचार होता है कि हमारी ही साधना-प्रणाली अधिक कार्यकारी है, और दूसरे अपनी साधना-प्रणाली को ही शीघ्र मुक्ति पाने का सहज उपाय बताते हैं। किन्तु यदि दोनों की ही मूल भित्ति का अनुसन्धान किया जाय तो पता चलेगा कि दोनों ही एक ही प्रकार की हैं। शैव शिव को ही सर्वापेक्षा अधिक शक्तिशाली समझते हैं, वैष्णव विष्णु को ही सर्वशक्तिमान मानते हैं, देवी के उपासकों के लिए देवी ही जगत् में सबसे अधिक शक्तिशालिनी हैं, प्रत्येक उपासक अपने सिद्धान्त की अपेक्षा और किसी

* श्रीकृष्ण चैतन्य

पथ भिन्न-भिन्न — परन्तु लक्ष्य एक ही है।

बात का विश्वास ही नहीं करता, किन्तु यदि मनुष्य को स्थायी भक्ति की उपलब्धि करनी है तो उसे यह द्वेष-बुद्धि एकबारगी छोड़नी होगी। द्वेष भक्ति-पथ में महान् प्रतिबन्धक है — जो मनुष्य उसे छोड़ सकेगा, वही ईश्वर को पा सकेगा। यद्यपि द्वेषभाव त्याज्य है, तथापि इष्ट-निष्ठा विशेष रूप से आवश्यक है। भक्त-श्रेष्ठ हनुमान ने कहा है:—

"श्रीनाथे जानकीनाथे अभेदः परमात्मनि।
तथापि मम सर्वस्वं रामः कमललोचनः॥"

"मैं जानता हूँ जो लक्ष्मीपति हैं वे ही जानकीपति हैं, तथापि कमल-लोचन राम ही मेरे सर्वस्व हैं।"

प्रत्येक मनुष्य के भाव में भिन्नता है। मनुष्य का जन्म भावों की विभिन्नता ही में होता है। मनुष्य भाव की विभिन्नता का कभी भी अतिक्रमण नहीं कर पाता। समस्त संसार किसी समय एकधर्मावलम्बी नहीं हो सकता, इसका कारण यही भावों की विभिन्नता है। ईश्वर करें, जगत् कभी भी एक-धर्मावलम्बी न हो। यदि कभी ऐसा हो जाय तो संसार का सामञ्जस्य नष्ट होकर विशृंखलता आ जाएगी। अस्तु। मनुष्य को अपनी ही प्रकृति का अनुसरण करना चाहिए। यदि मनुष्य को ऐसे गुरु मिल जायँ, जो उसका भावानुयायी हों एवं उन्हीं भावों की पुष्टि करनेवाले उपदेश दें, तो वह मनुष्य उन्नति करने में समर्थ होगा। उसको उन्हीं भावों के विकास की साधना करनी होगी। जो व्यक्ति जिस पथ पर चलने की इच्छा करे, उसे उसी पथ पर चलने देना चाहिए; किन्तु यदि हम उसे दूसरे मार्ग पर घसीटने का यत्न करेंगे तो उसका जो कुछ है वह उसे भी खो बैठेगा; वह सर्वथा अकर्मण्य हो जायेगा। जिस भाँति एक मनुष्य का मुँह दूसरे मनुष्य के मुँह से भिन्न होता है उसी प्रकार एक मनुष्य की प्रकृति दूसरे की प्रकृति से भिन्न होती

विभिन्नता आवश्यक है।

है। किसी मनुष्य को अपनी प्रकृति के ही अनुसार चलने देने में क्या आपत्ति है? एक नदी एक ओर बहती है—यदि उसके जल को एक खाई काटकर उसी ओर बहाया जाय तो उसका वेग और भी अधिक तेज़ हो जायेगा, किन्तु यदि स्वाभाविक प्रवाह की दिशा को बदलकर उसे दूसरी दिशा में प्रवाहित करने का यत्न किया जाय तो कोई फल न होगा। उसका स्रोत क्षीण हो जायेगा और उसका वेग भी कम हो जायेगा। यह जीवन एक बड़े महत्त्व की चीज़ है, इसे अपने भाव के अनुसार ही चलाना होगा। जिस देश में सभी लोगों को एक ही मार्ग से चलाने का यत्न किया जाता है, वह देश क्रमशः धर्महीन हो जाता है। भारतवर्ष में कभी भी ऐसी चेष्टा नहीं हुई। विभिन्न धर्मों में कभी विरोध नहीं था, वरन् प्रत्येक धर्म स्वाधीन भाव से अपना कार्य करता रहा, इसीलिए यहाँ अभी तक प्रकृत धर्मभाव बना है। इस स्थान पर यह बात भी ध्यान में रखनी होगी कि विभिन्न धर्मों में निम्न-लिखित कारण से विरोध उत्पन्न होता है। एक मनुष्य यह विश्वास कर लेता है कि सत्य का मूलमन्त्र मेरे ही पास है और जो मुझ पर विश्वास नहीं करता वह मूर्ख है, और दूसरा व्यक्ति सोचता है कि अमुक व्यक्ति कपटी है क्योंकि वह मेरी बात नहीं सुनता।

यदि ईश्वर की यह इच्छा होती कि सभी लोग एक ही धर्म का अव-लम्बन करें तो इतने विभिन्न धर्मों की उत्पत्ति किस भाँति होती? क्या आप उस सर्वशक्तिमान की इच्छा के विरुद्ध काम कर सकेंगे? सब लोगों को एकधर्मावलम्बी बनाने के लिए अनेक प्रकार के उद्योग और चेष्टाएँ हुईं किन्तु इससे कोई लाभ नहीं हुआ। तलवार के ज़ोर से जिस स्थान पर लोगों को एकधर्मावलम्बी बनाने की चेष्टा की गई, वहाँ भी एक ही घर में दस धर्मों की उत्पत्ति हो गई—इतिहास इस बात का प्रमाण है। समस्त संसार में

विभिन्नता न होने पर मनुष्य चिन्ता-शक्ति के अभाव में पशुतुल्य हो जायेगा।

किसी समय एक धर्म रह ही नहीं सकता। जब विभिन्न शक्तियाँ मनुष्य के हृदय में क्रिया-प्रतिक्रिया करती हैं तभी वह चिन्ता करने में समर्थ होता है। यदि विभिन्न शक्तियों की क्रिया-प्रतिक्रिया न होती तो मनुष्य कुछ सोच ही न सकता; इतना ही क्यों, वह मनुष्य ही न कहा जा सकता। 'मन्' धातु से मनुष्य शब्द बनता है; मनुष्य शब्द का अर्थ है मननशील। मन की परिचालना न होने से चिन्ताशक्ति का भी लोप हो जायेगा। उस समय मनुष्य और एक साधारण पशु में कोई अन्तर न रह जायेगा। ऐसे व्यक्ति को देखकर सबके हृदय में घृणा का उद्रेक होगा। ईश्वर करें, भारतवर्ष में कभी ऐसी अवस्था न उत्पन्न हो!

अतएव मनुष्यत्व कायम रखने के लिए एकत्व में अनेकत्व के ज्ञान की आवश्यकता है। सभी विषयों में इस अनेकत्व या वैचित्र्य-रक्षा की आवश्यकता है, कारण जितने दिन यह अनेकत्व रहेगा, उतने ही दिन जगत् का अस्तित्व भी रहेगा। अनेकत्व या वैचित्र्य कहने से अवश्य ही यह समझ में नहीं आता कि उसमें भी छोटे-बड़े का अन्तर है। माना कि सब एक समान ही हैं, तो भी इस वैचित्र्य के रहने में कोई बाधा नहीं है। सभी धर्मों में अच्छे अच्छे लोग हैं, इसलिए सभी धर्म लोगों की श्रद्धा को अपनी ओर आकर्षित करते हैं, अतएव किसी भी धर्म से घृणा करना उचित नहीं।

धर्म आचारपूत होना चाहिए।

यहाँ पर यह प्रश्न उठ सकता है—जो धर्म अन्याय की पुष्टि करे, क्या उस धर्म के प्रति भी सम्मान दिखाना होगा? अवश्य ही इस प्रश्न का उत्तर 'नहीं' के सिवा दूसरा क्या हो सकता है? ऐसे धर्म को जितना जल्दी दूर किया जा सके उतना ही अच्छा है, कारण उससे लोगों का अमंगल ही होगा। नीति के ऊपर ही सब धर्मों की भित्ति प्रतिष्ठित है, आचार को धर्म की अपेक्षा भी उच्च स्थान देना होगा। यहाँ पर यह भी समझ लेना चाहिए कि आचार का अर्थ बाह्य और आभ्यन्तरिक दोनों प्रकार की शुद्धि से है।

जल तथा अन्यान्य शास्त्रोक्त वस्तुओं के संयोग से शरीर-शुद्धि हो सकती है, आभ्यन्तर शुद्धि के लिए मिथ्या-भाषण, सुरापान एवं अन्य गर्हित कार्यों का त्याग करना होगा। साथ ही परोपकार भी करना होगा। केवल मद्यपान, चोरी, जुआ, झूठ बोलना आदि असत् कार्यों के त्याग से ही काम न चलेगा। इतना तो प्रत्येक मनुष्य का कर्तव्य है। इतना करने से मनुष्य किसी प्रशंसा का पात्र न हो सकेगा। अपने कर्तव्य-पालन के साथ साथ जिस भाँति दूसरों का भी कल्याण हो ऐसी चेष्टा करनी होगी।

अब मैं भोजन के नियम के सम्बन्ध में कुछ कहना चाहता हूँ। इस समय भोजन की समस्त प्राचीन विधियों का लोप हो गया है। सब लोगों में एक यही धारणा विद्यमान है कि 'इसके साथ मत खाओ, उसके साथ मत खाओ।' सैकड़ों वर्ष पूर्व भोजन सम्बन्धी जो सुन्दर नियम थे, उनके बदले आज केवल छुआछूत का नियम ही बचा है। शास्त्र में भोजन के तीन प्रकार के दोष लिखे हैं:—(१) जातिदोष — जो खाद्यपदार्थ स्वभाव से ही अशुद्ध हैं, जैसे प्याज, लहसुन आदि। इनको खाने से जातिदुष्ट खाद्य खाना हुआ। जो व्यक्ति इन चीज़ों को अधिक मात्रा में खाता है उसे काम अधिक सताता है और वह ईश्वर तथा मनुष्य की दृष्टि में सब प्रकार के असत् कार्य करता है।

आहार का नियम।

(२) गन्दे तथा कीड़े-मकोड़ों से दूषित आहार को निमित्तदोष कहते हैं। इस दोष से छुटकारा पाने के लिए ऐसे स्थान में भोजन करना होगा जो खूब साफ-सुथरा हो। (३) आश्रयदोष — असत् व्यक्ति से छुआ हुआ खाद्यपदार्थ भी त्याज्य है। कारण, इस प्रकार का अन्न खाने से मन में अपवित्र भाव पैदा होते हैं। ब्राह्मण की संतान होने पर भी यदि वह व्यक्ति लम्पट एवं कुकर्मी हो तो उसके हाथ का खाना उचित नहीं।

इस समय इन सब बातों पर किसी का ध्यान नहीं है। इस समय तो सिर्फ़ इसी बात का हठ मौजूद है कि अपना आत्मीय स्वजन न होने से उसके

हाथ का छुआ न खायेंगे, चाहे वह व्यक्ति कितना ही ज्ञानी या उपयुक्त पात्र क्यों न हो। इन सब नियमों की किस भाँति उपेक्षा होती है, इसका प्रत्यक्ष प्रमाण किसी हलवाई की दूकान पर जाकर देखने से मिल जायेगा। दिखाई पड़ेगा कि मक्खियाँ सब ओर भनभनाती हुई सब चीज़ों पर बैठती हैं, रास्ते की मिट्टी उड़कर मिठाई के ऊपर पड़ती है और हलवाई के कपड़े इतने मैले हैं कि छूने मात्र से मैल लग जाती है। क्यों नहीं सब खरीदनेवाले मिलकर कहते, "दूकान में शीशा बिना लगाये हमलोग मिठाई न खरीदेंगे?" ऐसा करने से मक्खियाँ खाद्यपदार्थ पर न बैठ सकेंगी एवं अपने साथ हैजा तथा अन्यान्य संक्रामक बीमारियों के कीटाणु न ला सकेंगी। पहिले जनसंख्या कम थी — उस समय जो नियम थे उन्हीं से काम चल जाता था। इस समय लोकसंख्या बढ़ गई है और अन्यान्य अनेक प्रकार के परिवर्तन भी हो गये हैं। इसलिए इन सब विषयों में परिवर्तन करने के लिए हमें अच्छे अच्छे नियम बनाना चाहिए था; किन्तु हम उन्नति न कर अवनति के मार्ग की ही ओर क्रमशः अग्रसर हुए हैं। मनुस्मृति में लिखा है, जल में थूकना न चाहिए, किन्तु हमलोग क्या करते हैं? गङ्गाजी में मैला फेंकते हैं! इन सब बातों की विवेचना करने पर स्पष्ट प्रतीत होता है कि बाह्य शौच की विशेष आवश्यकता है। शास्त्रकार भी इस बात को जानते थे, किन्तु इस समय इन सब पवित्र-अपवित्र विचारों का प्रकृत उद्देश्य लुप्त हो गया है, इस समय उसका आडम्बर मात्र शेष है। चोर, लम्पट, मतवाला, अति भयानक सजायाफ्ता व्यक्ति— इन्हें हम लोग तनिक भी चूँ किए बिना जाति में ले लेंगे किन्तु यदि एक उच्च जातीय मनुष्य किसी नीच जातीय व्यक्ति के साथ, जो उससे किसी तरह खराब नहीं है, बैठकर खाए, तो उसी समय जाति-च्युत कर दिया जायेगा — फिर से उसके उठने का कोई दूसरा उपाय बाकी नहीं बचता। इसीलिए हमारे देश की इतनी हीन दशा हो गई है। अस्तु। यह स्पष्ट समझ लेना चाहिए कि पापी

अब हम सार तत्व छोड़ छिलका लेकर ही व्यस्त हैं।

के संसर्ग से पाप और साधु के संसर्ग से साधुता आती है और असत्‌-संसर्ग का दूर से परिहार करना ही बाह्य शौच है। आभ्यन्तर शुद्धि और भी कठिन है। आभ्यन्तरिक शुद्धि के लिए सत्य भाषण, निर्धन, विपन्न और अभावग्रस्त व्यक्तियों की सेवा आदि की आवश्यकता है।

किन्तु हम सर्वदा क्या करते हैं? मानो कोई मनुष्य अपने किसी काम के लिए किन्हीं धनी व्यक्ति के मकान पर गया और उसने उन्हें 'गरीब परवर,' 'दीनबन्धु' आदि बड़े बड़े विशेषणों से विभूषित किया। किन्तु यदि कोई गरीब उनके मकान पर आए, तो सम्भव है, वे उसका गला काटने के लिए भी तैयार रहते हैं। अतएव ऐसे धनी व्यक्ति को गरीब-परवर, दीनबन्धु कहना स्पष्ट झूठ है और हम ऐसी बातें कहकर ही अपने मन को मलिन करते हैं। इसीलिए शास्त्रों में लिखा है कि यदि कोई व्यक्ति बारह वर्ष तक सत्य-भाषणादि के द्वारा चित्तशुद्धि करे और बारह वर्ष तक यदि उसके मन में कोई खराब विचार न आए, तो उसे वाक्‌सिद्धि होगी — उसके मुँह से जो बात निकलेगी वही हो जायेगी। सत्य-भाषण में ऐसी ही अमोघ शक्ति है, और जिसने बाह्य और आभ्यन्तरिक शुद्धि की है वही भक्ति का अधिकारी है।

सत्यवादिता।

भक्ति में भी ऐसी शक्ति है कि वह स्वयं मन को बहुत शुद्ध कर देती है। आप धर्म के सम्बन्ध में ही विचार कर देखिये तो आपको पता चलेगा कि सभी धर्मों में भक्ति का प्राधान्य और बाह्य तथा आभ्यन्तरिक शुद्धि की आवश्यकता स्वीकृत कर ली गई है। यद्यपि यहूदी, मुसलमान तथा ईसाई बाह्य शौच को विशेष महत्त्व नहीं देते तथापि वे भी किसी न किसी प्रकार से बाह्य शौच का अवलम्बन करते ही हैं — उन्हें भी मालूम हो गया है कि बाह्य शौच की किसी न किसी परिमाण में आवश्यकता है।

यद्यपि यहूदियों में मूर्तिपूजा निषिद्ध थी, तथापि उनका भी एक मन्दिर था। उस मन्दिर में 'आर्क' नामक एक सन्दूक रखी हुई थी और

उस सन्दूक के भीतर 'मूसा के दस ईश्वरादेश' सुरक्षित रखे हुए थे। इस सन्दूक के ऊपर विस्तारित पक्ष-युक्त दो स्वर्गीय दूतों की मूर्तियाँ बनी थीं, और उनके ठीक बीच में वे ईश्वर के आविर्भाव का दर्शन करते थे। बहुत दिन हुए यहूदियों का वह प्राचीन मन्दिर नष्ट हो गया है, किन्तु अब उस प्रकार के नये नये मन्दिर निर्मित हुए हैं, और इन मन्दिरों में सन्दूक के भीतर धर्म-पुस्तकें रखी हुई हैं। रोमन कैथोलिक और यूनानी ईसाइयों में मूर्तिपूजा प्रचलित है। वे ईसु की मूर्ति और उनके मातापिता की मूर्ति की पूजा करते हैं। प्रोटेस्टेन्टों में मूर्तिपूजा नहीं है, किन्तु वे भी ईश्वर को व्यक्तिविशेष समझकर उपासना करते हैं। यह भी मूर्तिपूजा का रूपान्तर मात्र है। पारसी और ईरानियों में अग्निपूजा खूब प्रचलित है। मुसलमान अच्छे अच्छे फकीरों की पूजा करते हैं और नमाज़ के समय काबा की ओर मुँह करते हैं। यह सब देखकर जान पड़ता है कि धर्म-साधना की प्रथमावस्था में मनुष्यों को कुछ बाह्य सहायताओं की आवश्यकता पड़ती है। जिस समय मन खूब शुद्ध हो जाता है उस समय सूक्ष्म से सूक्ष्म विषयों में चित्त एकाग्र करना सम्भव हो सकता है।

प्रतिमा-पूजा।

"उत्तमो ब्रह्मसद्भावो ध्यानभावस्तु मध्यमः।
स्तुतिर्जपोऽधमो भावो बाह्यपूजाधमाधमा॥" *

अर्थात्—सर्वत्र ब्रह्म-दर्शन सर्वोत्कृष्ट, ध्यान मध्यम, स्तुति और जप अधम और बाह्य पूजा अधमाधम है।

किन्तु इस स्थान पर यह अच्छी तरह समझ लेना होगा कि बाह्यपूजा के अधमाधम होने पर भी उसमें कोई पाप नहीं है। जो व्यक्ति जैसी उपासना कर सकता है उसके लिए वही ठीक है। यदि उसे अपने पथ से निवृत्त किया जाय, तो वह अपने कल्याण के लिए, अपने उद्देश्य की सिद्धि के लिए दूसरे किसी मार्ग का अवलम्बन करेगा। इसलिए जो मूर्तिपूजा करते हैं, उनकी

* महानिर्वाण तंत्र, १४–१२२

निन्दा करना उचित नहीं। वे उन्नति की जिस सीढ़ी तक चढ़ चुके हैं, उनके लिए वही आवश्यक है। जो समर्थ हैं वे इन सब व्यक्तियों की उन्नति की चेष्टा कर उनसे अच्छे काम करवायें, किन्तु उपासना-प्रणाली को लेकर झगड़ा करने की क्या आवश्यकता है!

परा भक्ति प्राप्त होने पर आत्मा देह से पृथक् हो जाती है। कोई धन और कोई पुत्र की प्राप्ति के लिए ईश्वर की उपासना करता है। जो उपासना करते हैं वे अपने को बड़ा धार्मिक समझते हैं, किन्तु यह वास्तविक भक्ति नहीं है — वे लोग भी धार्मिक नहीं हैं। अगर वे सुन लें कि अमुक स्थान में एक साधु आया है और वह तांबे का सोना बनाता है, तो वे दल के दल वहाँ एकत्र हो जायेंगे, तिस पर भी वे अपने को धार्मिक कहने में लज्जित नहीं होते। पुत्रप्राप्ति के लिए ईश्वरोपासना को भक्ति नहीं कह सकते, धनी होने के लिए ईश्वरोपासना को भक्ति नहीं कह सकते, स्वर्गलाभ के लिए ईश्वरोपासना को भक्ति नहीं कह सकते, यहाँ तक कि नरक की यंत्रणा से छूटने के लिए की गई ईश्वरोपासना को भी भक्ति नहीं कह सकते। भय या कामना से कभी भक्ति की उत्पत्ति नहीं हो सकती। वे ही वस्तुतः धार्मिक हैं, जो कह सकते हैं —

प्रकृत भक्त कौन है?

> "न धनं न जनं न च सुन्दरीं
> कवितां वा जगदीश कामये।
> मम जन्मनि जन्मनीश्वरे
> भवताद्भक्तिरहैतुकी त्वयि॥"

अर्थात्, हे जगदीश्वर! मैं धन, जन, परम सुंदरी स्त्री अथवा पाण्डित्य कुछ भी नहीं चाहता। हे ईश्वर! मैं प्रत्येक जन्म में आपकी अहैतुकी भक्ति चाहता हूँ।

जिस समय यह अवस्था प्राप्त होती है उस समय मनुष्य सब चीज़ों में

ईश्वर को तथा ईश्वर में सब चीज़ों को देखने लगता है। उसी समय उसे पूर्ण भक्ति प्राप्त होती है। उसी समय वह ब्रह्मा से लेकर कीटाणु तक सभी वस्तुओं में विष्णु के दर्शन करता है। तभी वह पूरी तरह समझ सकता है कि ईश्वर के अतिरिक्त संसार में और कुछ नहीं है और केवल तभी वह अपने को हीन से हीन समझकर यथार्थ भक्त की भाँति ईश्वर की उपासना करता है। उस समय उसे बाह्य अनुष्ठान एवं तीर्थयात्रा आदि की प्रवृत्ति नहीं रह जाती —वह प्रत्येक मनुष्य को ही यथार्थ देव-मन्दिर स्वरूप समझता है।

शास्त्रोक्त भक्ति के अवस्थाभेद और उनका प्रकृत तात्पर्य।

हम लोगों के शास्त्र में भक्ति का नाना प्रकार से वर्णन किया गया है। किन्तु जब तक हमारे हृदय में भक्ति-प्राप्ति के लिए यथार्थ व्याकुलता नहीं होती, तब तक हम उसके किसी भी प्रकृत तत्व को ठीक तरह से हृदयंगम करने में समर्थ नहीं हो सकते। उदाहरणार्थ, हम ईश्वर को अपना पिता कहते हैं। उसे हम पिता क्यों कहें? पिता का सदा जो अर्थ होता है, वह ईश्वर के लिए व्यवहृत नहीं हो सकता। ईश्वर को माता कहने में भी यही आपत्ति है। किन्तु यदि हम इन दो शब्दों के वास्तविक अर्थ की आलोचना करें तो जान पड़ेगा कि इन दोनों शब्दों में यथार्थ सार्थकता है। ये दोनों शब्द अत्यन्त प्रेमपूर्ण हैं। सच्चे धार्मिक ईश्वर को अपने प्राणों से भी अधिक प्यार करते हैं, इसलिए वे उसे माता-पिता कहे बिना नहीं रह सकते। रासलीला में भक्त का प्रकृत भाव व्यक्त हुआ है, कारण, संसार में स्त्री-पुरुष के प्रेम से अधिक प्रबल कोई दूसरा प्रेम नहीं हो सकता। जहाँ इस प्रकार का प्रबल अनुराग होगा, वहाँ कोई भय, कोई वासना या कोई आसक्ति नहीं रह सकती—केवल एक अच्छेद्य बन्धन दोनों को तन्मय कर देता है। माता-पिता के प्रति सन्तान का जो प्रेम है वह भय-मिश्रित है, कारण उनके प्रति उसका श्रद्धाभाव रहता है। ईश्वर सृष्टि करें या न करें, वे हमारी रक्षा करें या न करें, यह सब जानकर हमें क्या लाभ होगा?

वे हम लोगों के प्रियतम, आराध्य-देवता हैं, अतः भय के भाव को छोड़कर हमें उनकी उपासना करनी चाहिए। जिस समय मनुष्य की सब वासनाएँ मिट जाती हैं, जिस समय वह और किसी विषय की चिन्ता नहीं करता, जिस समय वह ईश्वर के लिए पागल हो जाता है, उसी समय मनुष्य ईश्वर से वस्तुतः प्रेम करता है। सांसारिक प्रेमी जिस भाँति अपने प्रियतम से प्रेम करते हैं, उसी प्रकार हमें ईश्वर से भी प्रेम करना होगा। कृष्ण स्वयं ईश्वर थे, राधा उनके प्रेम में पागल थीं। जिन ग्रंथों में राधा-कृष्ण की प्रेमकथाएँ वर्णित हैं उन्हें पढ़िये तो पता चलेगा कि ईश्वर से कैसे प्रेम करना चाहिए। किन्तु इस अपूर्व प्रेम के तत्व को कौन समझ सकेगा? बहुत से ऐसे मनुष्य हैं जिनका हृदय पाप से परिपूर्ण है, वे नहीं जानते कि पवित्रता या नीति किसे कहते हैं। वे क्या इन तत्वों को समझ सकते हैं? वे किसी भाँति इन तत्वों को समझ ही नहीं सकते। जिस समय मन से सारी असत् चिन्ताएँ दूर हो जाती हैं और मन पूर्ण रूप से निर्मल हो जाता है उस समय वे मूर्ख होने पर भी शास्त्र की अति जटिल समस्याओं के रहस्य को समझने में समर्थ होते हैं। किन्तु इस प्रकार के मनुष्य संसार में कितने हैं या हो सकते हैं?

सभी धर्म अच्छे हैं, केवल तद्धर्मावलम्बी असत् लोगों के द्वारा ही वे कलुषित होते हैं।

ऐसा कोई धर्म नहीं है जिसे बुरे लोग बदनाम न कर दें। ज्ञान की दुहाई देकर लोग अनायास ही कह सकते हैं कि आत्मा जब देह से सम्पूर्णतया पृथक् है, तो देह चाहे जो करे, आत्मा उस कार्य में लिप्त नहीं हो सकती। यदि वे ठीक तरह से धर्म का अनुसरण करते तो हिन्दू, मुसलमान, ईसाई अथवा कोई भी दूसरा धर्मावलम्बी क्यों न हो, सभी पवित्रता के अवतारस्वरूप होते। किन्तु प्रकृति बुरी होने से मनुष्य भी बुरा हो जाता है,—और मनुष्य भी अपनी अपनी प्रकृति के अनुसार परिचालित होते हैं,—यह अस्वीकार नहीं किया जा सकता। किन्तु सब धर्मों में

असाधु लोगों की संख्या अधिक होने पर भी कितने ही मनुष्य ऐसे भी हैं जो ईश्वर का नाम सुनते ही उन्मत्त हो जाते हैं, ईश्वर का गुणगान करते करते जिनकी आँखों से प्रेमाश्रु की प्रबल धारा बहने लगती है—इसी प्रकार के लोग सच्चे भक्त हैं।

भक्ति की प्रथम अवस्था में लोग ईश्वर को मालिक और अपने को गुलाम समझते हैं। वे कहते हैं, 'धन्य पिता! आज तूने मुझे दो पैसे दिये हैं, इसलिए तुझे धन्यवाद देता हूँ।' कुछ ऐसा भी कहते हैं—'हे ईश्वर! भरण-पोषण के लिए आहार दो।' दूसरे कहते हैं, 'हे प्रभो! अमुक अमुक कारणों से हम तुम्हारे बड़े कृतज्ञ हैं।'—इत्यादि। इस प्रकार के भावों को एकदम छोड़ देना चाहिये। शास्त्र में लिखा है, जगत् में एक आकर्षणी शक्ति है। उसी आकर्षणी शक्ति के कारण सूर्य, चन्द्र एवं अन्यान्य सभी चीज़ें विचरण करती हैं। यही आकर्षणी शक्ति ईश्वर है। इस संसार की अच्छी या बुरी सभी चीज़ें ईश्वराभिमुख चल रही हैं। हमारे जीवन की सारी घटनाएँ, अच्छी या बुरी, हमें उसीकी ओर ले जाती हैं। एक मनुष्य ने दूसरे का अपने स्वार्थ के लिए खून किया। जो कुछ भी हो, अपने लिए हो या दूसरों के लिए हो, प्रेम ही इस कार्य का मूल है। खराब हो या अच्छा हो, प्रेम ही सब चीज़ों का प्रेरक है। शेर जब बकरी के बच्चे को मारता है, तब वह अपनी या अपने बच्चे की भूख मिटाने के लिए ऐसा करता है। यदि पूछा जाय, ईश्वर क्या है?—तो उत्तर होगा, ईश्वर प्रेम का अवतारस्वरूप है। सदा सब अपराधों को क्षमा करने के लिए प्रस्तुत, अनादि, अनन्त ईश्वर प्रत्येक वस्तु में विद्यमान है। उसकी प्राप्ति के लिए किसी निर्दिष्ट साधना-प्रणाली का अनुष्ठान करना होगा, नहीं तो उसका लाभ नहीं होगा—उसका यह अभिप्राय नहीं है। लोग जानें या न जानें, वे उसकी ओर अग्रसर हो रहे हैं। पति की परमानुरागिणी स्त्री नहीं जानती, उसके पति में भी वही महा

ईश्वर परम प्रेम-स्वरूप है।

आकर्षणी-शक्ति है, वही उसको अपने स्वामी की ओर ले जाती है। हमारा उपास्य है — केवल यही प्रेम का ईश्वर। जब तक हम उसे स्रष्टा, पालनकर्ता आदि समझते हैं, तब तक उसकी बाह्य पूजा आदि की आवश्यकता है, किन्तु जिस समय इन सारी भावनाओं का परित्याग करके उसे प्रेम का अवतारस्वरूप समझते हैं एवं सब वस्तुओं में उसे और उसमें सब वस्तुओं को देखते हैं, उसी समय हमें स्थायी भक्ति प्राप्त होती है।

---

२२. हिन्दूधर्म के साधारण आधार

(सन् १८९७ में लाहौर में दिया हुआ भाषण ।)

यह वही भूमि है जो पवित्र आर्यावर्त में पवित्रतम मानी जाती है, यह वही ब्रह्मावर्त है जिसका हमारे महर्षि मनु ने उल्लेख किया है। यह वही भूमि है जहाँ से आत्म-तत्वज्ञान की प्रबल आकांक्षा तथा प्रबल अनुराग-स्रोत का उद्गम हुआ है। उसी स्रोत ने आगे चलकर संसार को प्लावित कर दिया और इतिहास इस बात का साक्षी है। यह वही भूमि है, जहाँ इसकी वेगवती नदियों की तरह आध्यात्मिक महत्वाकांक्षाएँ उत्पन्न हुई हैं और वे सभी क्रमशः एकाधार में सम्मिलित होकर शक्तिसम्पन्न हुई हैं तथा अन्त में सारे संसार के अन्दर फैलकर उन्होंने गम्भीर नाद से अपनी महती शक्तियों की घोषणा की है। यह वही वीर-भूमि है जिसने भारत पर होनेवाले बाहरी असभ्य शत्रुओं के आक्रमणों को सबसे पहले अपनी छाती पर सह लिया है। यह वही भूमि है जिसने इतने दुःख-कष्टों और यातना-यंत्रणाओं को भी सहकर अपना गौरव, अपना तेज नहीं गँवाया है। यहीं पर अपेक्षाकृत आधुनिक समय में दयालु नानक ने प्रकट होकर अपूर्व विश्वप्रेम का प्रचार किया है। यह वही भूमि है, जहाँ उस महामना व्यक्ति के विशाल वक्षःस्थल के द्वार खुले थे, और वे दोनों भुजाएँ फैलाकर समग्र संसार को — केवल हिन्दुओं को ही नहीं, मुसलमानों तक को — गले लगाने के लिए दौड़े थे। यहीं पर हमारी जाति के अन्तिम चिह्नस्वरूप परन्तु महा-महिमान्वित, गुरु गोविन्दसिंह ने जन्म लिया था, जिन्होंने धर्म के लिए अपना — और अपने प्राणों से बढ़कर प्रियजनों का — खून बहाया। इतना ही नहीं, जिनके लिए उन्होंने यह खून की नदी बहाई, जब वे ही उनसे अलग

पुण्यभूमि ब्रह्मावर्त।

हो गये, तब मर्माहत सिंह की तरह दाक्षिणात्य की ओर चले गये; वहा निर्जन वन में वासकर, देश के प्रति एक भी अभिशाप-वचन उच्चारित न कर, तनिक भी असन्तोष प्रकट न कर शान्ति के साथ इस लोक से प्रयाण कर गये।

मैं तुम्हारे निकट किस भाव से आया हूँ।

हे पञ्चनद-देश की सन्तानो! यहाँ, अपने इस प्राचीन देश म, मैं तुम्हारे सम्मुख उपदेशक की तरह खड़ा नहीं हुआ हूँ। तुम्हें शिक्षा देने योग्य ज्ञान मेरे पास बहुत ही थोड़ा है। मैं देश के पूर्व विभाग से इस पश्चिम विभाग के भाइयों से बातचीत करने के लिए, परस्पर के भावों का मिलान करने के लिए आया हूँ। मैं यहाँ और वहाँ की विभिन्नताओं को देखने नहीं आया हूँ, वरन् मैं यह खोजने आया हूँ कि यहाँ और वहाँ की मिलन-भूमि कौनसी है। मैं यह जानने के लिए यहाँ आया हूँ कि वह कौनसा आधार है जिसके ऊपर हम-आप सदा के लिए एक सूत्र में बँधकर रह सकेंगे, किस नींव पर प्रतिष्ठित होने पर जो वाणी अनन्त काल से आशा की वार्ता सुना रही है; वह प्रबल से प्रबलतर हो सकेगी। मैं यहाँ आया हूँ, किसी चीज़ के गढ़ने के विषय में राय-मशवरा करने, न कि किसी चीज़ को तोड़ने-फोड़ने की राय देने।

हमारा उद्देश्य विनाश नहीं, गठन है।

समालोचनाओं का जमाना अब नहीं है। अब हम लोग रचनात्मक कार्य करने की राह देख रहे हैं। संसार में समय समय पर समालोचना करने का, बल्कि बड़ी तीखी समालोचना करने का मौका आता ज़रूर है पर वह बहुत ही थोड़े समय के लिए आता है। अनन्त काल के लिए कार्य है संगठन — उन्नति की चेष्टा करना, केवल समालोचना अथवा विनाश करना नहीं। पिछले सौ वर्षों से हमारे देश में सर्वत्र समालोचनाओं की बाढ़-सी आ गई है पाश्चात्य विज्ञान का तीव्र आलोक हमारे यहाँ के अंधकारमय स्थानों पर पड़ने से हमारे गली-कूचों और कोनों ने सर्वसाधारण जनता की दृष्टि अन्यान्य जगहों की अपेक्षा अपनी ओर अधिक आकर्षित कर

ली है। फलतः देश में सर्वत्र सत्य और न्यायानुरागी श्रेष्ठ महात्माओं का उत्थान हुआ। उनके हृदय में अपार स्वदेश-प्रेम और अपने धर्म तथा ईश्वर पर प्रबल अनुराग विद्यमान था; और चूँकि ये महात्मा अपने देश के प्रति बहुत गहरा प्रेम रखते थे, उन्होंने जो कुछ बुरा देखा, उसकी बड़ी कड़ी समालोचना करनी शुरू कर दी। अतीत काल के इन महात्माओं को धन्यवाद है—उन्होंने देशवासियों का बहुत बड़ा उपकार किया है; परन्तु आज एक महावाणी हमें पुकारकर कह रही है—समालोचना यथेष्ट हो चुकी, दोष दिखाना बहुत हो चुका। अब उसका काम नहीं है। अब काम है संगठन करने का—अपनी सारी बिखरी हुई शक्तियों को केन्द्रीभूत करने का और उसी सम्मिलित शक्ति की सहायता से, जो जातीय गति सैकड़ों शताब्दियों से अवरुद्धप्राय हो गई है, उसे आगे बढ़ाने का। घर की सफाई का काम हो चुका है; अब उसमें रहने की आवश्यकता है। आर्यसन्तानो, रास्ता साफ हो गया है—अब तुम आगे बढ़ो।

प्यारे भाइयो! आपके सामने आने का मेरा उद्देश्य यही है और मैं आरम्भ में ही आपसे कह देना चाहता हूँ कि मैं किसी दलबन्दी या सम्प्रदाय-विशेष का व्यक्ति नहीं हूँ। मेरी दृष्टि में सभी सम्प्रदाय महान् हैं। मैं उन सबको प्रेम की दृष्टि से देखता हूँ, और जीवन भर मैंने यही ढूँढ़ने की चेष्टा की है कि उनमें कौनसी बात अच्छी और सच्ची है। अतएव मेरा विचार यह है कि आज की रात मैं आप लोगों के आगे कुछ ऐसी बातें रखूँगा जिन पर हम सभी एकमत हैं; यदि सम्भव हुआ, तो हम कोई ऐसी सम्मिलन-भूमि भी ढूँढ़ निकालने की चेष्टा करेंगे, और यदि ईश्वर की कृपा से हमें वह भूमि प्राप्त हो गई, तो हमें तुरन्त ही उस पर पहुँचकर काम शुरू करना होगा। हम हिन्दू हैं। मैं इस 'हिन्दू' शब्द का कोई बुरा अर्थ नहीं लगाता और जो लोग इस शब्द का कुछ बुरा अर्थ समझते हैं, उनसे मैं सहमत भी नहीं हूँ। पुराने जमाने में इस हिन्दू शब्द से

हिन्दू।

सिन्धुनद के उस पार रहनेवाले का अर्थ समझा जाता था। आज जो लोग हमें घृणा की दृष्टि से देखते हैं, उनमें से बहुतेरे इस शब्द का बुरा अर्थ किया करते हैं, पर नाम के अच्छा या बुरा होने से कुछ आता-जाता नहीं। इसकी अच्छाई या बुराई पूरी तरह से हम लोगों पर ही निर्भर करती है। हिन्दू नाम का सब तरह से महत्त्वपूर्ण और सब प्रकार से आध्यात्मिक विषय का द्योतक होना, अथवा उसका सदा घृणासूचक बना रहना, उससे पद-दलित, धर्मभ्रष्ट और नगण्य जाति का बोध होना —ये दोनों ही बातें हमारे ऊपर ही निर्भर करती हैं। अब यदि 'हिन्दू' नाम से कोई बुरा समझा जाता है, तो समझा जाने दो। आओ, हम अपने कार्यों और आचरणों से दुनिया को यह दिखाने को तैयार हो जायँ कि समग्र संसार की कोई भी भाषा इससे ऊँचा, इससे महान् शब्द का आविष्कार ही नहीं कर सकी है। जिन सिद्धान्तों और नीतियों के द्वारा मेरा जीवन परिचालित हो रहा है, उनमें से एक तो यह है कि मैं कभी अपने पूर्व-पुरुषों को याद करके लज्जित नहीं होता हूँ। संसार में जितने भी बड़े बड़े अहङ्कारी पैदा हुए हैं, मैं भी उन्हीं में से एक हूँ, पर मैं स्पष्ट शब्दों में यह बताये देता हूँ, मेरा यह अहंकार अपने ही गुण या शक्ति के कारण नहीं है, बल्कि वह है अपने पूर्व-पुरुषों के कारण। मैंने जितना ही अधिक अपने अतीत काल की बातों का अध्ययन किया है, जितनी दूर तक पीछे की ओर देखा है, उतना ही अधिक मेरे हृदय में पूर्व-पुरुषों का गौरव उत्पन्न हुआ है, इसीने मुझे दृढ़ अविचल विश्वास और साहस प्रदान किया है, इसीने मुझे धूल से उठाकर अपने महान् पूर्व-पुरुषों के महान् उद्देश्यों को कार्यरूप में परिणत करने के लिए खड़ा किया है। उन्हीं प्राचीन आर्यों की सन्तानो! ईश्वर की कृपा से तुम्हारे हृदयों में भी वह अहङ्कार उत्पन्न हो कि वह तुम्हारे खून के साथ मिल जाय और तुम्हारे जीवन का अङ्ग बन जाय, उसके द्वारा समग्र संसार का कल्याण सधित हो!

भाइयो! हम सब लोगों की मिलन-भूमि कहाँ है? हमारे जातीय

जीवन की नींव क्या है? इस बात का पता लगाने की चेष्टा करने के पहले हमें एक बात याद रखनी ही पड़ेगी। जिस तरह प्रत्येक मनुष्य का व्यक्तित्व होता है, ठीक उसी तरह प्रत्येक जाति का भी एक-एक व्यक्तित्व होता है। जिस प्रकार एक व्यक्ति का दूसरे व्यक्ति के साथ कुछ विषयों में अन्तर होता है, प्रत्येक व्यक्ति में कुछ न कुछ विशेषता होती है, उसी प्रकार प्रत्येक जाति का दूसरी जाति के साथ कुछ-न-कुछ पार्थक्य होता है। और जिस प्रकार हर-एक आदमी को प्रकृति का कोई-न-कोई उद्देश्य सिद्ध करना पड़ता है— अपने पूर्वकृत कर्मों के फल के अनुसार चलना ही पड़ता है, उसी तरह प्रत्येक जाति को भी ठीक उसी प्रकार किसी एक दैव-निर्दिष्ट पथ का अनुसरण करना पड़ता है, प्रत्येक जाति को कोई सन्देश घोषित करना पड़ता है और प्रत्येक जाति को किसी-न-किसी व्रत का उद्यापन करना पड़ता है। अतएव सबसे पहले हमें यह जानना चाहिए कि हमारा जातीय व्रत क्या है। विधाता ने किस उद्देश्य की सिद्धि के लिए इसकी सृष्टि की है, यह भी जानना होगा। भिन्न-भिन्न जातियों की उन्नति और अधिकार में इसका स्थान कहाँ है तथा अन्यान्य जातियों की एकतान सङ्गीत-ध्वनि में यह कौनसा सुर भरेगा, यह भी जानना होगा। हम लोग लड़कपन में यह कहानी सुना करते थे कि कुछ साँपों के माथे में मणि होती है। तुम उस साँप को लेकर जो चाहो, कर सकते हो; पर जब तक उसके माथे में मणि रहेगी, तब तक तुम उसे मार नहीं सकते। हम लोगों ने किस्से-कहानियों में राक्षसों की भी बहुतेरी बातें सुनी हैं। कहते हैं, राक्षसों के प्राण 'हीरामन तोते' के कलेजे के अन्दर बन्द रहते थे। जब तक उस 'हीरामन तोते' की जान में जान रहती थी, तब तक उस राक्षस या राक्षसी का बाल भी बाँका नहीं होता था। कोई उसे टुकड़े टुकड़े काट डाले, चाहे जो करे, पर तोते के जीते-जी कोई उसे मार नहीं सकता था। जातियों के विषय में भी यही बात है। जातिविशेष

हमारा जातीयत्व किसमें है?

का जीवन भी ठीक उसी प्रकार मानो किसी चीज़ में छिपा हुआ रहता है; वहीं उस जाति की जातीयता रहती है। जब तक उस गुप्त स्थान पर चोट नहीं पड़ती, तब तक उसकी मृत्यु नहीं होती। इसी तत्व के प्रकाश से, हम संसार के इतिहास की सर्वाधिक आश्चर्यपूर्ण अनोखी घटना को भी भलीभाँति देख और जान सकते हैं। असभ्य—बर्बर जातियों के आक्रमणों की असंख्य लहरें हमारी इस जाति के माथे पर से चली गई हैं। सैकड़ों वर्ष तक भारतवर्ष के आकाश में "अल्ला हो अकबर" की आवाज गूँजती रही है और शायद ऐसा कोई हिन्दू नहीं होगा, जिसे पल-पल मृत्यु की आशंका न होती रही हो! संसार के इतिहास में जितने प्रसिद्ध-प्रसिद्ध देश हैं, उनमें सबसे अधिक दुःख-कष्ट और अत्याचार इसी देश ने सहे हैं। तो भी हम लोग जैसे पहले थे आज भी एक प्रकार वैसे ही हैं, अब भी हम नई विपत्ति का सामना करने को तैयार हैं। यही नहीं आज हम न केवल अपने आप को शक्तिशाली अनुभव कर रहे हैं, बल्कि हम यहाँ से बाहर जाकर अपने भावों का प्रचार करने तक को तैयार हैं। इस बात के लक्षण साफ दिखाई दे रहे हैं और यही जीवन का चिह्न है। आज हम देखते हैं कि हमारे यहाँ के विचार और भाव केवल भारतवर्ष के भीतर ही बन्द नहीं हैं, बल्कि हम चाहें या न चाहें, वे बाहर जाकर औरों के साहित्य में प्रवेश कर रहे हैं। केवल इतना ही नहीं, कहीं कहीं तो भारतीय विचार और भाव गुरु का सा श्रेष्ठ आसन भी पाते हैं। इसका कारण यह है कि मानव-समाज का मन जिन विषयों को लेकर उलझा रहता है, उनमें सर्वश्रेष्ठ और सर्वोच्च विषय अर्थात् दर्शन और धर्म ही भारत की ओर से सारे संसार की उन्नति के लिए एक बड़ा भारी दान है।

हमारे पूर्वपुरुषों ने और-और कितने ही विषयों की ओर भी ध्यान दिया था—औरों की तरह उन लोगों ने भी बाह्य जगत् का रहस्य उद्घाटन करने की चेष्टा की थी। हम सभी यह बात जानते हैं कि उनका अद्भुत शक्तिशाली मस्तिष्क यदि चाहता, तो इस बाह्य जगत् की उन्नति में ऐसी

कितनी ही अद्भुत वस्तुओं का आविष्कार करता, जिनकी आज भी लोग कल्पना नहीं कर सकते। पर उन्होंने और ऊँचे पहुँचने के लिए उस रास्ते को छोड़ दिया। वेदों के भीतर से हमें उसी महान् विषय की प्रतिध्वनि सुनाई देती है—

"सा परा यया तदक्षरमधिगम्यते"*

अर्थात् "परा विद्या उसे कहते हैं, जिसके द्वारा वह अविनाशी परम पुरुष प्राप्त होता है।" यह परिवर्तनशील, अशाश्वत, प्रकृति-सम्बन्धी विद्या, मृत्यु-दुःख-शोकपूर्ण इस जगत् की चाहे जैसी बड़ी विद्या क्यों न हो, पर जो अपरिणामी हैं, आनन्दमय हैं, जो शान्ति के आकर हैं, जिनके सिवा और कहीं सारे दुःखों का अन्त नहीं होता, केवल एक उन्हीं को जान लेनेवाली विद्या हमारे पूर्व-पुरुषों की राय में सर्वश्रेष्ठ विद्या है। जो हो, यदि वे चाहते, तो आसानी से वह विद्या और वह विज्ञान आविष्कृत कर सकते थे, जिससे केवल-भोजन वस्त्र मिलता है,—वह विज्ञान, जो हमें अपने साथियों और पड़ोसियों को पराजित कर उन पर अपना प्रभुत्व स्थापित करने की शिक्षा देता है, जो बलवानों को दुर्बल पर अत्याचार करने का उपाय बताता है; परन्तु ईश्वर की परम कृपा से उस ओर उनका ध्यान नहीं गया, उन्होंने बिलकुल दूसरा ही रास्ता पकड़ लिया। यह रास्ता पहले वाले से हजार गुना उत्तम था, हजार गुना आनन्दमय था। इस रास्ते को पकड़कर वे ऐसी एकाग्रता और एकनिष्ठा से आगे बढ़े कि अब वही हमारा जातीय विशेषत्व बन गया है—हजारों वर्ष से लगातार पिता से पुत्र को उत्तराधिकार-स्वरूप प्राप्त होता हुआ अब हमारे जातीय जीवन का अङ्ग हो गया है, हमारी धमनियों में बहनेवाले रक्त की

हमारे पूर्वपुरुष इच्छा होने पर बहिर्जगत् की उन्नति कर सकते थे, परन्तु उन्होंने उसे असार समझकर अन्तर्जगत् में मनोनिवेश किया।

* मुण्डकोपनिषद्, १—५

प्रत्येक बूँद में मिल गया है, हमारे स्वभाव के समान हो गया है — यहाँ तक कि अब ‘धर्म’ और ‘हिन्दू’ इन दोनों शब्दों से एक ही अर्थ का बोध होता है। यही हमारी जातीय विशेषता है, इसमें चोट पहुँचाना असम्भव है। असभ्य, बर्बर जातियाँ तलवार और बन्दूकों के सहारे बर्बर धर्मों को लेकर आई हैं, पर उनमें से कोई भी साँप के माथे की उस मणि को छू नहीं सकी है — कोई भी उस जातीय जीवन के ‘हीरामन तोते’ को मार नहीं सकी है। अतएव यही हमारी जाति की जीवनी-शक्ति है, और जब तक इस पर चोट नहीं पहुँच पाती, तब तक संसार की कोई बड़ी-से-बड़ी शक्ति भी हमारा विनाश नहीं कर सकती। जब तक हम अपने इस परम्परागत महामूल्यवान रत्न स्वरूप धर्म को पकड़े रहेंगे, तब तक संसार के सब प्रकार के अत्याचार-उत्पीड़नों और दुःख-कष्टों की आग के भीतर से प्रह्लाद की तरह बेदाग बाहर निकल आयेंगे। हिन्दू यदि धार्मिक न हो, तो मैं उसे हिन्दू नहीं कहता। अन्यान्य देशों में लोगों का मुख्य अवलम्ब राजनीतिक विषय हो सकता है, साथ ही वे थोड़ा-बहुत धर्म का भी अनुष्ठान कर सकते हैं; परन्तु यहाँ इस भारतवर्ष में, वैसा नहीं हो सकता। यहाँ धर्मानुष्ठान ही सर्वप्रथम कर्तव्य है; उसके बाद यदि समय हो, तो धर्म के सिवा अन्यान्य काम भी किये जा सकते हैं — कोई हानि नहीं। यदि हम यह बात याद रखें, तो भली-भाँति समझ सकते हैं कि जातीय कल्याण के लिए प्राचीन समय की भाँति वर्तमान समय में भी हमें सबसे पहले अपनी जाति की समग्र आध्यात्मिक शक्तियों को खोज निकालना होगा। भारत की विक्षिप्त आध्यात्मिक शक्तियों का एकीकरण या एकत्रीकरण ही भारत की राष्ट्रीय एकता का एकमात्र उपाय है। जिनके हृदयों के तार एक ही आध्यात्मिक स्वर में बँधे हुए हैं उनके सम्मिलन से ही भारत में राष्ट्र या जाति का संगठन होगा।

भाइयो! इस देश में यथेष्ट सम्प्रदाय मौजूद हैं। अब भी यथेष्ट हैं और भविष्य में भी यथेष्ट रहेंगे, कारण, हमारे धर्म की यही विशेषता है। इसके

मूल तत्व इतने उदार हैं कि यद्यपि उसीमें से बहुत से सम्प्रदाय फैले हुए हैं और शाखा-प्रशाखाएँ निकली हुई हैं, तो भी उनका मूल तत्त्व वैसा ही उदार और विशाल है जैसा हमारे सिर के ऊपर फैला हुआ यह आकाश। और, वह प्रकृति के समान नित्य है, सनातन है। अतएव, ये सम्प्रदाय स्वभावतः सदा मौजूद रहेंगे इसमें सन्देह नहीं, पर इसके लिए साम्प्रदायिक विवादों की कुछ आवश्यकता नहीं है। सम्प्रदाय रहें, पर साम्प्रदायिकता दूर हो जाय। साम्प्रदायिकता से संसार की कोई उन्नति नहीं होगी, पर सम्प्रदायों के न रहने से संसार का काम नहीं चल सकता। एक दल के लोग सब काम नहीं कर सकते। यह अनन्त शक्ति कुछ थोड़े से लोगों से परिचालित नहीं हो सकती। यह बात समझ लेने पर हमारी समझ में यह भी आ जायेगा कि हमारे अन्दर किस लिए सम्प्रदाय-भेदरूपी यह श्रम-विभाग अवश्यम्भावी बन गया है।

सम्प्रदाय रहें, साम्प्रदायिकता दूर हो जाय।

भिन्न-भिन्न आध्यात्मिक शक्ति-समूहों का परिचालन करने के लिए सम्प्रदाय कायम रहें। पर इसके लिए हमें एक दूसरे के साथ लड़ने-झगड़ने की उस समय कोई आवश्यकता नहीं दिखाई देती, जिस समय हम देखते हैं कि हमारे प्राचीन शास्त्र इस बात की घोषणा कर रहे हैं कि यह सब भेद-भाव केवल ऊपर का ही है, देखने भर का है—मूलतः इन सारी विभिन्नताओं को एक साथ बाँधे रहनेवाला परम मनोहर स्वर्णसूत्र इनके भीतर पिरोया हुआ है। हमारे बहुत ही प्राचीन शास्त्रों ने घोषणा की है कि "एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्ति"—संसार में एक ही वस्तु विद्यमान है, ऋषियों ने उसी एक का भिन्न-भिन्न नामों से वर्णन किया है। अतएव ऐसे भारत में, जहाँ सदा सभी सम्प्रदाय समान रूप से सम्मानित होते आये हैं—यदि अब भी ये सब साम्प्रदायिक झगड़े, भिन्न-भिन्न सम्प्रदायों के बीच ईर्ष्या-द्वेष रहें, तो धिक्कार है हमें जो हम अपने को उन महिमान्वित पूर्व-पुरुषों के वंशधर बताते हैं।

भाइयो, मेरा विश्वास है कि कई ऐसी प्रधान-प्रधान बातें हैं जिन पर हम सब सहमत हैं, जिन्हें हम सभी मानते हैं। हम चाहे वैष्णव हों या शैव, शाक्त हों या गाणपत्य — चाहे प्राचीन वेदान्तिक सिद्धान्तों को मानते हों या अर्वाचीन लोगों के ही अनुयायी हों — पुरानी लकीर के फकीर हों अथवा नवीन सुधारसंस्कारवादी हों — कुछ भी क्यों न हों, पर वे सभी जो अपने को हिन्दू कहते हैं, कुछ विषयों पर समान रूप से विश्वास करते हैं। सम्भव है कि उन तत्वों की व्याख्या में भेद हो — और होना भी चाहिए, क्योंकि हम लोग सबको एक साँचे में नहीं ढाल सकते। इस तरह की चेष्टा ही पाप है। हम जिस तरह की व्याख्या करें, सबको वही व्याख्या माननी पड़ेगी अथवा हमारी ही प्रणाली का अनुसरण करना होगा — जबर्दस्ती ऐसी चेष्टा करना पाप है। भाइयो, आज यहाँ पर जो लोग एकत्र हुए हैं, शायद वे सभी एक स्वर से यह स्वीकार करेंगे कि हम लोग वेदों को अपने धर्म-रहस्यों का सनातन उपदेश मानते हैं। हम सभी यह विश्वास करते हैं कि यह पवित्र शब्दराशि अनादि और अनन्त है। जिस प्रकार प्रकृति का न आदि है न अन्त, ठीक उसी प्रकार इसका भी आदि-अन्त नहीं है। और, जब कभी हम इस पवित्र ग्रन्थ की शरण में जाते हैं, तभी हमारे धर्म-सम्बन्धी सारे भेद-भाव और झगड़े मिट जाते हैं। हमारे धर्मविषयक जितने भी भेद हैं, उनकी अन्तिम मीमांसा करनेवाला यही वेद है। वेद क्या है, इस पर हम लोगों में मत-भेद हो सकता है। कोई सम्प्रदाय वेद के किसी अंश को दूसरे अंशों से अधिक पवित्र समझ सकता है; पर इससे कुछ आता-जाता नहीं, क्योंकि वेद पर हम सबका यह विश्वास है कि इसी एक सनातन पवित्र तथा अपूर्व ग्रन्थ से वे सारी चीजें मिलती हैं जो विशुद्ध हैं, महान् हैं, सर्वोत्कृष्ट हैं। अच्छा, यदि हमारा ऐसा विश्वास है तो फिर इसी तत्व का सारे भारतवर्ष में प्रचार हो। वेद सदा से जिस प्रधानता का अधिकारी है और

हिन्दू सम्प्रदायों की प्रथम सम्मिलन भूमि — वेद।

उसकी जिस प्रधानता को हम भी मानते हैं, उसे वह प्रधानता दी जाय। अतएव हम सबका सर्वप्रथम मिलन-स्थान है 'वेद'।

दूसरी बात यह है कि हम सभी ईश्वर में अर्थात् संसार की सृष्टि-स्थिति-लय-कारिणी शक्ति में—जिसमें यह सारा चराचर लय होकर फिर समय पर जगत्-प्रपञ्च-रूप से निकल आता है—विश्वास करते हैं। हमारी ईश्वरविषयक कल्पना भिन्न भिन्न भाँति की हो सकती है—कुछ लोग ईश्वर को केवल साकार या सगुण रूप में, कुछ उन्हें सगुण तथा निर्गुण दोनों के समष्टि रूप में, और कुछ केवल निर्गुण रूप में ही मान सकते हैं, और सभी अपनी-अपनी धारणा की पुष्टि में वेद का प्रमाण दे सकते हैं। पर इन सब विभिन्नताओं के होते हुए भी हम सभी ईश्वर में विश्वास करते हैं। इसी बात को दूसरे शब्दों में यों भी कह सकते हैं—जिनसे सकल चराचर उत्पन्न हुआ है, जिनके अवलम्ब से वह जीवित है और अन्त में वह फिर जिनमें लीन हो जाता है, उस अद्भुत अनन्त शक्ति पर जो विश्वास नहीं करता, वह अपने को हिन्दू नहीं कह सकता। यदि ऐसी बात है, तो इस तत्व को भी समग्र भारतवर्ष में फैलाने की चेष्टा करनी होगी। तुम इस तत्व का चाहे जिस भाव से प्रचार करो, तुममें-हममें कोई वास्तविक अन्तर नहीं है—हम इसके लिए तुम्हारे साथ झगड़ा नहीं करेंगे, पर तुम्हें—चाहे जैसे हो—इस तत्व का प्रचार करना ही होगा। बस, हम इतना ही चाहते हैं। ईश्वर सम्बन्धी विभिन्न धारणाओं में, सम्भव है, कोई धारणा सर्वश्रेष्ठ हो; पर याद रखना, उनमें कोई भी धारणा बुरी नहीं है। उन धारणाओं में कोई अच्छी, कोई अच्छी से भी अच्छी और कोई सबसे अच्छी हो सकती है; पर हमारी धार्मिक-तत्व-सम्बन्धी शब्दावली में 'बुरा' नाम का कोई शब्द ही नहीं है। अतएव, ईश्वर के नाम का चाहे जो कोई जिस भाव से प्रचार करे, वह निश्चय ही ईश्वर के आशीर्वाद का भाजन होगा; उनके नाम का जितना ही

द्वितीय सम्मिलन-भूमि—ईश्वर।

अधिक प्रचार होगा, देश का उतना ही कल्याण भी होगा। हमारे बच्चे बचपन से ही इस भाव को हृदय में धारण करना सीखें — अत्यन्त दरिद्र और नीचातिनीच मनुष्य के घर से लेकर बड़े-से-बड़े धनी-मानी और उच्चतम मनुष्य के घर में भी ईश्वर के शुभ नाम का प्रवेश हो।

प्यारे भाइयो! अब एक तीसरा तत्व मैं आप लोगों के सामने प्रकट करना चाहता हूँ। हम लोग औरों की तरह यह विश्वास नहीं करते कि केवल कई हजार वर्ष पहले इस जगत् की सृष्टि हुई है और एक दिन इसका एकदम ध्वंस हो जायेगा। साथ ही, हम यह भी विश्वास नहीं करते कि इसी जगत् के साथ शून्य से जीवात्मा की भी सृष्टि हुई है। मेरा खयाल है कि इस विषय में भी सब हिन्दू एकमत होंगे। हमारा विश्वास है कि प्रकृति अनादि और अनन्त है; हाँ, कल्पान्त में यह स्थूल बाह्य जगत् सूक्ष्मता को प्राप्त होता है। फिर कुछ काल तक उस सूक्ष्मावस्था में रहकर पुनः बाहर आता और प्रकृति कहलानेवाले इस अनन्त-जगत्-प्रपंच को प्रकट करता है। और, यह तरङ्गाकार गति अनन्त काल से — जब स्वयं काल ही आरम्भ नहीं हुआ था, तभी से चल रही है, और अनन्त काल तक चलती रहेगी।

तृतीय सम्मिलन-भूमि — सृष्टिवाद।

एक बात और है। हिन्दूमात्र का विश्वास है कि यह स्थूल जड़ शरीर, अथवा इसके भीतर रहनेवाला मन नामक सूक्ष्म शरीर भी, वास्तव में मनुष्य नहीं — 'मनुष्य' इनसे भी बहुत ऊँचा और श्रेष्ठ है। कारण, स्थूल शरीर फल-भोगी है और मन का भी वही हाल है, परन्तु इन सबसे परे आत्मा नामक जो वस्तु है, उसका न आदि है न अन्त। मैं इस 'आत्मा' शब्द का अँग्रेजी में अनुवाद नहीं कर सकता, इसकी जगह अँग्रेजी में आप चाहे जो शब्द कहें, गलत होगा। हाँ, तो 'मृत्यु' नामक अवस्था से वह परिचित नहीं। इसके सिवा एक और खास बात है, जिसमें हमारे साथ अन्यान्य जातियों का मतभेद है। वह यह है कि आत्मा एक देह का अन्त होने पर दूसरी देह धारण

करती है। ऐसा करते-करते वह एक ऐसी अवस्था में पहुँचती है, जब उसे फिर शरीर धारण करने की आवश्यकता नहीं रह जाती, या उसे वैसा करने की इच्छा ही नहीं होती। तब वह मुक्त हो जाती है; फिर कभी जन्म नहीं लेती। हमारा मतलब अपने शास्त्रों के पुनर्जन्म-वाद और आत्मा के नित्यत्ववाद से है। हम चाहे जिस सम्प्रदाय के हों पर इस विषय में हम सभी एकमत हैं। इस आत्मा-परमात्मा के पारस्परिक सम्बन्ध के बारे में हमारे भिन्न भिन्न मत हों, तो हों। एक सम्प्रदाय आत्मा को परमात्मा से सदा अलग मान सकता है, दूसरे के मत से आत्मा उसी अनन्त अग्नि की एक चिनगारी हो सकती है, और किसी तीसरे सम्प्रदाय के मतानुसार आत्मा और परमात्मा में कोई भेद ही न हो—ऐसा भी हो सकता है। हम आत्मा और परमात्मा के इस सम्बन्ध के विषय में चाहे जैसा अर्थ क्यों न निकालें, चाहे जैसी व्याख्या क्यों न करें, इससे कुछ बनता-बिगड़ता नहीं। जब तक हम इस मूलतत्व को मानते हैं कि आत्मा अनन्त है—उसकी कभी सृष्टि नहीं हुई, और इसलिए उसका कभी नाश भी नहीं हो सकता, उसे भिन्न-भिन्न शरीरों से क्रमशः उन्नति करते करते अन्त में मनुष्य-शरीर धारण कर पूर्णत्व प्राप्त करना होगा—तब तक हम सभी एकमत हैं।

चतुर्थ सम्मिलन-भूमि—आत्मतत्व और पुनर्जन्मवाद।

अब मैं प्राच्य और पाश्चात्य भावों में सर्वाधिक भेद-जनक और धर्म-राज्य के सब से बड़े तथा अपूर्व आविष्कार की बात बताऊँगा। आप लोगों में कुछ लोग शायद ऐसे होंगे, जो पाश्चात्य विचारों का अध्ययन करते हों। उन्हें सम्भवतः यह बात पहले ही सूझी होगी कि एक और ऐसी मुख्य बात है जो पाश्चात्य विचारों को एक ही चोट में पूर्वीय विचारों से पृथक् कर देती है। वह यह है कि हम भारत के निवासी जितने भी प्रकार के धर्मावलम्बी हैं—शाक्त, शैव, सौर या वैष्णव, यहाँ तक कि बौद्ध और जैन भी—सब के सब यही विश्वास करते हैं कि आत्मा स्वभावतः शुद्ध, पूर्ण, अनन्त शक्तिशालिनी

और आनन्दमय है। केवल द्वैतवादियों के मत में आत्मा का यह चिदानन्द स्वभाव पिछले बुरे कर्मों के कारण संकुचित हो गया है, ईश्वर के अनुग्रह से वह फिर खिल जायेगा और पुनः अपनी अवस्था को प्राप्त होगा। पर अद्वैत-वादी कहता है कि आत्मा के संकुचित होने की धारणा भी अनेक अंशों में भ्रान्ति-मूलक है—माया के आवरण के कारण ही हम आत्मा की शक्तियों का क्षणिक ह्रास हुआ समझते हैं, असल में तब भी आत्मा पूर्णतः प्रकाशमान रहती है। द्वैत और अद्वैतवाद में यह अन्तर रहने पर भी मूलतत्व में अर्थात् आत्मा की स्वाभाविक पूर्णता के विषय में सब का विश्वास एक है, और यहीं पर पाश्चात्य और प्राच्य के बीच की मजबूत दीवार खड़ी होती है। प्राच्य जाति उन वस्तुओं को, जो अच्छी और महान् हैं, अपने अन्दर ढूँढ़ती है। पूजा-उपासना के समय हम लोग आँखें बन्दकर अपने अन्दर ईश्वर ढूँढ़ते हैं, और पाश्चात्य जातिवाले बाहर ही अपने ईश्वर को ढूँढ़ते फिरते हैं। पाश्चात्यों के धर्म-ग्रन्थ श्वास की तरह बाहर से भीतर आए हुए हैं पर हमारे धर्म-ग्रन्थ भीतर से बाहर निकले हुए हैं—'ईश्वर-निःश्वसित'* हैं—मन्त्रद्रष्टा ऋषियों के हृदयों से निकले हैं।

पंचम सम्मिलन-भूमि—आत्मा सदा पूर्णस्वभाव है।

यह एक बहुत आवश्यक और अच्छी तरह समझ रखने की बात है। प्यारे भाइयो! मैं आप लोगों से यह बताए देता हूँ कि यही बात भविष्य में हमें फिर बार-बार बतानी और समझानी पड़ेगी। कारण, मेरा दृढ़ विश्वास है—और मैं आप लोगों से भी यह बात अच्छी तरह समझ लेने को कहता हूँ—कि जो व्यक्ति दिन-रात अपने को दीन-हीन या अयोग्य समझे बैठा रहेगा, उसके द्वारा कुछ भी नहीं हो सकता, वास्तव में दिन-दिन वह अपनी उस काल्पित अवस्था को प्राप्त होता जायेगा। अगर आप समझें कि

* बृहदारण्यक उपनिषद, २-४-१०

आत्मा के स्वाभाविक पूर्णत्व में विश्वास का महाफल।

हमारे अन्दर शक्ति है, तो आप ही में से शक्ति जाग उठेगी। और, अगर आप सोचें कि हम कुछ नहीं हैं — दिन-रात यही सोचा करें, तो आप सचमुच 'कुछ नहीं' हो जायेंगे। आप लोगों को तो यह महान् तत्व सदा स्मरण रखना चाहिए कि हम उसी सर्वशक्तिमान की सन्तान हैं, हम उसी अनन्त ब्रह्माग्नि की चिनगारियाँ हैं — भला हम 'कुछ नहीं' क्योंकर हो सकते हैं? हम सब कुछ कर सकते हैं। हमें सब कुछ करना ही होगा — हमारे पूर्वपुरुषों में ऐसा ही दृढ़ आत्मविश्वास था। इसी आत्म-विश्वास-रूपी प्रेरणा-शक्ति ने उन्हें ऊँची से ऊँची सीढ़ी पर चढ़ाया था। और, अब यदि हमारी अवनति हुई हो तो आपसे सच कहता हूँ — जिस दिन हमारे पूर्वजों ने अपना यह आत्म-विश्वास गँवाया होगा, उसी दिन से हमारी यह अवनति, यह दुरवस्था आरम्भ हुई है। आत्मविश्वास के न होने का मतलब ही है ईश्वर में अविश्वास। क्या तुम्हें विश्वास है कि वह अनन्त-मङ्गलमय परमेश्वर तुम्हारे भीतर बैठकर काम कर रहा है? यदि तुम ऐसा विश्वास करो कि वही सर्वव्यापी अन्तर्यामी प्रत्येक अणु-परमाणु में — तुम्हारे शरीर, मन और आत्मा में — ओतप्रोत है, तो फिर क्या तुम कभी उत्साह से वञ्चित हो सकते हो? मान लो, मैं पानी का एक छोटासा बुलबुला हूँ, और तुम एक बड़े भारी पहाड़ के बराबर तरङ्ग हो, तो इससे क्या? मैं जो हूँ वह हूँ, तुम जो हो वह हो। वह अनन्त समुद्र जैसा तुम्हारे लिए, वैसा ही मेरे लिए भी आश्रयदाता है। उस प्राण, शक्ति और आध्यात्मिकता के अनन्त समुद्र में जैसा तुम्हारा, वैसा ही मेरा अधिकार है। मेरे जन्म से ही — मेरे अन्दर जीवन होने से ही — यह प्रमाणित हो रहा है कि भले ही तुम बड़े भारी पहाड़ के समान ऊँचे हो, पर मैं भी उसी अनन्त जीवन, अनन्त शिव और अनन्त शक्ति के साथ नित्य सम्बद्ध हूँ। अतएव, भाइयो! आप अपनी सन्तानों को बाल्यकाल से ही इस महान्, जीवन-प्रद, उच्च और

महत्त्वविधायक तत्त्व की शिक्षा देना शुरू कर दीजिए। उन्हें जान-बूझकर अद्वैत-वाद की ही शिक्षा देने की कोई आवश्यकता नहीं। आप चाहे अद्वैतवाद की शिक्षा दें या जिस किसी 'वाद' की — मैंने यह पहले ही बता दिया है कि आत्मा की पूर्णता के इस अपूर्व सिद्धान्त को सभी सम्प्रदायवाले समान रूप से मानते हैं। हमारे पूज्य दार्शनिक कपिल ने कहा है कि पवित्रता यदि आत्मा का स्वरूप न हो, तो वह कभी पवित्रता को प्राप्त नहीं हो सकती। कारण, जो स्वभावतः पूर्ण नहीं है, वह यदि किसी प्रकार पूर्णता पा भी ले, तो वह पूर्णता उसमें स्थिर भाव से नहीं रह सकती — उसका लोप ही हो जायेगा। अगर अपवित्रता ही मनुष्य का स्वभाव हो, तो भले ही वह कुछ समय के लिए पवित्रता प्राप्त कर ले, पर वह सदा के लिए अपवित्र ही बना रहेगा। कभी-न-कभी ऐसा समय आएगा जब यह पवित्रता धुल जायेगी, दूर हो जायेगी और फिर वही स्वाभाविक अपवित्रता अपना सिक्का जमा लेगी। इसी-लिए हमारे सभी दार्शनिकों ने कहा है कि पवित्रता ही हमारा स्वभाव है, अपवित्रता नहीं; पूर्णता ही हमारा स्वभाव है, अपूर्णता नहीं — इसे आप लोग सदा स्मरण रखें। शरीर त्याग करते समय एक महर्षि ने अपने मन से कहा है, 'अपने किए हुए उत्कृष्ट कार्यों और ऊँचे विचारों का स्मरण करते रहना।' * यह सुन्दर दृष्टान्त सदा याद रखने योग्य है। देखिये, उन्होंने अपने मन से अपनी कमज़ोरियों की याद करने के लिए नहीं कहा है। यह ज़रूर है कि मनुष्य में कमज़ोरियाँ भी बहुत हैं, पर फिर भी तुम अपने वास्त-विक स्वरूप को सदा याद रखो — बस, इन दोषों और दुर्बलताओं के दूर करने की यही अमोघ औषधि है।

भाइयो, मैं समझता हूँ कि ऊपर जो मैंने कई विषय बताए हैं, उन्हें भारतवर्ष के सभी भिन्न-भिन्न सम्प्रदायवाले स्वीकार करते हैं, और सम्भवतः भविष्य में इस सर्व-स्वीकृत आधार पर सभी सम्प्रदायों के

* ॐ क्रतो स्मर कृतं स्मर क्रतो स्मर कृतं स्मर।— ईशोपनिषद, १७

प्रत्यक्षानुभूति ही प्रकृत धर्म है।

लोग — उदार हों या कट्टर, पुरानी लकीर के फकीर हों या नई रोशनीवाले — सम्मिलित होंगे। पर सबसे बढ़कर एक बात और है, जिसे सदा याद रखना परम आवश्यक है। मुझे दुःख के साथ कहना पड़ता है, हम लोग उस परमावश्यक विषय को कभी-कभी भूल जाते हैं। वह यह बात है कि हमारे भारतवर्ष में धर्म का मतलब है 'प्रत्यक्ष अनुभूति'। यदि यह न हो तो फिर 'धर्म' वास्तव में 'धर्म' कहलाने योग्य न रहे। हमें कोई भी यह बात सिखा नहीं सकता कि 'जब तुम इस मत को स्वीकार करोगे, तभी तुम्हारा उद्धार होगा,' कारण, हम इस बात पर विश्वास नहीं करते। तुम अपने को जैसा बनाओगे, अपने को जैसे साँचे में ढालोगे, वैसे ही बनोगे। तुम जो कुछ हो, जैसे हो, ईश्वर की कृपा और अपनी चेष्टा से वैसे ही बने हो। अतएव, किसी मतविशेष पर विश्वास करने से तुम्हारा कोई विशेष उपकार नहीं होगा। 'अनुभूति' — यह महती शक्तिमयी वाणी भारत के ही आध्यात्मिक गगन-मण्डल से आविर्भूत हुई है और एकमात्र हमारे शास्त्रों ने बार बार कहा है — "ईश्वर के दर्शन करने होंगे।" यह बात बड़े साहस की है, इसमें सन्देह नहीं, पर साथ ही यह अक्षरशः सत्य भी है। धर्म की प्रत्यक्ष अनुभूति करनी होगी, केवल सुनने से काम न चलेगा — तोते की तरह कुछ थोड़े से शब्द और धर्म-विषयक बातें रट लेने से भी काम न चलेगा, सिर्फ बुद्धि की दुहाई देने से भी काम न चलेगा — आवश्यकता है हमारे अन्दर धर्म के प्रवेश करने की। ईश्वर के ऊपर जो हम विश्वास करते हैं, उसका कारण केवल हमारी जबर्दस्त दलीलें या तर्क-युक्तियाँ ही नहीं हैं, बल्कि ईश्वर के अस्तित्व के विषय में हमारा एक और सर्वोच्च प्रमाण है, और वह यही है कि हमारे यहाँ के सभी पहुँचे हुए लोगों ने ईश्वर का साक्षात्कार प्राप्त किया है। आत्मा के अस्तित्व को प्रमाणित करने के लिए हमारे यहाँ जो अकाट्य और दृढ़ युक्तियाँ हैं, केवल इसीके लिए हम आत्मा के अस्तित्व पर विश्वास करते हैं सो बात नहीं, बल्कि हमारे

विश्वास का प्रधान आधार यह है कि प्राचीन काल में भारतवर्ष के हजारों व्यक्तियों ने आत्मा के प्रत्यक्ष दर्शन किए हैं, और आज भी यदि ढूँढ़ा जाय तो कम-से-कम दस आत्मदर्शी तो अवश्य ही मिल जायेंगे, और भविष्य में भी ऐसे हजारों आत्मदर्शी होंगे। जब तक मनुष्य ईश्वर के दर्शन न कर लेगा, जब तक आत्मा के दर्शन न कर लेगा, तब तक उसकी मुक्ति होना असम्भव है। अतएव, सबसे पहले, हमें इस विषय को भलीभाँति समझना होगा, और हम लोग इस विषय को जितना ही अधिक समझेंगे, उतना ही हमारे यहाँ का साम्प्रदायिक भेद-भाव घटता जायेगा; कारण, जिसने ईश्वर के दर्शन पाये हैं—उनका साक्षात्कार प्राप्त किया है—वही सच्चा धार्मिक व्यक्ति है।

"भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वे संशयाः।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे॥"*

"जिसने उन्हें देख लिया—जो हमारे बहुत ही पास भी हैं और बहुत दूर भी हैं—उसके हृदय की गाँठ खुल गई, उसके सब संशय दूर हो गए, और एकमात्र वही कर्मफल के बन्धन से छुटकारा पा गया।"

अफसोस! हम लोग प्रायः बेकार और अर्थहीन वागाडम्बर को ही आध्यात्मिक सिद्धान्त समझ बैठते हैं—पाण्डित्यपूर्ण वक्तृताओं की झंकार सुनकर उसे ही हम धर्मानुभूति समझ लेते हैं। सारी साम्प्रदायिकताओं और सारे विरोध-भावों का मूल कारण यही है। अगर हम लोग एक बार इस बात को भलीभाँति समझ लें कि 'प्रत्यक्ष अनुभूति' ही प्रकृत धर्म है, तो हम अपने हृदय की ओर दृष्टि फेरकर यह समझने की चेष्टा करेंगे कि धर्म के सत्य तत्त्वों की उपलब्धि की ओर हम कहाँ तक अग्रसर हुए हैं। तभी हम यह

धर्म की प्रत्यक्षानुभूति ही साम्प्रदायिकता को दूर करने का प्रकृत उपाय है।

* मुण्डकोपनिषद्, २–२–८

बात समझेंगे कि हम जैसे अपने आप अन्धकार में घूम रहे हैं, वैसे ही औरों को भी अँधेरे में घुमा रहे हैं। बस, इतना समझने पर ही हमारी साम्प्रदायिकता और लड़ाई मिट जायेगी। यदि तुमसे कोई साम्प्रदायिक झगड़ा करने को तैयार हो, तो तुम उससे पूछो कि उसने क्या ईश्वर के दर्शन किए हैं? क्या उसे कभी आत्मदर्शन प्राप्त हुआ है? यदि नहीं तो उससे कह दो कि उसे ईश्वर के नाम प्रचारित करने का कोई अधिकार नहीं, क्योंकि वह तो स्वयं अन्धकार में घूम रहा है और फिर तुम्हें भी उसी अन्धकार में ले जाने की चेष्टा करता है। तुम दोनों ही उसी तरह गढ़े में जा गिरोगे, जिस तरह अन्धे को राह दिखानेवाला कोई अन्धा। अतएव, दूसरे के साथ विवाद करने से पहले ज़रा सोच समझ लेना, तब आगे बढ़ना। सब को अपनी-अपनी राह से चलने दो—'प्रत्यक्ष अनुभूति' की ओर अग्रसर होने दो। सभी अपने-अपने हृदय में उस सत्य-स्वरूप आत्मा के दर्शन करें। जब हम उस अनादि, अनन्त और अनावृत सत्य-स्वरूप के दर्शन कर पायेंगे, तभी उससे प्राप्त होनेवाले अपूर्व आनन्द का अनुभव कर सकेंगे। भारत के उन सब सत्यदर्शी प्राचीन ऋषियों ने एक स्वर से जिनकी बात कही है, हम भी उन्हीं के दर्शन कर पायेंगे। फिर उस समय हमारे हृदयों से आप ही आप प्रेमपूर्ण वाणी निकलेगी। कारण, जो प्रत्यक्ष प्रेमस्वरूप हैं, वे ही हमारे हृदय में अवस्थित रहेंगे। बस उसी समय हमारे सारे साम्प्रदायिक भेदभाव दूर हो जायेंगे—तभी हम अपने को 'हिन्दू' कहने के अधिकारी होंगे—तभी हम प्रत्येक हिन्दू-नामधारी व्यक्ति के सच्चे स्वरूप को हृदय में धारण करते हुए उससे गहरा प्रेम कर सकेंगे।

मेरी बात पर विश्वास करो, केवल तभी तुम वास्तव में हिन्दू कहलाने योग्य होंगे जब 'हिन्दू' शब्द को सुनते ही तुम्हारे अन्दर बिजली दौड़ने लग जायेगी; केवल तभी तुम अपने को सच्चा हिन्दू कह सकोगे जब तुम किसी देश या किसी प्रान्त या कोई भी भाषा बोलनेवाले हिन्दू-संज्ञक व्यक्ति को एक-

दम अपना सगा समझोगे; केवल तभी तुम अपने को सच्चा हिन्दू मान सकोगे जब किसी भी हिन्दू कहलानेवाले के दुःख में दुःख अनुभव करोगे — अपनी सन्तान पर विपत्ति आने से जैसे तुम व्याकुल हो उठते हो, वैसे ही उसके लिए भी व्याकुल होगे; तभी — केवल तभी तुम अपने को सच्चा हिन्दू बता सकोगे जब तुम उनके सारे अत्याचारों को सहन करने के लिए तैयार हो जाओगे। इसके सर्वोच्च और ज्वलन्त दृष्टान्त हैं — तुम्हारे गुरु गोविन्दसिंह जिनकी चर्चा मैं आरम्भ में कर चुका हूँ। इन महात्मा ने देश के शत्रुओं के विरुद्ध लोहा लिया, हिन्दू धर्म की रक्षा के लिए अपने कलेजे का खून बहाया, अपने पुत्रों को अपनी आँखों के सामने बलिदान होते देखा — पर, जिनके लिए इन्होंने अपना और अपने प्राणों से बढ़कर प्यारे पुत्रों का खून बहाया, उन्हीं लोगों ने, इनकी सहायता करना तो दूर रहा, उलटे इन्हें त्याग दिया! — यहाँ तक कि देश से निकाल दिया! अन्त में मर्मान्तक चोट खाकर यह शेर धीरे से अपने जन्मस्थान को छोड़ दक्षिण भारत में जाकर वहीं मृत्यु की राह देखने लगा; परन्तु अपने जीवन के अन्तिम मुहूर्त तक इन्होंने अपने उन कृतघ्न देशवासियों के प्रति कभी अभिशाप का एक शब्द भी मुँह से नहीं निकाला। मेरी बात पर गौर करो — सुनो। यदि तुम देश का हितसाधन करना चाहते हो, तो समझ लो कि प्रत्येक मनुष्य को गुरु गोविन्दसिंह बनना पड़ेगा। तुम्हें पहले अपने इन स्वजातीय नर-रूप देवताओं की पूजा करनी होगी, भले ही वे तुम्हारी बुराई के लिए लाख चेष्टा किया करें। इनमें से प्रत्येक व्यक्ति यदि तुम्हारे ऊपर अभिशाप और निन्दा की बौछार करे, तो भी तुम इनके प्रति प्रेमपूर्ण वाणी का ही प्रयोग करो। यदि ये तुम्हें त्याग दें, पैरों से ठुकरा दें, तो तुम उसी वीर-केशरी गोविन्दसिंह की तरह समाज से दूर जाकर मौत की राह देखो। जो ऐसा कर सकता है, वही सच्चा हिन्दू कहलाने का अधिकारी है। हमें

प्रकृत हिन्दू कौन? — गुरु गोविन्दसिंह।

अपने सामने सदा इसी प्रकार का आदर्श रखना होगा। पारस्परिक विरोध-भाव को भूलकर चारों ओर प्रेम का प्रवाह बहाना होगा।

लोग 'भारतोद्धार' के लिए जो जी में आए कहें; मैंने जीवन भर काम किया है, कम से कम काम करने की चेष्टा की है; मेरा यही अनुभव है कि जब तक तुम सच्चे धार्मिक नहीं होते, तब तक भारत का उद्धार होना असम्भव है। केवल भारत ही नहीं, सारे संसार का कल्याण इसी पर निर्भर है।

'भारत-उद्धार' का प्रकृत उपाय—धर्म।

कारण, मैं तुम्हें साफ साफ बता देता हूँ कि इस समय पाश्चात्य सभ्यता की नींव हिल गई है। जड़वाद की कच्ची नींव पर खड़ी होनेवाली बड़ी-से-बड़ी इमारतें भी एक-न-एक दिन अवश्य ही नीचे ढह जायेंगी। इस विषय में संसार का इतिहास ही सब से बड़ा गवाह है। कितनी जातियों ने जड़वाद की नींव पर अपने महत्व का किला खड़ा कर एक दूसरी की अपेक्षा अपना सिर ऊपर उठाया था और संसार के आगे यह घोषणा की थी कि जड़ के सिवाय मनुष्य और कुछ नहीं है। जरा गौर से देखिए। पाश्चात्य भाषा में मौत के लिए कहते हैं—"मनुष्य ने आत्मा छोड़ दी" (A man gives up the ghost), पर हमारे यहाँ की भाषा में कहते हैं, "अमुक ने शरीर छोड़ दिया।"

प्राच्य सभ्यता की भित्ति है अध्यात्मवाद, पाश्चात्य की है जड़वाद—इसका दृष्टान्त।

पाश्चात्य देशवासी अपनी बात कहते समय पहले देह को ही लक्ष्य करते हैं, उसके बाद आत्मा की ओर दृष्टि डालते हैं। पर हम लोग पहले अपने को ही आत्मा समझते हैं, उसके बाद अपने शरीर को। इन दोनों भिन्न-भिन्न वाक्यों की आलोचना करने पर तुम देखोगे कि प्राच्य और पाश्चात्य विचार-प्रणाली में कितना बड़ा अन्तर है। इसीलिए जितनी सभ्यताएँ भौतिक सुख-स्वच्छन्दता की नींव पर कायम हुई थीं, वे एक-एक करके सभी लुप्त हो गईं; परन्तु भारत की सभ्यता—बल्कि उन देशों की सभ्यता भी, जिन्होंने भारत के

चरणों के पास बैठकर शिक्षा ग्रहण की है, जैसे चीन, जापान आदि — अब तक जीवित हैं। इतना ही नहीं, उनमें पुनरुत्थान के लक्षण भी दिखाई दे रहे हैं। इन्हें 'रक्तबीज' की उपमा दी जा सकती है। तुम चाहे उन्हें हजारों बार नष्ट कर डालो, पर वे फिर नयी शक्तियों को लेकर जीवित हो उठेंगे। पर जड़वाद के आधार पर जो सभ्यताएँ स्थापित हैं, वे यदि एक बार नष्ट हो गईं, तो फिर उठ नहीं सकतीं, एक बार यदि महल ढह पड़ा, तो सदा के लिए धूल में मिल गया। अतएव, धैर्य के साथ राह देखते रहो; भविष्य में हम अवश्य ही गौरवान्वित होंगे।

घबराओ मत, और न किसी दूसरे का अनुकरण ही करने की चेष्टा करो। अन्य आवश्यक बातों के साथ हमें यह बात भी सदा याद रखनी होगी कि दूसरे का अनुकरण करना सभ्यता या उन्नति का लक्षण नहीं है। मैं यदि स्वयमेव राजा की सी पोशाक पहन लूँ तो क्या इतने ही से मैं राजा बन जाऊँगा? शेर की खाल ओढ़कर गधा कभी शेर नहीं हो सकता। नीच, शक्तिहीन और डरपोक की तरह अनुकरण करना कभी उन्नति का कारण नहीं हो सकता। वैसा करना तो मनुष्य के अधःपात का लक्षण है। जब मनुष्य अपने आप पर घृणा करने लग जाता है, तब समझना चाहिए कि उस पर अन्तिम चोट बैठी है। जब वह अपने पूर्व पुरुषों को मानने को लज्जित होता है, तो समझ लो कि उसका विनाश निकट है। मैं यद्यपि हिन्दू-जाति में नगण्य व्यक्ति हूँ, तथापि अपनी जाति और अपने पूर्व पुरुषों के गौरव से अपना गौरव अनुभव करता हूँ। अपने को हिन्दू बताते हुए, हिन्दू कहकर अपना परिचय देते हुए मुझे एक प्रकार का गौरव-सा होता है। मैं तुम लोगों का एक तुच्छ सेवक होने में अपना गौरव समझता हूँ। तुम लोग आर्य-ऋषियों के वंशधर हो — उन ऋषियों के, जिनकी महत्ता की तुलना नहीं हो सकती। एतद्देश-वासी होने का मुझे गर्व है। अतएव, आत्मविश्वासी बनो। पूर्व-पुरुषों के

अन्धानुकरण का परित्याग करो।

नाम से अपने को लज्जित नहीं, गौरवान्वित समझो। याद रहे, किसी और का अनुकरण तो कदापि न करना। जब कभी तुम औरों के विचारों का अनुसरण करोगे, तभी तुम अपनी स्वाधीनता गँवा दोगे। यहाँ तक कि आध्यात्मिक विषयों में यदि तुम दूसरों के आदेशानुसार चलोगे, तो केवल अपनी चिन्ता-शक्ति ही नहीं, सारी शक्तियाँ भी गँवा बैठोगे।

तथापि दूसरों के निकट शिक्षा ग्रहण करनी होगी।

तुम्हारे अन्दर जो कुछ है, अपनी शक्तियों द्वारा उनका विकास करो, पर किसी दूसरे का अनुकरण करके नहीं। हाँ, दूसरों के पास अगर कुछ अच्छा हो, तो उसे ग्रहण कर लो। औरों के पास से तो हमें कुछ सीखना ही होगा। मिट्टी में बीज बोने पर जल, मिट्टी और हवा आदि से रस-संग्रह करके वह बीज क्रमशः एक विशाल वृक्ष बन जाता है। जल, वायु और मिट्टी आदि से रस-संग्रह करके भी वह वृक्ष का ही रूप धारण करता है, मिट्टी या जल का ढेर नहीं बन जाता। जैसे वह बीज मिट्टी और जल आदि से रस के रूप में आवश्यक सारांश खींचकर अपनी आकृति के अनुसार एक विशाल वृक्ष का रूप धारण कर लेता है, वैसे ही औरों से उत्तम बातें सीखकर वृक्षवत् उन्नत बनो। जो सीखना नहीं चाहता, वह तो पहले ही मर चुका है। महर्षि मनु ने कहा है—

"श्रद्दधानः शुभां विद्यामाददीतावरादपि।
अन्त्यादपि परं धर्मं स्त्रीरत्नं दुष्कुलादपि।"*

—"नीच व्यक्ति की सेवा करके भी श्रेष्ठ विद्या सीखने का प्रयत्न करो। चाण्डाल द्वारा भी श्रेष्ठ धर्म की शिक्षा ग्रहण करो" इत्यादि।

औरों के पास जो कुछ अच्छा पाओ, सीख लो; पर उसे अपने साँचे में ढाल लेना होगा— दूसरे की शिक्षा ग्रहण करते समय उसके ऐसे अनुगामी न बनो कि अपनी स्वतन्त्रता गँवा बैठो। भारत के

* मनुस्मृति, २-२३८

दूसरों से शिक्षा लेकर उसे अपनाना होगा।

इस जातीय जीवन को भूल मत जाना — पल भर के लिए भी यह न सोचना कि भारतवर्ष के सभी अधिवासी अगर अमुक जाति की वेश भूषा धारण कर लेते, या अमुक जाति के आचार व्यवहारादि के अनुयायी बन जाते, तो बड़ा अच्छा होता। कुछ वर्षों का अभ्यास छोड़ देना कितनी बड़ी मुश्किल बात है, यह तुम भलीभाँति जानते हो। और परमात्मा ही जानें, कितने शतसहस्र वर्षों से यह प्रबल जातीय स्रोत एक विशेष दिशा की ओर प्रवाहित हो रहा है; तुम्हारे खून के अन्दर, परमात्मा ही जानें, कितने हज़ार वर्षों का संस्कार जमा हुआ है; क्या तुम इस प्रबल स्रोत को समुद्र की ओर से घुमाकर फिर हिमालय की ओर मोड़ ले जाना चाहते हो? यह असम्भव है। यदि ऐसी चेष्टा करोगे तो आप ही नष्ट हो जाओगे। अतएव, इस जातीय जीवन स्रोत को पूर्ववत् प्रवाहित होने दो। हाँ, जो बाधाएँ इसके रास्ते में रुकावट डाल रही हैं, उन्हें हटा दो, इसका रास्ता साफ करके प्रवाह को मुक्त कर दो; तभी यह जातीय जीवन स्रोत अपनी स्वाभाविक गति से प्रवाहित होकर आगे बढ़ेगा — तभी यह जाति अपनी सर्वांगीण उन्नति करते-करते अपने उच्चात्युच्च ध्येय की ओर अग्रसर होगी।

भाइयो! भारत की आध्यात्मिक उन्नति के विषय में मैंने उपर्युक्त बातें कही हैं। इनके सिवा और भी बहुतेरी बड़ी-बड़ी समस्याएँ हैं, जिनकी आलोचना समयाभाव से आज मैं नहीं कर सका। उदाहरण के लिए जाति-भेद-सम्बन्धी अद्भुत समस्या को ही ले लीजिए। मैं जीवन भर इस समस्या पर ही हरएक पहलू से विचार करते आया हूँ। भारत के प्रायः सभी प्रदेशों में जाकर मैंने इस विषय को छेड़ा है। इस देश के प्रायः सभी जातियों के लोगों से मिलकर मैंने इस समस्या को हल करने की चर्चा की है, और अभी तक कर रहा हूँ। पर जितना ही अधिक इस विषय पर मैं विचार करता हूँ, उतनी ही

जातिभेद और खाद्य-समस्या।

अधिक कठिनाइयाँ मेरे सामने आ रही हैं, और इसके उद्देश्य तथा तात्पर्य के विषय में उतना ही अधिक मैं किंकर्तव्य-विमूढ़ होता जा रहा हूँ। अन्त में अब मेरी आँखों के आगे एक क्षीण आलोक-रेखा-सी दिखाई देने लगी है। इधर कुछ दिनों से इसका मूल उद्देश्य कुछ-कुछ मेरी समझ में आने लगा है। इसके बाद खानपान की समस्या भी बड़ी विषम है। वास्तव में यह एक बड़ी जटिल समस्या है। साधारणतः हम लोग इसे जितना आवश्यक समझते हैं, सच पूछो तो यह उतना आवश्यक नहीं है। मैं तो अब इस सिद्धान्त पर आ पहुँचा हूँ कि आजकल खान-पान के बारे में हम लोग जिस बात पर ज़ोर देते हैं, वह एक बड़ी विचित्र बात है—वह शास्त्रानुमोदित प्रथा नहीं है। अर्थात् खान-पान की अवहलना कर हम लोग कष्ट पा रहे हैं—शास्त्रानुमोदित खान-पान की प्रथा को एकदम भूल गए हैं।

इसी प्रकार और भी कई आवश्यक विषय हैं। उन्हें भी मैं आप लोगों के सामने उपस्थित कर देना चाहता हूँ। साथ ही, यह भी बतलाना चाहता हूँ कि इन समस्याओं को हल करने या इन्हें कार्यरूप में परिणत करने का क्या उपाय है, तथा इस विषय पर बहुत कुछ सोचने-विचारने के बाद मैं किस सिद्धान्त पर पहुँचा हूँ—सभी बातें आप लोगों के सामने पेश कर देना चाहता हूँ। पर दुःख है कि विशेष विलम्ब हो जाने के कारण मैं आप लोगों का अधिक समय नहीं लेना चाहता। अतएव, जाति-भेद आदि अन्यान्य समस्याओं पर मैं फिर कभी कुछ कहूँगा। आशा है, भविष्य में हम लोग शान्ति और सुव्यवस्थित रूप से सभा-कार्य आरम्भ करने की चेष्टा करेंगे।

गतिशील धर्म।

सज्जनो, अब केवल एक बात कहकर मैं आध्यात्मिक तत्त्वविषयक अपना वक्तव्य समाप्त कर दूँगा। भारत का धर्म बहुत दिनों से गतिहीन है—वह स्थिर होकर एक जगह टिका हुआ है। हम चाहते हैं कि उसमें गति उत्पन्न हो। मैं प्रत्येक मनुष्य के

जीवन में इस धर्म को प्रतिष्ठित हुआ देखना चाहता हूँ। मैं चाहता हूँ कि प्राचीन काल की तरह राजमहल से लेकर दरिद्र के झोपड़े तक में सर्वत्र समान भाव से धर्म का प्रवेश हो। याद रहे, धर्म ही इस जाति का जन्मसिद्ध स्वत्व है। उस धर्म को हरएक आदमी के दरवाजे तक निःस्वार्थ भाव से पहुँचाना होगा। ईश्वर के राज्य में जिस प्रकार सब के लिए समान रूप से वायु प्राप्त होती है, उसी प्रकार भारतवर्ष में धर्म को सुलभ बनाना होगा। इसी प्रकार भारत में कार्य करना होगा, पर छोटी-मोटी दल-बन्दियों या सम्प्रदायों द्वारा नहीं। कार्यप्रणाली के विषय में अभी मैं आप को इतना ही इशारा कर सकता हूँ कि जिन विषयों में हम सबका एकमत है उनका प्रचार किया जाय, फिर तो जिन विषयों में मत-भेद हैं, वे आप-ही-आप दूर हो जायेंगे। मैंने भारतवासियों से बार-बार कहा है और अब भी कह रहा हूँ कि कमरे में यदि सैकड़ों वर्षों से अन्धकार फैला हुआ है, तो क्या 'घोर अन्धकार!' 'भयंकर अन्धकार!' कहकर चिल्लाने से अन्धकार दूर हो जायेगा? नहीं, रोशनी जला दो, फिर देखो कि अंधेरा आप ही-आप दूर हो जाता है या नहीं। मनुष्य के संस्कार का यही रहस्य है। मनुष्यों के हृदयों में उच्चतर विषय और भावों का समावेश करो — पहले ही किसी पर अविश्वास करके कार्यक्षेत्र में मत उतरो। मनुष्य पर — बुरे-से-बुरे मनुष्य पर भी — विश्वास करके मैं कभी विफल नहीं हुआ हूँ। सब जगह मुझे इच्छित फल ही प्राप्त हुआ है — सर्वत्र सफलता ही मिली है। अतएव, मनुष्य पर विश्वास करो — चाहे वह पण्डित हो या घोर मूर्ख, साक्षात् देवता जान पड़े या मूर्तिमान शैतान, पर मनुष्य पर अवश्य विश्वास करो। तदुपरान्त यह समझने की चेष्टा करो कि उसमें किसी प्रकार की असम्पूर्णता है या नहीं। यदि वह कोई गल्ती करे, अत्यन्त घृणित और असार

कार्यप्रणाली— साम्प्रदायिक विरोध का वर्जन, तोड़ने के अलावा गढ़ने की चेष्टा और मनुष्य पर विश्वास।

सत ग्रहण करे, तो भी यही समझो कि वह अपने असली स्वभाव के कारण नहीं, बल्कि ऊँचे आदर्श के अभाव के कारण ही, वैसा कर रहा है। यदि कोई आदमी असत्य की ओर जाता है, तो उसका कारण यही समझो कि वह सत्य को पकड़ नहीं पाता। अतएव, मिथ्या को दूर करने का एकमात्र उपाय यही है कि उसे सत्य का ज्ञान कराया जाय। उस ज्ञान को पाकर वह उसके साथ अपने मन के भाव की तुलना करे। तुमने तो उसे सत्य का असली रूप दिखा दिया—बस यहीं तुम्हारा काम समाप्त हो गया। अब वह स्वयं उस सत्य के साथ अपने भाव की तुलना कर देखे। यदि तुमने वास्तव में उसे सत्य का ज्ञान करा दिया है, तो निश्चय जानो, मिथ्या-भाव अवश्य दूर हो जायेगा। प्रकाश कभी अन्धकार का नाश किये बिना नहीं रह सकता। सत्य अवश्य ही उसके भीतर के सद्भावों को प्रकाशित करेगा। यदि सारे देश का आध्यात्मिक संस्कार करना चाहते हो, तो उसके लिए यही रास्ता है—एकमात्र यही रास्ता है। वाद-विवाद या लड़ाई-झगड़े से कभी अच्छा फल नहीं हो सकता। उनसे यह भी कहने की आवश्यकता नहीं कि तुम लोग जो कुछ कर रहे हो, वह ठीक नहीं है—खराब है। आवश्यकता तो इस बात की है कि जो कुछ अच्छा है, उसे उनके सामने रख दो, फिर देखो, वे कितने आग्रह के साथ उसे ग्रहण कर लेते हैं। मनुष्यमात्र के अन्दर जो अविनाशी ईश्वरीय शक्ति है, वह जो कुछ भी अच्छा कहलाने योग्य है केवल उसे ही हाथ फैलाकर ग्रहण करती है।

जो हमारी समग्र जाति के सृष्टिकर्ता और रक्षक हैं, जो हमारे पूर्व-पुरुषों के ईश्वर हैं—चाहे वे विष्णु, शिव, शक्ति या गणपति जो कोई हों—साकार हों या निराकार—जिन्हें जानकर हमारे पूर्व-पुरुषों ने "एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति" कहा है, वे अपना अनन्त प्रेम लेकर हमारे अन्दर प्रवेश करें—हमारे ऊपर अपने शुभाशीर्वाद की वर्षा करें, ताकि उनकी कृपा से हम एक दूसरे को समझ सकें, हम वास्तविक प्रेम और प्रबल सत्या-

नुराग के साथ एक दूसरे के लिए कार्य कर सकें और भारत की आध्यात्मिक उन्नति के लिए किये जानेवाले महत्कार्य के अन्दर हमारे व्यक्तिगत यश, व्यक्तिगत स्वार्थ अथवा व्यक्तिगत गौरव की अणुमात्र आकांक्षा भी प्रवेश न करने पाये।

---

२३. भक्ति

(लाहौर में दिया हुआ भाषण।)

समस्त उपनिषदों के गम्भीर निनादी प्रवाह के अन्दर से, बड़ी दूर से आनेवाली ध्वनि की तरह, एक शब्द हमारे कानों तक पहुँचता है। यद्यपि

उपनिषदों में भक्ति का बीज।

आयतन और उच्चता में उसकी बहुत कुछ वृद्धि हुई है, तथापि समग्र वेदान्त-साहित्य में, स्पष्ट होने पर भी, वह उतना प्रबल नहीं है। उपनिषदों का प्रधान उद्देश्य हमारे आगे भूमा का भाव और चित्र अंकित करना ही जान पड़ता है। फिर भी इस अनोखे भाव-गाम्भीर्य के पीछे कहीं-कहीं हमें कवित्व का भी आभास मिलता है। जैसे—

"न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकम्।
नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निः॥"*

अर्थात्—"वहाँ सूर्य प्रकाश नहीं करता; चन्द्र और सितारे भी वहाँ नहीं हैं, ये बिजलियाँ भी वहाँ नहीं चमकतीं; फिर अग्नि का तो कहना ही क्या है।"

इन दोनों पंक्तियों का अपूर्व हृदयस्पर्शी कवित्व सुनते सुनते हम मानो इस इन्द्रियगम्य जगत् से—यहाँ तक कि मनोराज्य से भी—दूर, बहुत दूर जा पहुँचते हैं—ऐसे एक जगत् में जा पहुँचते हैं जिसे किसी काल में ज्ञान का विषय नहीं बनाया जा सकता, यद्यपि वह सदा हमारे पास ही मौजूद रहता है। इसी महान् भाव की छाया की तरह उसका अनुगामी एक और महान् भाव है, जिसको सर्वसाधारण और भी आसानी के साथ प्राप्त कर

* कठोपनिषद, २—२—१५

सकते हैं, जो मनुष्य के दैनिक जीवन में अनुसरण करने के अधिक उपयुक्त हैं, और जिसे मानव-जीवन के प्रत्येक विभाग में प्रविष्ट कराया जा सकता है। वही भक्ति-बीज क्रमशः पुष्ट होता आया है और परवर्ती युगों में और भी पूर्णता के साथ, और भी स्पष्ट भाषा में प्रचारित किया गया है — यह बात हम पुराणों को लक्ष्य करके कह रहे हैं।

पुराणों में ही भक्ति का चरम आदर्श देखने में आता है। भक्ति-बीज पहले से ही विद्यमान है; संहिताओं में भी इसका थोड़ा-बहुत परिचय मिलता है, उससे कुछ अधिक विकास उपनिषदों में देखने में आता है, किन्तु पुराणों में उसकी विस्तृत आलोचना दिखाई देती है। अतएव भक्ति को भलीभाँति समझने के लिए पुराणों को समझना होगा। पुराणों की प्रामाणिकता को

पुराणों में ही भक्ति का विकास है।

लेकर बहुत कुछ वादविवाद हो चुका है, इधर-उधर से कितने ही अनिश्चित और असम्बद्ध अंशों को लेकर आलोचना-प्रत्यालोचना हो चुकी है, कितने ही समालोचकों ने कई अंशों के विषय में यह दिखाया है कि वर्तमान विज्ञान के आलोक में वे ठहर नहीं सकते, इत्यादि इत्यादि। परन्तु इन वादविवादों को छोड़ देने पर पौराणिक उक्तियों के वैज्ञानिक, भौगोलिक और ज्योतिषिक सत्यासत्य का निर्णय करना छोड़ देने पर, तथा प्रायः सभी पुराणों का आरम्भ से अन्त तक भलीभाँति निरीक्षण करने पर हमें एक तत्व निश्चित और स्पष्ट रूप से दिखाई देता है,— वह है भक्तिवाद। साधु, महात्मा और राजर्षियों के चरित वर्णन करते हुए भक्तिवाद बारम्बार उल्लिखित, उदाहृत और आलोचित हुआ है। सौन्दर्य के महान् आदर्श के — भक्ति के आदर्श के दृष्टान्तों को समझाना और दर्शाना ही मानो सब पुराणों का प्रधान उद्देश्य जान पड़ता है।

मैंने पहले ही कहा है कि यह आदर्श साधारण मनुष्यों के लिए अधिकतर उपयोगी है। ऐसे आदमी बहुत कम हैं, जो वेदान्तालोक की पूर्ण छटा का वैभव समझ सकते हों, अथवा उसका यथोचित आदर कर सकते

पुराण सर्वसाधारणों के अधिकतर उपयोगी हैं।

हों — उनके तत्वों पर अमल करना बड़ी दूर की बात है। कारण, वास्तविक वेदान्ती का सबसे पहला काम है 'अभीः' अर्थात् निर्भीक होना। यदि कोई वेदान्ती होने का दावा करता हो, तो उसे अपने हृदय से भय को सदा के लिए निर्वासित कर देना होगा। और हम जानते हैं कि ऐसा करना कितना कठिन है। जिन्होंने संसार के सब प्रकार के लगाव छोड़ दिये हैं, और जिनके ऐसे बन्धन बहुत ही कम रह गये हैं जो उन्हें दुर्बल-हृदय कापुरुष बना सकते हों, वे भी मन-ही-मन इस बात को अनुभव करते हैं कि वे समय-समय पर कितने दुर्बल और कैसे निर्वीर्य हो जाते हैं — समय-समय पर उन्हें भी मन्त्रमुग्ध सर्पों के समान हो जाना पड़ता है। जिन लोगों के चारों ओर ऐसे बन्धन हैं, जो भीतर-बाहर सर्वत्र हजारों विषयों में उलझे हुए हैं, जीवन के पल-पल पर विषयों का दासत्व जिन्हें नीचे-से-नीचे लिये जा रहा है, वे कितने दुर्बल होते हैं, क्या यह भी कहना होगा? हमारे पुराण ऐसे आदमियों के पास भी भक्ति की अत्यन्त मनोहारिणी वार्ता सुनाया करते हैं। ऐसे ही लोगों के लिए भक्ति का कोमल कवित्वमय भाव प्रचारित किया गया है। उन लोगों के लिए ध्रुव, प्रह्लाद तथा अन्यान्य सैकड़ों-हजारों साधु व्यक्तियों की अद्भुत और अनोखी जीवनकथाएँ वर्णित की गई हैं। इन दृष्टान्तों का उद्देश्य यही है कि लोग उसी भक्ति का अपने-अपने जीवन में विकास करें और उन्हें इन दृष्टान्तों द्वारा रास्ता साफ दिखाई दे। आप लोग पुराणों की वैज्ञानिक सत्यता पर विश्वास करें या न करें, पर आप लोगों में ऐसा कोई भी आदमी नहीं है, जिस पर प्रह्लाद, ध्रुव आदि पौराणिक महात्माओं के आख्यानों का कुछ भी असर न पड़ा हो।

और यह भी नहीं कहा जा सकता कि इन पुराणों की उपयोगिता केवल आजकल के जमाने में ही है, पहले नहीं थी। पुराणों के प्रति हमारे कृतज्ञ रहने का एक और कारण यह भी है कि पिछले युग में अवनत बौद्ध

पुराणों की अन्य उपयोगिता—वेद किसी न किसी रूप में रहेंगे ही।

धर्म हमें जिस राह से ले चला था पुराणों ने उसकी अपेक्षा प्रशस्ततर, उन्नततर और सर्वसाधारण के उपयुक्त धर्म-मार्ग बताया है। भक्ति का सहज और सरल भाव सुबोध भाषा में व्यक्त अवश्य किया है, पर उतने से ही काम नहीं चलेगा। हमें अपने दैनिक जीवन में उक्त भाव का व्यवहार करना होगा। ऐसा करने से हम देखेंगे कि भक्ति का वही भाव क्रमशः परिस्फुट होकर अन्त में प्रेम का सारभूत बन जाता है। जब तक व्यक्तिगत और जड़ प्रीति रहेगी, तब तक कोई पुराणों के उपदेशों से आगे न बढ़ सकेगा। जब तक दूसरों की सहायता अपेक्षित रहेगी, अथवा दूसरों पर निर्भर किया जायेगा, तब तक मानवीय दुर्बलता बनी रहेगी, और तब तक पुराण भी किसी-न किसी आकार में मौजूद रहेंगे। आप उन पुराणों के नाम बदल सकते हैं, उनकी निन्दा कर सकते हैं, पर आपको दूसरे कुछ नये पुराण बना लेने ही पड़ेंगे। मान लीजिये, हम लोगों में किसी महापुरुष का आविर्भाव हुआ — उन्होंने इन पुराणों को ग्रहण करना अस्वीकार किया, उनका देहान्त हो जाने के बीस ही वर्ष बाद आप देखेंगे कि उनके शिष्यों और अनुयायियों ने उनके जीवन के आधार पर एक नया पुराण रच डाला है। पुराणों को छोड़ देने से चल ही नहीं सकता, अथवा यों कहिये कि हम पुराणों को छोड़ ही नहीं सकते। हाँ, इतना हो सकता है कि पुराने पुराणों की जगह हम नये पुराणों की सृष्टि कर लें। मनुष्य की प्रकृति यही चाहती है। पुराणों की आवश्यकता केवल उन्हीं लोगों को नहीं है जो सारी मानवीय दुर्बलताओं के परे होकर परमहंसोचित निर्भीकता प्राप्त कर चुके हैं, जिन्होंने माया के सारे बन्धन काट डाले हैं, यहाँ तक कि स्वाभाविक अभावों तक को भी पार कर गये हैं,— केवल ऐसे महापुरुषों को ही पुराणों की आवश्यकता नहीं है।

एक व्यक्तिविशेष के रूप में ईश्वर की उपासना किये बिना साधारण

मनुष्यों का काम नहीं चल सकता। यदि वह प्रकृति के मध्य अवस्थान करनेवाले भगवान की पूजा नहीं करता, तो उसे स्त्री, पुत्र, पिता, भाई, आचार्य या किसी-न-किसी व्यक्ति को भगवान के स्थान पर प्रतिष्ठित करके उसकी पूजा करनी पड़ेगी। पुरुषों की अपेक्षा स्त्रियों को ऐसा करने की अधिक आवश्यकता पड़ती है। प्रकाश का स्पन्दन सर्वत्र रहता है। बिल्ली या उसी श्रेणी के अन्यान्य जानवर अँधेरे में भी देख पाते हैं — इसी बात से प्रकाश का स्पन्दन अन्धकार में होना भी सिद्ध होता है। परन्तु हम यदि किसी चीज़ को देखना चाहते हैं, तो उस चीज़ में उसी स्तर के अनुकूल स्पन्दन होना चाहिए, जिस स्तर में हम लोग मौजूद हैं। मतलब यह कि हम एक निर्गुण निराकार सत्ता के विषय में बातचीत या चर्चा भले ही करें, पर जब तक हम लोग इस मर्त्य लोक के साधारण मनुष्य की स्थिति में रहेंगे, तब तक हमें मनुष्यों में ही भगवान को देखना पड़ेगा। इसीलिए हमारी भगवानविषयक धारणा एवं उपासना स्वभावतः मानुषी है। सचमुच ही 'यह शरीर भगवान का सर्वश्रेष्ठ मन्दिर' है। इसीसे हम देखते हैं कि युगों से मनुष्य मनुष्य की ही उपासना करता आ रहा है। लोगों की इस मनुष्योपासना के विषय में जब कभी ज्यादतियाँ देखने में आती हैं, तो उनकी निन्दा या समालोचना भी होती है। फिर भी हमें यह दिखाई देता है कि इसकी रीढ़ काफी मजबूत है। ऊपर की शाखा-प्रशाखाएँ भले ही खरी समालोचना के योग्य हों, पर उनकी जड़ बहुत ही गहराई तक पहुँची हुई और सुदृढ़ है। ऊपरी आडम्बरों के होने पर भी उसमें एक सार तत्व है। मैं आपसे यह कहना नहीं चाहता कि आप बिना समझे बूझे किसी अवैज्ञानिक खिचड़ी को जबर्दस्ती गले के नीचे उतार जायँ। दुर्भाग्यवश कई पुराणों के

मानव-भाव से ईश्वरोपासना साधारण मानव के लिए अवश्यम्भावी तथा हितकारी है, और पुराण उक्त भावों के प्रचारक होने के कारण स्थायी हैं।

अन्दर वामाचारी व्याख्याएँ प्रवेश पा गई हैं। मैं यह नहीं चाहता कि आप उन सब पर विश्वास करें। मैं ऐसा करने को नहीं कह सकता, बल्कि मेरा मतलब यह है कि इन पुराणों के भीतर एक सार तत्व है जो कि इनके लोप न होने का एक प्रधान कारण है। और भक्ति सम्बन्धी उपदेश, धर्म को मनुष्य के दैनिक जीवन में परिणत करना, दर्शनों के उच्चाकाश में विचरण करनेवाले धर्म को साधारण मनुष्यों के लिए दैनिक जीवनोपयोगी — व्यावहारिक बनाना, इन्हीं के कारण पुराण मार्गदर्शक बने हैं।

भक्तिमार्ग में जड़ वस्तु की सहायता की अत्यावश्यकता।

भक्तिमार्ग के लिए जड़ वस्तु की सहायता विशेष आवश्यक है। मनुष्य इस समय जिस अवस्था में है, ईश्वरेच्छा से यदि ऐसी अवस्था न होती, तो बड़ा अच्छा होता। परन्तु वास्तविक घटना का प्रतिवाद व्यर्थ है। मनुष्य चैतन्य और आध्यात्मिकता आदि विषयों पर चाहे जितनी बातें क्यों न बनाए, पर वास्तव में वह अभी जड़भावापन्न ही है। ऐसे जड़ मनुष्य को हाथ पकड़कर धीरे-धीरे उठाना होगा,— तब तक उठाना होगा, जब तक वह चैतन्यमय, सम्पूर्ण आध्यात्मिक भावापन्न न हो जाएगा। आजकल के जमाने में ९९ फी सदी ऐसे आदमी हैं, जिनके लिए चैतन्य को समझना कठिन है। जो सञ्चालिनी शक्तियाँ हमें ढकेलकर आगे बढ़ा रही हैं, तथा हम जो फल प्राप्त करना चाहते हैं, वे सभी जड़ हैं। हर्बर्ट स्पेन्सर के शब्दों में मेरा कहना है कि हम केवल उसी रास्ते से आगे बढ़ सकते हैं, जिसमें सर्वापेक्षा कम बाधाएँ हैं। और पुराण-प्रणेताओं को यह बात भलीभाँति मालूम थी, तभी वे हमारे लिए सबसे कम बाधा पहुँचानेवाली कार्यप्रणाली बता गए हैं। इस प्रकार के उपदेश देकर पुराणों ने मनुष्य-जाति का जो महान् कल्याण-साधन किया है, वह अवश्य ही विस्मयकर और अभूतपूर्व है। भक्ति का आदर्श अवश्य ही चैतन्यमय या आध्यात्मिक है, पर उसका रास्ता जड़ वस्तु के भीतर से होकर है और इस रास्ते के सिवा दूसरा रास्ता भी नहीं है।

अतएव, जड़ जगत् में जो कुछ ऐसा है, जो आध्यात्मिकता प्राप्त करने में हमारी सहायता कर सकता है, उसे ग्रहण करना पड़ेगा, और उसे इस तरह काम में लाना पड़ेगा कि जड़-भावापन्न मानव क्रमशः आगे बढ़ता हुआ पूर्ण अध्यात्म-भावापन्न हो सके। शास्त्र आरम्भ से ही लिंग, जाति या धर्म का भेदभाव छोड़कर सबको वेद-पाठ करने का अधिकार प्रदान करते हैं। हमें भी इसी तरह उदार होना चाहिए। यदि मनुष्य जड़ मन्दिर बनाकर भगवान में प्रीति कर सके, तो बड़ी अच्छी बात है। यदि भगवान की मूर्ति बनाकर इस प्रेम के आदर्श पर पहुँचने में मनुष्य को कुछ भी सहायता मिलती है, तो उसे एक की जगह बीस मूर्तियाँ पूजने दो। चाहे कोई भी काम क्यों न हो, यदि उसके द्वारा धर्म के उस उच्चतम आदर्श पर पहुँचने में सहायता मिलती हो तो उसे वह अबाध गति से करने दो, पर हाँ, वह काम नीति के विरुद्ध न हो। 'नीति के विरुद्ध न हो'—ऐसा इसलिए कहा गया कि नीति-विरुद्ध काम हमारे धर्म-मार्ग के सहायक नहीं होते, बल्कि विघ्न ही उपस्थित किया करते हैं।

भारतवर्ष में सर्वप्रथम कबीरदास ने ही ईश्वरोपासना के लिए मूर्ति का व्यवहार करने के विरुद्ध आवाज़ उठाई थी। परन्तु भारत में ऐसे कितने ही बड़े-बड़े दार्शनिक और धर्म-संस्थापक हुए हैं, जिन्होंने भगवान का सगुण रूप अस्वीकार कर निर्भीकता के साथ अपने निर्गुण मत का प्रचार करने पर भी मूर्तिपूजा पर दोषारोपण नहीं किया है। हाँ, उन्होंने मूर्तिपूजा को उच्च कोटि की उपासना नहीं मानी है, और न किसी पुराण में ही मूर्ति-पूजन को ऊँचे दर्जे की उपासना ठहराया गया है। जिहोवा एक सन्दूक के भीतर रहते हैं, ऐसा विश्वास करनेवाले यहूदी लोग भी मूर्तिपूजक ही थे। इस ऐतिहासिक दृष्टान्त के उपस्थित रहते हमें मूर्ति-पूजा पर इसलिए दोषारोपण नहीं करना चाहिये कि और लोग उसे दोषपूर्ण बताते हैं। मूर्ति या किसी

भारत में कोई कोई महात्मा मूर्तिपूजा के विरुद्ध होने पर भी अनेक ही उसके समर्थक हैं—वह अति निम्नस्तर की उपासना है।

और भी जड़ वस्तु को, जो मनुष्य को धर्म की प्राप्ति में सहायता करे, बिना संकोच ग्रहण करना चाहिए। पर हमारा कोई भी धर्मग्रन्थ ऐसा नहीं है, जो स्पष्ट शब्दों में इस बात का प्रचार नहीं करता कि जड़ वस्तु की सहायता से अनुष्ठित होनेवाली उपासना निकृष्ट श्रेणी की है।

सारे भारतवर्ष के सब लोगों को ज़ोर-जबरदस्ती के साथ मूर्तिपूजक बनाने की चेष्टा की गई थी, वह कितनी दोषपूर्ण है यह बताने के लिए मेरे पास शब्द नहीं हैं। प्रत्यक व्यक्ति को कैसी उपासना करनी चाहिए, अथवा किस चीज़ की सहायता से उपासना करनी चाहिए—यह बात ज़ोर से या हुक्म से कराने की क्या आवश्यकता पड़ी थी? दूसरा यह बात कैसे जान सकता है कि कौन आदमी किस वस्तु के सहारे उन्नति कर सकता है? कोई प्रतिमा-पूजा द्वारा, कोई अग्नि-पूजा द्वारा, यहाँ तक कि कोई केवल एक खम्भे के सहारे उपासना की सिद्धि प्राप्त कर सकता है, यह किसी और को कैसे मालूम हो सकता है? इन बातों का निर्णय अपने-अपने गुरुओं के द्वारा ही होना चाहिए। भक्ति-विषयक ग्रन्थों में इष्ट-देव-सम्बन्धी जो नियम हैं, उन्हीं में इस बात की व्याख्या देखने में आती है—अर्थात् प्रत्येक व्यक्तिविशेष को अपनी विशिष्ट उपासना-पद्धति से अपने इष्टदेव के पास पहुँचने के लिए आगे बढ़ना पड़ेगा, और वह जिस निर्वाचित रास्ते से आगे बढ़ेगा, वही उसका इष्ट है। मनुष्य को चलना तो चाहिए अपनी ही उपासना-पद्धति के मार्ग से, पर साथ ही अन्यान्य मार्गों की ओर भी सहानुभूति की दृष्टि से देखना चाहिए। और इस मार्ग का अवलम्बन यात्री को तब तक करना पड़ेगा, जब तक वह अपने निर्दिष्ट स्थान पर नहीं पहुँच जाता—जब तक वह उस केन्द्रस्थल पर नहीं पहुँच जाता, जहाँ जड़ वस्तु की सहायता की कोई आवश्यकता ही नहीं है।

इष्टनिष्ठा।

इसी प्रसंग में भारतवर्ष के बहुतेरे स्थानों में प्रचलित कुलगुरु-प्रथा के

विषय में—जो एक प्रकार से वंशगत गुरुआई की तरह हो गई है—दो-चार बातें कहकर हम आप लोगों को सावधान कर देना आवश्यक समझते हैं। हम शास्त्रों में पढ़ते हैं—"जो वेदों का सार-मर्म समझते हैं, जो निष्पाप हैं, जो धन के लोभ से और किसी प्रकार के स्वार्थ से लोगों को शिक्षा नहीं देते, जिनकी कृपा हेतुविशेष से नहीं प्राप्त होती, वसन्त ऋतु जिस प्रकार पेड़-पौधों और लता-गुल्मों से बदले में कुछ न चाहते हुए सभी पेड़-पौधों में नया जीवन डालकर उन्हें हरा-भरा कर देती है—उनमें नई नई कोपलें निकल आती हैं—उसी प्रकार जिनका स्वभाव ही लोगों का कल्याण करनेवाला है, जिनका सारा जीवन ही दूसरों के हित के लिए है, जो इसके बदले लोगों से कुछ भी नहीं चाहते, ऐसे महान् व्यक्ति ही गुरु कहलाने योग्य हैं—दूसरे नहीं।"* असद्गुरु के पास तो ज्ञान-लाभ की आशा ही नहीं है; उलटे उनकी शिक्षा से विपत्ति की ही सम्भावना रहती है, कारण, गुरु केवल शिक्षक या उपदेशक ही नहीं हैं—शिक्षा देना तो उनके कर्तव्य का एक बहुत ही मामूली अंश है। हिन्दुओं का विश्वास है कि गुरु ही शिष्य में शक्ति का सञ्चार करते हैं। इस बात को समझने के लिए जड़-जगत् का ही एक दृष्टान्त ले लीजिए। मानो किसी ने शुद्ध बीज का टीका नहीं लिया, ऐसी अवस्था में उसके शरीर के अन्दर दूषित अनिष्टकर बीज के प्रवेश कर जाने की बहुत सम्भावना है। उसी प्रकार असद्गुरु से शिक्षा लेने में भी बुराइयों के सीख लेने की बहुत कुछ आशंका है। इसलिए भारतवर्ष से इस कुलगुरु-प्रथा को एकदम उठा देना अत्यन्त आवश्यक हो रहा है। गुरु का काम व्यवसाय न हो जाय, इसे रोकने की चेष्टा करनी ही होगी, क्योंकि यह एकदम शास्त्र-विरुद्ध है। किसी भी आदमी को अपने को गुरु नहीं बतलाना चाहिए और कुलगुरु-प्रथा के कारण जो वर्तमान परिस्थिति है उसका समर्थन भी नहीं करना चाहिए।

कुलगुरु-प्रथा का दोष।

* विवेकचूड़ामणि

खाद्याखाद्य-विचार के सम्बन्ध में मेरा कहना है कि आजकल खान-पान के विषय में जिन कठोर नियमों पर ज़ोर दिया जाता है, वे अधिकांश में बाहरी कारणों पर अवलम्बित हैं। जिस उद्देश्य से इन नियमों को आरम्भ में चलाया गया था, वह उद्देश्य अब लुप्त हो गया है। खाद्य वस्तुओं को स्पर्श करने का अधिकार किसे है?—यह प्रश्न विशेष ध्यान देने योग्य है, क्योंकि इसमें एक बड़ा भारी दार्शनिक रहस्य छिपा हुआ है। पर साधारण मनुष्यों के दैनिक जीवन में उतनी सावधानता रखना अत्यन्त कठिन ही नहीं, बहुतांश में असम्भव भी है। जिन लोगों ने केवल धर्म के लिए ही अपने जीवन को उत्सर्ग कर दिया है, ये नियम केवल उन्हीं के लिए पालनीय हैं, पर इसकी जगह हरएक आदमी के लिए इन नियमों का पालन करना आवश्यक बताकर बड़ी भारी ग़लती की गई है। कारण, सर्वसाधारण में अधिकतर ऐसे ही लोग हैं, जो जड़-जगत् के सुखों से तृप्त नहीं हुए हैं, और ऐसे अतृप्त लोगों पर जबरदस्ती धर्म के नाम पर दबाव डालने की चेष्टा व्यर्थ है।

खाद्याखाद्य-विचार।

भक्तों के लिए जो उपासना-पद्धतियाँ हैं, उनमें मनुष्य-रूप की उपासना ही सबसे उत्तम है। वास्तव में यदि किसी रूप की ही पूजा करनी है, तो अपनी अवस्थानुसार प्रतिदिन छः या बारह दरिद्रों को अपने घर लाकर, उन्हें नारायण समझकर उनकी सेवा करना अच्छा है। मैंने कितनी जगहों में प्रचलित दान की प्रथाएँ देखी हैं; पर उनसे वैसा कोई सुफल होते नहीं देखा है। इसका कारण यही है कि वह दान की क्रिया यथोचित भाव से अनुष्ठित नहीं है। "अरे! यह ले जा।"—इस प्रकार के दान को दान या दया-धर्म का अनुष्ठान नहीं कह सकते। यह तो हृदय के अहङ्कार का परिचायक है। इस प्रकार दान देनेवाले का उद्देश्य यही रहता है कि लोग जानें या समझें कि वह दया-धर्म का अनुष्ठान कर रहा है। हिन्दुओं को यह

दरिद्रनारायण-पूजा।

जानना चाहिए कि स्मृतियों के मत में दान ग्रहण करनेवालों की अपेक्षा दान देनेवाला छोटा समझा जाता है। ग्रहण करनेवाला ग्रहण करते समय साक्षात् नारायण समझा जाता है। अतएव, मेरे मत में यदि इस प्रकार की नई पूजा-पद्धति प्रचलित की जाय, तो बड़ा अच्छा हो—कुछ दरिद्र, अंध या क्षुधार्त नारायण को प्रति दिन प्रति गृह में लाकर, प्रतिमा की जिस प्रकार पूजा की जाती है, उसी प्रकार उनकी भी भोजन वस्त्रादि के द्वारा पूजा करना। मैं किसी प्रकार की उपासना या पूजा-पद्धति की न तो निन्दा करता हूँ और न किसी को बुरा ही बताता हूँ; बल्कि मेरे कहने का सारांश यही है कि इस प्रकार की नारायण-पूजा ही सर्वापेक्षा श्रेष्ठ पूजा है, और भारत के लिए इसी पूजा की सबसे अधिक आवश्यकता है।

अब अन्त में मेरा यही कहना है कि भक्ति की तुलना एक त्रिकोण के साथ की जा सकती है। इस त्रिकोण का पहिला कोण यह है कि भक्ति या प्रेम कोई प्रतिदान नहीं चाहता। प्रेम में भय नहीं है, यह उसका दूसरा कोण है। पुरस्कार या प्रतिदान पाने के उद्देश्य से प्रेम करना भिखारी का धर्म है—व्यवसायी का धर्म है, प्रकृत धर्म के साथ उसका बहुत ही कम सम्बन्ध है। कोई भिक्षुक न बने, क्योंकि वैसा होना नास्तिकता का चिह्न है। 'जो आदमी रहता तो है गंगा के तीर पर, किन्तु पानी पीने के लिए कुँआ खोदता है, वह मूर्ख नहीं तो और क्या है?'—जड़ वस्तु की प्राप्ति के लिए भगवान से प्रार्थना करना भी ठीक वैसा ही है। भक्त को भगवान से सदा इस प्रकार कहने के लिए तैयार रहना चाहिए—"प्रभो! मैं तुमसे कुछ भी नहीं चाहता, मैं तुम्हारे लिए अपना सब कुछ अर्पित करने को तैयार हूँ।" प्रेम में भय नहीं रहता। क्या आपने नहीं देखा है कि राह चलती हुई कमजोर हृदयवाली स्त्री एक छोटे-से कुत्ते के भौंकने से भाग खड़ी होती है—घर में घुस जाती है? दूसरे दिन वही उसी रास्ते से जा रही है। आज उसके साथ एक छोटासा बच्चा भी है, एकाएक किसी शेर ने

निकलकर सड़क पर चोट करना चाहा। ऐसी अवस्था में भी आप उसे अपनी जान बचाने के लिए भागते या घर के अन्दर घुसते देखेंगे? नहीं—कदापि नहीं। आज, अपने नन्हें बच्चे की रक्षा के लिए, यदि आवश्यकता पड़े, तो वह शेर के मुँह में घुसने से भी बाज न आएगी। अब इस त्रिकोण का तीसरा कोण यह है कि प्रेम ही प्रेम का लक्ष्य है। अन्त में भक्त इसी भाव पर आ पहुँचते हैं कि केवल एक प्रेम ही सत् है। और बाकी सब कुछ असत् है। भगवान का अस्तित्व प्रमाणित करने के लिए मनुष्य को अब और कहाँ जाना होगा? इस प्रत्यक्ष संसार में जो कुछ भी पदार्थ हैं, सबके अन्दर सर्वापेक्षा स्पष्ट दिखाई देनेवाले तो भगवान ही हैं। वे ही वह शक्ति हैं जो सूर्य, चन्द्र और तारों को घुमाती एवं चलाती है तथा स्त्री-पुरुषों में, सभी जीवों में, सभी वस्तुओं में प्रकाशित हो रही है। जड़-शक्ति के राज्य में, माध्याकर्षण शक्ति के रूप में वे ही विद्यमान हैं, प्रत्येक स्थान में, प्रत्येक परमाणु में वे ही वर्तमान हैं—सर्वत्र उनकी ज्योति छिटकी हुई है। वे ही अनन्त-प्रेमस्वरूप हैं, संसार की एकमात्र संचालिनी-शक्ति हैं, और वे ही सर्वत्र प्रत्यक्ष दिखाई दे रहे हैं।

---

२४. वेदान्त

जगत् दो हैं जिनमें हम बसते हैं, — एक बहिर्जगत् और दूसरा अन्तर्जगत्। अति प्राचीन काल से ही मनुष्य इन दोनों भूमियों में समानान्तर रेखाओं की तरह बराबर उन्नति करते आये हैं। ढूँढ़-तलाश पहले बहिर्जगत् में ही शुरू हुई। मनुष्यों ने पहले पहल दुरुह समस्याओं के उत्तर बहि:प्रकृति से ही पाने की चेष्टा की। प्रथमतः मनुष्यों ने अपने चारों ओर की वस्तुओं से ही 'सत्यं—शिव—सुन्दरम्' की तृष्णा-निवृत्ति करना चाहा। वे अपने को और अपने सभी भीतरी भावों को स्थूल भाषा में प्रकाशित करने के लिए प्रवृत्त हुए, तथा उन्हें जो सब उत्तर मिले, ईश्वर-तत्व और उपासना-तत्व के जो सब अति अद्भुत सिद्धान्त उन्हें प्राप्त हुए, और उस शिव-सुन्दर का उन्होंने जो उच्छ्वासमय वर्णन किया, ये सभी वास्तव में अति अपूर्व हैं। बहिर्जगत् से निःसन्देह महान् भावों का आविर्भाव हुआ, परन्तु बाद में उनके निकट जो अन्य जगत् उन्मुक्त हुआ वह और भी महान्, और भी सुन्दर तथा अनंतगुना विकासशील था।

मानव की बहिर्जगत् और अन्तर्जगत् में गवेषणा।

वेदों के कर्मकाण्ड-भाग में हम धर्म के बड़े ही आश्चर्यमय तत्वों का वर्णन पाते हैं, हम संसार की सृष्टि, स्थिति और प्रलय करनेवाले विधाता के सम्बन्ध के वहाँ अत्यन्त अद्भुत तत्व-समूह देखते हैं, ये सब हमारे सामने हृदय के अन्तस्तल तक पहुँचनेवाली भाषा में रखे गये हैं। तुममें से अनेकों को ऋग्वेद-संहिता का वह श्लोक जो प्रलय के वर्णन में आया है, याद होगा। भावों को उद्दीप्त करनेवाला ऐसा वर्णन शायद कभी किसीने नहीं किया। इन सबके होते हुए भी हम देखते हैं कि इनमें केवल बहिर्जगत् की ही महत्ता का चित्रण किया गया है; वह वर्णन स्थूल का है — इसमें कुछ जड़त्व फिर भी लगा हुआ है। तथापि हम

देखते हैं, जड़ और ससीम भाषा में यह असीम का ही वर्णन है — यह जड़ शरीर के अनन्त विस्तार का वर्णन है, किन्तु मन का नहीं; यह देश के अनन्तत्व का वर्णन है, किन्तु चैतन्य का नहीं। इसलिए वेदों के दूसरे भाग में अर्थात् ज्ञानकाण्ड में, हम देखते हैं, एक सम्पूर्ण विभिन्न प्रणाली का अनुसरण किया गया है। पहली प्रणाली थी बहिःप्रकृति में विश्व-ब्रह्माण्ड के प्रकृत सत्य का अनुसन्धान; यह जड़ संसार से जीवन की सभी गम्भीर समस्याओं की मीमांसा करने की चेष्टा थी।

" यस्यैते हिमवन्तो महित्वा "

" यह हिमालय पर्वत जिनकी महत्ता बतला रहा है।"

बहिर्जगत् की गवेषणाओं से अतृप्ति — अन्तर्जगत् में अनुसन्धान।

यह बड़ा ऊँचा विचार है अवश्य, किन्तु फिर भी भारत के लिये यह पर्याप्त नहीं था। भारतीय मन को इस पथ का परित्याग करना पड़ा था। भारतीय गवेषणा पूर्णतया बहिर्जगत् को छोड़कर दूसरी ओर मुड़ी — ढूँढ़-तलाश अन्तर्जगत् में शुरू हुई, क्रमशः वे जड़ से चैतन्य में आये। चारों ओर से यह प्रश्न उठने लगा — 'मृत्यु के पश्चात् मनुष्य का क्या हाल होता है?' " अस्तीत्येके नायमस्तीति चैके "* — आदि; " किसी किसी का कथन है — मनुष्य की मृत्यु के बाद भी आत्मा का अस्तित्व रहता है, और कोई कोई कहते हैं — नहीं रहता; हे यमराज, इनमें कौनसा सत्य है?" यहाँ हम देखते हैं, एक दूसरी ही प्रणाली का अनुसरण किया गया है। भारतीय मन को बहिर्जगत् से जो कुछ मिलना था, मिल चुका था, परन्तु उससे इसे तृप्ति नहीं हुई। यह ढूँढ़-तलाश करने के लिए वह और आगे बढ़ा — समस्यापूर्ति के लिए अपने में ही डुबकी लगाई, तब यथार्थ उत्तर मिला।

वेदों के इस भाग का नाम है उपनिषद या वेदान्त या आरण्यक या

---

* कठोपनिषद १–२०

रहस्य। यहाँ हम देखते हैं, धर्म बाहरी दिखलावे से बिल्कुल अलग है; यहाँ हम देखते हैं, आध्यात्मिक विषयों का वर्णन जड़ की भाषा से नहीं हुआ, चैतन्य की भाषा से हुआ है — सूक्ष्मातिसूक्ष्म तत्वों के लिए योग्य भाषा का व्यवहार किया गया है। यहाँ और कोई स्थूल भाव नहीं है, यहाँ संसार से सम्बन्ध रखनेवाले उन विषयों का निपटारा नहीं किया गया जिनकी उधेड़बुन में पड़े हुए हम प्रायः माथापच्ची किया करते हैं। उपनिषदों के महामना ऋषि

उपनिषदों का विशेषत्व।

बड़ी निर्भयता के साथ — उस निर्भयता की धारणा हमारी इस समय की बुद्धि नहीं कर सकती — कहीं कोई जोड़तोड़ बिना किये ही मनुष्य-जाति के निकट ऊँचे से ऊँचे तत्वों का प्रचार कर गये हैं। ऐ हमारे देशवासियो, मैं उन्हींको तुम्हारे आगे रखना चाहता हूँ।

वेदों का ज्ञानकाण्ड एक विशाल महासागर है; इसका थोड़ा ही अंश समझने के लिए अनेक जन्मों की आवश्यकता है। रामानुज ने उपनिषदों के

उपनिषदों का अधिकारप्रामाण्य और उनका प्रकाण्डत्व।

सम्बन्ध में यथार्थ ही कहा है कि वेदान्त वेदों का मुकुट है, और सचमुच ही यह वर्तमान भारत की बाइबिल है। वेदों के कर्मकाण्ड पर हिन्दुओं की बड़ी श्रद्धा है, परन्तु हम जानते हैं, युगों तक श्रुति के नाम से केवल उपनिषदों का ही अर्थ लिया जाता था। हम जानते हैं, हमारे बड़े बड़े सब दर्शनकारों ने — व्यास हों चाहे पतंजलि या गौतम, यहाँ तक कि सभी दर्शनशास्त्रों के जनकस्वरूप महापुरुष कपिल ने भी — जब अपने मत के समर्थक प्रमाणों का संग्रह करना चाहा तब उनमें से हरएक को उपनिषदों ही में प्रमाण मिले हैं, और कहीं नहीं; क्योंकि चिरकालिक सत्यसमूह केवल उपनिषदों ही में है।

कुछ सत्य ऐसे हैं जो किसी विशेष पथ से, विशेष विशेष अवस्थाओं और समयों के अनुकूल, किसी किसी निर्दिष्ट लक्ष्य की ओर बढ़ने के लिए

होते हैं। युगविशेषता से उनकी प्रतिष्ठा होती है अर्थात् वे किसी खास समय के लिए ही उपयोगी होते हैं। और कुछ सत्य ऐसे हैं जिनकी प्रतिष्ठा मानव-प्रकृति पर हुई है। उनका अस्तित्व तब तक वर्तमान रहेगा, जब तक मनुष्य-जाति का अस्तित्व रहेगा। यही पिछले सत्य सार्वजनीन और सार्वकालिक कहे जा सकते हैं; और भारत में बहुत कुछ परिवर्तन होने पर भी, हमारे खान-पान, रहन-सहन, पहनाव-उढ़ाव और उपासना-प्रणालियों के बहुत कुछ परिवर्तित हो जाने पर भी, श्रुतियों के ये सार्वभौमिक सत्य — वेदान्त के ये अपूर्व तत्व — अपनी ही महिमा से अचल, अजेय और अविनाशी बनकर आज भी विद्यमान हैं।

सार्वकालिक तथा युग का धर्म।

उपनिषदों में जो तत्व अच्छी तरह प्रकाशित हो पाये हैं, उनके बीज पहले ही से कर्मकाण्ड में पाये जाते हैं। ब्रह्माण्डतत्व, जिसे सब सम्प्रदायों के वैदान्तिक मानते हैं — यहाँ तक कि मनोविज्ञान-तत्व भी, जिसे भारत की सम्पूर्ण चिन्ताप्रणालियों का उद्गमस्थान कहना चाहिए — कर्मकाण्ड में वर्णित एवं संसार के सम्मुख प्रचारित हो चुके हैं। अतएव वेदान्त के आध्यात्मिक भाग पर कुछ कहने के पहले मुझे कर्मकाण्ड के सम्बन्ध में कुछ कहना आवश्यक प्रतीत हो रहा है, और सबसे पहले मैं उस भाव की व्याख्या करना चाहता हूँ, जिसका अर्थ मैं वेदान्त के नाम से ग्रहण करता हूँ। दुःख की बात है कि आजकल हम लोग प्रायः एक विशेष भ्रम में पड़ जाते हैं। हम वेदान्त से केवल अद्वैतवाद समझ लेते हैं। परन्तु आप लोगों को याद रखना चाहिए कि यदि सभी धार्मिक ग्रन्थों का अध्ययन करना है तो भारत के वर्तमान समय में प्रस्थानत्रय पढ़ने की अत्यधिक आवश्यकता है।

उपनिषद्-प्रचारित सत्यसमूह का बीज संहिता में वर्तमान है।

सबसे पहले हैं श्रुतियाँ अर्थात् उपनिषद्, दूसरे हैं व्याससूत्र जो अपने

वेदान्त शब्द का प्रकृत तात्पर्य है —प्रस्थानत्रय।

पहले के दर्शनों की समष्टि तथा चरम परिणति-स्वरूप होने के कारण अपर दर्शनों से बढ़कर समझे जाते हैं। और बात ऐसी नहीं कि ये दर्शन एक दूसरे के विरोधी हैं; नहीं, वे एक दूसरे के आधार-स्वरूप हैं,—मानो सत्य की खोज करनेवाले मनुष्यों को सत्य का क्रम-विकास दिखलाते हुए, व्यास-सूत्रों में उनकी चरम परिणति हो गई है। और इन व्यास-सूत्रों में वेदान्त की टीका-स्वरूप गीता वर्तमान है। अस्तु। भारत का हरएक धर्माभिमानी सम्प्रदाय —चाहे वह द्वैतवादी, अद्वैतवादी या वैष्णव हो—उपनिषद, गीता तथा व्यासमूत्र को प्रामाणिक ग्रंथ-स्वरूप मानता है। ये ही तीनों प्रस्थानत्रय कहे जाते हैं। हम देखते हैं, शंकराचार्य हों चाहे रामानुज, मध्वाचार्य हों चाहे वल्लभाचार्य, अथवा चैतन्य हों—जिस किसीने एक नवीन सम्प्रदाय की नींव डाली है, उसे इन तीनों प्रस्थानों को ग्रहण करना ही पड़ा और उन पर एक नये भाष्य की रचना करनी ही पड़ी। अतएव वेदान्त को उपनिषदों के किसी एक ही भाव में—द्वैतवाद, विशिष्टाद्वैतवाद या अद्वैतवाद के रूप में—जकड़ लेना ठीक नहीं। वेदान्त से जब कि ये सभी मत निकले हैं तो उसे इन मतों की समष्टि ही कहना चाहिए। एक अद्वैतवादी को वेदान्ती कहकर परिचय देने का जितना अधिकार है, उतना ही किसी रामानुज-सम्प्रदाय के विशिष्टा-द्वैतवादी को भी है। परन्तु मैं कुछ और बढ़कर कहना चाहता हूँ कि हिन्दू शब्द से, वास्तव में, हम लोग वैदान्तिक समझते हैं।

मैं इस विषय पर कुछ और बतलाना चाहता हूँ। मैं कहता हूँ, ये तीनों भारत में उस समय से प्रचलित हैं जिसकी याद करना स्मृति की पहुँच के बाहर है। वास्तव में अद्वैतवाद के आविष्कारक शंकर नहीं हैं,

अद्वैतवादादि सभी मत सनातन हैं।

उनके जन्म के बहुत पहले ही से यह मत यहाँ था। वे केवल इसके एक अन्तिम प्रतिनिधियों में से थे। रामानुज के मत के लिए भी यही बात कहनी चाहिए।

उनके भाष्य ही से यह सूचित हो जाता है कि उनके आविर्भाव के बहुत पहले से वह मत विद्यमान था। अन्यान्य जो सब द्वैतवादी सम्प्रदाय भारत में वर्तमान हैं, उन पर भी यही बात लागू होती है। और, अपने थोड़े से ज्ञान की बदौलत मैं इसी सिद्धान्त पर पहुँचा हूँ कि ये सब मत एक दूसरे के विरोधी नहीं हैं। जिस तरह हमारे षड्दर्शन महान् तत्व-समूहों के अद्‌भुत क्रमविकास मात्र हैं, जो संगीत की तरह पिछले धीमे स्वरवाले परदों से उठते हैं, और अन्त में समाप्त होते हैं अद्वैत की वज्रगम्भीर ध्वनि में, उसी तरह हम पूर्वोक्त तीनों मतों को भी देखते हैं जिनमें मनुष्य-मन उच्च से उच्च आदर्श की ओर अग्रसर हुआ है और अन्त में सभी मत अद्वैतवाद के उच्चतम सोपान पर पहुँचकर एक अद्‌भुत एकत्व में परिसमाप्त हुए हैं। अतएव ये तीनों परस्पर-विरोधी नहीं हैं।

ये सब मत परस्पर-विरोधी नहीं हैं।

दूसरी ओर, मुझे यह कहना ही पड़ता है कि बहुत लोग इस भ्रम में पड़े हैं कि ये तीनों मत परस्पर-विरोधी हैं। हम देखते हैं, अद्वैतवादी आचार्य जिन श्लोकों में अद्वैतवादी की ही शिक्षा दी गई है, उन्हें तो ज्यों का त्यों रख देते हैं, परन्तु जिनमें द्वैत या विशिष्टाद्वैतवाद के उपदेश हैं उन्हें जबरदस्ती अद्वैतवाद की ओर घसीट लाते हैं — उनका भी अद्वैत अर्थ कर डालते हैं। उधर द्वैतवादी आचार्य द्वैतात्मक श्लोकों का यथार्थ अर्थ करके अद्वैतात्मक श्लोकों को द्वैतवाद का जामा पहनाने की चेष्टा करते हैं। वे हमारे पूज्य आचार्य हैं, यह मैं मानता हूँ, परन्तु "दोषा वाच्या गुरोरपि" भी एक प्रसिद्ध वाक्य है। मेरा मत है कि केवल इसी एक विषय में उन्हें भ्रम हुआ है। हमें शास्त्रों की विकृत व्याख्या करने की आवश्यकता नहीं है। किसी प्रकार की असाधुता का सहारा लेकर धर्म की व्याख्या करने की क्यों ज़रूरत है? व्याकरण के दावपेंच दिखाने से क्या फायदा?

भाष्यकारों के एकदेशीय सिद्धान्त।

जिन श्लोकों में जिन भावों की भावना नहीं की गई, उनमें उन्हीं को ले आने की क्या जरूरत? जब तुम अधिकार-भेद का अपूर्व रहस्य समझोगे, तब श्लोकों का यथार्थ अर्थ सहज ही तुम्हारी समझ में आ जायेगा।

यह सच है कि सम्पूर्ण उपनिषदों का लक्ष्य एक है—"कस्मिन्नु भगवो विज्ञाते सर्वमिदं विज्ञातं भवति।" * अर्थात् वह कौनसी वस्तु है जिसे जान लेने पर सम्पूर्ण ज्ञान करतलगत हो जाता है? आजकल की भाषा में अगर कहा जाय तो यही कहना चाहिए कि उपनिषदों का उद्देश्य चरम एकत्व के आविष्कार की चेष्टा है, और बहुत्व के भीतर एकत्व की खोज ही ज्ञान है। हरएक विज्ञान इसी नींव पर प्रतिष्ठित है। मनुष्यों का सम्पूर्ण ज्ञान बहुत्व के भीतर एकत्व की तलाश पर ही प्रतिष्ठित है। और, यदि थोड़ी सी घटनाओं में ही एकत्व के अनुसन्धान की चेष्टा क्षुद्र मानवीय विज्ञान का कार्य हो तो इस अपूर्व विचित्रतासकुल संसार-प्रपंच के भीतर—जिसे हम नाम और रूपों से सहस्रधा विभिन्न देख रहे हैं, जहाँ जड़ और चैतन्य में भेद वर्तमान हैं, जहाँ सभी चित्तवृत्तियाँ एक दूसरी से भिन्न प्रकार की हैं, जहाँ कोई रूप किसी दूसरे से नहीं मिलता, जहाँ प्रत्येक वस्तु अपर वस्तु से पृथक् है—उसी संसार-प्रपंच के भीतर एकत्व का आविष्कार करना, जो कि हमारा उद्देश्य है, कितना कठिन है! परन्तु इन विभिन्न अनन्त स्तरों और लोकों के भीतर एकत्व का आविष्कार करना ही उपनिषदों का लक्ष्य है। दूसरी ओर हमें अरुन्धती न्याय का भी सहारा लेना चाहिए। यदि किसी को अरुन्धती नक्षत्र दिखलाना है, तो पहले पासवाला उससे कोई बड़ा और उज्ज्वलतर नक्षत्र दिखलाकर उस पर देखने वाले की दृष्टि स्थिर करनी चाहिए, इसके बाद छोटे नक्षत्र अरुन्धती का दिखलाना आसान होगा। इसी तरह सूक्ष्मतम ब्रह्मतत्त्व समझाने के लिए, दूसरे कितने ही स्थूल भावों के उप-

लक्ष्य एक होने पर भी अधिकार-भेदानुसार श्रुति का उपदेश विभिन्न है।

* मुण्डकोपनिषद्, १-३

देश देकर ऋषियों ने उच्च तत्व को समझाया है। इस कथन को प्रमाणित करने के लिए मुझे ज्यादा कुछ नहीं करना, केवल उपनिषदों को तुम्हारे सामने रख देना है, फिर तुम आप समझ जाओगे। प्रायः प्रत्येक अध्याय के आरम्भ में द्वैतवाद या उपासना के उपदेश हैं। पहले पहल ईश्वर के सम्बन्ध में कहा है; कोई ऐसा है जो संसार का सृष्टिकर्ता है, संरक्षक है और अन्त में प्रत्येक वस्तु उसी में विलीन हो जाती है; वही हमारा उपास्य है, वही शासक है, वही बहिःप्रकृति और अन्तःप्रकृति का प्रेरक है, फिर भी वह मानो प्रकृति के बाहर है। एक कदम और बढ़कर हम देखते हैं, वे ही आचार्य बतलाते हैं कि ईश्वर प्रकृति के भीतर है। अन्त में ये दोनों भाव छोड़ दिये गये हैं, कहा है—जो कुछ है सब वही है—कोई भेद नहीं, 'तत्वमसि श्वेतकेतो'। अन्त में यही घोषणा की गई कि जो समग्र जगत् के भीतर विद्यमान है वही मनुष्यों की आत्मा में भी विराजमान है। यहाँ किसी तरह की रियायत नहीं, यहाँ दूसरों के मतामतों की परवाह नहीं की गई। यहाँ सत्य, निरावरण सत्य निर्भीक भाषा में प्रचारित किया गया है। आजकल उस महान् सत्य का उसी निर्भीक भाषा से प्रचार करने में हमें हरगिज़ न डरना चाहिए, और ईश्वर की कृपा से मैं तो कम से कम उसी प्रकार का निर्भीक प्रचारक होने में विश्वास रखता हूँ।

अब हम पूर्व-प्रसंग का अनुसरण करते हुए ज्ञातव्य तत्वों की आलोचना करें। उनमें ध्यान देने योग्य दो विषय हैं—एक है जगत्-सृष्टि-प्रकरण, जिस पर सभी वैदान्तिकों का एकमत है, और दूसरा है मनस्तत्व। पहले मैं जगत्-सृष्टि-प्रकरण की आलोचना करूँगा। हम देखते हैं, आजकल आधुनिक विज्ञान की विचित्र विचित्र आविष्क्रियाएँ मानो वज्र की तरह प्रबल वेग से हम पर टूट पड़ती हैं, और स्वप्न में भी हमने जिनकी कल्पना नहीं की थी उन्हीं अद्भुत चमत्कारों को हमारे सामने रखकर हमारी आँखों को चकाचौंध कर देती हैं। परन्तु वास्तव में इन आविष्कारों का अधिकांश बहुत

सृष्टितत्त्व—प्राण और आकाश। पहले के आविष्कृत सत्यों का पुनराविष्कार मात्र है। अभी उस दिन की बात है, आधुनिक विज्ञान ने विभिन्न शक्तियों में एकत्व का आविष्कार किया है। उसने अभी अभी यह आविष्कृत किया कि ताप, विद्युत, चुम्बक आदि भिन्न भिन्न नामों से परिचित जितनी शक्तियाँ हैं, वे एक ही शक्ति में लाई जा सकती हैं; अतएव दूसरे उन्हें चाहे जिन नामों से पुकारते रहें, विज्ञान उनके लिए एक ही नाम व्यवहार में लाता है। यही बात संहिता में भी पाई जाती है। यद्यपि वह एक पुरानी पुस्तक है, तथापि उसके भी शक्तिविषयक सिद्धान्त ऐसे ही हैं। जितनी शक्तियाँ हैं, चाहे तुम उन्हें माध्याकर्षण कहो, चाहे आकर्षण या विकर्षण कहो, अथवा ताप कहो, या विद्युत, या मनुष्यों के अन्तःकरण की चिन्ताशक्ति ही कहो, हैं सब एक ही शक्ति के भिन्न-भिन्न प्रकाश और वह शक्ति प्राणशक्ति ही है। अब यह प्रश्न उठ सकता है कि प्राण क्या है? प्राण स्पन्दन या कम्पन है। जब सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड का लय हो जाता है, तब ये अनन्त शक्तियाँ कहाँ चली जाती हैं? क्या तुम सोचते हो कि इनका भी लोप हो जाता है? नहीं, कदापि नहीं। यदि शक्तिराशि बिलकुल नष्ट हो जाय तो फिर भविष्य में जगत्तरङ्ग का उत्थान कैसे और किस आधार पर हो सकता है? जो प्रगति हो रही है वह तो तरङ्गाकार उठती और गिरती हुई—फिर उठती तथा फिर गिरती हुई—होती ही जायेगी। इसी जगत्-प्रपंच के विकास को हमारे शास्त्रों में 'सृष्टि' कहा गया है। परन्तु, ध्यान रहे, 'सृष्टि' अंग्रेजी का 'Creation' नहीं। अंग्रेजी में संस्कृत शब्दों का यथार्थ अनुवाद नहीं होता। बड़ी मुश्किल से मैं संस्कृत के भाव अंग्रेजी में व्यक्त करता हूँ। 'सृष्टि' शब्द का यथार्थ अर्थ है प्रकाशित होना—बाहर निकलना। प्रलय होने पर जगत्-प्रपंच सूक्ष्मातिसूक्ष्म होकर अपनी प्राथमिक अवस्था को प्राप्त होता है, कुछ काल उसी शान्त अवस्था में रहकर फिर विकसित होता है। यही सृष्टि है। अच्छा, तो फिर इन प्राणरूपिणी शक्तियों

का क्या होता है? वे आदि-प्राण से मिल जाती हैं। यह प्राण उस समय बहुत कुछ गतिहीन हो जाता है, परन्तु इसकी गति बिल्कुल ही बन्द नहीं हो जाती। वैदिक सूक्तों के 'आनीदवातं'—अर्थात् 'वह गतिहीन भाव से स्पन्दित हुआ था'*—इस वाक्य से इसी तत्व का वर्णन किया गया है। वेदों के कितने ही पारिभाषिक शब्दों का अर्थ-निर्णय करना अत्यन्त कठिन काम है। उदाहरण के रूप में हम यहाँ 'वात' शब्द को ही लेते हैं। कभी कभी तो इससे वायु का अर्थ निकलता है और कभी कभी गति सूचित होती है। इन दोनों अर्थों में बहुधा लोगों को भ्रम हो जाता है। अतएव इस पर ध्यान रखना चाहिए। अच्छा, तो उस समय भूतों की क्या अवस्था होती है? शक्तियाँ सर्वभूतों में ओतप्रोत भरी हुई हैं। वे उस समय आकाश में लीन हो जाती हैं, इस आकाश से फिर भूतसमूहों की सृष्टि होती है। यह आकाश ही आदि-भूत है। यही आकाश प्राण की शक्ति से स्पन्दित होता रहता है, और जब नई सृष्टि होती रहती है तब ज्यों-ज्यों प्राण का स्पन्दन द्रुत होता जाता है त्यों-त्यों आकाश की तरंगें क्षुब्ध होती हुई चन्द्र, सूर्य, ग्रह, नक्षत्र आदि के आकार धारण करती जाती हैं। हम पढ़ते हैं—

"यदिदं किं च जगत् सर्वं प्राण एजति निःसृतम्।"

"इस संसार में जो कुछ है, प्राण के कम्पित होने पर प्रकाशित होते हैं।" यहाँ 'एजति' शब्द पर ध्यान दो—'एज' धातु का अर्थ है काँपना।

जगत्-प्रपंच की सृष्टि का यह थोड़ा सा आभास दिया गया। इसके विषय में बहुत-सी छोटी-छोटी बातें कही जा सकती हैं। उदाहरण-स्वरूप, किस तरह सृष्टि होती है, किस तरह पहले आकाश की और आकाश से दूसरी वस्तुओं की सृष्टि होती है, आकाश में कम्पन होने पर वायु की उत्पत्ति कैसे होती है, आदि कितनी ही बातें कहनी पड़ेंगी।

'महत्' से आकाश और प्राण की उत्पत्ति।

---

* ऋग्वेद, १०।१२९-२

परन्तु यहाँ एक बात पर ध्यान रखना चाहिए, वह यह कि सूक्ष्मतर तत्त्व से स्थूलतर तत्त्व की उत्पत्ति होती है, सबसे पीछे स्थूल भूत की सृष्टि होती है। यही सबसे बाहर की वस्तु है, और इसके पीछे सूक्ष्मतर भूत विद्यमान हैं। यहाँ तक विश्लेषण करने पर भी, हमने देखा कि सम्पूर्ण संसार केवल दो तत्त्वों में पर्यवसित किया गया है, अभी तक चरम एकत्व पर हम नहीं पहुँचे। प्राणरूपिणी एक शक्ति में शक्तिवर्ग और आकाशरूप एक वस्तु में जड़वर्ग पर्यवसित किये गये हैं। क्या इन दोनों में भी कोई एकत्व निकाला जा सकता है? ये भी क्या एक तत्त्व में पर्यवसित किये जा सकते हैं? हमारा आधुनिक विज्ञान यहाँ मूक है—वह किसी तरह की मीमांसा नहीं कर सका। और यदि उसे इसकी मीमांसा करनी ही पड़े तो जिस प्रकार प्राचीन पुरुषों की तरह उसने आकाश और प्राणों का आविष्कार किया है उसी तरह उनके मार्ग पर उसे आगे भी चलना होगा। जिस एक तत्त्व से आकाश और प्राण की सृष्टि हुई है वे ही सर्वव्यापी निर्गुण तत्त्व हैं, जो पुराणों में ब्रह्मा, चतुरानन ब्रह्मा के नाम से परिचित हैं और जिनका 'महत्' नाम से भी निर्देश किया गया है। यहीं उन दोनों तत्त्वों का मेल होता है। दर्शन की भाषा में जिसे मन कहते हैं वह मस्तिष्कजाल में फँसा हुआ उसी महत् का एक छोटा सा अंश है, और मस्तिष्कजाल में फँसे हुए संसार के सामूहिक मनों का नाम समष्टि-महत् है।

परन्तु यहीं विश्लेषण का अन्त नहीं हो गया, वह और भी दूर तक अग्रसर हुआ था। हममें से हरएक मनुष्य मानो एक छोटा सा ब्रह्माण्ड है

सब जड़ है।

और सम्पूर्ण संसार एक वृहत् ब्रह्माण्ड। जो कुछ व्यष्टि में हो रहा है वही समष्टि में भी होता है। यह बात सहज ही हमारी समझ में आ सकती है। यदि हम अपने मन का विश्लेषण कर सकते तो हमारे समष्टि-मन में क्या होता है, इसका भी बहुत कुछ निश्चित अनुमान कर सकते। अब प्रश्न यह है कि यह मन है क्या चीज़। इस

समय पाश्चात्य देशों में जड़विज्ञान की जैसी द्रुत उन्नति हो रही है और शरीर-विज्ञानशास्त्र जिस तरह धीरे-धीरे धर्म के एक के बाद दूसरे दुर्ग पर अपना अधिकार जमा रहा है, उसे देखते हुए पाश्चात्यवासियों को ज़रा ठहरने की भी जगह नहीं मिल रही है; क्योंकि, आधुनिक शरीरविधान-शास्त्र के पद पद पर मन को मस्तिष्क के साथ मिला हुआ देखकर वे बड़ी उलझन में पड़ गये हैं; परन्तु भारतवर्ष में हम लोग यह तत्व पहले ही से जानते हैं। हिन्दू बालक को पहले ही यह तत्व सीखना पड़ता है कि मन जड़ पदार्थ है, परन्तु सूक्ष्मतर जड़ है। हमारा यह जो स्थूल शरीर है, इसके पश्चात् सूक्ष्म शरीर अथवा मन है। यह भी जड़ है, परन्तु सूक्ष्मतर जड़ है, और यह आत्मा नहीं।

आत्मा।

मैं तुम्हारे निकट इस 'आत्मा' शब्द का अंग्रेजी में अनुवाद नहीं कर सकता; कारण, यूरोप में 'आत्मा' शब्द का द्योतक कोई भाव ही नहीं; अतएव यह शब्द अनुवाद के अयोग्य है। जर्मन दार्शनिक इस 'आत्मा' शब्द का Self शब्द से अनुवाद करते हैं, परन्तु जब तक यह शब्द सर्वसम्मति से गृहीत न हो जाय, तब तक इसे व्यवहार में लाना असम्भव है। अतएव उसे Self कहो, चाहे कुछ और कहो, हमारी आत्मा के सिवा वह और कुछ नहीं है। यही आत्मा मनुष्य के भीतर यथार्थ मनुष्य है। यही आत्मा जड़ मन को अपने यंत्र के रूप में, अथवा मनोविज्ञान की भाषा में कहिये तो अपने अन्तःकरण के रूप में चलाती-फिराती है, और मन कुछ भीतरी यन्त्रों की सहायता से शरीर के दृश्यमान यन्त्रों पर काम करता है। अस्तु। यह मन है क्या? अभी उस दिन पाश्चात्य दार्शनिकों को समझ पड़ा है कि नेत्र वास्तव में दर्शनेन्द्रिय नहीं हैं, किन्तु यथार्थ इन्द्रिय इनके पीछे वर्तमान है, और यदि यह नष्ट हो जाय तो सहस्रलोचन इन्द्र की तरह

इन्द्रिय किसे कहते हैं?

चाहे मनुष्य की हजार आँखें हों, पर वह कुछ देख नहीं सकता। तुम्हारा दर्शन यह स्वतःसिद्ध सिद्धान्त लेकर आगे बढ़ता है कि दृष्टि का तात्पर्य वास्तव में

बाह्यदृष्टि से नहीं, यथार्थ दृष्टि अन्तरिन्द्रिय की — भीतर रहनेवाले मस्तिष्क-केन्द्रसमूहों की है। तुम चाहे जिस नाम से पुकारो, परन्तु इन्द्रिय शब्द से हमारी नाक-कान-आँखें नहीं सिद्ध होतीं। और इन इन्द्रियसमूहों की ही समष्टि, मन बुद्धि-चित्त-अहंकार के साथ मिलकर, अंग्रेजी में Mind (मन) नाम से पुकारी जाती है। और यदि आधुनिक शरीर-तत्ववेत्ता तुमसे आकर कहें कि मस्तिष्क ही Mind है, और वह मस्तिष्क ही विभिन्न यन्त्रों या करणसमूहों से गठित है, तो तुम्हारे लिए डरने का कोई कारण नहीं। उन्हें तुम तत्काल कह सकते हो कि हमारे दार्शनिक बराबर यह बात जानते हैं, यह हमारे धर्म का अक्षर-परिचय मात्र है।

मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार — इन शब्दों का तात्पर्य।

खैर, इस समय तुम्हें समझना होगा कि मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार आदि शब्दों के क्या अर्थ हैं। सबसे पहले इम चित्त का विषय ग्रहण करते हैं। चित्त वास्तव में अन्तःकरण का मूल उपादान है — यह महत् का ही अंश है। विभिन्न अवस्थाओं के साथ मन का ही एक साधारण नाम चित्त है। उदाहरण के रूप में ग्रीष्म काल के उस स्थिर और शान्त झील को लो जिस पर एक भी तरङ्ग नहीं है। सोचो, किसीने उस पर एक रोड़ा फेंका। तो उससे क्या होगा? पहले, पानी पर जो आघात किया गया उससे एक क्रिया हुई; इसके पश्चात् पानी उठकर रोड़े की ओर प्रतिक्रिया करने लगा और उसी प्रतिक्रिया ने तरङ्ग का आकार धारण किया। पहले पहल पानी ज़रा काँप उठता है, उसके बाद ही तरंग के आकार में प्रतिक्रिया होती है। इस चित्त को झील की तरह समझो, और बाहरी वस्तुएँ उस पर फेंके गए प्रस्तरखण्ड हैं। जब कभी वह इन्द्रियों की सहायता से किसी बाहिर्वस्तु के संस्पर्श में आता है — बाहिर्वस्तुओं को भीतर ले जाने के लिए इन इन्द्रियों की ज़रूरत होती है — तभी एक कम्पन उत्थित होता है। वह मन है — संशयात्मक; इसके बाद ही एक प्रतिक्रिया होती है, वह निश्चयात्मिका बुद्धि है,

और इस बुद्धि के साथ-साथ अहंज्ञान और बाहरी वस्तु का बोध पैदा होता है। जैसे हमारे हाथ पर मच्छड़ बैठा और काट खाया। यह बाह्य वस्तु का आघात हमारे चित्त पर पड़ा, चित्त ज़रा काँप उठा — हमारे मनोविज्ञान के मत से वही मन है। इसके बाद ही एक प्रतिक्रिया उठी और साथ साथ हमारे भीतर यह भाव पैदा हुआ कि हमारे हाथ में मच्छड़ काट रहा है, इसे मारना चाहिए। परन्तु इतना ज़रूर समझना होगा कि बाह्यहृद पर जितने आघात होते हैं सब बाहर से आते हैं, परन्तु मनोहृद में बाहर से भी आघात आ सकते हैं और भीतर से भी। चित्त और उसकी इन भिन्न भिन्न अवस्थाओं का नाम ही अन्तःकरण है।

पहले जो कुछ कहा गया उसके साथ एक और विषय समझना होगा। उससे हम लोगों के लिए अद्वैतवाद समझने की विशेष सुविधा होगी।

वस्तुज्ञान की प्रणाली तथा अद्वैतवाद।

तुममें से हरएक ने मुक्ता अवश्य ही देखी होगी, और तुममें से अनेकों को मालूम भी होगा कि मुक्ता किस तरह बनती है। शुक्ति के भीतर (सीप के अन्दर) धूलि अथवा बालुका की कणिका पड़कर उसे उत्तेजित करती रहती है, और शुक्ति की देह इस उत्तेजना की प्रतिक्रिया करते हुए उस छोटी सी बालू की रज को अपने शरीर से निकले हुए रस से ढकती रहती है। वही कणिका एक निर्दिष्ट आकार को प्राप्त कर मुक्ता के रूप में परिणत होती है। यह मुक्ता जिस तरह संगठित होती है, हम सम्पूर्ण संसार को उसी तरह संगठित करते हैं। बाहरी संसार से हम आघात भर पाते हैं। यहाँ तक कि उस आघात का अस्तित्व जानने की इच्छा होने पर हमें अपने भीतर से ही प्रतिक्रिया करनी पड़ती है और जब हम यह प्रतिक्रिया करते हैं, तब वास्तव में हम अपने मन के अंशविशेष को ही उस आघात की ओर भेजते हैं। और हम जिसे समझते हैं, अर्थात् उस प्रतिक्रिया से हममें जो निश्चय-ज्ञान होता है, वह और कुछ नहीं, हमारा अपना मन उस

आघात से जिस आकार को प्राप्त होता है, हम उसी आकार-प्राप्त मन को समझते हैं। जो लोग बहिर्जगत् की सत्यता पर विश्वास करना चाहते हैं, उन्हें यह बात माननी पड़ेगी, और आजकल इस शरीरविधान-शास्त्र की उन्नति के दिनों में इस बात को बिना माने दूसरा उपाय ही नहीं है कि यदि बहिर्जगत् को हम 'क' कहकर सूचित करें तो वास्तव में हम 'क' + मन को ही जानते हैं और इस ज्ञानक्रिया के भीतर मन का भाग इतना अधिक है कि वह उस 'क' के समस्त अंशों में व्याप्त हो रहा है और उस 'क' का यथार्थ रूप वास्तव में सदैव अज्ञात और अज्ञेय है। अतएव यदि बहिर्जगत् के नाम से कोई वस्तु हो भी तो वह सदैव अज्ञात और अज्ञेय है। हमारे मन के द्वारा वह जिस रूप में गठित होती है, परिणत या रूपान्तरित होती है हम उसके उसी भाव को समझ सकते हैं। अन्तर्जगत् के सम्बन्ध में भी यही बात है। हमारी आत्मा के सम्बन्ध में भी यह बात बिलकुल सच उतरती है। हम आत्मा को जानना चाहें तो उसे भी अपने मन के भीतर से समझेंगे; अतएव हम आत्मा के सम्बन्ध में जो कुछ जानते हैं वह 'आत्मा + मन' के सिवा और कुछ नहीं। अर्थात् मन ही के द्वारा आवृत, मन ही के द्वारा परिणत या संगठित आत्मा को हम जानते हैं। इस तत्व के सम्बन्ध में हम आगे चलकर कुछ और आलोचना करेंगे, यहाँ हमें इतना ही स्मरण रखना होगा।

इसके पश्चात् हमें जो विषय समझना है वह यह है : यह देह एक निरवच्छिन्न जड़-प्रवाह का नाम है। प्रतिमुहूर्त हम इसमें नये नये उपादान जोड़ रहे हैं, फिर प्रति मुहूर्त इससे कितने ही पदार्थ निकलते जा रहे हैं। जैसे एक सदा ही बहती हुई नदी है—उसकी सलिलराशि सदा ही एक स्थान से दूसरे स्थान को जा रही है, तथापि हम अपनी कल्पना के बल से उसके समस्त अंशों को एक ही वस्तु मानकर उसे एक ही नदी कहते हैं। परन्तु वास्तव में नदी है क्या? प्रतिक्षण नया पानी आ रहा है, प्रति

मुहूर्त उसकी तटभूमि परिवर्तित हो रही है, प्रति मुहूर्त तट पर के लता-वृक्ष और उनके पत्रपुष्पफलादि का परिवर्तन होता जा रहा है; परन्तु नदी है क्या? वह इसी परिवर्तनसमष्टि का नाम है। मन के सम्बन्ध में भी यही बात है। बौद्धों ने इस सदा ही होनेवाले परिवर्तन को लक्ष्य करके महान् क्षणिक-विज्ञानवाद की सृष्टि की थी। उसे ठीक-ठीक समझना बड़ा कठिन काम है। परन्तु बौद्ध-दर्शनों में यह मत सुदृढ़ युक्तियों द्वारा समर्थित और प्रमाणित हुआ है। भारत में यह वेदान्त के किसी-किसी अंश के विरोध में उठ खड़ा हो गया था। इस मत को निरस्त करने की ज़रूरत आ पड़ी थी, और हम आगे देखेंगे, इस मत का खण्डन करने में केवल अद्वैतवाद ही समर्थ हुआ था और कोई मत नहीं। आगे चलकर हम यह भी देखेंगे कि अद्वैतवाद के सम्बन्ध में मनुष्यों की अनेक विचित्र विचित्र धारणाएँ होने पर भी, अद्वैतवाद से उनके डर जाने पर भी, वास्तव में संसार का कल्याण इसी से होता है, कारण इस अद्वैतवाद से ही सब प्रकार की समस्याओं का उत्तर मिलता है। द्वैतवाद और दूसरे जितने वाद हैं उपासना आदि के लिए बहुत अच्छे हैं, उनसे मन को बड़ी तृप्ति होती है—हो सकता है कि उनसे मन के उच्च पथ पर बढ़ने की सहायता मिलती हो—परन्तु यदि कोई विचारनिष्ठ एवं धर्मपरायण होना चाहे तो उसके लिए एकमात्र गति अद्वैतवाद ही है। अस्तु।

क्षणिक विज्ञानवाद और अद्वैतवाद।

मन को भी देह की तरह किसी नदी के आकार का समझना चाहिए। वह भी सदा एक ओर खाली और दूसरी ओर पूर्ण हो रहा है। परन्तु वह एकत्व कहाँ है जिसे हम आत्मा कहते हैं? हम देखते हैं कि हमारी देह और मन में इस तरह सदा ही परिवर्तन होने पर भी हमारे भीतर कोई ऐसी वस्तु है, जो अपरिवर्तनीय है—जिसके कारण हमारी वस्तुविषयक धारणाएँ अपरिवर्तनीय हैं। जब भिन्न-भिन्न दिशाओं से भिन्न-भिन्न आलोक-रश्मियाँ किसी यवनिका या दीवार अथवा किसी दूसरी अचल वस्तु पर पड़ती हैं, तभी—केवल तभी उनके

लिए एकतात्स्थापन सम्भव होता है, तभी—केवल तभी वे एक अखण्ड भाव की सृष्टि कर सकते हैं। मनुष्य के विभिन्न शारीर-यंत्रों में वह निश्चल अखण्ड वस्तु कहाँ है जिस पर विभिन्न भावराशियाँ पतित होकर पूर्ण अखण्डत्व को प्राप्त हो रही हैं ? इसमें कोई सन्देह नहीं कि वह वस्तु कभी मन नहीं हो सकती, क्योंकि वह परिवर्तनशील है। परन्तु वह ऐसी वस्तु है अवश्य, जो न देह है, न मन है, जिसका कभी परिणाम नहीं होता, जिस पर पड़कर हमारे समस्त भाव, बाहर के समस्त विषय एक अखण्ड भाव में परिणत हो जाते हैं—यही वास्तव में हमारी आत्मा है। और जब कि हम देख रहे हैं कि सम्पूर्ण जड़पदार्थ—जिसे तुम सूक्ष्म जड़ अथवा मन चाहे जिस नाम से पुकारो—परिवर्तनशील है और जब कि सम्पूर्ण स्थूल जड़ या बाह्य जगत् भी परिवर्तनशील है, तो यह अपरिवर्तनीय वस्तु (आत्मा) कदापि जड़ नहीं हो सकती; अतएव वह अजड़ अर्थात् चैतन्य-स्वभाव, अविनाशी और अपरिणामी है।

आत्मा ही अचल अखण्ड वस्तु है।

इसके बाद एक दूसरे प्रश्न का उदय होता है। यह प्रश्न बहिर्जगत् सम्बन्धी पुराने हेतुवादों (Design Theories) से भिन्न है। इस संसार को देखकर किसने इसकी सृष्टि की, किसने जड़पदार्थ बनाया आदि जिस हेतुवाद की उत्पत्ति होती है, मैं उसकी बात नहीं कहता। बात अलग है। मनुष्य की भीतरी प्रकृति से सत्य को जानना यही मुख्य बात है। आत्मा के अस्तित्व के सम्बन्ध में जिस तरह प्रश्न उठा था, यहाँ भी ठीक उसी तरह प्रश्न उठ रहा है। यदि यह माना जाय कि हर-एक मनुष्य में शरीर और मन से पृथक् एक एक अपरिवर्तनीय आत्मा विद्यमान है, तो यह भी मानना पड़ता है कि इन आत्माओं के भीतर धारणा, भाव और सहानुभूति की एकता विद्यमान है। अन्यथा हमारी आत्मा तुम्हारी आत्मा पर कैसे प्रभाव डाल सकती है ? परन्तु आत्माओं के बीच में रहनेवाली वह कौनसी वस्तु है

परमात्मा।

जिसके भीतर से एक आत्मा दूसरी आत्मा पर कार्य कर सकती है? किस उपाय से हम तुम्हारी आत्मा की हरएक बात समझ सकते हैं? वह कौनसी वस्तु है जो हमारी और तुम्हारी आत्मा में संलग्न है? अतएव यहाँ एक दूसरी आत्मा के मानने की दार्शनिक आवश्यकता प्रतीत होती है; कारण, वह आत्मा सम्पूर्ण भिन्न भिन्न आत्माओं और जड़ वस्तुओं के भीतर से अपना कार्य करती रहेगी; वह संसार के असंख्य आत्माओं में ओतप्रोत भाव से विद्यमान रहेगी; उसी की सहायता से दूसरी आत्माओं में जीवनी-शक्ति का संचार होगा; एक आत्मा दूसरी आत्मा को प्यार करेगी, एक दूसरे से सहानुभूति रखेगी या एक दूसरे के लिए कार्य करती रहेगी। इसी सर्वव्यापी आत्मा को परमात्मा कहते हैं। वे सम्पूर्ण संसार के प्रभु हैं, ईश्वर हैं। और जब कि आत्मा जड़ पदार्थ से नहीं बनी, जब कि वह चैतन्यस्वरूप है, तो वह जड़ के नियमों का अनुसरण नहीं कर सकती—उसका विचार जड़ के नियमानुसार नहीं किया जा सकता। अतएव वह अविनाशी तथा अपरिणामी है।

नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि नैनं दहति पावकः।
न चैनं क्लेदयन्त्यापो न शोषयति मारुतः॥
अच्छेद्योऽयमदाह्योऽयमक्लेद्योऽशोष्य एव च।
नित्यः सर्वगतः स्थाणुरचलोऽयं सनातनः॥ *

अर्थात् इस आत्मा को न आग जला सकती है, न कोई शस्त्र इसे छेद सकता है, न वायु इसे सुखा सकती है, न पानी गीला कर सकता है, यह आत्मा नित्य, सर्वगत, कूटस्थ और सनातन है।

गीता और वेदान्त के अनुसार जीवात्मा विभु है, कपिल के मत में भी यह सर्वव्यापी है। यह सच है कि भारत में ऐसे अनेक सम्प्रदाय हैं जिनके मतानुसार यह जीवात्मा अणु है—किन्तु उनका यह भी मत है कि आत्मा का प्रकृत स्वरूप विभु है, केवल व्यक्त अवस्था में ही वह अणु है।

---

* गीता, २। २३-२४

इसके बाद एक दूसरे विषय की ओर ध्यान देना चाहिए। बहुत सम्भव है, यह तुम्हारे निकट आश्चर्यकर प्रतीत हो, परन्तु यह तत्व भी विशेष रूप से भारतीय है और हमारे सभी सम्प्रदायों में वह वर्तमान है। इसीलिए मैं तुम्हें इस तत्व की ओर ध्यान देने और उसे याद रखने का अनुरोध करता हूँ; कारण, यह भारतीय सभी विषयों की बुनियाद है। पाश्चात्य देशों में जर्मन

प्राच्य और पाश्चात्य परिणामवाद (Evolution)।

और अंग्रेज पण्डितों द्वारा प्रचारित भौतिक परिणामवाद (Evolution) तुम लोगों ने सुना होगा। उस मत में वास्तव में सभी प्राणियों के शरीर अभिन्न हैं; जो भेद हम देखते हैं वे एक ही वस्तु के भिन्न भिन्न प्रकाश मात्र हैं और क्षुद्रतम कीट से लेकर श्रेष्ठतम साधु तक सभी वास्तव में एक हैं, एक ही दूसरे में परिणत हो रहा है तथा इसी तरह चलते हुए क्रमशः उन्नत होकर जीव पूर्णत्व प्राप्त कर रहे हैं। यह परिणामवाद हमारे शास्त्रों में भी है। योगी पतंजलि कहते हैं—

'जात्यन्तरपरिणामः प्रकृत्यापूरात्।' *

अर्थात् एक जाति, एक श्रेणी दूसरी जाति, दूसरी श्रेणी में परिणत होती है। परिणाम का अर्थ है एक वस्तु का दूसरी वस्तु में परिवर्तित होना। परन्तु यहाँ यूरोपवालों से हमारा मतभेद कहाँ पर होता है? पतंजलि कहते हैं—'प्रकृत्यापूरात्'—प्रकृति के आपूरण से। यूरोपीय कहते हैं कि प्रतिद्वन्द्विता, प्राकृतिक और यौन निर्वाचन (Natural Selection) आदि ही एक प्राणी को दूसरे प्राणी का शरीर ग्रहण करने के लिए बाध्य करते हैं; परन्तु हमारे शास्त्रों में इस जात्यन्तर-परिणाम का जो कारण बतलाया गया है, उसे देखते हुए यही कहना पड़ता है कि यहाँवालों ने यूरोपीयों से और भी अच्छा विश्लेषण किया है—इन्होंने वहाँवालों से और भी गहरे पहुँचने की कोशिश की है। ये कहते हैं—'प्रकृत्यापूरात्'—'प्रकृति के आपूरण से'। इसका

* पातंजल योगसूत्र, ४—२

क्या अर्थ है? हम यह मानते हैं कि जीवाणु क्रमशः उन्नत होते हुए बुद्ध बन जाता है, किन्तु साथ ही हमारी यह भी दृढ़ धारणा है कि किसी यंत्र में यदि यथोचित मात्रा की शक्ति न भर दी जाय, तो उस यन्त्र से तदनुरूप कार्य नहीं मिल सकता। उस शक्ति का विकास चाहे जिस किसी रूप में हो, पर शक्ति-समष्टि की मात्रा सदा एक ही रहती है। यदि तुम्हें एक प्रान्त में शक्ति का विकास देखना है, तो दूसरे प्रान्त में उसका प्रयोग करना होगा — वह शक्ति किसी दूसरे आकार में प्रकाशित भले ही हो, परन्तु उसका परिणाम एक होना ही चाहिए। अतएव बुद्ध यदि परिणाम का एक प्रान्त हो तो दूसरे प्रान्त का जीवाणु अवश्य ही बुद्ध के सदृश होगा। यदि बुद्ध क्रमविकसित परिणत जीवाणु हो, तो वह जीवाणु भी क्रमसंकुचित (अव्यक्त) बुद्ध ही है। यदि यह ब्रह्माण्ड अनन्त शक्ति का विकासस्वरूप हो, तो जब इस ब्रह्माण्ड में प्रलय की अवस्था होती है, तब भी दूसरे किसी आकार में उसी अनन्त शक्ति की विद्यमानता स्वीकार करनी पड़ेगी। अतएव यह निश्चित है कि प्रत्येक आत्मा अनन्त है। हमारे पैरों तले घूमते रहनेवाले क्षुद्र कीट से लेकर महत्तम और उच्चतम साधु तक सब में वह अनन्त शक्ति, अनन्त पवित्रता और सभी गुण अनन्त परिमाण में मौजूद हैं। भेद केवल प्रकाश के तारतम्य में है। कीट में उस महाशक्ति का थोड़ा ही विकास पाया जाता है, तुममें उससे भी अधिक, और किसी दूसरे देवोपम पुरुष में तुमसे भी कुछ अधिक शक्ति का विकास हुआ है — भेद बस इतना ही है, परन्तु है सभीमें वही एक शक्ति। पतंजलि कहते हैं —

'ततः क्षेत्रिकवत्' * —

'किसान जिस तरह अपने खेत में पानी भरता है।' किसी जलाशय से वह अपने खेत का एक कोना काटकर पानी भर रहा है, और जल के वेग से खेत के बह जाने के भय से उसने मोरी का मुँह बन्द कर रखा है। जब पानी की जरूरत पड़ती है, तब वह द्वार खोल देता है, पानी अपनी ही शक्ति

* पातंजल योगसूत्र, ४–३

से उसमें भर जाता है। पानी आने के वेग को बढ़ाने की कोई आवश्यकता नहीं, क्योंकि वह शक्ति जलाशय के जल में पहले ही से विद्यमान है। इसी तरह हममें से हरएक के पीछे अनन्त शक्ति, अनन्त सत्ता, अनन्त वीर्य, अनन्त आनन्द का भाण्डार परिपूर्ण है, केवल यह द्वार — यही देहरूपी द्वार हमारे वास्तविक रूप के पूर्ण विकास में बाधा पहुँचाता है। और इस देह का संगठन जितना ही उन्नत होता जाता है, जितना ही तमोगुण रजोगुण में और रजोगुण सत्वगुण में परिणत होता है, यह शक्ति और शुद्धता उतनी ही प्रकाशित होती रहती है, और इसीलिए भोजन-पान के सम्बन्ध में हम इतना सावधान रहते हैं।

यह सम्भव है कि हम लोग मूल तत्व भूल गये हों जैसे हम अपने बाल्यविवाह के सम्बन्ध में कह सकते हैं। यह विषय यद्यपि यहाँ अप्रासंगिक है, तथापि हम दृष्टान्त के तौर पर यहाँ इसका ग्रहण कर सकते हैं। यदि कोई दूसरा अवसर मिलेगा, तो मैं इन विषयों पर विशेष रूप से आलोचना करूँगा; परन्तु इस समय मैं तुमसे इतना ही कहता हूँ कि जिन मूल भावों से बाल्य-विवाह-प्रथा का प्रचलन हुआ है, उनके ग्रहण करने ही से यथार्थ सभ्यता का संचार हो सकता है, किसी दूसरे उपाय से कदापि नहीं। यदि हरएक स्त्री-पुरुष को जिस किसी पुरुष या स्त्री को पति अथवा पत्नी के रूप से ग्रहण करने की स्वाधीनता दी जाय, यदि व्यक्तिगत सुख, पाशव प्रकृति की परितृप्ति, समाज में बिना किसी बाधा के संचरित होती रहे तो उसका फल अवश्य ही अशुभ होगा। उससे दुष्ट प्रकृति और आसुर स्वभाव की सन्तान उत्पन्न होगी। प्रत्येक देश में एक ओर मनुष्य इस तरह की पशुप्रकृति की सन्तान उत्पन्न कर रहे हैं, दूसरी ओर इनके दमन के लिए पुलिस की संख्या बढ़ा रहे हैं। इस तरह की सामाजिक व्याधि के प्रतिकार की चेष्टा में कोई फल नहीं होता, बल्कि समाज से ये दोष किस तरह दूर किये जायँ — इन पशुप्रकृति

बाल्यविवाह का मूल तत्व।

सन्तानों की सृष्टि किस उपाय से रोकी जाय, यह समस्या उठ खड़ी होती है। और जब तक तुम समाज में हो तब तक तुम्हारे विवाह का फल (भला हो या बुरा) समाज के प्रत्येक मनुष्य को अवश्य ही भोगना पड़ेगा; अतएव तुम्हें किस तरह का विवाह करना चाहिए, किस तरह का नहीं, इस पर तुम्हें आदेश देने का अधिकार समाज को है। भारतीय बाल्य-विवाह-प्रथा के पीछे इसी तरह के ऊँचे ऊँचे भाव और तत्व हैं, जन्मपत्रों में वर-कन्या की जैसी जाति, गण आदि लिखे रहते हैं, अब भी उन्हींके अनुसार हिन्दू-समाज में विवाह होते हैं और प्रसंग के अनुसार मैं यह भी कहना चाहता हूँ कि मनु के मत से कामोद्भव पुत्र आर्य नहीं है। जिस सन्तान के जन्म-मृत्यु वेदों के विधान से मिलते-जुलते हैं, वही वास्तव में आर्य है। आजकल सभी देशों में ऐसी आर्य-सन्तान बहुत कम पैदा होती है, और इसीका फल है कि कलियुग-नाम की दोषराशि की उत्पत्ति हो रही है। हम प्राचीन महान् आदर्शों को भूल गये हैं। यह सच है कि हम लोग इस समय इन भावों को पूर्ण रूप से कार्य में परिणत नहीं कर सकते; यह भी सम्पूर्ण सत्य है कि हम लोगों ने इन सब महान् भावों में से कुछ भाव लेकर एक विकृत और विचित्र ढङ्ग का रहस्य सा बना डाला है। यह बिलकुल सच है कि आजकल अब प्राचीन काल के से पिता-माता नहीं हैं, समाज भी अब पहले-सा शिक्षित नहीं है, और प्राचीन समाज की जिस तरह समाज के सभी लोगों पर प्रीति रहती थी, अब वैसी नहीं रहती, किन्तु कार्यकारिता में दोषों के आने पर भी वह मूल तत्व बड़े ही महत्व का है; और यदि वह तत्व यथार्थ कार्य में परिणत न किया जा सका हो, यदि इसके लिए कोई खास तरीका नाकामयाब हुआ हो, तो उसी मूल तत्व को लेकर ऐसी चेष्टा करनी चाहिए जिससे वही तत्व अच्छी तरह काम में आ सके। मूल तत्व के नष्ट करने की चेष्टा क्यों? भोजनवाली समस्या के लिए भी यही बात है। वह तत्व भी जिस तरह काम में लाया जा रहा है, वह निःसन्देह बहुत ही खराब है किन्तु इससे उस तत्व का कोई दोष नहीं। वह सनातन

है, वह सदा ही रहेगा; ऐसा प्रयत्न करो जिससे वह सत्य ठीक ठीक भाव से काम में लाया जा सके।

भारत में हमारे सभी सम्प्रदायों को आत्मा-सम्बन्धी पूर्वोक्त तत्त्व पर विश्वास करना पड़ता है; केवल द्वैतवादी कहते हैं (इस पर हम आगे चलकर विशेष रूप से विचार करेंगे), असत् कर्मों से वह संकुचित हो जाती है, उसकी सम्पूर्ण शक्ति और स्वभाव संकोच को प्राप्त हो जाते हैं, फिर सत्कर्म करने से उस स्वभाव का विकास होता है। और अद्वैतवादी कहते हैं, आत्मा का न कभी संकोच होता है, न विकास — इस तरह होने की प्रतीति मात्र होती है। द्वैतवादी और अद्वैतवादियों में बस इतना ही भेद है; परन्तु यह बात सभी मानते हैं कि हमारी आत्मा में पहले ही से सम्पूर्ण शक्ति विद्यमान है, ऐसा नहीं कि कुछ बाहर से आत्मा में आवे, कोई चीज इसमें आसमान से टपक पड़े — ऐसा नहीं। तुम्हारे विशेष ध्यान देने योग्य एक बात यह है कि तुम्हारे वेद Inspired नहीं हैं (ऐसे नहीं जिससे यह सूचित हो कि वे बाहर से भीतर आ रहे हैं) किन्तु Expired हैं (अर्थात् भीतर से बाहर आ रहे हैं) — वे सनातन नियम हैं। चींटी से लेकर देवता तक सबके भीतर वेद अवस्थित हैं। चींटी को केवल विकास प्राप्त करके ऋषि होना है; तभी उसके भीतर वेद अर्थात् सनातन-नियमावली प्रकाशित होगी। यह महान् तत्त्व समझने की आवश्यकता है कि हमारी शक्ति पहले ही से हमारे भीतर मौजूद है — मुक्ति पहले ही से हममें है। उसके लिए इतना कह सकते हो कि वह संकुचित हो गई है, अथवा माया के आवरण से आवृत हो गई है — परन्तु इससे कुछ आता-जाता नहीं। पहले ही से वह वहीं मौजूद है, यह तुम्हें समझ लेना होगा। इस पर तुम्हें विश्वास करना होगा — विश्वास करना होगा कि बुद्ध के भीतर जो शक्ति है, वह एक छोटे से छोटे मनुष्य में भी है। यही हिन्दुओं का आत्म-तत्त्व है।

आत्मा की स्वतःसिद्ध पूर्णता में द्वैत और अद्वैतवादी एकमत हैं।

परन्तु यहीं बौद्धों के साथ महा विरोध खड़ा हो जाता है। वे देह का विश्लेषण करके कहते हैं, देह एक जड़ स्रोत मात्र है; उसी तरह मन का विश्लेषण करके उसे भी इसी तरह का एक जड़-प्रवाह बतलाते हैं। आत्मा के सम्बन्ध में वे कहते हैं, उसका अस्तित्व स्वीकार करना अनावश्यक है। उसके अस्तित्व की कल्पना करने की कोई आवश्यकता नहीं। किसी वस्तु और उसमें संलग्न गुणराशि की कल्पना का क्या काम? हम लोग शुद्ध गुण ही मानते हैं। जहाँ सिर्फ एक कारण मान लेने पर सब विषयों की व्याख्या हो जाती है, वहाँ दो कारण मानना न्याय के प्रतिकूल है। इसी तरह बौद्धों के साथ विवाद छिड़ा, और जो मत वस्तुविशेष का अस्तित्व मानते थे, उनका खण्डन करके बौद्धों ने उनको धूल में मिला दिया। जो वस्तु और गुण दोनों का अस्तित्व मानते हैं, जो कहते हैं—'तुममें एक अलग आत्मा है, हममें एक अलग, हरएक के शरीर और मन से अलग एक एक आत्मा है, हरएक के एक स्वतन्त्र व्यक्तित्व है'—उनके मत में पहले ही से कुछ त्रुटि थी। यहाँ तक तो द्वैतवाद का मत ठीक है, हम पहले ही देख चुके हैं कि यह शरीर है, यह सूक्ष्म मन है, यह आत्मा है और सब आत्माओं में ये परमात्मा हैं। यहाँ मुश्किल इतनी ही है कि आत्मा और परमात्मा

आत्मा और व्यक्तिविशेष ईश्वर के सम्बन्ध में बौद्धों की आपत्ति।

दोनों ही वस्तु बतलाए जा रहे हैं और उनसे देह-मन आदि गुण संलग्न हैं कहकर स्वीकार किया जा रहा है। अब बात यह है कि किसी ने कभी जिस वस्तु को नहीं देखा उसके सम्बन्ध में वह कभी विचार नहीं कर सकता। अतएव वे कहते हैं, ऐसी दशा में इस तरह की वस्तु के मानने की ज़रूरत क्या है? इससे क्षणिकविज्ञानवादी क्यों नहीं हो जाते और क्यों नहीं कहते कि मानसिक तरङ्गों के सिवा और किसी भी वस्तु का अस्तित्व नहीं है?—उनमें से कोई एक दूसरी से मिली हुई नहीं, वे आपस में मिलकर एक वस्तु नहीं हुई, समुद्र की तरंगों की तरह एक दूसरी के पीछे पीछे चली आ रही हैं,

वे कभी भी सम्पूर्ण नहीं, वे कभी एक अखण्ड एकत्व गठन नहीं करतीं। मनुष्य बस इसी तरह की तरंग-परम्परा है—जब एक तरङ्ग चली जाती है, तब दूसरी तरङ्ग पैदा कर जाती है, ऐसा ही चलता रहता है और इन्हीं तरंगों की निवृत्ति को निर्वाण कहते हैं।

तुम देखते हो, इसके सामने द्वैतवाद मूक है; यह असम्भव है कि वह इसके विरुद्ध कोई युक्ति खड़ी करे, और द्वैतवाद के ईश्वर भी यहाँ नहीं टिक सकते। जो सर्वव्यापी हैं तथापि व्यक्तिविशेष हैं, बिना हाथों के संसार की सृष्टि कर रहे हैं, बिना पैरों के जो चल सकते हैं—इत्यादि, कुम्भकार जिस तरह घट का निर्माण करता है, उसी तरह जो विश्व की सृष्टि करते हैं,—उनके लिए बौद्ध कहते हैं, यदि ईश्वर इस तरह के हों तो वे उन ईश्वर के साथ विरोध करने को तैयार हैं, उनकी उपासना करने के अभिलाषी नहीं। यह संसार दुःख से परिपूर्ण है; यदि यह ईश्वर का काम हो तो बौद्ध कहते हैं, हम इस तरह के ईश्वर के साथ लड़ने को तैयार हैं। और दूसरे, इस तरह के ईश्वर का अस्तित्व अयौक्तिक और असम्भव है। तुम लोग अनायास ही यह समझ सकते हो। जो लोग संसार का रचना-कौशल देखकर उसके एक परमकुशल निर्माता के अस्तित्व की कल्पना करते हैं, हमारे लिए यह उचित नहीं कि उनकी युक्तियों के दोषों की आलोचना करें—क्षणिक विज्ञानवादियों ने उनके सम्पूर्ण युक्तिजाल का खण्डन कर डाला है। अतएव व्यक्तिविशेष ईश्वर नहीं टिक सकते।

सत्य, एकमात्र सत्य अद्वैतवादियों का लक्ष्य है। "सत्यमेव जयते नानृतं सत्येनैव पन्था विततो देवयानः"*—"सत्य ही की विजय होती है, मिथ्या को कभी विजय नहीं मिलती, सत्य से ही देवयानमार्ग की प्राप्ति होती है।" सत्य की पताका सभी उड़ाया करते हैं, किन्तु यह केवल दुर्बलों को पददलित करने के लिए। तुम अपने ईश्वरविषयक द्वैतवादात्मक विचार

* मुण्डकोपनिषद्, ३-१-६

लेकर किसी बेचारे प्रतिमापूजक के साथ विवाद करने जा रहे हो, सोच रहे हो, तुम बड़े युक्तिवादी हो, उसे अनायास ही परास्त कर सकते हो; यदि वह उलटे तुम्हारे ही व्यक्तिविशेष ईश्वर को उड़ा दे—उसे काल्पनिक कहे, तो फिर तुम्हारी क्या दशा हो? तब तुम अपने प्रतिद्वन्द्वी को नास्तिक नाम से पुकार-पुकारकर चिल्लाते हो—ऐसा तो दुर्बल मनुष्य सदा ही किया करते हैं—जो मुझे परास्त करेगा वह घोर नास्तिक है! यदि युक्तिवादी होना चाहते हो तो आदि से अन्त तक युक्तिवादी ही बने रहो, और अगर न रह सको तो तुम अपने लिए जितनी स्वाधीनता चाहते हो उतनी ही दूसरे को भी क्यों नहीं देते? तुम इस तरह के ईश्वर का अस्तित्व कैसे प्रमाणित करोगे? दूसरी ओर, वह एक तरह अप्रमाणित किया जा सकता है। ईश्वर के अस्तित्व के सम्बन्ध में कोई प्रमाण नहीं, बल्कि नास्तित्व के सम्बन्ध में कुछ प्रमाण हैं भी। तुम्हारा ईश्वर, उनके गुण, द्रव्य-स्वरूप असंख्य जीवात्मा, प्रत्येक जीवात्मा ही व्यक्ति है, ये सब लेकर तुम उसका अस्तित्व कैसे प्रमाणित कर सकते हो? तुम व्यक्ति हो किस विषय में? देह के सम्बन्ध में तुम व्यक्ति हो ही नहीं, क्योंकि इस समय प्राचीन बौद्धों की अपेक्षा तुम्हें और अच्छी तरह मालूम है कि जो जड़राशि कभी सूर्य में रही होगी, वही तुममें आ गई है, और वही तुम्हारे भीतर से निकलकर वनस्पतियों में चली जा सकती है। इस तरह तुम्हारा व्यक्तित्व कहाँ रह जाता है? तुम्हारे भीतर आज रात को एक तरह का विचार है तो कल सुबह को दूसरी तरह का। तुम उसी रीति से अब विचार नहीं करते जिस रीति से बचपन में करते थे। तो फिर तुम्हारा व्यक्तित्व कहाँ रह जाता है? यह मत कहो कि ज्ञान में ही तुम्हारा व्यक्तित्व है—ज्ञान अहंतत्व मात्र है और यह तुम्हारे प्रकृत अस्तित्व के एक बहुत छोटे अंश में व्याप्त है। जब मैं तुमसे बातचीत करता हूँ तब मेरी सभी इन्द्रियाँ काम करती रहती हैं, परन्तु उनके सम्बन्ध में मैं कुछ नहीं जान सकता। यदि वस्तु की सत्ता का प्रमाण ज्ञान

ही हो तो कहना पड़ेगा कि उनका (इन्द्रियों का) अस्तित्व नहीं है, क्योंकि मुझे उनके अस्तित्व का ज्ञान नहीं रहता। तो अब तुम अपने व्यक्तिविशेष ईश्वर की कल्पनाएँ लेकर कहाँ रह जाते हो? इस तरह का ईश्वर तुम कैसे प्रमाणित कर सकते हो?

फिर और, बौद्ध खड़े होकर यह घोषणा करेंगे कि यह केवल अयौक्तिक ही नहीं, किन्तु इस तरह का विश्वास नीतिविरुद्ध भी है, क्योंकि वह मनुष्य को कापुरुष बन जाना और बाहर से सहायता की प्रार्थना करना सिखलाता है—इस तरह कोई भी तुम्हारी सहायता नहीं कर सकता। यह जो ब्रह्माण्ड है इसका निर्माण मनुष्य ने ही किया है। तो फिर बाहर क्यों एक काल्पनिक व्यक्तिविशेष पर विश्वास करते हो जिसे न कभी देखा, न जिसका कभी अनुभव किया अथवा जिससे न कभी किसीको कोई सहायता मिली? क्यों फिर अपने को कापुरुष बना रहे हो और अपनी सन्तानों को सिखलाते हो कि कुत्ते की तरह हो जाना मनुष्य की सर्वोच्च अवस्था है, और चूँकि हम कमज़ोर, अपवित्र और संसार में अत्यन्त हेय और अपदार्थ हैं, इसलिए इस काल्पनिक सत्ता के सामने घुटने टेककर बैठ जाना चाहिए? दूसरी ओर, बौद्ध तुम्हें कहेंगे, तुम अपने को इस तरह कहकर केवल झूठ ही नहीं कहते, किन्तु तुम अपनी सन्तानों के लिए घोर पाप का संचय कर रहे हो; क्योंकि, स्मरण रहे, मनुष्य जैसा सोचते हैं, वैसा ही हो जाते हैं। अपने सम्बन्ध में तुम जैसा कहोगे, क्रमशः तुम्हारा वैसा ही विश्वास हो जायेगा। भगवान बुद्ध की पहली बात यह है—'तुमने अपने सम्बन्ध में जो कुछ सोचा है, तुम वही हुए हो; भविष्य में जो कुछ सोचोगे वैसे ही होगे।' यदि यह सत्य है तो कभी यह मत सोचना कि तुम कुछ भी नहीं हो, और जब तक तुम किसी दूसरे की—जो यहाँ नहीं रहता, मेघों में रहता है—सहायता नहीं पाते तब तक कुछ नहीं कर सकते, ऐसा भी मत सोचना। इस तरह सोचने से उसका फल यह होगा कि तुम दिन दिन कमज़ोर होते जाओगे। 'हम महा

अपवित्र हैं, हे प्रभो, हमें पवित्र करो'—इस तरह कहते कहते अपने को इतना कमज़ोर कर डालोगे कि उससे सब तरह के पाप क्रमशः हाजिर हो जायेंगे। बौद्ध कहते हैं, प्रत्येक समाज में जिन पापों को देखते हो, उसमें नब्बे फी सदी बुराइयाँ इसी व्यक्तिविशेष ईश्वर की धारणा के कारण उत्पन्न हुई हैं; मनुष्य-जीवन का एकमात्र लक्ष्य अर्थात् ईश्वर के सामने अपने को कुत्ते की तरह बना डालना, वास्तव में मनुष्यजाति की एक भयानक धारणा है। बौद्ध वैष्णवों से कहते हैं, यदि तुम्हारा आदर्श, तुम्हारे जीवन का लक्ष्य और उद्देश्य भगवान के वैकुण्ठ-नामक स्थान में जाकर अनन्त काल तक हाथ जोड़कर उनके सामने खड़ा रहना ही है, तो इससे आत्महत्या कर डालना अधिक अच्छा है। बौद्ध कह सकते हैं, इस भाव से बचने के लिए निर्वाण या विनाश की चेष्टा वे कर रहे हैं।

मैं तुम लोगों के सामने ठीक बौद्धों की ही तरह ये बातें कह रहा हूँ; कारण, आजकल लोग कहा करते हैं कि अद्वैतवाद से लोगों में दुर्नीति घुस जाती है। इसलिए दूसरे पक्ष के लोगों का जो कुछ कहना है, वही मैं तुमसे कहने की चेष्टा कर रहा हूँ। हमें दोनों पक्षों पर निर्भीक भाव से विचार करना है। पहले हमें मालूम हुआ है, एक व्यक्तिविशेष ईश्वर ने संसार की सृष्टि की—जो कि प्रमाणित नहीं किया जा सकता; क्या एक बालक भी आजकल इस बात पर विश्वास कर सकता है? चूँकि एक कुम्भकार ने घट का निर्माण किया, अतएव एक ईश्वर ने इस जगत् की सृष्टि की! यदि ऐसा ही हो तो कुम्भकार भी एक ईश्वर ही हुआ! और यदि कोई तुमसे कहे कि सिर और हाथों के न रहने पर भी वह काम करता है, तो तुम उसे पागलखाने में रखने की ठानोगे। तुम्हारे ईश्वर ने—इस संसार के सृष्टिकर्ता व्यक्तिविशेष ईश्वर ने, जिसके पास तुम जीवन भर से चिल्ला रहे हो, क्या कभी तुम्हें कोई सहायता दी? और यदि दी है तो तुमने उससे कैसी सहायता पाई? आधुनिक विज्ञान तुम लोगों के सामने यह एक और प्रश्न पेश करके उसका उत्तर देने के लिए आह्वान करता है।

वे प्रमाणित कर देंगे कि इस तरह की जो सहायता तुम्हें मिली है, उसे तुम अपनी ही चेष्टा से प्राप्त कर सकते थे। इस तरह के रोदन से वृथा शक्ति-क्षय करने की तुम्हारे लिए कोई आवश्यकता न थी, इस तरह न रोकर तुम अपना उद्देश्य अनायास ही प्राप्त कर सकते थे। और भी, हम लोग पहले देख चुके हैं कि इस तरह के व्यक्तिविशेष ईश्वर की धारणा से ही पौरोहित्य का राज्य था, और जब तक वह मिथ्या भाव जड़ समेत नष्ट नहीं होता, बौद्ध कहते हैं, तब तक इस अत्याचार की निवृत्ति नहीं हो सकती। जब तक मनुष्य की यह धारणा रहती है कि किसी दूसरे प्रबल पुरुष के सामने उसे विनीत भाव से रहना होगा, तब तक पुरोहित का अस्तित्व अवश्य रहेगा। वे कुछ अधिकार या दावे पेश करेंगे, ऐसी चेष्टा करेंगे जिससे मनुष्य उनके सामने सिर झुकाए, और बेचारे गरीब मनुष्य भी अपनी बातें ईश्वर के कानों तक पहुँचाने के लिए पुरोहितों के प्रार्थी बने रहेंगे। तुम लोग ब्राह्मणजाति को निर्मूल कर सकते हो, परन्तु इस बात पर ध्यान रखना कि जो लोग उन्हें निर्मूल करेंगे, वे ही उनके स्थान पर अपना अधिकार जमायेंगे, और वे फिर ब्राह्मणों की अपेक्षा अधिक अत्याचारी हो जायेंगे। कारण, पूर्वोक्त ब्राह्मणों में फिर भी कुछ सहृदयता और उदारता है, परन्तु ये स्वयंसिद्ध ब्राह्मण सदा से ही बड़े दुराचारी हुआ करते हैं। भिक्षुक को यदि कुछ धन मिल जाय तो वह सम्पूर्ण संसार को एक तिनके के बराबर समझता है। अतएव जब तक इस व्यक्तिविशेष ईश्वर की धारणा रहेगी, तब तक ये सब पुरोहित भी रहेंगे—और समाज में किसी तरह की उच्च नीति के अभ्युदय की आशा की ही नहीं जा सकेगी। पौरोहित्य और अत्याचार सदा एक साथ रहेंगे। क्यों लोगों ने इस ईश्वर की कल्पना की? कारण इसका यह है कि प्राचीन समय में कुछ बलवान मनुष्यों ने साधारण मनुष्यों को अपने वश में लाकर उनसे कहा था, तुम्हें हमारा आदेश मानकर चलना होगा, नहीं तो हम तुम्हारा नाश कर डालेंगे। ऐसे ही मनुष्यों ने इस तरह के व्यक्तिविशेष ईश्वर की कल्पना की थी—इसका

कोई दूसरा कारण नहीं—"महद्भयं वज्रमुद्यतम्"—एक ऐसे पुरुष हैं, जो हाथ में सदा ही वज्र लिए रहते हैं, और जो उनकी आशा का उल्लंघन करता है, उसका वे तत्काल विनाश कर डालते हैं।

अस्तु। बौद्ध कहते हैं, तुम युक्तिवादी होकर कहते हो, सब कुछ कर्मों के फल से हुआ है। तुम लोग असंख्य जीवात्माओं के सम्बन्ध में विश्वास करते हो, और तुम्हारे मत में इन जीवात्माओं का न जन्म है, न मृत्यु। यहाँ तक तो तुम्हारी बात युक्तिपूर्ण और न्यायानुमोदित रही, इसमें कोई सन्देह नहीं। कारण के रहने ही से कार्य होगा; वर्तमान समय में जो कुछ घटित हो रहा है, वह अतीत कारण का फल है, फिर वही वर्तमान भविष्य में दूसरा फल प्रसव करेगा। हिन्दू कहते हैं, कर्म जड़ है, चैतन्य नहीं; अतएव कर्म का फल लाभ करने के लिए किसी तरह का चैतन्य चाहिए। इस पर बौद्ध कहते हैं, वृक्ष से फललाभ करने के लिए क्या किसी तरह के चैतन्य की जरूरत पड़ती है? यदि बीज गाड़कर पौधे में पानी सींचा जाय, तो उसके फल लगने में तो किसी तरह के चैतन्य की आवश्यकता नहीं होती। तुम कह सकते हो, ऐसे काम आदि-चैतन्य की शक्ति से हुआ करते हैं, किन्तु जब कि जीवात्मा ही चैतन्य है, तो, अन्य चैतन्य मानने की क्या आवश्यकता है? यदि जीवात्माओं में चैतन्य रहे, तो ईश्वर मानने की क्या आवश्यकता है। अवश्य बौद्ध जीवात्मा के अस्तित्व पर विश्वास नहीं करते किन्तु जैन जीवात्मा पर तो विश्वास करते हैं, परन्तु ईश्वर नहीं मानते। हे द्वैतवादियो, अब कहो, तुम्हारी युक्ति कहाँ रही? तुम्हारी नीति की भित्ति कहाँ रह गई? जब कि तुम अद्वैतवाद पर दोषारोप करके कहते हो, अद्वैतवाद से दुर्नीति की सृष्टि होगी, तो तुम्हें चाहिए कि तुम एक बार भारत के द्वैतवादी सम्प्रदायों का इतिहास पढ़कर देखो—अदालत में द्वैतवादियों की नीति-परायणता का कैसा प्रमाण पाते हो, उस पर भी आलोचना करके देखो। यदि बीस हजार अद्वैतवादी बदमाश हों, तो द्वैतवादी भी बीस हजार बदमाश देखोगे। संक्षेप में यही कहना है कि द्वैतवादी बदमाशों ही

की संख्या अधिक होगी, क्योंकि अद्वैतवाद समझने के लिए उनकी अपेक्षा कुछ अधिक अच्छी चित्तवृत्ति के मनुष्य की आवश्यकता होती है; और उन्हें भय दिखलाकर उनसे सहज ही कोई काम निकाल लेना ज़रा मुश्किल भी है। तो अब तुम्हारे लिए रह क्या जाता है? बौद्धों के वारों से बचने के लिए क्या उपाय करोगे? तुम वेदों के वाक्य उद्धृत कर सकते हो, परन्तु बौद्ध तो वेद मानते नहीं। वे कहेंगे, हमारे त्रिपिटक कुछ और कहते हैं, वे अनादि और अनन्त हैं—यहाँ तक कि वे बुद्ध के लिखे भी नहीं, क्योंकि बुद्ध स्वयं कहते हैं, हम उनकी आवृत्तिमात्र करते हैं—किन्तु हैं वे सनातन। बौद्ध यह भी कहते हैं कि तुम्हारे वेद मिथ्या हैं, हमारे त्रिपिटक ही ठीक ठीक वेद हैं; तुम्हारे वेद ब्राह्मण पुरोहितों द्वारा कल्पित किये हुए हैं—उन्हें दूर करो। अब तुम कैसे बच सकते हो?

बौद्धों के युक्तिजाल से बाहर निकलने का उपाय यह है। बौद्धों से जो दार्शनिक विरोध होता है, वह केवल द्रव्य और गुण को एक दूसरे से भिन्न मानने के लिए। परन्तु अद्वैतवादी कहते हैं—नहीं, वे जुदे-जुदे नहीं हैं—द्रव्य और गुण में कोई विभिन्नता नहीं है। तुम्हें 'सर्प-रज्जु-भ्रम' वाला प्राचीन दृष्टान्त स्मरण होगा। जब तुम सर्प देखते हो, तब तुम्हें रज्जु बिलकुल ही नहीं दीख पड़ती—उस समय रज्जु का अस्तित्व ही लुप्त हो जाता है। द्रव्य और गुण के रूप में किसी वस्तु के अलग अलग हिस्से करना दार्शनिकों के मस्तिष्क से निकाला गया एक दार्शनिक जाल मात्र है, वास्तव में उसकी कोई जड़ नहीं, द्रव्य और गुण के नामों से वास्तव में किसी पदार्थ का अस्तित्व नहीं है। यदि तुम प्राकृत मनुष्य हो तो तुम केवल गुणराशि देखोगे, और यदि तुम कोई बड़े योगी हो तो तुम द्रव्य का ही अस्तित्व देखोगे; परन्तु दोनों को एक ही समय में तुम कदापि नहीं देख सकते। अतएव, हे बौद्ध, द्रव्य और गुण को लेकर तुम जो विवाद कर रहे हो,

अद्वैतवाद द्वारा बौद्धमत और द्वैतवाद का सामञ्जस्य।

सच तो यह है कि वह वेतुनियाद है; परन्तु, यदि द्रव्य गुणरहित है तो केवल एक ही द्रव्य का अस्तित्व सिद्ध होता है। यदि तुम आत्मा से गुणराशि उठा लो और यह दिखाओ कि गुणराशि का अस्तित्व मन में ही है, आत्मा पर उनका आरोप मात्र किया गया है, तो दो आत्मा भी नहीं रह जाते, क्योंकि एक आत्मा से दूसरी आत्मा की विशेषता गुणों ही की बदौलत सिद्ध होती है। तुम्हें कैसे मालूम होता है कि एक आत्मा दूसरी आत्मा से पृथक् है?—कुछ भेदात्मक लिंगों, कुछ गुणों के कारण। और जहाँ गुणों की सत्ता नहीं है वहाँ कैसे भेद रह सकता है? अतः आत्मा दो नहीं, आत्मा एक ही है, और तुम्हारा परमात्मा अनावश्यक है, वह आत्मा ही है। इसी एक आत्मा को परमात्मा कहते हैं, इसे जीवात्मा और दूसरे नामों से भी पुकारते हैं। और हे सांख्य तथा अपर द्वैतवादियो, तुम लोग कहते रहते हो—आत्मा सर्वव्यापी विभु है, इस पर तुम लोग किस तरह अनेक आत्माओं का अस्तित्व स्वीकार करते हो? अनन्त भी क्या कभी दो हो सकते हैं? अनन्त सत्ता एक होना ही सम्भव है। एक ही अनन्त आत्मा है, और सब उसीके प्रकाश हैं।

इसके उत्तर में बौद्ध मौन हैं, परन्तु अद्वैतवादी केवल बौद्धों को परास्त करके चुप नहीं रह जाते। दुर्बल मतों की तरह वे केवल दूसरे मतों की समालोचना करके ही नहीं निरस्त होते। अद्वैतवादी तभी उन सभी मतों की समालोचना करते हैं जब वे उनकी बगल घिसकर खड़े होते और उन्हें गिराने की चेष्टा करते हैं। इसके बाद ही वे अपना सिक्का जमाते हैं। एकमात्र अद्वैतवाद ही ऐसा है जो दूसरे मतों का खण्डन तो करता है, परन्तु दूसरों की तरह उसके खण्डन का आधार शास्त्रों की दुहाई देना ही नहीं है। अद्वैतवादियों की युक्ति इस प्रकार है:—वे कहते हैं, तुम संसार को एक अविराम प्रवाह मात्र कहते हो; ठीक है, व्यष्टि में सब गतिशील हैं भी, तुममें भी गति है और यह मेज—इसकी भी गति है, यह भी सदा परिवर्तित हो रही है; गति सब जगह है,

अद्वैतवादी का खुद का सिद्धान्त।

इसीलिए इसका नाम संसार है (सृ धातु का अर्थ 'सरकना' या गति ही होता है), इसलिए इसका नाम जगत् है (गम् धातु क्विप्—जगत्)— अविराम गति। यदि यही है तो हमारे संसार में व्यक्तित्व के नाम से कुछ भी नहीं रह जाता; कारण व्यक्तित्व के नाम से ऐसा कुछ सूचित होता है, जो अपरिणामी है। परिणामशील व्यक्तित्व हो ही नहीं सकता; यह स्वविरोधी वाक्य है, इसलिए हमारे इस क्षुद्र संसार में व्यक्तित्व के नाम से कुछ भी नहीं रह जाता। विचार, भाव, मन, शरीर, जीव, जन्तु— इनका सदा ही परिणाम होता रहता है। अस्तु। अब सम्पूर्ण संसार को एक समष्टि के रूप में ग्रहण करो। समष्टि के रूप से क्या इस संसार का परिणाम या गति हो सकती है? कदापि नहीं। किसी अल्पगतिशील या सम्पूर्ण गतिहीन वस्तु से मिलान करने पर ही गति का निश्चय होता है। अतः समष्टि के रूप से संसार गति और परिणाम से रहित है। यहाँ मालूम हो जाता है कि जब तुम अपने को सम्पूर्ण संसार से अभिन्न समझोगे, जब 'मैं ही विश्वब्रह्माण्ड हूँ' यह अनुभव होगा, तभी— केवल तभी तुम्हारे यथार्थ व्यक्तित्व का विकास होगा। यही कारण है कि अद्वैतवादी कहते हैं, जब तक द्वैत है, तब तक भय के छूटने का कोई उपाय नहीं है। जब कोई दूसरी वस्तु दिखलाई नहीं पड़ती, किसी भिन्न भाव का अनुभव नहीं होता, जब केवल एक ही सत्ता रह जाती है, तभी भय दूर होता है, तभी मनुष्य मृत्यु के पार— संसार के पार जा सकता है। अद्वैतवाद हमें यह शिक्षा देता है कि मनुष्य का यथार्थ व्यक्तित्व है समष्टि-ज्ञान में, व्यष्टि-ज्ञान में नहीं। जब तुम अपने को सम्पूर्ण जगत्-स्वरूप समझोगे तभी तुम्हें प्रकृत अमृतत्व की प्राप्ति होगी। तभी तुम निर्भय और अमृतस्वरूप हो सकोगे, जब विश्व-ब्रह्माण्ड और तुम एक हो जाओगे, और तभी जिसे तुम विश्व विराट कहते हो वह और जिसे परमात्मा कहते हो वह, जिसे सत्ता कहते हो वह, और जिसे पूर्ण कहते हो वह, सब एक हो जायेंगे। हमारी तरह मनोवृत्तिवाले जो मनुष्य हैं वे एक ही अखण्ड सत्ता को सूर्य, चन्द्र और ताराओं से युक्त यह विश्व-ब्रह्माण्ड देखते

है। जो लोग कुछ और अच्छे कर्म करते हैं और उन्हीं सत्कर्मों के बल से जिनकी मनोवृत्ति दूसरे ही ढंग की हो जाती है, वे मृत्यु के पश्चात् इसी ब्रह्माण्ड को इन्द्रादि देवों का स्वर्गलोक देखते हैं, और जो लोग सिद्ध हो गये हैं वे पृथ्वी, स्वर्ग या कोई दूसरा लोक नहीं देखते, उनके लिए यह ब्रह्माण्ड अन्तर्हित हो जाता है, उसकी जगह एकमात्र ब्रह्म ही विराजमान रहते हैं।

क्या हम इस ब्रह्म को जान सकते हैं? मैंने तुमसे पहले ही संहिता में अनन्त के वर्णन की कथा कही है। यहाँ उसके ठीक विपरीत है—यहाँ अन्तर्जगत् के अनन्त ज्ञान की चेष्टा है। संहिता में बहिर्जगत् के अनन्त का वर्णन है। यहाँ चिन्ताजगत्, भावजगत् के अनन्त का वर्णन है। संहिता में अस्तिभाव का बोध करानेवाली भाषा में अनन्त के वर्णन की चेष्टा हुई थी; यहाँ उस भाषा से काम नहीं निकला, नास्तिभावात्मक भाषा में अनन्त के वर्णन का प्रयत्न किया गया। विश्वब्रह्माण्ड यही है। माना कि यह ब्रह्म है। क्या हम इसे जान सकते हैं? नहीं—नहीं जान सकते। तुम्हें इस विषय को स्पष्ट रीति से फिर समझना होगा। तुम्हारे मन में बार बार इस सन्देह का आविर्भाव होगा कि यदि यह ब्रह्म है, तो किस तरह हम इसे जान सकते हैं? "विज्ञातारमरे केन विजानीयात्"*—'हे मैत्रेयी, विज्ञाता को किस तरह जानोगी?' आँखें सब वस्तुओं को देखती हैं, पर क्या वे अपने को भी देख सकती हैं। नहीं देख सकतीं, कारण, ज्ञान की क्रिया ही एक नीची अवस्था है। ऐ आर्यसन्तानो, तुम्हें यह विषय अच्छी तरह याद रखना चाहिए, कारण, इस तत्व के बहुत से जानने लायक तथ्य हैं। तुम्हारे निकट पश्चिम के जो सब प्रलोभन आया करते हैं, उनकी दार्शनिक बुनियाद एक यही है कि इन्द्रिय-ज्ञान से बढ़कर दूसरा ज्ञान नहीं है; परन्तु पूर्व का भाव कुछ और है। हमारे वेदों में है, यह वस्तु-ज्ञान वस्तु की अपेक्षा नीचे दर्जे का है, कारण, ज्ञान के अर्थ से सदा ही घेरा

ब्रह्म जाना जाता है या नहीं।

---

* बृहदारण्यक उपनिषद्, २-४-१४

हुआ या ससीम भाव ही समझ में आता है। जब कभी तुम किसी वस्तु को जानना चाहते हो, तभी वह तुम्हारे मन से सीमाबद्ध हो जाती है। पूर्वकथित दृष्टान्त में जिस तरह शुक्ति से मुक्ता बनती है, उस पर विचार करो, तभी समझोगे कि ज्ञान का अर्थ सीमाबद्ध करना कैसे हुआ। कोई वस्तु चुनकर उसे तुमने स्वानुभूति के घेरे में डाल लिया इसीसे उसका सम्पूर्ण भाव समझ में नहीं आया। यही बात सब ज्ञान के सम्बन्ध में ही कही जा सकती है। यदि ज्ञान का अर्थ सीमाबद्ध करना ही हो, तो क्या उस अनन्त के सम्बन्ध में भी तुम ऐसा कर सकते हो? जो सब ज्ञानों का उपादान (आधार) है, जिसे छोड़कर तुम किसी तरह का ज्ञान अर्जन नहीं कर सकते, जिसके कोई गुण नहीं हैं, जो सम्पूर्ण संसार और हम लोगों की आत्मा का साक्षीस्वरूप है, उसके सम्बन्ध में तुम वैसा कैसे कर सकते हो—उसे तुम कैसे सीमा में ला सकते हो? उसे तुम कैसे जान सकते हो? किस उपाय से उसे बाँधोगे?

हरएक वस्तु, यह सम्पूर्ण संसार-प्रपञ्च, उस अनन्त के जानने की वृथा चेष्टा मात्र है। मानो यह अनन्त आत्मा अपने मुखावलोकन की चेष्टा कर रही है, और सर्वोच्च देवता से लेकर निम्नतम प्राणी तक, सभी, मानो उसके मुख का प्रतिबिम्ब ग्रहण करने के दर्पण हैं। एक एक करके एक एक दर्पण में अपने मुख का प्रतिबिम्ब देखने की चेष्टा करके, उसे उपयुक्त न देख अन्त में मनुष्य-देह में वह आत्मा समझती है कि यह सब ससीम है, और अनन्त कभी सान्त के भीतर अपने को प्रकाशित नहीं कर सकता। उसी समय पीछे की ओर की यात्रा शुरू होती है, और इसीको त्याग या वैराग्य कहते हैं। इन्द्रियों से पीछे हट जाओ, इन्द्रियों की ओर मत जाओ, यही वैराग्य का मूलमन्त्र है, यही सब तरह की नीतियों का मूलमन्त्र है, कारण, तुम्हें स्मरण रखना चाहिए, तपस्या से ही संसार की सृष्टि हुई है—त्याग से ही संसार की उत्पत्ति हुई है। और जितना ही पीछे की ओर तुम जाते रहोगे उसी क्रम से

वैराग्य का मूल तत्व।

तुम्हारे सामने भिन्न भिन्न रूप, भिन्न-भिन्न देह प्रकाशित होते रहेंगे। एक एक करके उनका त्याग होगा; अन्त में, तुम वास्तव में जो कुछ हो, वही रह जायेगा। यही मोक्ष है।

यह तत्व हमें समझ लेना चाहिए—"विज्ञातारमरे केन विजानीयात्"—विज्ञाता को कैसे जानोगे? ज्ञाता को कोई जान नहीं सकता, क्योंकि यदि वह समझ में आने योग्य होता, तो वह कभी ज्ञाता न रह जाता। यदि तुम, आइने में अपनी आँखों का बिम्ब देखो, तो तुम उन्हें अपनी आँखें नहीं कह सकते, वे कुछ और ही हैं, वे बिम्बमात्र हैं। अब बात यह है कि यदि

साक्षीस्वरूप का आनंद-संभोग।

यह आत्मा—यह अनन्त सर्वव्यापी पुरुष साक्षीमात्र हो, तो इससे क्या हुआ? यह हमारी तरह न चल फिर सकता है, न जीता है, न संसार का सम्भोग ही कर सकता है। यह बात लोगों की समझ में नहीं आती कि जो साक्षीस्वरूप है, वह किस तरह आनन्द का उपभोग कर सकता है। "हे हिन्दुओ, 'तुम सब साक्षीस्वरूप हो,' इस मत से तुम लोग निष्क्रिय और अकर्मण्य हो गये हो"—यह बात लोग कहा करते हैं। उनकी इस बात का उत्तर यह है, 'जो साक्षीस्वरूप है वही वास्तव में आनन्दोपभोग कर सकता है।' अगर कहीं कुश्ती लड़ी जाती है तो अधिक आनन्द किन्हें मिलता है?—जो लोग कुश्ती लड़ रहे हैं उन्हें, या जो दर्शक हैं उन्हें? इस जीवन में जितना ही तुम किसी विषय में साक्षीस्वरूप हो सकोगे उतना ही तुम्हें उससे अधिक आनन्द मिलता रहेगा। यथार्थ आनन्द यही है और इस युक्ति से तुम्हारे लिए अनन्त आनन्द की प्राप्ति तभी सम्भव है, जब तुम इस विश्व-ब्रह्माण्ड के साक्षीस्वरूप हो सको। तभी तुम मुक्त पुरुष हो सकोगे। जो साक्षीस्वरूप है, वही निष्काम भाव से, स्वर्ग जाने की इच्छा न रख, निन्दा-स्तुति को समदृष्टि से देखता हुआ कार्य कर सकता है। जो साक्षीस्वरूप है, आनन्द वही पा सकता है, दूसरा नहीं।

अद्वैतवाद के नैतिक भाग की आलोचना कीजिये, तो उसके दार्शनिक तथा नैतिक भाग के भीतर एक और विषय आ जाता है, वह मायावाद है। अद्वैतवाद के भीतर एक एक विषय के समझने में ही वर्षों लग जाते हैं, समझाने में तो और देर लगती है; इसलिए इसका उल्लेख मात्र करके मुझे निरस्त होना पड़ेगा। इस मायावाद का समझना सदा से ही बड़ा कठिन है। मैं तुमसे संक्षेप में कहता हूँ, मायावाद वास्तव में कोई वाद या मतविशेष नहीं है—वह देश, काल और निमित्त की समष्टि मात्र है—और भी संक्षेप में कहें, तो उसे नाम-रूप कह सकते हैं।

समुद्र से समुद्र की तरंगों का भेद सिर्फ नाम और रूप में है, और इस नाम और रूप की तरंगों से पृथक् कोई सत्ता भी नहीं है, नाम और रूप दोनों तरंगों के साथ ही हैं। तरंगें विलीन हो जा सकती हैं;

मायावाद।

और तरंगों में जो नाम और रूप हैं, वे भी चाहे चिरकाल के लिए विलीन हो जायँ, तथापि पानी पहले की तरह सममात्रा में ही बना रहेगा। इस प्रकार यह माया ही तुममें और हममें, पशुओं में और मनुष्य में, देवताओं में और मनुष्यों में भेदभाव पैदा करती है। सच तो यह है कि यह माया ही है जिसने आत्मा को लाखों प्राणियों में बाँध रखा है और यह माया नाम और रूप के सिवा और कुछ नहीं है। यदि उनका त्याग कर दिया जाय, नाम और रूप दूर कर दिये जायँ, तो वह सदा के लिए अन्तर्हित हो जायेगी, तब तुम वास्तव में जो कुछ हो वही रह जाओगे। माया उसे ही कहते हैं, और वह कोई मत भी नहीं है, वह संसार की घटनाओं का स्वरूपवर्णन मात्र है।

जब कोई वास्तववादी (Realist) कहता है, इस मेज का अस्तित्व है तब उसके कहने का अभिप्राय यह है कि उस मेज की अपनी एक खास निरपेक्ष सत्ता है,—उसका अस्तित्व संसार की किसी भी दूसरी वस्तु पर अवलम्बित नहीं, और यदि यह सम्पूर्ण विश्व नष्ट हो जाय, तो भी वह ज्यों की त्यों ही बनी रहेगी। कुछ थोड़ा सा ज्ञान होने पर ही उसकी समझ में आ

जायेगा कि ऐसा कभी हो नहीं सकता। इस इन्द्रिय-ग्राह्य संसार की सभी चीज़ें एक दूसरी पर अवलम्बित हैं, वे एक दूसरी की अपेक्षा रखती हैं। हमारे वस्तु-ज्ञान के तीन सोपान हैं। पहला यह है कि प्रत्येक वस्तु स्वतन्त्र है और एक दूसरी से अलग है; दूसरा यह कि सभी वस्तुओं में पारस्परिक सम्बन्ध है; और अन्तिम सोपान यह है कि वस्तु एक ही है, जिसे हम लोग अनेक रूपों में देख रहे हैं।

वस्तुज्ञान का त्रिविध सोपान।

ईश्वर के सम्बन्ध में अज्ञ मनुष्य की पहली धारणा यह होती है कि वह इस ब्रह्माण्ड के बाहर कहीं रहता है,—उस समय का ईश्वरविषयक ज्ञान बिल्कुल मनुष्य के आकार का होता है, अर्थात् जो कुछ मनुष्य करते हैं ईश्वर भी वही करता है, भेद केवल यही है कि ईश्वर के कार्य अधिक बड़े पैमाने पर तथा अधिक उच्च प्रकार के होते हैं। हम लोग पहले समझ चुके हैं कि ऐसा ईश्वर थोड़ी ही बातों में कैसे अयौक्तिक और अपर्याप्त प्रमाणित किया जा सकता है। ईश्वर के सम्बन्ध में दूसरी धारणा यह है कि एक शक्ति है, और उसीका सर्वत्र प्रकाश है। इसे वास्तव में हम सगुण ईश्वर कह सकते हैं, चण्डी में इसी ईश्वर की बात कही गई है। परन्तु इस पर ध्यान रहे कि यह ईश्वर केवल सम्पूर्ण कल्याणकारी गुणों का ही आधार नहीं है, ईश्वर और शैतान दो नहीं रह सकते, एक ही ईश्वर का अस्तित्व मानना पड़ेगा और हिम्मत बाँधकर भला और बुरा उसी ईश्वर पर मढ़ना होगा, और यह युक्ति-सम्मत सिद्धान्त मान लेने पर जो कुछ ठहरता है, उसे भी लेना होगा।

ईश्वरधारणा का त्रिविध सोपान।

"या देवी सर्वभूतेषु शान्तिरूपेण संस्थिता।
नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमो नमः॥
या देवी सर्वभूतेषु शुद्धिरूपेण संस्थिता।
नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमो नमः॥"*

* चण्डी, ५।४७-९; ५।७४-६

"शान्ति और शुद्धि रूप से जो सर्वभूतों में अवस्थित हैं, मैं उन्हें नमस्कार करता हूँ।" परन्तु उन्हें केवल शान्तिस्वरूप कहने से काम नहीं चलेगा, उन्हें सर्वस्वरूप कहने से उसका फल चाहे जैसा हो, उसे लेना ही होगा। "हे गार्गि, इस संसार में जो कुछ आनन्द देख रही हो, सब उसीका अंश है।" इसकी सहायता से तुम हरएक काम कर सकते हो। मेरे सामने के इस प्रकाश में चाहे तुम किसी गरीब को हज़ार रुपये गिन दो और चाहे कोई दूसरा इसी प्रकाश में तुम्हारा जाली हस्ताक्षर करे, प्रकाश दोनों ही के लिए बराबर है। यह हुआ ईश्वर-ज्ञान का दूसरा सोपान। तीसरा सोपान यह है कि ईश्वर न तो प्रकृति के बाहर ही है और न भीतर ही, बल्कि ईश्वर, प्रकृति, आत्मा, संसार — ये सब पर्यायवाची शब्द हैं। दो वस्तुएँ वास्तव में हैं ही नहीं, कुछ दार्शनिक शब्दों ने ही तुम्हें धोखा दिया है। तुम सोच रहे हो, तुम शरीर भी हो और आत्मा भी हो, और एक साथ ही तुम शरीर और आत्मा बन गये हो। यह कैसे हो सकता है? मन ही मन इसकी जाँच करो। यदि तुम लोगों में कोई योगी होंगे तो वे अपने को चैतन्यस्वरूप सोचते होंगे, उनके लिए शरीर है ही नहीं। यदि तुम साधारण मनुष्य होगे तो तुम अपने को देह सोचोगे, उस समय चैतन्य के ज्ञान का सम्पूर्ण लोप हो जायेगा। मनुष्य के देह है, आत्मा है, और भी बहुत सी चीज़ें हैं — इन सब दार्शनिक धारणाओं के रहने के कारण तुम लोग सोचते होगे कि ये सब एक ही समय में मौजूद हैं, परन्तु ऐसा नहीं, एक ही समय में एक से अधिक वस्तुओं का अस्तित्व नहीं रहता। जब तुम जड़ वस्तु देख रहे हो, तब ईश्वर की चर्चा मत करो, क्योंकि तुम केवल कार्य देख रहे हो, उसका कारण तुम्हें नहीं दिखाई पड़ता। और जिस समय तुम कारण देखोगे उस समय कार्य का लोप हो जायेगा। तब यह संसार न जाने कहाँ चला जाता है — न जाने कौन इसका ग्रास कर लेता है!

"किमपि सततबोधं केवलानन्दरूपं

निरुपममतिवेलं नित्यमुक्तं निरीहम् ।
निरवधिगगनाभं निष्कलं निर्विकल्पं
हृदि कलयति विद्वान् ब्रह्म पूर्णं समाधौ ॥
प्रकृतिविकृतिशून्यं भावनातीतभावं
समरसमसमानं मानसम्बन्धदूरम् ।
निगमवचनसिद्धं नित्यमस्मत्प्रसिद्धं
हृदि कलयति विद्वान् ब्रह्म पूर्णं समाधौ ॥
अजरममरमस्ताभाववस्तुस्वरूपं
स्तिमितसलिलराशिप्रख्यमाख्याविहीनम् ।
शमितगुणविकारं शाश्वतं शान्तमेकं
हृदि कलयति विद्वान् ब्रह्म पूर्णं समाधौ ॥" *

"ज्ञानी मनुष्य समाधि-अवस्था में अपने हृदय में अनिर्वचनीय, केवल आनन्दस्वरूप, उपमा-रहित, अपार, नित्यमुक्त, निष्क्रिय, असीम, आकाशतुल्य, अंशहीन और भेदरहित पूर्ण ब्रह्म का अनुभव करते हैं ।

"ज्ञानी मनुष्य समाधि-अवस्था में अपने हृदय में उस पूर्ण ब्रह्म का अनुभव करते हैं, जो प्रकृति की विकृति से रहित है, अचिन्त्यस्वरूप है, समभाव होने पर भी जिसकी समता करनेवाला कोई नहीं है, जिसमें किसी तरह के परिमाण का सम्बन्ध नहीं है (जो अपरिमेय है), जो वेदवाक्यों द्वारा सिद्ध है और सदा ही हमारे (ब्रह्मतत्वनिरतों के) निकट प्रसिद्ध है ।

"ज्ञानी मनुष्य समाधि-अवस्था में अपने हृदय में उस पूर्ण ब्रह्म का अनुभव करते हैं जो जरा और मृत्यु से रहित है, जो वस्तु का स्वरूप है और जिसमें कोई अभाव नहीं है, जो स्थिर जलराशि के सदृश है, जो नामरहित है, जो सत्व, रज और तम इन तीनों प्रकार के गुणविकारों से रहित, अक्षय और शान्त है ।"

* विवेकचूड़ामणि, ४०८–४०९–४१०

मनुष्य की ऐसी अवस्था भी होती है, और जब यह अवस्था आती है तब संसार विलीन हो जाता है।

अब हमने देखा कि सत्यस्वरूप ब्रह्म अज्ञात और अज्ञेय है, परन्तु अज्ञेयवादियों की दृष्टि से नहीं; हम उसे जान गये, यह कहना ही उसे छोटा कर देता है; कारण, पहले ही से तुम वही ब्रह्म हो। हमने यह भी देखा है कि एक तरीके से ब्रह्म यह टेबिल नहीं है, फिर दूसरे तरीके से वह टेबिल भी है। नाम और रूप उठा लो, फिर जो सत्य वस्तु बची रहती है, वह वही है। वह हरएक वस्तु के भीतर सत्यस्वरूप है।

"त्वं स्त्री त्वं पुमानसि
त्वं कुमार उत वा कुमारी।
त्वं जीर्णो दण्डेन वञ्चसि
त्वं जातो भवसि विश्वतोमुखः॥"*

"तुम्हीं स्त्री हो, पुरुष भी तुम्हीं हो, तुम कुमार, तुम्हीं कुमारी और तुम्हीं वृद्ध, हाथ में दण्ड लिए हुए, भ्रमण कर रहे हो; तुम सभी वस्तुओं में हो।"

अद्वैतवाद की यही कथा है। इस सम्बन्ध में कुछ बातें मैं और कहूँगा। इस अद्वैतवाद से सभी वस्तुओं का मूल तत्व मिल जाता है। हमने देखा है, युक्ति-तर्क और विज्ञान के आक्रमणों के विरोध में हम केवल इसी अद्वैतवाद को लेकर खड़े हो सकते हैं। अन्त में सारे युक्ति-विचारों को यहीं ठहरने की एक दृढ़ भूमि मिलती है। अस्तु। भारतीय वैदान्तिक अपने सिद्धान्त के पूर्ववर्ती सोपानों पर कभी दोषारोप नहीं करते, बल्कि वे अपने सिद्धान्त पर ठहरकर, उन पर नज़र डालते हुए, उनका समर्थन करते हैं; वे जानते हैं, वे सत्य है, सिर्फ उन्हें देखने में द्रष्टाओं ने थोड़ी

अद्वैतवादी का अन्यान्य वाद-समर्थन।

---

* श्वेताश्वतर उपनिषद्, ४—३

सी भूल की है—भ्रम के आधार पर उनका वर्णन किया है। वे भी वही सत्य हैं,—अन्तर इतना ही है कि वे माया के भीतर से देखे गये हैं, कुछ विकृतचित्र होने पर भी वे सत्य—केवल सत्य ही है। एक ही ब्रह्म है, जिसे अज्ञ मनुष्य प्रकृति के बाहर किसी स्थान में अवस्थित देखता है, जिसे अल्पज्ञ मनुष्य संसार का अन्तर्यामी देखता है, जिसका अनुभव ज्ञानी मनुष्य आत्म-स्वरूप या सम्पूर्ण संसार के स्वरूप में करता है। यह सब एक ही वस्तु है, एक ही वस्तु भिन्न-भिन्न भावों से दृष्टिगोचर हो रही है, माया के विभिन्न शीशों के भीतर से दिखाई दे रही है—विभिन्न मन से दिखाई दे रही है, और पृथक्-पृथक् मन से दिखलाई देने के कारण ही यह सब विभिन्नता है। केवल इतना ही नहीं, उनमें से एक भाव दूसरे में ले जाता है। विज्ञान और साधारण ज्ञान में क्या भेद है? रास्ते पर जब कभी कोई असाधारण घटना भी हो जाती है तब गँवारों से उसका कारण पूछो। दस आदमियों में से कम से कम नौ आदमी कहेंगे, यह घटना भूतों की की हुई है। वे सदा भूत ही देख रहे हैं; कारण, अज्ञान का स्वभाव ही है कार्य के बाहर कारण की खोज करना। एक रोड़ा गिरने पर अज्ञ मनुष्य कहता है, भूत या दैत्य का फेंका हुआ रोड़ा है। वैज्ञानिक कहता है वह प्रकृति का नियम है—माध्याकर्षण है।

अद्वैतवाद ही प्रकृत वैज्ञानिक धर्म है।

विज्ञान और धर्म में सर्वत्र कौनसा विरोध है? प्रचलित धर्म जितने हैं, सभी बहिर्मुख व्याख्या द्वारा आच्छन्न हैं: सूर्य के अधिष्ठात्री देवता, चन्द्र के अधिष्ठात्री देवता,—इस तरह के अनन्त देवता हैं; और जितनी घटनाएँ हो रही हैं, सब कोई न कोई देवता या भूत ही कर रहा है; इसका सारांश यही है कि किसी विषय के कारण की खोज उसके बाहर की जाती है, और विज्ञान का अर्थ यह है कि किसी वस्तु के कारण की खोज उसी के अन्दर की जाती है। धीरे-धीरे विज्ञान ज्यों ज्यों बढ़ता जा रहा है, त्यों त्यों वह कार्य-समूहों की व्याख्या भूतप्रेतों के हाथ से

छीनता जा रहा है। और चूँकि धर्मराज्य में अद्वैतवाद इसकी साधना कर चुका है, इसलिए यही सबसे अधिक विज्ञान-सम्मत धर्म है। इस जगत्-ब्रह्माण्ड को बाहर के किसी ईश्वर ने नहीं बनाया, संसार के बाहर बैठे हुए किसी दैत्य ने इसकी सृष्टि नहीं की, किन्तु यह आप ही आप सृष्ट हो रहा है, आप ही आप उसका प्रकाश फैल रहा है, आप ही आप उसका प्रलय हो रहा है—एक ही अनन्त सत्ता ब्रह्म है। "तत्त्वमसि श्वेतकेतो"—हे श्वेतकेतो, तुम वही हो। इस तरह तुम देख रहे हो, यही एकमात्र वैज्ञानिक धर्म है—कोई दूसरा नहीं। और इस अर्धशिक्षित वर्तमान भारत में आजकल प्रतिदिन विज्ञान की जो बकवास चल रही है, प्रतिदिन मैं जिस युक्ति की दुहाई सुन रहा हूँ, उससे मुझे आशा है, तुम्हारे दल के दल अद्वैतवादी होंगे और—मैं बुद्ध के शब्दों में कह रहा हूँ—'बहुजन-हिताय, बहुजन-सुखाय' तुम्हें संसार में इस अद्वैतवाद का प्रचार करने का साहस होगा। यदि तुम ऐसा न कर सको तो मैं तुम्हें डरपोक समझूँगा।

मूर्तिपूजकों के प्रति घृणा का त्याग करो।

यदि तुममें ऐसी दुर्बलता रहे, यदि यथार्थ सत्य के कथन का भय होने के कारण तुम उसका अवलम्ब न ले सको, तो दूसरे को भी वैसी ही स्वाधीनता दो। बेचारे मूर्तिपूजक को बिल्कुल उड़ा देने की चेष्टा न करो, उसे एक दैत्य सिद्ध करने का प्रयत्न न करो; जिसके साथ तुम्हारा सम्पूर्ण मत न मिलता हो, उसीके पास अपना मत प्रचार करने के लिए न जाओ; पहले यह समझो कि तुम खुद कमजोर हो और यदि तुम्हें समाज का भय हो, यदि तुम्हें अपने ही प्राचीन कुसंस्कारों का भय हो, तो जो लोग अज्ञ हैं, उन्हें अपने कुसंस्कारों का और कितना अधिक भय होगा, वे कुसंस्कार उन्हें और कितना अधिक बाँध सकते हैं, यह भी सोच लो। अद्वैतवादियों की यही बात है। दूसरों पर दया करो। परमात्मा की इच्छा से यदि कल ही सम्पूर्ण संसार केवल मत में ही नहीं, अनुभूति के सम्बन्ध में

भी, अद्वैतवादी हो जाय, तब तो बहुत ही अच्छा हो; परन्तु यदि वैसा न हो तो जहाँ तक अच्छा करते बने, वही करो; उन लोगों का हाथ पकड़कर उनकी शक्ति के अनुसार उन्हें धीरे धीरे ले जाओ और समझना कि भारत में सभी धर्मों का विकास क्रमोन्नति के नियमानुसार धीरे धीरे हुआ है। बात ऐसी नहीं कि बुरे से भला हो रहा है, नहीं, भले से और भी भला हो रहा है।

अद्वैतवाद के नीतितत्व के सम्बन्ध में कुछ और कहना आवश्यक है। हमारे लड़के आजकल एक दावा दायर कर देते हैं — किसी से उन लोगों ने सुना होगा, परमात्मा जाने किससे सुना — वह यह कि अद्वैतवाद से लोग दुराचारी हो जाते हैं, कारण, अद्वैतवाद सिखलाता है, हम सब एक हैं, सभी ईश्वर हैं, अतएव हमें अब नीति मानने की कोई आवश्यकता नहीं! इस बात के उत्तर में पहले यही कहना चाहिए कि यह युक्ति पशुप्रकृति मनुष्य के मुख में शोभा देती है, कशाघात के बिना जिसके दमन करने का दूसरा उपाय नहीं है। यदि तुम ऐसे ही हो तो इस तरह कशाघात द्वारा शासन करने योग्य मनुष्य रहने की अपेक्षा आत्महत्या कर लेना कदाचित् तुम्हारे लिए श्रेयस्कर होगा। कशाघात बन्द होने ही से तुम लोग असुर हो जाओगे। यदि ऐसा ही हो, तो इसी समय तुम्हारा अन्त कर देना उचित होगा — तुम्हारे लिए दूसरा उपाय और कोई नहीं। इस तरह तो सदा ही तुम्हें कशा और दण्ड के भय से चलना होगा, तुम्हारा उद्धार अब नहीं रहा, तुम्हारे भागने का रास्ता अब नहीं रह गया। दूसरे, अद्वैतवाद — केवल अद्वैतवाद — से ही नीतितत्व की व्याख्या हो सकती है। हरएक धर्म यही प्रचार कर रहा है कि सब नीतितत्वों का सार दूसरों की हित-साधना ही है। क्यों हम दूसरों का हित करें? सब धर्म उपदेश देते हैं, निःस्वार्थ होना चाहिए। क्यों हमें निःस्वार्थ होना चाहिए? कारण, कोई देवता ऐसा कह गए हैं। उनकी बातों में आने की क्या ज़रूरत? शास्त्रों ने ऐसा कहा है, — शास्त्र कहते रहें, — क्यों हम उसे मानें? और सोचो,

अद्वैतवाद का नीतितत्व।

कुछ लोग उन शास्त्रों और ईश्वर का नाम सुनकर नीति मानने लगे — इससे भी क्या हुआ? संसार के अधिकांश आदमियों की यही नीति है कि वे अपना ही भला ताकते हैं। इसीलिए कहता हूँ, यदि मुझे नीति मानकर चलना है, तो मुझे इसकी युक्ति भी तो दिखलाओ। अद्वैतवाद के बिना इसकी व्याख्या करने का दूसरा उपाय नहीं है।

"समं पश्यन् हि सर्वत्र समवस्थितमीश्वरम्।
न हिनस्त्यात्मनात्मानं ततो याति परां गतिम्॥" *

"ईश्वर को सर्वत्र समभाव से अवस्थित देखकर वह आत्मा द्वारा आत्मा की हिंसा नहीं करता।" इत्यादि

अद्वैतवाद की शिक्षा से तुम्हें यह ज्ञान होता है कि दूसरों की हिंसा करते हुए तुम अपनी ही हिंसा करते हो, कारण, वे सब तुम्हारे ही स्वरूप हैं। तुम्हें मालूम हो या न हो, सब हाथों से तुम्हीं कार्य कर रहे हो, सब पैरों से तुम्हीं चल रहे हो, राजा के रूप में तुम्हीं प्रासाद में सुखों का भोग कर रहे हो, फिर तुम्हीं रास्ते के भिखारी के रूप में अपना दुःखमय जीवन बिता रहे हो। अज्ञ व्यक्ति में भी तुम हो, विद्वान् में भी तुम हो, दुर्बल में भी तुम हो, सबल में भी तुम हो। इस तत्व का ज्ञान प्राप्त कर तुम्हें सबके प्रति सहानुभूति रखनी चाहिए। चूँकि दूसरे की हिंसा करने से अपनी ही हिंसा की जाती है, इसलिए हमें कदापि दूसरों की हिंसा नहीं करनी चाहिए, इसीलिए यदि मैं बिना भोजन के मर भी जाऊँ तो भी मुझे इसकी चिन्ता नहीं, कारण, जिस समय मैं सूखकर मर रहा हूँ उस समय मैं लाखों मुँह से भोजन भी कर रहा हूँ। अतएव यह 'मैं' 'मेरा'— इन सब विषयों पर हमें ध्यान ही नहीं देना चाहिए, कारण, यह सम्पूर्ण संसार मेरा ही है, मैं ही एक दूसरी रीति से संसार के सम्पूर्ण आनन्द का भोग कर रहा हूँ। और, मेरा और इस संसार का विनाश भी कौन कर सकता है? इस तरह देखते हो, अद्वैतवाद ही नीति-

* गीता, १३-२८

तत्वों की एकमात्र बुनियाद है, एकमात्र व्याख्या है। अन्यान्य वाद तुम्हें नीति की शिक्षा दे सकते हैं, परन्तु हम क्यों नीतिपरायण हों, इसका हेतु-निर्देश नहीं कर सकते। कुछ भी हो, यहाँ तक देखा गया कि नीतितत्व की व्याख्या करने में एकमात्र अद्वैतवाद ही समर्थ है।

अद्वैतवाद की साधना में लाभ क्या है? उससे शक्ति, तेज और वीर्य प्राप्त होता है। श्रुति का कथन है—'श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः"* पहले यह आत्मतत्व सुनो, सम्पूर्ण संसार में तुम लोग जो मायाजाल फैला रहे हो, इसे हटाओ—मनुष्य को दुर्बल न सोचो, उसे दुर्बल न कहो। समझना, एक दुर्बलता शब्द से ही सब पापों और सम्पूर्ण अशुभ कर्मों का निर्देश किया जा सकता है। सारे असत् कार्यों की जड़ दुर्बलता ही है। दुर्बलता के कारण ही मनुष्य को जो कुछ न करना चाहिए उसे भी वह कर डालता है; दुर्बलता के कारण ही मनुष्य अपना सच्चा स्वरूप प्रकाशित नहीं कर सकता।

अद्वैतवाद की साधना से लाभ।

सब लोग जानें, वे क्या हैं। दिनरात वे अपने स्वरूप की चर्चा करें। माता का स्तनपान करते हुए वे 'सोऽहम्' (मैं वही हूँ) इस ओजोमयी वाणी का पान करें। तत्पश्चात् वे उसकी चिन्ता करें, और उसी चिन्ता—उसी मनन से ऐसे कार्य होंगे जिन्हें संसार ने कभी देखा ही नहीं था।

किस तरह यह काम में लाया जाय? कोई-कोई कहते हैं—यह अद्वैत-वाद कार्य में परिणत नहीं किया जा सकता—अर्थात् जड़ संसार में अभी भी उसकी शक्ति का प्रकाश नहीं हुआ। इस कथन में आंशिक सत्य अवश्य है। वेद की उस वाणी का स्मरण करो,—

"एतद्ध्येवाक्षरं ब्रह्म एतद्ध्येवाक्षरं परम्।
एतद्ध्येवाक्षरं ज्ञात्वा यो यदिच्छति तस्य तत्॥" †

---

* बृहदारण्यक उपनिषद; २—४—५

† कठोपनिषद, १—२—१६

अर्थात् "ॐ में अद्भुत रहस्य है। यह हमारी श्रेष्ठ सम्पत्ति है। जो इस ओंकार का रहस्य जानते हैं, वे जो कुछ चाहते हैं वही उन्हें मिलता है।"

अतएव पहले तुम इस ओंकार का रहस्य समझो — वह ओंकार तुम्हीं हो, इसका ज्ञान प्राप्त करो। इस 'तत्वमसि' महावाक्य का रहस्य समझो, तभी — केवल तभी, तुम जो कुछ चाहोगे, वह पाओगे। यदि जड़ संसार में बड़े होना चाहो तो विश्वास करो, तुम बड़े हो। मैं एक छोटा सा बुलबुला हो सकता हूँ, तुम पर्वताकार ऊँची तरंग हो सकते हो, परन्तु समझना हम दोनों के लिए पीछे अनन्त समुद्र ही है। अनन्त ईश्वर हमारी सब शक्ति और वीर्य का भाण्डार है, और हम दोनों ही उससे अपनी इच्छा भर शक्तिसंग्रह कर सकते हैं। अतएव अपने पर विश्वास करो। अद्वैतवाद का यह रहस्य है कि पहले अपने पर विश्वास लाना पड़ता है। संसार के इतिहास में देखोगे, केवल वही जातियाँ प्रबल और वीर्यवती हो सकी हैं, जो अपने पर विश्वास स्थापन कर सकी हैं। हरएक जाति के इतिहास में तुम देखोगे, जिस जन-समुदाय ने अपने पर विश्वास किया वही प्रबल और वीर्यवान हो सका। यहाँ, इस भारत में एक अंग्रेज आया था, वह एक साधारण क्लर्क था, रुपये-पैसे के अभाव से और दूसरे कारणों से भी उसने अपने सिर में गोली मारकर दो बार आत्महत्या करने की चेष्टा की, और जब वह उसमें असफल हुआ तब उसे विश्वास हो गया कि बड़े बड़े काम करने के लिए वह पैदा हुआ है — वही मनुष्य इस साम्राज्य का प्रतिष्ठाता लार्ड क्लाइव है। यदि वह पादरियों पर विश्वास करके घुटने टेककर "हे प्रभु, मैं दुर्बल हूँ, दीन हूँ" ऐसा किया करता, तो जानते हो उसे कहाँ जगह मिलती? निस्सन्देह उसे पागलखाने में रहना पड़ता। इस प्रकार की कुशिक्षाओं ने तुम्हें पागल बना डाला है। मैंने सारे संसार में देखा है, दीनता के उस उपदेश से, जो दौर्बल्य का पोषक है, बड़े अशुभ परिणाम हुए हैं — सम्पूर्ण मनुष्य-जाति को उसने नष्ट कर डाला है। हमारी

क्या अद्वैतवाद कार्यकर है?

सन्तानों को जब कि इसी तरह की शिक्षा दी जाती है तब इसमें क्या आश्चर्य यदि वे अन्त में अर्धविक्षिप्त से हो जाते हैं!

अद्वैतवाद को कार्यरूप में परिणत करने का यही उपाय है। अतएव अपने पर विश्वास रखो, और यदि तुम्हें सांसारिक ऐश्वर्य की आकांक्षा हो, तो इस अद्वैतवाद को कार्यान्वित करो, धन तुम्हारे पास आयेगा। यदि विद्वान् और बुद्धिमान होने की इच्छा है, तो उसी ओर

नूतन शिक्षा—'अद्वैतवाद् अँचल में बाँध चाहे जो करो।'

अद्वैतवाद का प्रयोग करो,—तुम महामनीषी हो जाओगे। और यदि तुम मुक्तिलाभ करना चाहते हो तो तुम्हें आध्यात्मिक भूमि में इस अद्वैतवाद का प्रयोग करना होगा, तभी तुम ईश्वर हो जाओगे—परमानन्दस्वरूप निर्वाण लाभ करोगे। इतनी ही भूल हुई थी कि आज तक उसका प्रयोग आध्यात्मिकता की ओर ही हुआ था—बस। अब उसका प्रयोग कर्मजीवन में करने का समय आया है। अब उसे रहस्यमात्र रखने से काम नहीं चलेगा, अब वह हिमालय की गुफाओं और जङ्गलों में साधुसंन्यासियों ही के पास बँधा नहीं रहेगा—अब मनुष्य के दैनिक जीवन के कार्यों में उसकी उपयोगिता की आवश्यकता है। राजप्रासाद में, साधुसंन्यासियों की गुहा में, गरीबों की कुटियों में सर्वत्र, यहाँ तक कि रास्ते के भिखारी द्वारा भी, उसकी उपयोगिता सिद्ध हो सकती है; कारण क्या गीता में नहीं बतलाया गया?—

"स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात्।"*

"इस धर्म का अल्पमात्र उपयोग भी बड़े बड़े भय से हमारा उद्धार कर सकता है।" अतएव चाहे तुम स्त्री हो चाहे शूद्र अथवा चाहे और ही कुछ हो, तुम्हारे लिए भय का अल्पमात्र भी कारण नहीं, कारण, श्रीकृष्ण कहते हैं, यह धर्म इतना महान् है कि इसका अल्पमात्र अनुष्ठान करने

* गीता, २–४०

से भी महाकल्याण की प्राप्ति होती है। अतएव हे आर्यसन्तान! आलसी होकर बैठे मत रहो — उठो, जागो और जब तक इस चरम लक्ष्य में न पहुँच जाओ तब तक निश्चिन्त न रहो। अब अद्वैतवाद को काम में लाने का समय आया है। उसे अब स्वर्ग से मर्त्य में ले आना होगा। इस समय विधाता का विधान यही है। हमारे प्राचीन पूर्वजों की वाणी हमें अवनति की ओर अब अधिक बढ़ने से निषेध कर रही है। अतएव हे आर्यसन्तान, अब उस ओर पैर न बढ़ाओ। तुम्हारे उस प्राचीन शास्त्र का उपदेश सम्पूर्ण संसार को ढँक ले, जब तक कि समाज के प्रत्येक मनुष्य की वह साधारण सम्पत्ति न हो जाय, जब तक कि हमारी नस-नस में, रुधिर की प्रत्येक कणिका में उसका प्रवाह न हो जाय।

पाश्चात्य जाति ने अद्वैतवाद को कर्मजीवन में हमारी अपेक्षा अधिक परिणत किया है।

तुम्हें सुनकर आश्चर्य होगा कि हम लोगों से कहीं बढ़कर अमेरिकनों ने वेदान्त को अपने कर्मजीवन में परिणत कर लिया है। मैं न्यूयार्क के समुद्र-तट पर खड़ा खड़ा देख रहा था — भिन्न भिन्न देशों से लोग उपनिवेश-स्थापना के लिए अमेरिका आ रहे हैं। उन्हें देखकर मुझे यह मालूम होता था, मानो उनका हृदय झुलस गया है, वे पैरों तले कुचले गये हैं, उनकी आशा मुरझा गई है, कपड़ों की एक पोटली मात्र उनका सर्वस्व है — कपड़े भी फटे हुए हैं, वे भय से लोगों के मुँह की ओर नहीं ताक सकते, पुलिस का आदमी देखते ही उठकर फुटपाथ की दूसरी ओर से चलने का इरादा करते हैं। और अब छः ही महीने में उन्हें देखो, वे साफ कपड़े पहने हुए सिर उठाकर सीधा चल रहे हैं और डटकर लोगों की नज़र से नज़र मिलाते हैं। ऐसा विचित्र परिवर्तन किसने किया? सोचो, वह आदमी आरमेनिया या किसी दूसरी जगह से आ रहा है, वहाँ कोई उसे कुछ समझते नहीं थे; सभी पीस डालने की चेष्टा करते थे। वहाँ सभी उससे कहते थे — 'तू

गुलाम होकर पैदा हुआ है, गुलाम ही रहेगा। अगर तू हिलने-डुलने की चेष्टा करेगा, तो तुझे हम पीस डालेंगे।' चारों ओर की सभी वस्तुएँ मानो उससे कहती थीं—'गुलाम, तू गुलाम है—जो कुछ है, तू वही बना रह; जब तू पैदा हुआ था तब निराशा के जिस अंधेरे में पैदा हुआ था, उसीमें जीवन भर पड़ा रह।' वहाँ की हवा में मानो कोई गूँजकर उससे कहता था—'तेरे लिए कोई आशा नहीं—गुलाम होकर चिरकाल तू नैराश्य के अंधकार में पड़ा रह।' वहाँ बलवानों से पीसकर उसकी जान निकाल ली थी। और ज्योंही वह जहाज से उतरकर न्यूयार्क के रास्तों पर चलने लगा, उसने देखा कि अच्छे कपड़े पहने हुए किसी भले आदमी ने उससे हाथ मिलाया। परन्तु वह फटे कपड़े पहने हुए था। और भद्र-महाशय अच्छे-अच्छे कपड़ों से आभूषित थे, इससे तो उनकी कोई हानि नहीं हुई। और कुछ आगे बढ़कर भोजनालय में जाकर उसने देखा,—भद्रमण्डली टेबिल के चारों ओर बैठी भोजन कर रही थी,—उसी टेबिल के एक ओर उससे भी बैठने के लिए कहा गया। वह चारों ओर घूमने लगा—देखा, यह एक नया जीवन है। उसने देखा, ऐसी जगह भी है, जहाँ और पाँच आदमियों में वह भी एक आदमी है। कभी मौका मिला तो वाशिंगटन जाकर युक्तराज्य के प्रेसीडेण्ट से हाथ मिला आया, वहाँ उसने देखा,—दूर के गाँवों से मैले कपड़े पहने हुए किसान आकर प्रेसीडेण्ट से हाथ मिला रहे हैं। तब उसका माया का पर्दा हट गया। वह ब्रह्म ही है—मायावश इस तरह दुर्बल दासता के भावों में पड़ा हुआ था। अब उसने फिर से जगकर देखा,—मनुष्यपूर्ण संसार में वह भी एक मनुष्य है।

हमारे इस देश में, इस वेदान्त की जन्मभूमि में हमारे साधारण आदमियों को शत शत वर्षों से इस मायाचक्र में डालकर इस तरह के नीच स्वभाव का बना डाला गया है। उनके स्पर्श में छूत समाई है, उनके साथ बैठने से छूत समा जाती है। उनसे कहा जा रहा है, निराशा

हमारी समस्त दुर्दशा के लिए हम ही दायी हैं।

के अंधकार में तुम्हारा जन्म हुआ है, सदा तुम इसी अंधेरे में पड़े रहो। और उसका फल यह हुआ कि वे लगातार डूबते चले जा रहे हैं, गहरे अंधेरे से और गहरे अंधेरे में डूबते चले जा रहे हैं। अन्त में मनुष्य जितनी दूर नीची अवस्था तक पहुँच सकता है, वहाँ तक वे पहुँच चुके हैं। कारण, ऐसा देश कहाँ है जहाँ मनुष्य को गौओं और भैंसों के साथ एक ही जगह पर सोना पड़ता हो? इसके लिए किसी दूसरे पर दोषारोप न करना —अज्ञ मनुष्य जो भूल किया करते हैं, उस भ्रम में तुम भी न पड़ जाना। फल भी हाथोंहाथ मिल रहा है—देख रहे हो। अतएव उसका कारण भी तुम्हें यहीं मिल जायेगा। दोष वास्तव में हमारा ही है। हिम्मत बाँधकर खड़े हो जाओ—अपने ही सिर सब दोष ले लो। दूसरे पर दोष न लादना। तुम जो कष्ट भोग रहे हो उसका एकमात्र कारण तुम्हीं हो।

अतएव, लाहौर के युवको! निश्चयपूर्वक समझना, यह महापाप तुम्हारे सिर पर है। बिना इसे दूर किये तुम्हारे लिए कोई दूसरा उपाय नहीं है। तुम चाहे हजारों समितियाँ गढ़ लो, चाहे बीस हजार राजनीतिक सम्मेलन करो, चाहे पचास हजार शिक्षालय स्थापित करो, इसका कोई फल न होगा, जब तक तुम्हारे भीतर वह सहानुभूति, वह प्रेम न आयेगा, जब तक तुम्हारे भीतर वह हृदय न आयेगा, जो सब के लिए सोचता है।

उद्धार का उपाय—प्रेम और सहानुभूति।

जब तक फिर से भारत में बुद्ध का उदय नहीं होता, जब तक भगवान श्रीरामकृष्ण की वाणी कर्मजीवन में परिणत नहीं की जाती, तब तक हमारे लिए कोई आशा नहीं। तुम लोग यूरोपियनों का अनुकरण कर रहे हो, परन्तु उनके हृदय के भावों का तुमने क्या अनुकरण किया है? मैं तुमसे एक किस्सा कहूँगा—मैंने अपनी आँखों जो घटना देखी है वही मैं तुमसे कहूँगा—इससे तुम मेरा मतलब समझ जाओगे। यूरोपियनों का एक दल कुछ ब्रह्मदेश-

वासियों को लेकर लन्दन गया। वहाँ उन्होंने उन लोगों की एक प्रदर्शनी खोलकर खूब धनोपार्जन किया। अन्त में सब धन आपस में बाँटकर उन्होंने उन लोगों को यूरोप के किसी दूसरी जगह ले जाकर छोड़ दिया। ये गरीब बेचारे यूरोप की किसी भाषा का एक शब्द भी नहीं जानते थे। अस्तु। आस्ट्रिया के अंग्रेज राजदूत ने इन्हें लन्दन भेज दिया। वे लोग लन्दन में भी किसीको नहीं जानते थे — अतएव वहाँ जाकर भी ये निराश्रय अवस्था में पड़ गये। परन्तु एक अंग्रेज महिला को इनकी सूचना मिली। वे इन ब्रह्मदेशवासियों को अपने घर ले गई और अपने कपड़े, अपने बिछौने तथा जो कुछ आवश्यक हुआ, सब देकर उनकी सेवा करने लगीं और संवाद-पत्रों में उन्होंने इनका हाल प्रकाशित कर दिया। देखो, उसका फल कैसा हुआ। उसके दूसरे ही दिन मानो सारी जाति जग उठी — चारों ओर से उनकी सहायता के लिए रुपये आने लगे। अन्त में वे ब्रह्मदेश भेज दिये गये। उनकी राजनीतिक और दूसरी जितनी सभा-समितियाँ हैं वे ऐसी ही सहानुभूति पर प्रतिष्ठित हैं।

प्रेम की (कम से कम अपनी जाति के प्रति प्रेम की) पर्वतदृढ़ यह दीवार ही उनके समस्त कार्यों की भित्ति है। वे सम्पूर्ण संसार को चाहे प्यार न कर सकें, वे दूसरों के शत्रु भले ही हों, परन्तु इतना तो निश्चय ही है कि अपने देश में अपनी जाति के लिए उनका प्रेम अगाध है और अपने द्वार पर आये हुए विदेशियों के साथ भी वे सत्य, न्याय और दया का व्यवहार करते हैं। पश्चिमी देशों के सभी स्थानों में उन्होंने किस तरह मेरा आतिथ्य-सत्कार और खातिरदारी की थी, इसका यदि मैं तुमसे बार बार उल्लेख न करूँ, तो मुझ पर अकृतज्ञता का दोष लग सकता है। यहाँ वह हृदय कहाँ है, जिसकी बुनियाद पर इस जाति की दीवार उठाई जायेगी? हम पाँच आदमियों ने मिलकर एक छोटासा सम्मिलित व्यवसाय खोला — कुछ दिनों तक उसके चलते-न-चलते ही हम

जातीयता-प्रतिष्ठा के लिए प्रयोजनीय प्रेम तथा सहानुभूति का हममें अभाव है।

लोगों ने आपस में एक दूसरे को ठगना शुरू कर दिया, अन्त में सब कारोबार नष्ट-भ्रष्ट हो गया। तुम लोग उनके अनुकरण की बात कहते हो—और उनकी तरह जोरदार जाति का सङ्गठन करना चाहते हो, परन्तु तुममें वह बुनियाद कहाँ है? हमारी नींव बालू की है, इसीलिए उस पर जो घर उठाया जाता है वह थोड़े ही दिनों में टूटकर चूर हो जाता है।

सर्वस्व, यहाँ तक कि मुक्ति की आशा तक छोड़ देश-कल्याण के लिए प्रस्तुत हो जाओ।

अतएव, हे लाहौर के युवको, फिर अद्वैत की वही अद्भुत पताका उड़ाओ, कारण, और किसी बुनियाद से तुम्हारे भीतर वैसा अपूर्व प्रेम नहीं पैदा हो सकता। जब तक तुम लोग उसी एक भगवान को सर्वत्र एक ही भाव से अवस्थित नहीं देखते, तब तक तुम्हारे भीतर वह प्रेम पैदा नहीं हो सकता—उसी प्रेम की पताका उड़ाओ। उठो, जागो, जब तक लक्ष्य पर नहीं पहुँचते तब तक निश्चिन्त न रहना। उठो, एक बार और उठो, क्योंकि त्याग के बिना कुछ हो नहीं सकता। दूसरे की यदि सहायता करना चाहते हो, तो तुम्हें अपने अहंभाव को छोड़ना होगा। ईसाइयों की भाषा में कहता हूँ—तुम ईश्वर और शैतान की सेवा एक साथ ही नहीं कर सकते। चाहिए वैराग्य। तुम्हारे पूर्व-पुरुषों ने बड़े बड़े कार्य करने के लिए संसार का त्याग किया था। वर्तमान समय में ऐसे अनेक मनुष्य हैं, जिन्होंने अपनी ही मुक्ति के लिए संसार का त्याग किया है। तुम सब कुछ दूर फेंको—यहाँ तक कि अपनी मुक्ति भी दूर फेंको—जाओ, दूसरों की सहायता करो। तुम सदा बड़ी बड़ी बातें बघारा करते हो, परन्तु तुम्हारे सामने वह वेदान्त रखा गया है, जो काम में लाया जा सके। तुम अपने इस तुच्छ जीवन की बलि देने के लिए तैयार हो जाओ। यदि यह जाति बची रहे, तो तुम्हारे और हमारे जैसे हजारों आदमियों के भूखों मरने पर भी क्या हानि होगी?

यह जाति डूब रही है। लाखों प्राणियों का शाप हमारे सिर पर है

देश के जनसाधारण के लिए प्राण दो।

जिन्हें, सदा ही बहती हुई अमृत-नदी के पास ही प्रवाहित होने पर भी तृष्णा के समय पीने के लिए हमने नावदान का पानी दिया, उन अगणित लाखों मनुष्यों का, जिनके सामने पर्याप्त भोजन के रहते हुए भी जिन्हें हमने भूखों मार डाला, जिन्हें हमने अद्वैतवाद का तत्व सुनाया और ऊपर से घृणा की, जिनके विरोध में हमने लोकाचार का आविष्कार किया, जिनसे जबानी तो यह कहा कि सब बराबर हैं, सब वही एक ब्रह्म हैं, परन्तु इस उक्ति को काम में लाने का कुछ भी प्रयत्न नहीं किया। "मन में रखने ही से काम हो जायेगा, परन्तु व्यावहारिक संसार में अद्वैतवाद को घसीटना ?—हरे हरे!!" अपने चरित्र का यह दाग मिटा दो। उठो, जागो। यदि यह क्षुद्र जीवन चला भी जाय तो क्या हानि है? सभी मरेंगे—साधु-असाधु, धनी-दरिद्र—सभी मरेंगे। चिरकाल तक किसी का शरीर नहीं रहेगा। अतएव उठो, जागो और सम्पूर्ण रूप से निष्कपट होओ। भारत में घोर कपटता समा गई है। चाहिए चरित्र, चाहिए इस तरह की दृढ़ता और चारित्र्य का बल जिससे मनुष्य आजीवन एक ही विषय को पकड़े रह सके।

"नीतिनिपुण मनुष्य चाहे निन्दा करें चाहे स्तुति, लक्ष्मी आएँ या चली जाएँ, मृत्यु आज ही हो चाहे शताब्दी के पश्चात्, जो धीर हैं वे न्यायमार्ग से एक पग भी नहीं हिलते।" उठो, जागो, समय बीता जा रहा है और व्यर्थ के वितण्डावाद में हमारी सम्पूर्ण शक्ति का क्षय होता जा रहा है। उठो, जागो, छोटे छोटे विषयों और मतमतान्तरों को लेकर व्यर्थ का विवाद छोड़ो। तुम्हारे सामने महान् कार्य पड़ा हुआ है—लाखों आदमी डूब रहे हैं, उनका उद्धार करो।

इस बात पर अच्छी तरह ध्यान देना कि मुसलमान जब भारत में पहले पहल आये थे, तब भारत में अब से कितने अधिक हिन्दू रहते थे। आज उनकी संख्या कितनी घट गई है! इसका कोई प्रतिकार हुए बिना यह

उपसंहार। दिन दिन और घटती ही जायेगी; अन्त में कोई भी हिन्दू न रह जायेगा। हिन्दूजाति के लुप्त होने के साथ ही—उनके सैकड़ों दोष रहने पर भी, संसार के सम्मुख उनके सैकड़ों विकृत चित्र उपस्थित करने पर भी—अब तक वे जिन-जिन महान् भावों के प्रतिनिधि-स्वरूप हैं वे भी लुप्त हो जायेंगे। और उनके लोप के साथ साथ सारे अध्यात्म ज्ञान का शिरोभूषण अपूर्व अद्वैततत्त्व भी लुप्त हो जायेगा। अतएव उठो, जागो, संसार की आध्यात्मिकता की रक्षा के लिए हाथ बढ़ाओ। और पहले अपने देश के कल्याण के लिए इस तत्व को काम में लाओ। हमें धर्म की उतनी आवश्यकता नहीं, इस जड़ संसार में अद्वैत-वाद को कार्य में परिणत करना होगा, पहले अन्न की व्यवस्था करनी होगी, इसके बाद धर्म है। गरीब बेचारे भूखों मर रहे हैं, हम उन्हें आवश्यकता से अधिक धर्मोपदेश दे रहे हैं। मतमतान्तरों से पेट नहीं भरता। हमारे दो दोष बड़े ही प्रबल हैं: पहला दोष हमारी दुर्बलता है, दूसरा प्रेमशून्यता—हृदय की नीरसता। लाखों मतमतान्तरों की बात कह सकते हो, करोड़ों सम्प्रदाय सङ्गठित कर सकते हो, परन्तु जब तक उनके दुःख का अपने हृदय में अनुभव नहीं करते, वैदिक उपदेशों के अनुसार जब तक स्वयं नहीं समझते कि वे तुम्हारे ही शरीर के अंश हैं, जब तक तुम और वे—धनी और दरिद्र, साधु और असाधु सभी—जिसे तुम ब्रह्म कहते हो, उसी अनन्त सर्वस्वरूप के अंश नहीं हो जाते, तब तक कुछ न होगा।

सज्जनो, मैंने आप लोगों के सामने अद्वैतवाद के कुछ प्रधान भावों को प्रकाशित करने की चेष्टा की, अब इसे काम में लाने का समय आया है—केवल इसी देश में नहीं, सब जगह। आधुनिक विज्ञान के लोहे के मुद्गरों की चोट खाकर द्वैतवादात्मक धर्मों की दीवार चूर चूर हो रही है। ऐसा नहीं कि द्वैतवादी सम्प्रदाय केवल यहीं शास्त्रीय श्लोकों का अर्थ खींच खींच कर कुछ का कुछ कर रहे हैं (इतनी दूर तक खींचा जा चुका है कि उसकी हद हो

गई है — कहाँ तक खींचातानी हो — श्लोक स्वर थोड़े ही हैं ?), ऐसा नहीं कि केवल यहीं वे लोग आत्मरक्षा के लिए अंधेरे में किसी कोने में छिपने की चेष्टा कर रहे हैं; नहीं, यूरोप और अमेरिका में तो यह प्रयत्न और भी ज्यादा है। और यहाँ भी भारत के इस तत्व का कुछ अंश जाना चाहिए। पहले ही वह जा चुका है — दिन दिन उसका प्रसार बढ़ाना चाहिए। पाश्चिमी सभ्य संसार की रक्षा के लिए इसकी बड़ी आवश्यकता है। कारण, पाश्चिमी देशों में पहले का भाव उठ गया है और एक नया ढंग — कांचन की पूजा प्रवर्तित हुई है। इस आधुनिक धर्म अर्थात् पारस्परिक प्रतियोगिता और कांचन की पूजा की अपेक्षा पहले की अपरिणत धर्म की राह अच्छी थी। कोई भी जाति हो, चाहे वह कितनी ही प्रबल क्यों न हो, ऐसी बुनियाद पर कभी नहीं ठहर सकती। और संसार का इतिहास हमसे कह रहा है, जिन किन्हीं लोगों ने ऐसी बुनियाद पर अपने समाज की प्रतिष्ठा की, वे ही विनष्ट हो गये। जिससे भारत में इस कांचन-पूजा की तरंग न आ सके, उसकी ओर पहले ही से नज़र रखनी होगी। अतएव सब के पास यह अद्वैतवाद प्रचारित करो, जिससे धर्म आधुनिक विज्ञान की प्रबल आघातों से भी अक्षत बना रहे। केवल इतना ही नहीं, तुम्हें दूसरों की भी सहायता करनी होगी — तुम्हारी भावराशि यूरोप और अमेरिका का उद्धार साधन करेगी; परन्तु सबसे पहले तुम्हें याद दिलाता हूँ, यथार्थ कार्य यहीं है और उसका प्रथमांश है दिन पर दिन घोर से घोरतर दारिद्र्य और अज्ञान-तिमिर में डूबे हुए साधारण लाखों भारतीयों की उन्नति-साधना। उनके कल्याण के लिए, उनकी सहायता के लिए अपने बाहुओं को प्रसारित कर दो और भगवान श्रीकृष्ण की यह वाणी याद रखो —

" इहैव तैर्जितः सर्गो येषां साम्ये स्थितं मनः।
निर्दोषं हि समं ब्रह्म तस्मात् ब्रह्मणि ते स्थिताः ॥*

* गीता, ५–१९

" जिनका मन इस साम्य भाव में अवस्थित है, उन्होंने इस जीवन में ही संसार पर विजय प्राप्त कर ली है। चूँकि ब्रह्म निर्दोष और सम है, इसलिए वे ब्रह्म में अवस्थित हैं। "

---

२५. वेदान्त

(खेतड़ी में दिया हुआ भाषण ।)

बीसवीं दिसम्बर को स्वामीजी अपने शिष्यों के साथ जिस बंगले में थे वहीं उन्होंने वेदान्त के सम्बन्ध में करीब डेढ़ घंटे तक सुन्दर वक्तृता दी। स्थानीय सभ्य सज्जन एवं कई यूरोपीय महिलायें उपस्थित थीं। खेतड़ी के राजाजी सभापति थे, उन्होंने ही उपस्थित श्रोताओं से स्वामीजी का परिचय कराया। दुःख का विषय है कि उस समय कोई सांकेतिक लेखक उपस्थित नहीं था। अतः समस्त वक्तृता उपलब्ध नहीं है। स्वामीजी के दो शिष्यों ने जो नोट लिए थे उसी का अनुवाद नीचे दिया जाता है —

यूनानी और आर्य — प्राचीन काल की ये दो जातियाँ — विभिन्न अवस्था-चक्रों में पड़ीं। प्रकृति में जो कुछ सुन्दर था, जो कुछ मधुर था, जो कुछ लोभनीय था उन्हीं के मध्य स्थापित होकर वीर्यप्रद जलवायु में विचरण कर प्रथमोक्त जाति ने एवं चारों ओर सब प्रकार महिमामय भावों के मध्य में अवस्थित होकर तथा अधिक शारीरिक परिश्रम के अनुकूल जलवायु न पाकर शेषोक्त जाति ने दो प्रकार की विभिन्न तथा विशिष्ट सभ्यता की सूचना दीं। ग्रीक लोग बाह्य-प्रकृति के अनन्त एवं आर्य लोग आभ्यन्तरिक प्रकृति के अनन्त की आलोचना में दत्तचित्त थे। ग्रीक लोग बृहत् ब्रह्माण्ड की आलोचना में व्यस्त थे और आर्य लोग क्षुद्र ब्रह्माण्ड के तत्वानुसन्धान में मग्न थे। संसार की सभ्यता में दोनों को ही अपना अपना निर्दिष्ट अंशविशेष प्रकट करना पड़ा था। यह नहीं कि इनमें से एक को दूसरे का ऋणी होना पड़ेगा; केवल परस्पर परिचित होकर पारस्परिक तुलना कर लेना ही पर्याप्त होगा। इससे दोनों ही का लाभ होगा। आर्यों की प्रकृति विश्लेषण-प्रिय थी। गणित

और व्याकरण में आर्यों ने अद्भुत फल प्राप्त किये थे और मन के विश्लेषण में वे चरम सीमा को पहुँच गये थे। हमें पिथागोरस, सुकरात, प्लेटो एवं मिश्र के निओप्लेटोनिस्ट के विचारों में भारतीय विचार की झलक दीख पड़ती है।

इसके पश्चात् स्वामीजी ने यूरोप पर भारतीय विचारों के प्रभाव की विस्तृत आलोचना करके दिखाया कि विभिन्न समयों में स्पेन, जर्मनी एवं अन्यान्य यूरोपीय देशों के ऊपर इन विचारों की कैसी छाप पड़ी थी। भारतीय राजकुमार दाराशिकोह ने उपनिषद का अनुवाद फारसी में किया। शोपेनहार नामक जर्मन दार्शनिक उसका लैटिन अनुवाद देखकर उसकी ओर विशेष रूप से आकृष्ट हुए। उनके दर्शन में उपनिषदों का यथेष्ट प्रभाव देखा जाता है। इनके बाद ही कैन्ट के दर्शन-ग्रन्थों में भी उपनिषदों के भावों के चिह्न देखे जाते हैं। यूरोप में साधारणतः शब्द-विद्या (Philology) की चर्चा के ही लिए विद्वान् लोग संस्कृत का अभ्यास करते हैं। परन्तु अध्यापक डायसन जैसे व्यक्ति भी हैं जो केवल दार्शनिक ज्ञान के लिए ही दर्शनों का अध्ययन करते हैं। स्वामीजी को आशा थी कि भविष्य में यूरोप में संस्कृत के पठन-पाठन के लिए और अधिक उद्योग होगा। इसके बाद स्वामीजी ने दिखलाया कि पूर्वकाल में 'हिन्दू' शब्द सार्थक था और वह सिन्धु नदी के इस पार बसनेवालों के लिए प्रयुक्त होता था किन्तु इस समय वह सर्वथा निरर्थक है, कारण कि इस समय सिन्धु नदी के इस पार नाना धर्मावलम्बी बहुत सी जातियाँ बसती हैं। अतः इस शब्द द्वारा इस समय वर्तमान हिन्दू जाति या धर्म, किसी का भी ज्ञान नहीं होता।

उसके दर्शन में उपनिषद् का यथेष्ट प्रभाव दृष्टिगोचर होता है।

इसके बाद स्वामीजी वेद के सम्बन्ध में विस्तृत रूप से अपना मत प्रकट करने लगे। उन्होंने कहा, वेद किसी व्यक्तिविशेष के वाक्य नहीं हैं। वेद-निबद्ध भावराशि ने धीरे-धीरे विकसित होकर वर्तमान ग्रन्थाकार धारण किया है और अब वे प्रमाण हो गये हैं। स्वामीजी ने कहा, अनेक धर्म इसी

भाँति ग्रन्थ-बद्ध हुए हैं। ग्रन्थों का प्रभाव भी कुछ साधारण नहीं है। हिन्दुओं के ग्रन्थरत्न वेद हैं जिन पर अभी हजारों वर्षों तक हिन्दुओं को निर्भर रहना होगा। हमें वेदों के सम्बन्ध में अपने विचार बदलने होंगे। दृढ़ पर्वत-शिला जैसी भित्ति के ऊपर वेद-विश्वास स्थापित करना होगा। वेद बृहत् ग्रंथ हैं, किन्तु वेदों का नब्बे प्रति शत अंश इस समय उपलब्ध नहीं है। विशेष विशेष परिवार में एक-एक वेदांश थे। उन परिवारों के लोप हो जाने से वे वेदांश भी लुप्त हो गये; किन्तु जो इस समय भी मिलते हैं वे भी एक बड़े कमरे में समा नहीं सकते। ये वेदराशि अत्यन्त प्राचीन हैं तथा अति सरल भाषा में लिखे हैं। वेदों का व्याकरण भी इतना अपरिणत है कि बहुतों के विचार में वेदों के कई अंशों का कोई अर्थ ही नहीं निकलता।

इसके बाद स्वामीजी ने वेद के दो भाग — कर्मकाण्ड और ज्ञानकाण्ड की आलोचना की। कर्मकाण्ड कहने से संहिता और ब्राह्मण का ज्ञान होता है। ब्राह्मणों में यज्ञ आदि का वर्णन है। संहिता अनुष्टुप, त्रिष्टुप, जगती प्रभृति छंदों में रचित स्तोत्रावली है। साधारणतः उनमें इन्द्र, वरुण अथवा अन्य किसी देवता की स्तुति है। इस पर प्रश्न यह उठा, ये देवता कौन थे? इनके सम्बन्ध में अनेक मत निर्धारित हुए किन्तु अन्यान्य मतों द्वारा वे मत खण्डित कर दिये गये। यह काम बहुत दिनों तक चलता रहा।

इसके बाद स्वामीजी उपासना-प्रणाली सम्बन्धी विभिन्न धारणाओं की चर्चा करने लगे। बाबिलोनियाँ के प्राचीन निवासियों की आत्मा के सम्बन्ध में यह धारणा थी कि मनुष्य की मृत्यु होने पर उसकी एक देह बाहर निकल जाती है, वह स्वतन्त्र नहीं होती और वह देह मूल देह से अपना सम्बन्ध कदापि विच्छिन्न नहीं कर सकती। इस 'दूसरी' देह को भी मूल शरीर की भाँति क्षुधा, तृषा, मनोवृत्ति आदि के विकार होते हैं, ऐसा उनका विश्वास था; साथ ही यह भी विश्वास था कि मृत मूल शरीर पर किसी प्रकार का आघात करने से 'दूसरी' देह भी आहत होगी, मूल शरीर के नष्ट होने पर

'दूसरी' देह भी नष्ट हो जायेगी। इसलिए मृत शरीर की रक्षा करने की प्रथा आरम्भ हुई। इसीसे ममी (Mummies), समाधि-मन्दिर (Tomb), कब्र आदि की उत्पत्ति हुई। मिस्र और बाबिलोनियाँ निवासी एवं यहूदियों की विचार-धारा इससे अधिक अग्रसर न हो सकी, वे आत्मतत्त्व तक नहीं पहुँच सके। प्रो. मैक्स मूलर का कहना है कि ऋग्वेद में पितृ-उपासना का सामान्य चिह्न भी नहीं दिखाई पड़ता। ममी तीक्ष्ण दृष्टि से हम लोगों की ओर देख रहे हैं, ऐसा वीभत्स और भयावह दृश्य भी वेदों में नहीं मिलता। देवता मनुष्यों के प्रति मित्रभाव रखते हैं। उपास्य और उपासक का सम्बन्ध सहज और स्वभाविक है। उनमें किसी प्रकार के दुःख का भाव नहीं है, उनमें सरल हास्य का अभाव नहीं है। स्वामीजी ने कहा, वेदों की चर्चा करते समय मानो मैं देवताओं की हास्य-ध्वनि स्पष्ट सुनता हूँ। वैदिक ऋषिगण अपने सम्पूर्ण भाव भाषा में भले ही न प्रकट कर सके हों किन्तु उनके हृदय भावों से परिपूर्ण थे। हम लोग उनकी तुलना में पशुतुल्य हैं।

इसके बाद स्वामीजी अनेक वैदिक मंत्र उच्चारण कर अपने वर्णित तत्त्वों का समर्थन करने लगे—"जिस स्थान पर पितृगण निवास करते हैं मुझे उसी स्थान पर ले जाओ—जहाँ कोई दुःख-शोक नहीं है" इत्यादि। इसी भाँति इस देश में इस धारणा का आविर्भाव हुआ कि जितना जल्दी शव जला दिया जायेगा, उतना ही अच्छा है। उनकी क्रमशः यह धारणा हो गई कि स्थूल देह के अतिरिक्त एक सूक्ष्म देह है, वह सूक्ष्म देह स्थूल देह के त्याग के पश्चात् एक ऐसे स्थान में पहुँच जाती है जिस स्थान में केवल आनन्द है, दुःख का तो नामोनिशान भी नहीं है। सेमेटिक (Semetic) धर्म में भय और कष्ट के भाव प्रचुर हैं। उनकी यह धारणा थी कि मनुष्य ईश्वर का दर्शन करने ही से मरेगा। किन्तु ऋग्वेद का भाव यह है कि ईश्वर के साक्षात्कार के पश्चात् ही मनुष्य का यथार्थ जीवन आरम्भ होगा।

प्रश्न यह उठा, ये देवता कौन थे? इन्द्र समय-समय पर मनुष्यों की

सहायता करते हैं। कभी-कभी वे अत्यधिक सोम का पान भी करते हैं; स्थान-स्थान पर उनके लिए सर्वशक्तिमान सर्वव्यापी प्रभृति विशेषणों का भी प्रयोग हुआ है। वरुणदेव के सम्बन्ध में भी इसी प्रकार नाना धारणायें हैं। ये सब वर्णनात्मक मंत्र कहीं कहीं बहुत ही अपूर्व हैं। वेदों की भाषा बहुत ही महत्-भाव-द्योतक है। इसके पश्चात् स्वामीजी ने प्रलय वर्णनात्मक विख्यात नासदीय सूक्त की — जिसमें अन्धकार का अन्धकार से आवृत होना वर्णित है — आवृत्ति की, और कहा, जिन लोगों ने इन सब महान् भावों को इस प्रकार की कविता में वर्णन किया है यदि वे ही असभ्य होंगे तो फिर हम लोग क्या होंगे? इन ऋषियों की अथवा उनके देवता इन्द्र वरुण आदि की किसी प्रकार की समालोचना करने में मैं अक्षम हूँ। मानो क्रमागत दृश्य पर दृश्य बदलता चला आ रहा है और सब के पीछे 'एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति' की यवनिका है। ज्ञानियों ने कई प्रकार से उसका वर्णन किया है और इन देवताओं का वर्णन बड़ा ही रहस्यमय, अपूर्व और अति सुन्दर है।

आगे चलकर स्वामीजी ने कहा, मुझे एक बात बहुत सम्भव और स्पष्ट मालूम होती है और वह यह है कि यूनानियों की भाँति आर्य लोग भी संसार की समस्या हल करने के लिए पहिले बाह्य प्रकृति की ओर गये थे — सुन्दर रमणीय बाह्य प्रकृति भी उन्हें प्रलोभित करके धीरे धीरे बाहर ले गई। किन्तु भारत का यही विशेषत्व है कि जिस वस्तु में कुछ महद्भाव-द्योतकता नहीं होती उसका यहाँ कुछ मूल्य ही नहीं होता। मृत्यु के पश्चात् क्या होता है, इसकी यथार्थ तत्व-निरूपणेच्छा साधारणतः यूनानियों के मन में उठी ही नहीं। किन्तु भारत में आरम्भ से ही यह प्रश्न बार बार पूछा जा रहा है — 'मैं कौन हूँ? मृत्यु के पश्चात् मेरी क्या अवस्था होगी?' यूनानियों के मत में मनुष्य मरकर स्वर्ग जाता है। स्वर्ग जाने का क्या अर्थ है? समुदय के बाहर जाना, भीतर नहीं — केवल बाहर — उनका लक्ष्य केवल बाहर की ओर था, केवल इतना ही नहीं, मानो वे स्वयं भी अपने से बाहर थे। और उन्होंने सोचा, जिस

समय वे एक ऐसे स्थान में जा पहुँचेंगे जो बहुत कुछ इसी संसार की भाँति है, किन्तु वहाँ इस संसार के दुःख-क्लेश का सर्वथा अभाव है तभी उन्हें ईप्सित सभी वस्तुएँ प्राप्त हो जायेंगी, और वे तृप्त हो जायेंगे। उनका धर्म इसके और ऊपर नहीं उठ सका। किन्तु हिन्दुओं का मन इतने से तृप्त नहीं हुआ। उनके विचार में स्वर्ग भी स्थूल जगत् के अन्तर्गत है। हिन्दुओं का मत है कि जो कुछ संयोगोत्पन्न है उसका विनाश अवश्यंभावी है। उन्होंने बाह्य प्रकृति से पूछा, 'आत्मा क्या है इसे क्या तुम जानती हो?' उत्तर मिला, 'नहीं।' प्रश्न हुआ, 'ईश्वर है क्या?' प्रकृति ने उत्तर दिया, 'मैं नहीं जानती।' तब वे प्रकृति के निकट से लौट आये और वे समझने लगे कि बाह्य प्रकृति कितनी ही महान् क्यों न हो, वह देश-काल की सीमा से आबद्ध है। तब उन्हें एक और शब्द कर्णगोचर हुआ — नये महान् भावों की धारणा उनमें उदय होने लगी। वे शब्द थे 'नेति, नेति'—'यह नहीं, यह नहीं'— उस समय विभिन्न देवगण एक हो गये, सूर्य, चन्द्र, तारा, इतना ही क्या, समग्र ब्रह्माण्ड एक हो गया — उस समय धर्म के इस नूतन आदर्श पर उनकी आध्यात्मिक भित्ति प्रतिष्ठित हुई।

न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकं
नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निः।
तमेव भान्तमनुभाति सर्वं।
तस्य भासा सर्वमिदं विभाति ॥

'वहाँ सूर्य भी प्रकाशित नहीं होता, न चन्द्र, न तारा, न विद्युत, फिर अग्नि का तो कहना ही क्या! उसी के प्रकाशमान होने से ही सब कुछ प्रकाशित होता है, उसी के प्रकाश से ही सब चीजें प्रकाशित हैं।' उस सीमाबद्ध, अपरिणत, व्यक्तिविशेष, सब के पाप-पुण्यों का विचार करनेवाले क्षुद्र ईश्वर की धारणा बाकी नहीं रही, अब बाहर का अन्वेषण बाकी नहीं बचा, अपने भीतर अन्वेषण आरम्भ हुआ।

छायातपो ब्रह्मविदो वदन्ति । *

इस भाँति उपनिषद् भारत के बाइबिल (Bible) हो गए, और भारत में जो विभिन्न मतवाद प्रचलित हैं, सभी उपनिषद की भित्ति पर प्रतिष्ठित हैं।

इसके बाद स्वामीजी द्वैत, विशिष्टाद्वैत, अद्वैत मतों का वर्णन करके उनके सिद्धान्तों का निम्नोक्त कथन से समन्वय करने लगे। उन्होंने कहा, इनमें प्रत्येक मानो सोपान-स्वरूप है — एक सोपान पर चढ़ने के बाद परवर्ती सोपान पर चढ़ना होता है, सब के अन्त में अद्वैतवाद की स्वाभाविक परिणति है और यह अन्तिम बात है 'तत्त्वमसि'। प्राचीन भाष्यकार शंकराचार्य, रामानुजाचार्य और मध्वाचार्य आदि भी उपनिषद को ही एकमात्र प्रमाण मानते थे, तथापि सभी इस भ्रम में पड़े थे कि उपनिषद एक ही मत की शिक्षा देते हैं। शंकराचार्य इस भ्रम में पड़े थे कि सब उपनिषदों में केवल अद्वैतवाद की शिक्षा है, दूसरा कुछ है ही नहीं। इसलिए, जिस स्थान पर स्पष्ट द्वैत भावात्मक श्लोक मिलते थे, उन्होंने अपने मत की पुष्टि के लिए खींचतान कर उनका विकृत अर्थ किया। रामानुजाचार्य और मध्वाचार्य ने भी शुद्ध अद्वैतभाव-प्रतिपादक वेदांशों की द्वैत व्याख्या करके वैसी ही भूल की है। यह सर्वथा सत्य है कि उपनिषद एक तत्व की शिक्षा देते हैं किन्तु इस तत्व में सोपानारोहण की भाँति शिक्षा दी गई है। इसके बाद स्वामीजी ने कहा, वर्तमान भारत में धर्म का मूल तत्व अन्तर्हित हो गया है, सिर्फ थोड़े बाह्य अनुष्ठान मात्र शेष बचे हैं। भारतवासी इस समय न तो हिन्दू ही हैं और न वैदान्तिक ही। वे केवल छुआछूत मत के पोषक हैं। रसोई-घर ही उनके मन्दिर हैं और रसोई के बर्तन ही उनके देवता हैं। इस भाव को छोड़ना होगा और जितना शीघ्र यह भाव छोड़ा जायेगा, उतना ही हमारे

---

* कठोपनिषद, १–३–१

धर्म के लिए अच्छा है। उपनिषद अपनी महिमा में उद्भासित हों और विभिन्न सम्प्रदायों में विवाद की इति भी हो जाय।

* * * *

स्वामीजी का शरीर स्वस्थ न होने से इतना ही बोलकर वे थक गये।

---

२६. इङ्गलैण्ड में भारतीय आध्यात्मिक विचारों का प्रभाव

[११ वीं मार्च सन १८९८ ई० को स्वामीजी की शिष्या सिस्टर निवेदिता (मिस एम० ई० नोबल) ने कलकत्ते के स्टार थियेटर में "इंग्लैण्ड में भारतीय आध्यात्मिक विचारों का प्रभाव" नामक विषय पर एक व्याख्यान दिया था। सभापति का आसन स्वयं स्वामीजी ने ही ग्रहण किया था। स्वामीजी ने उठकर पहले सर्वसाधारण के आगे उक्त महिला का परिचय देते हुए नीचे लिखी बातें कही थीं।]

सम्मान्य महिलाओ और भद्रमहोदयो!

मैं जिस समय एशिया के पूर्वीय हिस्से में भ्रमण कर रहा था, उस समय एक विषय की ओर मेरी दृष्टि विशेष रूप से आकृष्ट हुई थी। मैंने देखा कि उन स्थानों में भारतीय आध्यात्मिक विचारों का प्रवेश यथेष्ट रूप से हुआ है। चीन और जापान के कितने ही मन्दिरों की दीवारों और चहार-दीवारियों के ऊपर कई सुपरिचित संस्कृत मन्त्रों को खुदा हुआ देखकर मैं कितना विस्मित हुआ था, यह आप लोग आसानी से समझ सकते हैं। और यह सुनकर शायद आप लोगों को और भी आश्चर्य होगा, और कुछ लोगों को सम्भवतः प्रसन्नता भी होगी कि वे सब मन्त्र पुरानी बँगला लिपि में लिखे हुए हैं। हमारे बंगाल के पूर्वपुरुषों का धर्मप्रचार-कार्य में कितना उत्साह था, मानो यही बताने के लिए आज भी वे मन्त्र उन पर खुदे हुए मौजूद हैं।

पूर्व एशिया में भारतीय धर्म का प्रभाव।

भारतीय आध्यत्मिक विचारों की पहुँच एशिया महाद्वीप के इन देशों

तक ही हुई है, ऐसा नहीं, वरन् वे बहुत दूर तक फैले हुए हैं। यहाँ तक कि पाश्चात्य देशों में भी कितने ही स्थानों के आचार-व्यवहार के भीतर घुसकर उसके मर्म-स्थल में मैंने उसके प्रभाव-चिह्न देख पाये हैं। भारत के आध्यात्मिक विचार भारत के पूर्व और पश्चिम दोनों ही ओर फैले हुए थे। यह बात अब ऐतिहासिक सत्य प्रमाणित हो चुकी है। सारा संसार भारत के अध्यात्म-तत्त्व के लिये कहाँ तक ऋणी है तथा यहाँ की आध्यात्मिक शक्ति ने मानवजाति को जीवन-संगठन के कार्य में प्राचीन अथवा अर्वाचीन समय में कितनी बड़ी सहायता पहुँचाई है, यह बात अब सब लोग जान गए हैं। यह सब तो पुरानी बातें हैं।

पाश्चात्य देशों में भारतीय आध्यात्मिक चिन्ता का प्रभाव।

मैं संसार में एक और विचित्र बात देखता हूँ। वह यही कि उस अजीब ढंगवाली ऐङ्ग्लो-सैक्सन जाति ने सामाजिक उन्नति, सभ्यता तथा मनुष्यत्व की विकासरूपी अत्यद्भुत शक्ति का विकास किया है। इतना ही नहीं, कुछ और आगे बढ़कर हम यह भी कह सकते हैं कि हम लोग आज यहाँ पर "भारतीय आध्यात्मिक विचारों का प्रभाव" के विषय में आलोचना करने के लिए जिस तरह से सभा करके एकत्र हुए हैं, यदि उस ऐङ्ग्लो-सैक्सन जाति की शक्ति का प्रभाव इतना विस्तारित नहीं हुआ होता, तो हम शायद इस तरह इकट्ठे भी नहीं होते। फिर पाश्चात्य से प्राच्य को—अपने स्वदेश को—लौटकर हम देख पाते हैं कि वही ऐङ्ग्लो-सैक्सन शक्ति अपने अन्दर कितने ही दोषों के भरे रहने पर भी अपने कुछ थोड़े से गुणों को लेकर यहाँ अपना कार्य बड़ी खूबी के साथ कर रही है। और मेरा विश्वास है कि इतने दिनों बाद अब इन दोनों जातियों के मिलने का महान् परिणाम सिद्ध हुआ है। ब्रिटिश जाति का विस्तार और उसकी उन्नति का भाव हमें बलपूर्वक उन्नति की ओर अग्रसर करा रहा है।

प्राच्य और पाश्चात्य के सम्मिलन का फल।

साथ ही, हमें यह भी याद रखना चाहिए कि पाश्चात्य सभ्यता ग्रीक लोगों से प्राप्त हुई है और ग्रीक सभ्यता का प्रधान भाव है—प्रकाश या विस्तार। हम भारतवासी मननशील तो हैं, परन्तु कभी कभी हम इतने मननशील हो जाते हैं कि हममें भाव-प्रकाश करने की शक्ति बिल्कुल नहीं रह जाती। मतलब यह कि संसार के आगे भारतवासियों की भाव-प्रकाश करने की शक्ति अप्रकाशित ही रह गई और उसका फल क्या हुआ? फल यही हुआ कि हमारे पास जो कुछ था, सबको हम गुप्त रखने की चेष्टा करने लगे। भाव गुप्त रखने का यह सिलसिला आरम्भ तो हुआ व्यक्ति-विशेष की ओर से, पर क्रमशः बढ़ता हुआ यह जातीय अभ्यास के रूप में आ पहुँचा। और आज भाव-प्रकाश करने की शक्ति का हममें इतना अभाव हो गया है कि हमारी जाति एक मरी हुई जाति समझी जाने लगी है। ऐसी अवस्था में भाव-प्रकाश किये बिना हमारी जाति के जीवित रहने की सम्भावना कहाँ है? पाश्चात्य सभ्यता का मेरुदण्ड है विस्तार और भावों को अभिव्यक्त करना। भारतवर्ष में ऐङ्गलो-सैक्सन जाति के कामों में से जिस कार्य की ओर मैंने आप लोगों का ध्यान आकृष्ट करना चाहा है, वही हमारी जाति को जगाकर फिर भी हमें अपने भावों को व्यक्त करने के लिए तैयार करेगा। और आज भी यही ऐङ्गलो-सैक्सन जाति अपने भाव-विनिमय के उपयोगी साधनों की सहायता से हमें संसार के आगे अपने गुप्त रत्नों को प्रकट करने के लिए उत्साहित कर रही है। ऐङ्गलो-सैक्सन जाति ने भारतवर्ष की भावी उन्नति का रास्ता खोल दिया है और हमारे पूर्वपुरुषों के भाव अब जिस तरह धीरे-धीरे बहुतेरे स्थानों में फैलते जा रहे हैं, यह वास्तव में बड़े आश्चर्य की बात है। जब हमारे पूर्वपुरुषों ने पहले पहले अपनी मुक्ति की बात की घोषणा की थी, तब उन्हें कितना सुभीता था? भगवान बुद्ध ने किस तरह सार्वजनीन भ्रातृभाव के महान् तत्व का प्रचार किया था?

भारत जगकर समग्र संसार को अपनी आध्यात्म विद्या देने को अग्रसर हुआ है।

उस समय भी यहाँ पर — इसी भारतवर्ष में, जिसे हम प्राणों से अधिक प्यार करते हैं — वास्तविक आनन्द प्राप्त करने के यथेष्ट सुभीते थे और हम बहुत ही सुगमता के साथ पृथ्वी के एक हिस्से से दूसरे हिस्से तक अपने भावों और विचारों को व्यक्त कर सकते थे; परन्तु अब हम उससे और भी आगे बढ़कर ऐङ्गलो-सैक्सन जाति तक अपने भावों का प्रचार करने में कृतकार्य हो रहे हैं।

पाश्चात्य देश इसके प्रतिदान-स्वरूप तद्देशीय सुशिक्षित, भारत के सहाय्यार्थ भेज रहे हैं।

इसी तरह क्रिया-प्रतिक्रिया इस समय चल रही है और हम देख रहे हैं कि हमारे देश से प्रेरित वाणी को वहाँवाले सुनते हैं, और केवल सुनते ही नहीं हैं, बल्कि उसका जवाब भी देते हैं। इसी बीच में इङ्गलैण्ड ने अपने कई महामना व्यक्तियों को हमारे काम में सहायता पहुँचाने के लिए भेज दिया है। आप लोगों ने शायद मेरी परम मित्र मिस मुलर की बात सुनी है और सम्भव है आप लोगों में से बहुतों का उनके साथ परिचय भी हो — वे इस समय इसी व्याख्यान-मञ्च पर उपस्थित हैं। इन उच्च वंशसम्भूता सुशिक्षिता महिला ने भारत के प्रति अगाध प्रेम होने के कारण अपना समग्र जीवन भारत के कल्याण के लिए न्यौछावर कर दिया है और उन्होंने भारत को अपना घर तथा भारतवासियों को ही अपना परिवार बना लिया है। आप सभी उन सुप्रसिद्ध उदारहृदया अंग्रेज महिला के नाम से भी परिचित हैं — उन्होंने भी अपना सारा जीवन भारत के कल्याण तथा पुनरुत्थान के लिए अर्पण कर दिया है। मैं यह बात मिसेज़ बेसेण्ट को लक्ष्य करके कह रहा हूँ। प्यारे भाइयो, आज इस मञ्च पर दो अमेरिकन महिलाएँ उपस्थित हैं — ये भी अपने हृदय में वैसे ही उद्देश्य धारण करती हैं; और मैं आप लोगों से निश्चयपूर्वक कह सकता हूँ कि ये भी हमारे इस गरीब देश के कल्याण के लिए अपने जीवन को उत्सर्ग करने को तैयार हैं। इस अवसर पर मैं आप लोगों

के आगे अपने एक स्वदेशवासी का नाम याद दिलाना चाहता हूँ। इन्होंने इङ्गलैण्ड और अमेरिका आदि देशों को देखा है, उनके ऊपर मेरा बड़ा विश्वास और भरोसा है, इन्हें मैं विशेप श्रद्धा और प्रेम की दृष्टि से देखता हूँ, आध्यात्मिक राज्य में ये बहुत आगे बढ़े हुए हैं तथा महामना व्यक्ति हैं, ये बड़ी दृढ़ता के साथ परन्तु बिना शोर-गुल किए हमारे देश के कल्याण के लिए कार्य कर रहे हैं; आज यदि उन्हें किसी और जगह कोई विशेप काम न होता, तो वे अवश्य ही इसी सभा में उपस्थित होते—यहाँ पर मेरा मतलब श्रीयुत मोहिनी मोहन चट्टोपाध्याय से है। इन लोगों के अतिरिक्त अब इङ्गलैण्ड ने मिस मार्गरेट नोबल को उपहार-स्वरूप भेजा है—इनसे हम बहुत कुछ आशा रखते हैं। बस और अधिक बातें न कर मैं आपके साथ मिस मार्गरेट नोबल का परिचय करा देता हूँ। आप लोग अब इनकी वक्तृता सुनेंगे।

इसके बाद सिस्टर निवेदिता ने अपनी बड़ी मर्मस्पर्शिनी तथा सार-गर्भ वक्तृता दी। उनकी वक्तृता समाप्त होने पर स्वामीजी फिर खड़े हुए और बोले:—

मैं अब केवल दो-चार बातें और आपसे कहना चाहता हूँ। अभी अभी हमें यह मालूम हुआ कि हम भारतवासी भी कुछ काम कर सकते हैं। भारतवासियों में हम बंगाली लोग भले ही इस बात को हँसी में उड़ा दे सकते हैं, पर मैं वैसा नहीं करता। आप लोगों के अन्दर एक अदम्य उत्साह, एक अदम्य चेष्टा जाग्रत कर देना ही हमारा जीवनव्रत है। तुम अद्वैतवादी हो, विशिष्टाद्वैतवादी हो अथवा तुम द्वैतवादी ही क्यों न हो, इससे कुछ आता-जाता नहीं। परन्तु एक बात की ओर जिसे दुर्भाग्यवश हम लोग हमेशा भूल जाया करते हैं, इस समय मैं आपका ध्यान आकृष्ट करना चाहता हूँ। वह यही कि "हे मानव! अपने आप पर विश्वास रखो।" केवल इसी एक उपाय से हम ईश्वर के विश्वास-परायण बन सकते हैं। तुम चाहे अद्वैतवादी हो या

आत्मविश्वास-सम्पन्न होओ।

द्वैतवादी, तुम्हारा विश्वास चाहे योगशास्त्र पर हो या शंकराचार्य पर, चाहे तुम व्यासजी के अनुयायी हो या विश्वामित्र के, इससे कुछ आता-जाता नहीं है, लेकिन ज़रा गौर से देखने या जानने की बात यह है कि पूर्वोक्त "आत्म-विश्वास" के विषय में भारतवासियों के विचार संसार की अन्य सभी जातियों के विचारों से निराले हैं। पल भर के लिए ज़रा सोचकर देखिये तो सही—अन्यान्य सभी धर्मों और देशों में आत्मा की शक्ति को लोग स्वीकार नहीं करते—वे आत्मा को शक्तिहीन, दुर्बल, मृतवत्, निश्चेष्ट और जड़ वस्तु की तरह समझते हैं; पर भारतवर्ष में हम लोग आत्मा को अनन्त शक्ति-सम्पन्न समझते हैं; और हमारी धारणा है कि आत्मा अनन्त काल तक पूर्ण ही रहेगी। हमें सदा उपनिषदों में दिये गये उपदेशों को स्मरण रखना चाहिए।

पाश्चात्य का अनुकरण त्याग कर प्राच्य और पाश्चात्य के भावों का आदान-प्रदान करना होगा।

आप लोग अपने जीवन के महान् व्रत को याद करें। हम भारतवासी और विशेषतः हम बंगाली बहुत परिमाण में विदेशी भावापन्न हो गये हैं—हमारा यही भाव हमारे जातीय धर्म की हड्डी-गुड्डी चूसे डालता है। हम आज इतने पिछड़े हुए क्यों हैं? क्यों हममें से निन्नानवे फी सदी आदमी सम्पूर्णतः पाश्चात्य भावों और उपादानों से गठित हो रहे हैं? अगर हम लोग जातीय गौरव के उच्च शिखर पर आरोहण करना चाहते हैं, तो हमें इस विदेशी भाव को दूर फेंक देना होगा, साथ ही यदि हम ऊपर चढ़ना चाहते हैं तो हमें यह भी याद रखना होगा कि हमें पाश्चात्य देशों से बहुत कुछ सीखना बाकी है। पाश्चात्य देशों से हमें उनका शिल्प और विज्ञान सीखना होगा, उनके यहाँ की भौतिक-प्रकृति-सम्बन्धी विद्याएँ सीखनी होंगी और उधर पाश्चात्य देशवासियों को हमारे पास आकर धर्म और आध्यात्म-विद्या की शिक्षा ग्रहण करनी होगी। हम हिन्दुओं को विश्वास करना होगा कि हम ही संसार के आचार्य हैं। हम यहाँ पर राजनीतिक अधिकार तथा इसी प्रकार

की अन्यान्य बातों के लिए चिल्ला रहे हैं। अच्छी बात है, परन्तु अधिकार और सुभीते केवल मित्रता के द्वारा ही प्राप्त हो सकते हैं और मित्रता की आशा वहीं की जाती है, जहाँ दोनों पक्ष समान होते हैं। यदि एक पक्षवाला जीवन भर भीख ही माँगता रहे, तो क्या यहाँ पर मित्रता स्थापित हो सकती है? ये सब बातें जबानी कह देना बहुत आसान है, पर मेरा कहना यह है कि पारस्परिक सहायता के बिना हम लोग कभी शक्तिसम्पन्न नहीं हो सकते। इसीलिए मैं आप लोगों को, भिखमंगों की तरह नहीं, धर्माचार्य के रूप में इङ्गलैण्ड और अमेरिका आदि देशों में जाने के लिए कह रहा हूँ। हमें अपने कार्यक्षेत्र में यथासम्भव विनिमय-विधि का प्रयोग करना होगा। यदि हमें उनके पास से इस लोक में सुखी रहने के उपाय सीखने हैं, तो हम भी उसके बदले में क्यों न उन्हें अनन्त काल तक सुखी रहने के उपाय बतायें?

समग्र संसार को धर्मशिक्षा देनी होगी।

सर्वोपरि, समग्र मानव-जाति के कल्याण के लिए हित-कार्य करते रहो। तुम एक संकीर्ण घेरे के अन्दर बँधे रहकर अपने को 'शुद्ध' हिन्दू समझने का जो गर्व करते हो, उसे छोड़ दो। मृत्यु सब के लिए राह देख रही है, इसे कभी मत भूलो; और साथ ही उस ऐतिहासिक सत्य पर भी विशेष ध्यान रखो कि संसार की सब जातियों को भारतीय-साहित्य-निबद्ध सनातन सत्य-समूह को सीखने के लिए धैर्य धारण कर भारत के पैरों तले बैठना पड़ा है। भारत का विनाश नहीं है, चीन का भी नहीं और जापान का भी नहीं; अतएव हमें अपने धर्मरूपी मेरुदण्ड की बात को सदा-सर्वदा स्मरण रखना होगा। और ऐसा करने के लिए, हमें वह रास्ता बनाने के लिए एक पथ-प्रदर्शक की आवश्यकता है — जिस रास्ते के विषय में मैं अभी तुम लोगों से कह रहा था। यदि तुम लोगों में कोई ऐसा व्यक्ति हो जो यह विश्वास न करता हो, यदि हमारे यहाँ कोई ऐसा हिन्दू बालक हो जो यह विश्वास न करता हो कि हमारा धर्म सम्पूर्ण रूप से आध्यात्मिक-भावापन्न है

तो मैं उसे हिन्दू मानने को तैयार नहीं हूँ। मुझे याद है, एक बार काश्मीर-राज्य के किसी गाँव में मैंने एक बूढ़ी औरत से पूछा था कि 'आप किस धर्म को मानती हैं?' इस पर वृद्धा ने बड़े गर्व के साथ जवाब दिया था कि 'ईश्वर को धन्यवाद; उनकी कृपा से मैं मुसलमानिन हूँ।' इसके बाद किसी हिन्दू से भी यही प्रश्न पूछा, तो उसने ढीली आवाज़ में कह दिया, 'मैं हिन्दू हूँ।'

कठोपनिषद् का वह महावाक्य स्मरण आता है—'श्रद्धा' या अद्भुत विश्वास। नचिकेता के जीवन में 'श्रद्धा' या यथार्थ 'विश्वास-तत्त्व' का एक सुंदर दृष्टान्त दिखाई देता है। इस श्रद्धा का प्रचार करना ही मेरा जीवनोद्देश्य है। मैं आप लोगों से फिर एक बार कहना चाहता हूँ कि यह श्रद्धा ही मानव-जाति के जीवन का और संसार के सब धर्मों का प्रधान अंग है। सब से पहले अपने आप पर विश्वास करने का अभ्यास करो। यह जान लो कि कोई आदमी छोटे से जल-बुद्बुद् के बराबर हो सकता है और कोई पहाड़ों की तरह बड़ा। पर उस छोटे जल-बुद्बुद् और बड़े भारी पहाड़, दोनों के ही पीछे अनन्त समुद्र है। अतएव आशा सब में है, सब के लिए मुक्ति का रास्ता खुला हुआ है और सभी जल्दी या देरी से माया के बन्धन से मुक्त होंगे। यही हमारा सबसे पहला कर्तव्य है। अनन्त आशा से ही अनन्त आकांक्षा और चेष्टा की उत्पत्ति होती है। यदि यह विश्वास हमारे अन्दर बैठ जाय, तो वह हमारे जातीय जीवन में व्यास और अर्जुन का समय—वह समय, जब कि हमारे यहाँ से समग्र मानव-जाति के लिए कल्याणकर मतवाद प्रचारित हुआ था—ले आवेगा। आज हम लोग अन्तर्दृष्टि और आध्यात्मिक विषयों में बहुत ही पिछड़ गये हैं; परन्तु अब भी भारत में यथेष्ट परिमाण में आध्यात्मिकता विद्यमान है, इतने अधिक परिमाण में है कि आज भारत की आध्यात्मिकता ही उसे सारे संसार की जातियों के आगे श्रेष्ठ बनाए हुई है। और यदि लोगों की आशा पर विश्वास किया जाय,

नचिकेता की तरह श्रद्धा-सम्पन्न होओ।

तो हमारा वह दिन फिर लौट आएगा, और वह आप लोगों के ऊपर ही निर्भर करता है। ऐ बंगाली नवयुवको! तुम लोग धनी-मानियों और बड़े आदमी का मुँह ताकना छोड़ दो। याद रखो, संसार में जितने भी बड़े बड़े और महान् कार्य हुए हैं उन्हें छोटे आदमियों ने ही किया है। इसलिए ऐ गरीब बंगालियो! उठो और काम में लग जाओ, तुम लोग सब काम कर सकते हो और तुम्हें सब काम करने पड़ेंगे। यद्यपि तुम गरीब हो, तथापि बहुत लोग तुम्हारा पदानुसरण करेंगे। दृढ़चित्त बनो और इससे भी बढ़कर पूर्ण पवित्र और कपटशून्य बनो; विश्वास रखो कि तुम्हारा भविष्य अत्यन्त गौरवपूर्ण है। ऐ बंगाली नवयुवको! तुम लोगों के द्वारा ही भारत का उद्धार होनेवाला है। तुम इस पर विश्वास करो या न करो, पर तुम इस बात पर विशेष रूप से ध्यान रखना। ऐसा मत समझना कि यह काम आज या कल ही पूरा हो जायेगा। मुझे अपनी देह और अपनी आत्मा के अस्तित्व पर जैसा दृढ़ विश्वास है, इस पर भी मेरा वैसा ही अटल विश्वास है। इसीलिए, ऐ बंगीय नवयुवको! तुम्हारे प्रति मेरा हृदय इतना आकृष्ट है। जिनके पास धन-दौलत नहीं है, जो गरीब हैं, केवल उन्हीं लोगों का भरोसा है, और चूँकि तुम गरीब हो, इसलिए तुम्हारे द्वारा यह कार्य होगा। चूँकि तुम्हारे पास कुछ नहीं है, इसीलिए तुम कपटता से शून्य हो सकते हो, और अकपट होने के कारण ही तुम सब कुछ त्याग करने के लिए तैयार हो सकते हो। बस, केवल यही बात मैं तुमसे अभी अभी कह रहा था। और फिर भी तुम्हारे पास मैं इसी बात की चर्चा करता हूँ—यही तुम लोगों का जीवन-व्रत है और यही मेरा भी जीवन-व्रत है। तुम चाहे किसी भी दार्शनिक मत का अवलम्बन क्यों न करो, उससे कुछ आता-जाता नहीं है। मैं यहाँ पर केवल यही प्रमाणित करना चाहता हूँ कि सारे भारतवर्ष में, सारी मानव-जाति की पूर्णता में अनन्त विश्वासरूप प्रेम-सूत्र ओतप्रोत भाव से विद्यमान है—यही मेरा विश्वास है, और मैं चाहता हूँ कि इस विश्वास का सारे भारत में प्रचार हो।

---

२७. संन्यासी का आदर्श तथा तत्प्राप्ति का साधन

(१९ जून सन् १८९९ को जब स्वामीजी दूसरी बार पाश्चात्य देशों को जाने लगे उस अवसर पर बेलुड़ मठ के युवा संन्यासियों ने उन्हें एक सम्मानपत्र दिया। उसके उत्तर में स्वामीजी ने जो कहा था, उसका सारांश निम्नलिखित है।)

आज एक लम्बे भाषण का समय नहीं है परन्तु संक्षेप में मैं कुछ उन बातों की चर्चा करूँगा जो तुम्हें अभ्यास में लानी चाहिए। पहले हमें अपने ध्येय को भलीभाँति समझ लेना चाहिए और फिर उन साधनों को भी जानना चाहिए जिनके द्वारा हम उसको प्राप्त करने का अभ्यास कर सकते हैं। तुम लोगों में से जो संन्यासी हैं उन्हें सदैव दूसरों के प्रति भलाई करते रहने का यत्न करना चाहिए, क्योंकि संन्यास का अर्थ ही वह है। इस समय 'त्याग' पर भी एक लम्बा भाषण देने का अवसर नहीं है, परन्तु संक्षेप में मैं इसकी परिभाषा इस प्रकार करूँगा : 'त्याग' का अर्थ है "मृत्यु के प्रति प्रेम"। सांसारिक लोग जीवन से प्रेम करते हैं, परन्तु संन्यासी के लिए प्रेम करने को मृत्यु है। तो प्रश्न यह उठता है कि क्या फिर हम आत्महत्या कर लें? नहीं नहीं, इससे बहुत दूर। आत्महत्या करनेवालों को मृत्यु तो कभी प्यारी नहीं होती, क्योंकि यह बहुधा देखा गया है कि यदि कोई मनुष्य आत्महत्या करने जाता है और यदि वह अपने यत्न में असफल रहता है तो दुबारा फिर वह उस कृत्य का कभी नाम भी नहीं लेता। तो फिर प्रश्न यह है कि मृत्यु के लिए प्रेम कैसा होता है?

हम यह निश्चित जानते हैं कि हम एक न एक दिन अवश्य मरेंगे; और जब ऐसा है तो फिर किसी सत्कार्य के लिए ही हम क्यों न मरें? हमें चाहिए कि हम अपने सारे कार्यों को जैसे खाना, पीना, सोना, उठना, बैठना आदि सभी — आत्मत्याग की ओर लगा दें। भोजन द्वारा तुम अपने शरीर

को पुष्ट करते हो, परन्तु उससे क्या लाभ हुआ यदि तुमने उस शरीर को दूसरों की भलाई के लिए अर्पण न किया? इसी प्रकार तुम पुस्तकें पढ़कर अपने मस्तिष्क को पुष्ट करते हो परन्तु उससे भी कोई लाभ नहीं यदि समस्त संसार के हित के लिए तुमने उस मस्तिष्क को न लगाया। केवल इस तुच्छ स्वयं के उत्थान के लिए यत्न करने की अपेक्षा यह श्रेष्ठ है कि तुम अपने करोड़ों भाइयों की सेवा करते रहो और इस प्रकार धीरे धीरे मृत्यु को प्राप्त हो जाओ। ऐसी ही मृत्यु में स्वर्ग है, उसी में सारी भलाई है, और इसके विपरीत करने में सारा अमंगल तथा कष्ट है।

अब हमें यह विचार करना चाहिए कि किन उपायों अथवा साधनों द्वारा हम इन आदर्शों को कार्यरूप में परिणत कर सकते हैं। सबसे पहले हमें यह समझ लेना चाहिए कि हमारा ध्येय ऐसा न हो जो असम्भव हो। अत्यन्त उच्च ध्येय रखने में एक बुराई यह है कि उससे राष्ट्र कमज़ोर हो जाता है तथा धीरे धीरे गिरने लगता है। यही हाल बौद्ध तथा जैन सुधारों के बाद हुआ। परन्तु साथ ही हमें यह भी समझ लेना चाहिए कि अत्यधिक व्यावहारिकता भी ठीक नहीं है, क्योंकि यदि तुम स्वयं थोड़ा भी विचार नहीं कर सकते, यदि तुम्हारे पथ-प्रदर्शन के लिए तुम्हारे सामने कोई भी ध्येय नहीं है, तो तुम निरे जंगली ही हो। अतएव हमें अपने ध्येय को कभी नीचा नहीं करना चाहिए और साथ ही न यह हो कि हम व्यावहारिकता को बिल्कुल भूल बैठें। इन दो 'अत्यन्त' से हमें बचना चाहिए। हमारे देश में तो प्राचीन पद्धति यह है कि हम एक गुफा में बैठ जायँ, वहीं ध्यान करें और बस वहीं मर जायँ, परन्तु मुक्तिलाभ के लिए यह ग़लत सिद्धान्त है कि हम दूसरों से आगे ही बढ़ते चले जायँ। आगे-पीछे साधक को यह समझ लेना चाहिए कि यदि वह अपने अन्य भाइयों की मुक्ति के लिए भी यत्न नहीं करता है तो उसे मुक्ति नहीं प्राप्त हो सकती। अतएव तुम्हें इस बात का यत्न करना चाहिए कि तुम्हारे जीवन में उच्च ध्येय तथा उच्च व्यावहारिकता का

सुन्दर सामञ्जस्य हो। तुम्हें इस बात के लिए तैयार होना चाहिए कि एक क्षण तो तुम पूर्ण रूप से ध्यान में मग्न हो सको पर दूसरे ही क्षण (मठ की भूमि की ओर इशारा करके स्वामीजी ने कहा) इन खेतों को जोतने के लिए उद्यत हो जाओ। अभी तुम इस बात के योग्य बनो कि शास्त्रों के कठिन से कठिन भावों को स्पष्ट रूप से समझा सको, पर दूसरे ही क्षण उसी उत्साह से इन खेतों की पैदावार को ले जाकर बाजार में भी बेच सको। नीच से नीच कार्य के लिए भी तुम्हें उद्यत रहना चाहिए और वह भी केवल यहाँ ही नहीं, वरन् सर्वत्र।

अब दूसरी बात जो ध्यान में रखने योग्य है वह यह है कि इस मठ का उद्देश्य है 'मनुष्य' तैयार करना। तुम्हें केवल उसी पर नहीं विचार करते रहना चाहिए जो हमें ऋषियों ने सिखाया है। वे ऋषि अब चले गए हैं और उनकी शिक्षाएँ भी उन्हीं के साथ चली गईं। अब तुम्हें स्वयं ऋषि बनना चाहिए। तुम भी मनुष्य हो और वैसे ही मनुष्य जैसे कि बड़े से बड़े जो कभी पैदा हुए, यहाँ तक कि तुम अवतारों के सदृश हो। केवल ग्रन्थों के पढ़ने से ही क्या होगा? केवल ध्यान-धारणा से भी क्या होगा तथा केवल मंत्र-तंत्र भी क्या कर सकते हैं? तुम्हें तो अपने ही पैरों पर खड़े होना चाहिए और इस नए ढंग से कार्य करना चाहिए — वह ढंग जिससे मनुष्य 'मनुष्य' बन जाता है। सच्चा 'मनुष्य' वही है जो इतना शक्तिशाली हो जितनी शक्ति स्वयं है, परन्तु फिर भी जिसका हृदय एक स्त्री के सदृश कोमल रहे। तुम्हारे चारों ओर जो करोड़ों व्यक्ति हैं उनके लिए तुम्हारे हृदय में प्रेम-भाव होना चाहिए, परन्तु साथ ही तुम लोहे के समान दृढ़ बने रहो, पर ध्यान रहे कि साथ ही तुममें नम्रता भी हो। मैं जानता हूँ कि ये गुण एक दूसरे के विरोधी प्रतीत होते हैं, परन्तु हाँ, ऐसे ही परस्पर विरोधी प्रतीत होनेवाले गुण तुममें होने चाहिए। यदि तुम्हारे अध्यक्ष तुम्हें इस बात की आज्ञा दें कि तुम नदी में कूद पड़ो और एक मगर को पकड़ लाओ तो तुम्हारा कर्तव्य यह

होना चाहिए कि पहले तुम आज्ञा पालन करो और फिर कारण पूछो। भले ही तुम्हें दी हुई आज्ञा ठीक न हो, परन्तु फिर भी तुम पहले उसका पालन करो और फिर उस पर बहस करो। हमारे सम्प्रदायों में, विशेषकर बंगीय सम्प्रदायों में एक विशेष दोष यह है कि यदि किसी के मत में कुछ अन्तर होता है तो बिना कुछ सोचे-विचारे वह झट से एक नया सम्प्रदाय शुरू कर देता है। थोड़ा सा भी रुकने का उसमें धीरज नहीं होता। अतएव अपने संघ के प्रति तुम्हें अटूट श्रद्धा तथा विश्वास होना चाहिए। यहाँ उद्दण्डता को तनिक भी स्थान नहीं मिल सकता और यदि कहीं वह दिखाई दे तो बिना किसी दर्द के उसे कुचलकर नष्ट कर डालो, रौंद दो, नेस्तनाबूद कर दो। हमारे इस संघ में एक भी उद्दण्ड सदस्य नहीं रह सकता; और यदि कोई हो तो उन्हें निकाल बाहर करो। हमारे इस शिविर में दगाबाज़ी नहीं चल सकती, यहाँ एक भी धोखेबाज़ नहीं रह सकता। इतने स्वतंत्र रहो जितनी वायु; पर हाँ, साथ ही ऐसे आज्ञापालक तथा नम्र जैसा कि यह पौधा या कुत्ता।

२८. मैंने क्या सीखा?

(ढाकानिवासियों के अत्यन्त अनुरोध से प्रायः दो हज़ार श्रोताओं के सामने जगन्नाथ कालेज-भवन में स्वामीजी ने उक्त विषय पर भाषण दिया। इस सभा के सभापति थे सुविख्यात वकील रमाकान्त नन्दी महाशय।)

स्वामीजी का भाषण

मैंने नाना देश-विदेशों में भ्रमण किया है, किन्तु मुझे कभी अपनी जन्मभूमि बंगाल के सविशेष दर्शन का सौभाग्य नहीं प्राप्त हुआ। मैं जानता न था कि इस देश के जल-स्थल सभी में इतना सौन्दर्य भरा पड़ा है। किन्तु नाना देश के भ्रमण से मुझे यह लाभ हुआ है कि मैं विशेष रूप से इसके सौन्दर्य की उपलब्धि कर सकता हूँ। इसी भाँति मैं पहिले धर्म-जिज्ञासा से

मैं प्राचीन सम्प्रदाय का हूँ।

नाना सम्प्रदायों में—वैदेशिक भावबहुल अनेक प्रकार के सम्प्रदायों में—भ्रमण करता था, दूसरों के द्वार पर भिक्षा माँगता था—जानता न था कि मेरे देश का धर्म, मेरी जाति का धर्म इतना सुंदर है। आजकल एक दल है जो धर्म के भीतर वैदेशिक भाव घुसाने का विशेष पक्षपाती है। यह सुधारक दल मूर्तिपूजा का विरोधी है। इस दल के सुधारक कहते हैं कि हिन्दू धर्म सच्चा धर्म नहीं है, कारण, इसमें मूर्तिपूजा का विधान है। मूर्तिपूजा क्या है? यह अच्छी है या बुरी—इसका अनुसन्धान कोई नहीं करता, केवल इस शब्द के आधार पर वे हिन्दू धर्म को बदनाम करने का साहस करते हैं। एक दूसरा दल और भी है जो हिन्दुओं के प्रत्येक रीतिरिवाजों में वैज्ञानिकता ढूँढ़ निकालने का यत्न कर रहा है। कौन कह सकता है कि वे लोग एक दिन ईश्वर को भी विद्युत्प्रवाह-समूह न कर डालेंगे? जो कुछ भी

हो, माता इन्हें आशीर्वाद दें। माता ही भिन्न भिन्न प्रकृति के द्वारा अपना कार्य साधन करती हैं। उक्त विचारवालों के अतिरिक्त एक और दल है, ये प्राचीन दल वाले कहते हैं कि हम लोग तुम्हारी अण्टसण्ट बातें नहीं जानते और न हमें जानने की इच्छा ही है; हम लोग तो ईश्वर, आत्मा, सुख-दुःखमय इस संसार को छोड़कर इसके अतीत प्रदेश में जाने का उपाय जानना चाहते हैं। यह दल कहता है कि सविश्वास गंगा-स्नान करने से मुक्ति होती है, शिव, राम, विष्णु चाहे जो रहे हों, उनमें ईश्वरबुद्धि रखकर उपासना करने से मुक्ति होती है। मैं इसी प्राचीन दल का पक्षपाती हूँ।

आजकल एक और दल है जो ईश्वर और संसार दोनों की एक साथ ही उपासना करने के लिए कहता है। वह सच्चा नहीं है। उसका भाव और मुँह एक नहीं है। प्रकृत महात्माओं का उपदेश है:—

"जहाँ राम तहँ काम नहीं, जहाँ काम नहिं राम।
तुलसी कबहूँ होत नहिं नहीं, रवि-रजनी इक ठाम॥"

इसीलिए ये महापुरुष कहते हैं कि यदि ईश्वर को पाना चाहते हो, तो काम-कांचन का त्याग करना होगा। अंधकार और प्रकाश क्या कभी एक साथ रह सकते हैं? यह संसार असार, मायामय और मिथ्या है। इसे बिना छोड़े कदापि ईश्वर को नहीं पा सकते। यदि यह न कर सको तो मान लो कि हम दुर्बल हैं, किन्तु स्मरण रहे कि अपने आदर्श को कदापि नीचा न करना। मुर्दे को सोने के पत्ते से ढकने का यत्न न करो। अस्तु। यदि धर्म की उपलब्धि करनी है, यदि ईश्वर की प्राप्ति करनी है, तो भूलभुलैया का खेल खेलना छोड़ना होगा।

त्याग।

मैंने क्या सीखा? मैंने इस प्राचीन सम्प्रदाय से क्या सीखा? यही सीखा —

"दुर्लभं त्रयमेवैतत्, देवानुग्रहहेतुकं।
मनुष्यत्वं मुमुक्षुत्वं महापुरुषसंश्रयः॥" *

* विवेकचूड़ामणि, ३

मनुष्यत्व, मुमुक्षुत्व और महापुरुष का संसर्ग ये तीन बातें पानी बहुत ही कठिन हैं। ये तीनों विना ईश्वर की कृपा के नहीं मिल सकतीं। मुक्ति के लिए सबसे आवश्यक वस्तु है — मनुष्यत्व। इसके बाद चाहिए मुमुक्षुत्व — हमारे सम्प्रदाय और व्यक्ति-भेद से साधन-प्रणालियाँ भिन्न भिन्न हैं, किन्तु यह निःसंकोच कहा जा सकता है कि मुमुक्षुत्व के विना ईश्वरोपलब्धि असम्भव है। मुमुक्षुत्व क्या है? इस संसार के सुख-दुःख से छुटकारा पाने की तीव्र इच्छा, इस संसार से प्रबल घृणा। जिस समय भगवान के लिए यह तीव्र व्याकुलता होगी उसी समय समझना कि तुम ईश्वर-प्राप्ति के अधिकारी हुए हो। इसके बाद चाहिए महापुरुष का संग अर्थात् गुरुलाभ। गुरुपरम्परा से जो शक्ति प्राप्त होती है उसी के साथ अपना संयोग स्थापित करना होगा। उसके विना मुमुक्षुत्व रहने पर भी कुछ न हो सकेगा अर्थात् गुरु करना आवश्यक ही नहीं, अनिवार्य है। अब प्रश्न यह है कि किसे गुरु बनाया जाय?

हमारे चरम आदर्श मुक्तिलाभ के लिए आवश्यक हैं— व्याकुलता, गुरु और साधना।

कबीरदास ने लिखा है:—

"पोथी पढ़ पढ़ जग मुआ, पण्डित भया न कोय।
अक्षर एक जो प्रेम से पढ़े तो पण्डित होय॥"

केवल पण्डित ही होने से काम न चलेगा। आजकल सभी लोग गुरु बनना चाहते हैं। भिक्षुक भी लाखों रुपये दान करना चाहता है। शास्त्रों में लिखा है:—

"श्रोत्रियोऽवृजिनोऽकामहतो यो ब्रह्मवित्तमः।" *

अर्थात् जिसे वेदों का रहस्य-ज्ञान है, जो निष्पाप है, जिसे कोई इच्छा न हो, जिसका लक्ष्य परोपकार के सिवाय दूसरा कुछ न हो, जो अहेतुक दयासिन्धु है, जो किसी लाभ के उद्देश्य से, नाम या यश के लिए उपदेश

* विवेकचूड़ामणि, ३३

नहीं देता, जो ब्रह्म को भलीभाँति जानता है, जिसने ब्रह्म को प्रत्यक्ष किया है, जिसने ईश्वर को करतलामलकवत् किया है — वही गुरु होने योग्य है। उसी के साथ आध्यात्मिक योग स्थापित होने से ईश्वर-प्राप्ति होगी — ईश्वर-साक्षात्कार सुगम होगा। इसके बाद आवश्यकता पड़ती है अभ्यास की। मनुष्य चाहे कितना ही व्याकुल क्यों न हो, चाहे कितना ही अच्छा गुरु क्यों न मिले, साधना — अभ्यास बिना किए उसे कभी भी ईश्वरोपलब्धि न होगी। जिस समय अभ्यास दृढ़ हो जायेगा उसी समय ईश्वर प्रत्यक्ष होगा। इसीलिए कहता हूँ कि हे हिन्दुओ, हे आर्य सन्तानगण, आप लोग इस आदर्श को कभी न भुलावें। हिन्दुओं का प्रधान लक्ष्य इस संसार से बाहर जाना है— केवल इसी संसार को छोड़ना होगा ऐसा नहीं है, अपितु, स्वर्ग को भी छोड़ना पड़ेगा — बुरी बातों के ही छोड़ने से काम नहीं चलेगा, अच्छी बातों का भी त्याग आवश्यक है — संसार-स्वर्ग, बुरा-भला इन सबके अतीत होना होगा।

---

२९. हमारा जन्म-प्राप्त धर्म

(३१ मार्च १९०१ को ढाका में दिया हुआ भाषण।)

प्राचीन और वर्त-मान काल।

प्राचीन काल में हमारे देश में आध्यात्मिक भाव की अतिशय उन्नति हुई थी। हमें आज वही प्राचीन गाथा स्मरण करनी होगी। प्राचीन कालिक गौरव के स्मरण में सबसे बड़ी आपत्ति यह है कि हम कोई नवीन काम करना पसंद नहीं करते और केवल अपने प्राचीन गौरव के स्मरण और कीर्तन में ही सन्तुष्ट होकर अपने को सर्वश्रेष्ठ समझने लग जाते हैं। हमें इस सम्बन्ध में सावधान रहना चाहिए। प्राचीन काल में अनेक ऋषि-महर्षि थे — उन्हें सत्य का साक्षात्कार हुआ था। किन्तु प्राचीन काल के स्मरण से वास्तविक उपकार तभी होगा जब हम भी उनके सदृश ऋषि हो सकें, केवल इतना ही नहीं — मेरा विश्वास है कि हम और भी श्रेष्ठ ऋषि हो सकेंगे। भूतकाल में हमारी खूब उन्नति हुई थी — मुझे उसे स्मरण करते हुए बड़ा गौरव होता है। वर्तमान कालिक अवनत अवस्था को देखकर भी मैं दुःखी नहीं होता और भविष्यत् में जो होगा, उसे अनुमान कर भी मैं आशान्वित होता हूँ। कारण, मैं जानता हूँ कि बीज का बीजत्व-भाव जब नष्ट होगा तभी वह वृक्ष हो सकेगा। इस प्रकार वर्तमान अवनत अवस्था के भीतर भविष्यत् का महत्व निहित है।

हमारे जन्मप्राप्त धर्म में कौन कौन साधारण भाव हैं? ऊपर ऊपर विचार करने से हमें पता लगता है कि हमारे धर्म में नाना प्रकार के विरोध हैं। कुछ लोग अद्वैतवादी, कुछ विशिष्टाद्वैतवादी और कुछ द्वैतवादी हैं। कोई अवतार मानते हैं, कोई मूर्तिपूजा मानते हैं तो कोई निराकारवादी हैं। आचार के सम्बन्ध में नाना प्रकार की विभिन्नता दिखाई

हिन्दू धर्म में आपातविरोधी मतसमूह हैं।

पड़ती है। जाट लोग मुसलमान या ईसाई की कन्या से विवाह करने पर भी जातिच्युत नहीं होते। वे बिना किसी विरोध के सब हिन्दू मन्दिरों में प्रवेश कर सकते हैं। पंजाब के अनेक गाँवों में जो हिन्दू सूअर का मांस नहीं खाता, उसे लोग मुसलमान समझते हैं। नेपाल में ब्राह्मण चारों वर्णों की कन्याओं के साथ विवाह कर सकता है। बंगाल में ब्राह्मण अपनी जाति के अन्य विभाग में भी विवाह नहीं कर सकता। इसी प्रकार की और भी विभिन्नताएँ देखने में आती हैं, किन्तु सभी हिन्दुओं में यह एकत्व है कि कोई भी हिन्दू गोमांस भक्षण नहीं करता।

इस प्रकार हमारे धर्म के भी अन्तर्भागों में एक महान् सामञ्जस्य है। प्रथम — शास्त्रों की आलोचना करते समय एक महत्वपूर्ण विषय सामने आता है — जिन धर्मों ने इतनी उन्नति की थी कि उनके भीतर एक या अनेक शास्त्रों की उत्पत्ति हो गई, वे नाना प्रकार के अत्याचार होने पर भी आज तक टिके हैं। अपनी विशिष्ट सुंदरताओं के होते हुए भी शास्त्र के अभाव से यूनानी धर्म का लोप हो गया, किन्तु यहूदी धर्म पुरानी गाथा (Old Testament) के बल पर आज भी अक्षुण्ण प्रतापशाली है। संसार के सबसे प्राचीन ग्रन्थ वेद के आधार पर हिन्दू धर्म की यही दशा है। वेद के दो भाग हैं — कर्मकाण्ड और ज्ञानकाण्ड। भारतवर्ष के सौभाग्य अथवा दुर्भाग्य से कर्मकाण्ड का आजकल लोप हो गया है।

हमारे शास्त्र—वेद।

दक्षिण में कुछ ब्राह्मण कभी-कभी अजा-बलि देकर यज्ञ करते हैं, और विवाह-श्राद्धादि के मन्त्रों में वैदिक क्रियाकाण्ड का आभास दिखाई पड़ जाता है। इस समय उसे पूर्व की भाँति पुनः प्रतिष्ठित करने का उपाय नहीं है। कुमारिल भट्ट ने एक बार चेष्टा की थी, किन्तु वे अपने प्रयत्न में असफल ही रहे। इसके बाद ज्ञानकाण्ड है, जिसे उपनिषद, वेदान्त या श्रुति भी कहते हैं। आचार्य लोग जब कभी श्रुति का कोई वाक्य उद्धृत करते हैं तो वह उपनिषद का ही होता है। यही वेदान्त धर्म इस समय भारतवर्ष का

धर्म है। यदि किसी सम्प्रदाय के सिद्धान्तों की दृढ़ प्रतिष्ठा ईप्सित है तो उसे वेदान्त का ही आधार लेना चाहिए। द्वैतवादी अथवा अद्वैतवादी सभी को उसी आधार की शरण लेनी होगी। अपने सिद्धान्तों की सत्यता सिद्ध करने के लिए वैष्णवों को गोपालतापनी उपनिषद की शरण लेनी पड़ती है। यदि किसी नये सम्प्रदाय को अपने सिद्धान्तों के पुष्टिकारक वचन उपनिषद में नहीं मिलते तो वे एक नये उपनिषद की रचना करके प्राचीन की भाँति व्यवहार में लाने का यत्न करते हैं। भूतकाल में इसके कतिपय उदाहरण हो चुके हैं। वेदों के सम्बन्ध में हिन्दुओं की यह धारणा है कि वे किसी व्यक्तिविशेष की रचना अथवा पुस्तक नहीं हैं। वे ईश्वर की अनन्त ज्ञानराशि हैं जो किसी समय व्यक्त और किसी समय अव्यक्त होती है। सायनाचार्य ने एक स्थान पर लिखा है, 'यो वेदेभ्योऽखिलं जगत् निर्ममे'—जिसने वेदज्ञान के प्रभाव से सारे जगत् की सृष्टि की है। वेद के रचयिता को कभी किसी ने नहीं देखा। इसलिए इसकी कल्पना करना भी असम्भव है। ऋषियों ने केवल इन सब बातों को प्रत्यक्ष किया था। मन्त्रद्रष्टा ऋषियों ने अनादि काल से स्थित वेदों का साक्षात्कार किया था।

ये ऋषिगण कौन थे? वात्स्यायन ने लिखा है, जिसने यथाविहित धर्म की अनुभूति की है, वह म्लेच्छ होने पर भी ऋषि हो सकता है। इसीलिए प्राचीन काल में, वेश्यापुत्र वशिष्ठ, धीवरतनय व्यास, दासीसुत नारद प्रभृति ऋषि कहलाते थे। सच्ची बात यह है कि धर्म का साक्षात्कार होने पर किसी प्रकार का भेद नहीं रह जाता। उपर्युक्त व्यक्ति यदि ऋषि हो सकते हैं, तो हे आधुनिक कुलीन-ब्राह्मण! तुम सभी और भी उच्च ऋषि हो सकते हो। इसी ऋषित्व के लाभ करने की चेष्टा करो—समस्त संसार तुम्हारे सामने स्वयं ही नत हो जायेगा।

ऋषि—वेद ही मूल प्रमाण हैं—उनमें सभी का अधिकार है।

ये ही वेद हमारे एकमात्र प्रमाण हैं और इनमें सबका ही अधिकार है।

"यथेमां वाचं कल्याणीमावदानि जनेभ्यः।
ब्रह्मराजन्याभ्यां शूद्राय चार्याय च स्वाय चारणाय॥"*

क्या आप हमें वेद में ऐसा कोई प्रमाण दिखला सकते हैं, जिससे यह सिद्ध हो जाय कि वेद में सबका अधिकार नहीं है? पुराणों में लिखा है कि वेद की अमुक शाखा में अमुक जाति का अधिकार है, अमुक अंश सतयुग के लिए और अमुक अंश कलियुग के लिए है। किन्तु वेद में तो इस प्रकार का कोई जिक्र नहीं है। क्या कोई नौकर कभी अपने मालिक को आज्ञा दे सकता है? स्मृति, पुराण, तंत्र वहीं तक ग्राह्य हैं, जहाँ तक वे वेद का अनुमोदन करते हैं। ऐसा न होने पर वे अग्राह्य हैं। किन्तु आजकल हम लोगों ने पुराण को वेद की अपेक्षा श्रेष्ठ समझ रखा है। वेदों की चर्चा तो बंगाल प्रान्त में लोप ही हो गई है। मैं वह दिन शीघ्र देखना चाहता हूँ जिस दिन प्रत्येक घर में शालग्राम की मूर्ति के साथ आबाल-वृद्ध-वनिता वेद की पूजा करते दृष्टिगोचर होंगे।

वेदों का काल—पुराण—तंत्र।

वेद के सम्बन्ध में पाश्चात्य विद्वानों के सिद्धान्तों में मेरा कुछ भी विश्वास नहीं है। वे वेदों का समय कभी कुछ निर्णय करते हैं, चट उसे बदलकर फिर एक हज़ार वर्ष पीछे घसीट ले जाते हैं। ऊपर कह आये हैं कि पुराण वहीं तक ग्राह्य हैं जहाँ तक वे वेदों का समर्थन करते हैं। पुराणों में ऐसी अनेक बातें हैं, जिनका वेदों के साथ मेल नहीं खाता। जैसे, पुराण में लिखा है, कोई दस हज़ार वर्ष और कोई बीस हज़ार वर्ष जीवित रहता है, किन्तु वेदों में लिखा है—'शतायुर्वै पुरुषः'—इस मतभेद में वेदवाक्य ही ग्राह्य हैं। ऐसा होने पर भी पुराणों में योग, भक्ति, ज्ञान और कर्म की अनेक सुन्दर सुन्दर बातें देखने में आती हैं, और हमें उन सभों को ग्रहण करना ही होगा। इसके बाद हैं तन्त्र। तन्त्र का वास्तविक अर्थ है शास्त्र, जैसे कापिल

* शुक्ल यजुर्वेद, माध्यन्दिनीया शाखा, २६ अध्याय, २ मंत्र।

तन्त्र; किन्तु इस स्थान पर मैं तन्त्र शब्द का उसके वर्तमान प्रचलित संकीर्ण अर्थ में व्यवहार करता हूँ। बौद्धधर्मावलम्बी नृपतियों के शासनकाल में वैदिक यज्ञों का लोप होने पर राजदण्ड के भय से कोई हिंसा नहीं कर सकता था, किन्तु अन्त में बौद्ध धर्म में ही इन यज्ञों का सुन्दर सुन्दर अंश गुप्त रूप से सम्मिलित हो गया — इसीसे तन्त्रों की उत्पत्ति हुई। तन्त्रों में वामाचार प्रभृति बहुत से अंश खराब होने पर भी, तन्त्रों को लोग जितना खराब समझते हैं, वे उतने खराब नहीं हैं। वास्तविक बात तो यह है कि वेद का ब्राह्मण भाग ही कुछ परिवर्तित होकर तन्त्रों में वर्तमान है। वर्तमान काल की पूजा-विधियाँ और उपासना-पद्धति तन्त्रों के अनुसार होती हैं। अब हमें अपने धर्म के सिद्धान्तों पर भी थोड़ा विचार करना चाहिए।

हिन्दू धर्म का साधारण भित्ति-समूह।

हमारे धर्म के सम्प्रदायों में अनेक विभिन्नताएँ होते हुए भी बहुत ऐक्य है। प्रथम — सभी सम्प्रदाय तीन चीज़ों का अस्तित्व स्वीकार करते हैं — ईश्वर, आत्मा और जगत्। ईश्वर वह है, जो अनन्त काल से जगत् का सृजन, पालन और संहार करता आ रहा है। सांख्य-दर्शन के अतिरिक्त सभी इस सिद्धान्त पर विश्वास करते हैं। असंख्य जीवात्माएँ बार-बार शरीर धारण कर जन्म मृत्यु के चक्र में घूमती रहती हैं; इसी को संसारवाद या पुनर्जन्मवाद कहते हैं। इसके पश्चात् यह अनादि अनन्त जगत् है। कुछ लोग इन तीनों को भिन्न-भिन्न, कुछ इन्हें एक ही के भिन्न-भिन्न तीन रूप और कुछ लोग अन्य प्रकारों से इनका अस्तित्व स्वीकार करते हैं। किन्तु इन तीनों का अस्तित्व सर्वमान्य है। यहाँ पर यह स्मरण रखना चाहिए कि चिरकाल से हिन्दू आत्मा को मन से पृथक् मानते आ रहे हैं। पाश्चात्य विद्वान् मन के अतिरिक्त किसी चीज़ की कल्पना नहीं कर सके। वे लोग जगत् को आनन्दपूर्ण, सम्भोग करने की चीज़ समझते हैं। प्राच्य लोगों की जन्म से ही यह धारणा होती है कि यह संसार नित्य परिवर्तनशील तथा दुःख-

पूर्ण है—इसमें कुछ भी नहीं रखा है। इसीलिए पाश्चात्य लोग संघबद्ध कर्म में विशेष पटु हैं और प्राच्य लोग अन्तर्जगत् के अन्वेषण में ही विशेष साहस दिखाते हैं।

जो कुछ भी हो, इस स्थान पर हिन्दू धर्म की और दो-एक बातों की आलोचना करना आवश्यक है। हिन्दुओं में अवतारवाद प्रचलित है। वेदों में हमें केवल मत्स्य अवतार की ही कथा देखने में आती है। इस अवतारवाद का वास्तविक अर्थ मनुष्य-पूजा है—मनुष्य के भीतर ईश्वर को साक्षात् करना ही ईश्वर का वास्तविक साक्षात्कार करना है। सभी लोग इस पर विश्वास करते हैं या नहीं, यह कोई विचारणीय विषय नहीं है। हिन्दू प्रकृति के द्वारा प्रकृति के ईश्वर तक नहीं पहुँचते—मनुष्य के द्वारा मनुष्य के ईश्वर के निकट जाते हैं। इसके बाद है मूर्तिपूजा। शास्त्रों में लिखित पञ्च उपास्य देवताओं के अतिरिक्त अन्य देवता केवल पदों के भिन्न भिन्न नाम मात्र हैं—किन्तु ये पाँचों उपास्य देवता उसी एक भगवान के भिन्न नाम मात्र हैं। यह मूर्तिपूजा हमारे सब शास्त्रों में अधमाधम मानी गई है, किन्तु इसका यह तात्पर्य नहीं है कि मूर्तिपूजा करना गलत है। इस मूर्तिपूजा के भीतर नाना

अवतारवाद, मूर्तिपूजा संस्कार तथा संस्कारकगण।

प्रकार के कुत्सित भावों के प्रवेश कर लेने पर भी मैं उसकी निन्दा नहीं कर सकता। यदि उसी मूर्तिपूजक ब्राह्मण (श्रीरामकृष्ण) की पदधूलि मैं न पाता तो आज मैं कहाँ होता? वे सुधारक जो मूर्तिपूजा की निन्दा करते हैं, उनसे मैं कहूँगा, यदि आप बिना किसी मूर्ति की सहायता के ईश्वर की उपासना कर सकते हैं, तो आप भले ही वैसा कीजिये, किन्तु जो लोग ऐसा नहीं कर सकते हैं उनकी निन्दा आप क्यों करते हैं? संस्कार तो केवल पुराने मकान का जीर्ण-संस्कार मात्र है। जीर्ण-संस्कार हो जाने पर और उसकी क्या आवश्यकता? किन्तु सुधारक एक स्वतन्त्र सम्प्रदाय का संगठन करना चाहते हैं। अस्तु। उन्होंने एक बड़ा कार्य किया

है और ईश्वर उनका मंगल करें। किन्तु आप लोग अपने को क्यों समुदय से पृथक् करना चाहते हैं? हिन्दू नाम लेने ही से क्यों लज्जित होते हैं? हम अपने जातीय जहाज़ पर चढ़े हुए हैं — जिसमें शायद एक छिद्र हो गया है। हम सब लोगों को मिलकर उसे वन्द कर देना चाहिए। अगर न कर सकें तो हम लोगों को एक संग डूब मरना होगा। और ब्राह्मणों को भी मैं कहना चाहता हूँ कि आप भी वृथा अभिमान न करें, कारण, शास्त्रों के अनुसार आपमें भी अब ब्राह्मणत्व शेष नहीं रह गया; कारण, आप भी इतने दिनों से म्लेच्छ राज्य में रह रहे हैं। यदि आप लोगों को अपने पूर्वजों की कथाओं में विश्वास है, तो जिस प्रकार प्राचीन कुमारिल भट्ट ने बौद्धों के संहार करने के अभिप्राय से पहले बौद्धों का शिष्यत्व ग्रहण किया पर अन्त में उनकी हत्या के प्रायश्चित्त के लिये उन्होंने तुषाग्नि में प्रवेश किया, उसी प्रकार आप भी तुषाग्नि में प्रवेश कीजिये; यदि ऐसा न कर सकें, तो अपनी दुर्बलता स्वीकार कर सर्वसाधारण को उनका प्रकृत अधिकार दे दीजिये।

हमारे अन्य प्रकाशन

हिन्दी विभाग

१-३. श्रीरामकृष्णवचनामृत — तीन भागों में—अनु० पं. सूर्यकान्त त्रिपाठी, 'निराला', प्रथम भाग (तृतीय संस्करण)—मूल्य ६); द्वितीय भाग—मूल्य ६); तृतीय भाग—मूल्य ७॥)

४-५. श्रीरामकृष्णलीलामृत — (विस्तृत जीवनी)—(तृतीय संस्करण)- दो भागों में, प्रत्येक भाग का मूल्य ५)

६. विवेकानन्द-चरित — (विस्तृत जीवनी) — सत्येन्द्रनाथ मजूमदार, (द्वितीय संस्करण) — मूल्य ६)

७. परमार्थ-प्रसंग — स्वामी विरजानन्द, (आर्ट पेपर पर छपी हुई)
कपड़े की जिल्द, मूल्य ३॥)
कार्डबोर्ड की जिल्द, ,, ३।)

स्वामी विवेकानन्द कृत पुस्तकें

८. विवेकानन्दजी के संग में — (वार्तालाप)-शिष्य शरच्चन्द्र, द्वि. सं. मूल्य ५।)

९. ज्ञानयोग (प्र. सं.) ३)
१०. पत्रावली (प्रथम भाग) (प्र. सं.) २≈)
११. पत्रावली (द्वितीय भाग) (प्र. सं.) २≈)
१२. देववाणी (प्र. सं.) २≈)
१३. धर्मविज्ञान (द्वि. सं.) १॥≈)
१४. कर्मयोग (द्वि. सं.) १॥≈)
१५. हिन्दू धर्म (द्वि. सं.) १॥)
१६. प्रेमयोग (तृ. सं.) १।≈)
१७. भक्तियोग (तृ. सं.) १।≈)
१८. आत्मानुभूति तथा उसके मार्ग (तृ. सं.) १।)
१९. परिव्राजक (च. सं.) १।)
२०. प्राच्य और पाश्चात्य (च. सं.) १।)
२१. महापुरुषों की जीवनगाथायें (द्वि. सं.) १।)
२२. राजयोग (प्र. सं.) १≈)
२३. स्वाधीन भारत! जय हो! (प्र. सं.) १≈)
२४. धर्मरहस्य (द्वि. सं.) १)

२५. भारतीय नारी (द्वि. सं.) ।।।)
२६. शिक्षा (द्वि. सं.) ।।≈)
२७. हिन्दू धर्म के पक्ष में (द्वि. सं.) ।।≈)
२८. मेरे गुरुदेव (च. सं.) ।।≈)
२९. शिकागो-वक्तृता (छ. सं.) ।।≈)
३०. कवितावली (प्र. सं.) ।।≈)
३१. भगवान रामकृष्ण धर्म तथा संघ (द्वि. सं.) ।।।≈)
३२. वर्तमान भारत (तृ. सं.) ।।)
३३. मेरा जीवन तथा ध्येय (द्वि. सं.) ।।)
३४. शक्तिदायी विचार (द्वि. सं.) ।।≈)
३५. पवहारी बाबा (द्वि. सं.) ।।)
३६. मरणोत्तर जीवन (द्वि. सं.) ।।)
३७. मन की शक्तियाँ तथा जीवन-गठन की साधनायें (प्र. सं.) ।।,
३८. सरल राजयोग (प्र. सं.) ।।)
३९. मेरी समर-नीति (प्र. सं.) ।≋)
४०. ईशदूत ईसा (प्र. सं.) ।≈)
४१. विवेकानन्दजी की कथायें (प्र. सं.) १।)
४२. विवेकानन्दजी से वार्तालाप (प्र. सं.) १।≈)

---

४३. श्रीरामकृष्ण-उपदेश (प्र. सं.) ।।≈)
४४. वेदान्त—सिद्धान्त और व्यवहार —स्वामी शारदानन्द, (प्र. सं.) ।

मराठी विभाग

१-२. श्रीरामकृष्ण-चरित्र—प्रथम भाग (तिसरी आवृत्ति) ४।
द्वितीय भाग (दुसरी आवृत्ति) ४।≈
३. श्रीरामकृष्ण-वचनामृत— (पहिली आवृत्ति) ५।।
४. श्रीरामकृष्ण-वाक्सुधा—(तिसरी आवृत्ति) ।।≈
५. शिकागो-व्याख्यानें—(दुसरी आवृत्ति)—स्वामी विवेकानंद ।।≈
६. माझे गुरुदेव—(दुसरी आवृत्ति)—स्वामी विवेकानंद ।।≈
७. हिंदु-धर्माचें नव-जागरण—(पहिली आवृत्ति)—स्वामी विवेकानंद ।।-
८. पवहारी बाबा—(पहिली आवृत्ति)—स्वामी विवेकानंद ।।
९. कर्मयोग—(पहिली आवृत्ति)—स्वामी विवेकानंद १।।≈
१०. शिक्षण—(पहिली आवृत्ति)—स्वामी विवेकानंद ।।-
११. साधु नागमहाशय-चरित्र (भगवान श्रीरामकृष्णांचे सुप्रसिद्ध शिष्य)—(दुसरी आवृत्ति) २ रु.

श्रीरामकृष्ण आश्रम, धन्तोली, नागपुर—१, म. प्र.